वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

क्रम संख्या 2475
काल नं० (04)2(44) जैनाले
खण्ड

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ६ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. V. No. I

Edited by

Dr. B. A. Saletore. M. A., Ph. D.
Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A.
B. Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

JUNE, 1939.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक-व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं: मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'भास्कर' आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ६ ज्येष्ठ किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये. एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद. एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९६

विषय-सूची

हिन्दी विभाग—

पृष्ठ

१ जैन रामायण का रावण—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... १

२ वीरनन्दी और उनका आचारसार—[श्रीयुत पं० परमानन्द जैन, शास्त्री ... १७

३ 'नय-विवरण' का कर्ता कौन है ?—[श्रीयुत पं० सुमेरुचन्द्र जैन, दिवाकर न्यायतीर्थ शास्त्री बी० ए०, एल-एल०बी० ... ... २३

४ सम्राट् खारवेल का हाथीगुफावाला शिलालेख—[श्रीयुत प्रो० बेनीमाधव बारुआ, एम० ए०, डी० लिट् २५

५ धम्मपद और श्वेताम्बर-जैनागम—[श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर ... ३६

६ क्या यह सचमुच भ्रमनिवारण है ?—[श्रीयुत पं० जुगलकिशोर मुख्तार ... ४२

७ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को स्मरणीय तिथि और वीरशासन जयन्ती—[श्रीयुत पं० परमानन्द जैन, शास्त्री ५५

८ विविध विषय—(१) द्राविड-संघ—[श्रीयुत कामता प्रसाद जैन ५९

(२) उपदेश-तरंगिणी का गिरिनार-प्रकरण [श्रीयुत कामता प्रसाद जैन ६०

(३) तेरापुर और कलिकुंड—[श्रीयुत कामता प्रसाद जैन ... ६२

९ साहित्य-समालोचना—(१) परमप्पपयासु (परमात्मप्रकाश) और जोगसार (योगसार) —[के० भुजबली शास्त्री ६४

(२) जम्बूस्वामी चरित्र—[श्रीयुत कैलाशचन्द्र शास्त्री ... ६५

(३) तत्त्वसारटीका (भाषा)—[श्रीयुत कैलाशचन्द्र शास्त्री ६६

(४) सरल जैनधर्म (चारों भाग)—[पं० के० भुजबली शास्त्री ६६

(५) आत्मचिन्तन—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... ६६

(६) पंच कल्याण—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ६७

(७) जैनधर्म का ह्रास क्यों—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ६७

१० जैनसिद्धान्त भवन आरा का वार्षिक-विवरण ६८

ग्रन्थमाला-विभाग—

१ तिलोयपण्णत्ती [श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ८१ से ८८ तक

२ प्रशस्ति-संग्रह [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... १३७ से १४४ तक

॥श्रीजिनाय नमः ॥

भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ६ | जून १९३९। ज्येष्ठ वीर नि० सं० २४६५ | किरण १

जैन रामायण का रावण

(लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण)

मनुष्य किसी बात की सत्यता या असत्यता का निर्णय प्रायः अपने उन विचारों के अनुसार ही कर बैठता है, जिनसे उनकी बुद्धि पहले से प्रभावित हो चुकी है। परन्तु जबतक वह अपने उस पूर्व संस्कार को एक ओर रख कर समालोच्य विषय पर निष्पक्षपात से विचार नहीं करेगा तबतक किसी यथार्थ निर्णय पर कभी नहीं पहुंच सकता। सुप्राचीन कालीन किसी व्यक्ति के वास्तविक आचार-विचार आदि जानने के लिये हमें तत्कालीन या बाद के प्राचीन से प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों का ही आश्रय लेना पड़ता है। उन प्रामाणिक ग्रन्थों में भी समकालीन किसी प्रामाणिक लेखक के द्वारा विरचित ग्रन्थ जितना विश्वसनीय हो सकता है, उतना उसके बाद का लिखा हुआ ग्रन्थ कदापि नहीं हो सकता। मैं समझता हूं कि, इसमें किसी का मत-भेद नहीं हो सकता है।

इस सिद्धान्तानुसार प्रतापी रावण के आचार-विचारादि जानने के लिये भी हमें प्राचीन ग्रन्थों की ही शरण लेनी पड़ती है। कतिपय ग्रन्थ-कर्त्ताओं ने एकमात्र सीतापहरण के अपराध से पुरुषपुंगव रावण को कलङ्की घोषित कर उन पर नीच, दुष्ट आदि अपमानजनक शब्दों से बुरी तरह से आक्रमण किया है। यहाँ पर मुझे सहसा "एकोऽपि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः" महाकवि कालिदास का यह पद्यखण्ड स्मृतिपथारूढ़ हो जाता है। पुनीता एवं पतिपरायणा सती साध्वी सीता को हर ले जाना मैं भी महापराध मानता हूं। फिर भी उस एक अपराध के लिये उसके सारे मानवोचित गुणों को भुला देना समुचित नहीं कहा जा सकता। यों तो प्रत्येक मनुष्य में गुण और दोष दोनों होते हैं। जिस में दोष का अत्यन्ताभाव है वह मनुष्य नहीं, बल्कि देवता है। आखिर रावण भी मनुष्य ही रहा; अतः उसमें दोषों का होना कोई अस्वाभाविक नहीं है। रावण को जाने दीजिये—पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जी के कुछ कृत्यों को भी उनके परमोपासक भक्तगण सदोष मानते हैं। जैसे—लुकछिप करके बाली को मारना, अग्निपरीक्षा जैसी भीषण एवं कड़ी जाँच कर लेने के बाद भी सीता का परित्याग करना एवं तपोनिरत शूद्र शम्बूक की हत्या करना आदि। इसीलिये जब हम किसी व्यक्ति की अखण्ड जीवनी पर प्रकाश डालते हैं तब गुण और दोष दोनों को एक ही दृष्टि से देखना होगा। तुलनात्मक दृष्टि से इन दोनों के मनन करने के बाद उन गुण-दोषों की कमी-बेशी के लिहाज से ही हम उस व्यक्ति को गुणी अथवा दोषी करार दे सकते हैं। इतना परिश्रम न उठा कर केवल एकाध गुण वा दोष को देख कर किसी के गुणी या दोषी होने का फैसला दे देना निष्पक्ष निर्णय नहीं कहा जा सकता। रावण भी इसी पक्षपातपूर्ण निर्णय का शिकार किया जाकर लोगों की नजरों से गिराया गया है। मेरी तो धारणा यह है कि इस फैसले की सुनवाई के समय अगर रावण मौजूद रहता तो इसके विरुद्ध अपील कर बदले में अपने प्रतिपक्षियों पर वह मान-हानि का मामला अवश्य ठोक देता।

अब एक प्रश्न उठ सकता है कि जब रावण गुणी था तो रामायण के बहुसंख्यक लेखकों ने इसे दोषी क्यों ठहराया? इसका उत्तर मेरी स्थूल बुद्धि में यही आता है कि एक तो हमारे भारतवर्ष का उस समय का वातावरण ही इस प्रकार का था। दूसरी बात यह है कि हमारे पुरातन श्रद्धेय कवि प्रायः अनुकरणशील थे। इसलिये जो परम्परा अपने सामने मौजूद है उसी को कायम रखना वे अधिक पसन्द करते थे। इसका कारण यह भी ज्ञात होता है कि उन्हें इस बात का भय था कि पूर्वपरम्परा के विरुद्ध होने से अपनी कृतियाँ जनता में सर्वमान्य नहीं हो सकेंगी। परम्परा के कुछ प्रतिकूल लिखने का साहस करनेवाले कतिपय कवियों पर ऐसी आपत्ति आ भी चुकी है। साथ ही साथ भारतवर्ष सुप्राचीन काल से शील के लिये प्रधान है भी। यह सब कुछ होते हुए भी जैन कवियों ने रावण का जीवन

चित्रित करने में जो बुद्धि एवं साहस दिखलाया है, वह प्रशंसनीय है। इसी का दिग्दर्शन कराना ही इस लेख का प्रधान उद्देश है।

हमें इस समय जैन साहित्य में भिन्न-भिन्न भाषाओं में रामायण-सम्बन्धी निम्न कृतियों का पता लगता है। किन्तु पहली बात यह है कि सब की सब ये कृतियाँ मेरी नजरों से नहीं गुजरी हैं। दूसरी बात यह है कि जो तालिका नीचे दी जाती है वह सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है। इनके अतिरिक्त भी बहुत सी कृतियाँ अन्वेषण करने पर उपलब्ध हो सकती हैं। तालिका इस प्रकार है :—

प्राकृत में—१ पउमचरिय (विमल सूरि) २ पउमचरिय (चौमुह) ३ पउमचरिय (स्वयंभूदेव, त्रिभुवन स्वयंभू और भट्टारक जसकित्ति या यशःकीर्त्ति) ४ तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार (पुष्पदन्त)।

संस्कृत में—१ पद्मपुराण (रविषेण) २ जैनरामायण (हेमचन्द्र) ३ रामचरित (देवविजय गणि) ४ रामपुराण (सोमसेन) ५ त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र (आशाधर) ६ पद्मपुराण (भट्टारक चन्द्रकीर्त्ति) ७ पद्मपुराण (ब्रह्मचारी जिनदास) ८ पद्मपुराण (भट्टारक धर्मकीर्त्ति) ९ पद्मपुराण (वीरसेन) १० पद्मपुराण (भट्टारक विश्वभूषण) ११ त्रिषष्टिशलाकाचरित्र (भट्टारक हेमचन्द्र) १२ मैथिलीकल्याण नाटक (हस्तिमल्ल) १२ पुण्यास्रव (रामचन्द्र मुमुक्षु) १३ पुण्यचन्द्रोदय पुराण (कृष्ण कवि) १४ सीताचरित्र (नेमिदत्त)।

हिन्दी में—१ पद्मपुराण (खुशालचन्द) २ पद्मपुराण वचनिका (दौलतराम) ३ सीताचरित्र (रायमल्ल) ४ सीताचरित्र (रामसिंह)।

कन्नड में—१ पंप रामायण (चंपू—नागचन्द्र) २ कुमुदेन्दु रामायण (षट्पदि—कुमुदेन्दु) ३ रामविजय चरित (सांगत्य—देवप्प) ४ रामकथावतार (चंपू—देवचन्द्र) ५ जिनरामायण (षट्पदि—चन्द्रसागर वर्णी) ६ रामचन्द्रचरित्र (सांगत्य—चन्द्रशेखर और पद्मनाभ)।

इन कृतियों के अतिरिक्त तमिलु, गुजराती एवं मराठी आदि भारतीय भिन्न-भिन्न भाषाओं में भी एतत्सम्बन्धी कृतियाँ अवश्य हैं।

विद्वानों का मत है कि इस समय उपलब्ध जैन रामायणों में विमल सूरि का 'पउमचरिय' ही सर्व-प्राचीन है। उनकी इस कृति से ही सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ महावीर निर्वाण के ५३० वर्ष व्यतीत होने पर रचा गया था।* भगवान महावीर ने ई० पूर्व ५२७ में निर्वाण प्राप्त किया था। इस हिसाब से विमल सूरि ने अपने इस ग्रन्थ को ई० सन् ३ में रचा है यह सिद्ध होता है। परन्तु इस रचनाकाल में विद्वानों का मत-भेद है। स्थूल दृष्टि से जैन

* पंचेव य वाससया, दुसमाए तीसवरिस संजुत्ता।
वीरे सिद्धिमुवगए, तओ निबद्धं इमं चरियं ॥११८—१०३॥

रामायण में दो सम्प्रदाय दृष्टिगत होते हैं। एक तो विमल सूरि की परम्परा, दूसरी गुणभद्राचार्य की। इन परम्पराओं में समय-समय पर बहुत से ग्रन्थ रचे गये हैं। उक्त तालिकान्तर्गत ग्रन्थों में द्वितीय एवं तृतीय पउमचरिय, रविषेण का पद्मपुराण, हेमचन्द्र का जैन रामायण, देवविजय गणि का रामचरित्र नागचन्द्र की पंप रामायण, कुमुदेन्दु की कुमुदेन्दु रामायण, देवप्प का रामविजय चरिते, देवचन्द्र का रामकथावतार एवं चन्द्रसागर वर्णी की रामायण आदि विमल सूरि की परम्परा में लिये जा सकते हैं। इसी प्रकार कृष्ण कवि का पुण्यचन्द्रोदय पुराण, चावुंडराय पुराणान्तर्गत रामकथा तथा नागराज के पुण्यास्रवान्तर्गत रामकथा आदि दूसरी अर्थात् गुणभद्राचार्य की परम्परा में अन्तर्भुक्त किये जा सकते हैं। पता लगता है कि इन दो सम्प्रदायों से बहिर्भूत भी कुछ रायायण सम्बन्धी कृतियाँ मौजूद हैं। जैसे—जीव संबोधनान्तर्गत रावण-कथा। इतना ही नहीं इन परम्परान्तर्गत कृतियों में भी परस्पर एकाध बातों में मतभेद दृष्टिगोचर हो सकता है। इन सब बातों के निर्णय के लिये इन कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन करने की नितान्त आवश्यकता है। कुछ विद्वानों का ख़याल है कि इस समय उपलब्ध हिन्दू, जैन, बौद्ध सभी रामायणों का लक्ष्य संस्कृत-साहित्य में आदि काव्य समझी जानेवाली वाल्मीकीय रामायण ही है। उन विद्वानों का कहना है कि जन-जीवन के लिये आदर्शप्राय इस वाल्मीकीय रामायण को ही लक्ष्य करके शाक्त, जैन और बौद्धों ने अपने-अपने धर्म की दृष्टि से इसे रूपान्तर किया।

अतः विमल सूरि ने भी वाल्मीकीय कथा को ही अपना आदर्श मान कर जैनधर्म के तत्त्व एवं आचारों के अनुकूल उसमें यथास्थान समुचित परिवर्तन कर जैन धर्मावलम्बियों के लिये एक स्वतन्त्र रामायण रच डाली यों उनका अभिप्राय है। परन्तु विमल सूरि स्पष्ट कहते हैं कि यह राम-कथा मुझे पूर्व परम्परा से प्राप्त हुई है। विमल सूरि ने ही नहीं; आगे के जैनरामायण-रचयिताओं ने भी यही भाव व्यक्त किया है। जैनियों का मत है कि उन के सम्पूर्ण ग्रन्थ बारह अंगों में अन्तर्भुक्त हैं और वे सभी अङ्ग कण्ठस्थ हो परम्परागत हैं। जब इन अङ्गधारक मुनियों की मेधा-शक्ति कालदोष से कुण्ठित होने से अङ्गज्ञान नष्ट होने लगा तब कुछ दूरदर्शी महर्षियों ने इसे ग्रन्थबद्ध करना प्रारंभ किया। इसी का फलस्वरूप बाद जैनियों में प्रत्येक विषय के मौलिक ग्रन्थ बड़े जोरों से रचे जाने लगे—पर बहुत समय बीतने पर। इस सिद्धान्त को बड़े-बड़े पाश्चात्य विद्वान भी मानते हैं कि भारतवर्ष में पुरातन काल में सभी मत के धर्मग्रन्थ कण्ठस्थ ही रक्खे जाते थे। ऐसी अवस्था में जैन रामायणों का लक्ष्य वाल्मीकीय रामायण है या परम्परागत अपनी मौलिक कथा है—इस बात का निर्णय मैं पाठकों के ऊपर ही छोड़ देना चाहता हूं। कुछ भी हो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि रामायण को हरएक धर्मवाले एक आदर्श कृति मानते हैं। इसका प्रधान कारण यही है कि इसके चरित्र-नायक राम और

नायिका सीता एक आदर्श एवं अनुकरणीय दम्पती थे। अस्तु, अब पाठकों का ध्यान प्रस्तुत विषय की ओर आकृष्ट करता हूं।

साहित्य-दृष्टि से आचार्य गुणभद्र की कथा की अपेक्षा विमल सूरि की कथा अनेक सुन्दर सन्निवेशों से अधिक चित्ताकर्षक है। इसी से ज्ञात होता है कि गुणभद्र की कथा की अपेक्षा विमल सूरि की कथा विशेष रूप से कविगण का प्रेमपात्र एवं लोकादरणीय हुई। मैं ऊपर लिख चुका हूं कि रविषेण का पद्मपुराण और नागचन्द्र की पंप रामायण आदि विमल सूरि के सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं। विमल सूरि का रावण पात्र वास्तव में रमणीय है। अतः मैं भी इस लेख में विमल सूरि के सम्प्रदाय का आश्रय लेकर ही जैन रामायण में प्रतिपादित रावण पात्र की विशिष्टता दिखलाने की चेष्टा कर रहा हूं।

रावण सुप्रसिद्ध तोयदवाहन-वंश में जन्म लेता है। उसके गर्भावतरण में ही उसकी श्रद्धेय माता कैकशी अथवा केकई ने जो शुभ-स्वप्न देखा था—उन स्वप्नों से ही जन्म लेनेवाला पुत्र विशाल कीर्तिशाली, चक्रवर्त्ति-सदृश अतुल भाग्यशाली एवं रणदुर्धर्ष होगा यह जान कर पूज्य पिता रत्नश्रव विशेष प्रसन्न होता है। बड़े गाजे-बाजे के साथ रावण का जन्मोत्सव धूम-धाम से मनाया जाता है। क्रमशः बाल्यावस्था को व्यतीत कर कुमार-लीलाओं से माता-पिता को आनन्दित करता हुआ निखिल शास्त्र एवं कलाओं में पारंगत हो वह पूर्ण युवावस्था को प्राप्त होता है और अपने छोटे भाइयों के साथ तपस्या करता हुआ आकाशगामिनी आदि दुर्धर विद्याओं को सिद्ध कर चन्द्रहास नामक खड्ग को पा लेता है। रावण के इस बढ़ते हुए विभव को देख कर सन्तुष्ट हो मय अपनी गुणवती पुत्री मन्दोदरी से उसका विवाह कर देता है। अपने प्रपितामह माली को मारकर लंका पर आक्रमण किये हुए वैश्रवण को पराजित कर वह राज्य के साथ-साथ उनसे पुष्पक विमान को भी छीन लेता है। त्रिजगद्भूषण नामक भद्र गज का दर्प चूर्ण कर कैलास पर्वत को हिला कर रावण धरणेन्द्र के द्वारा प्रदत्त शक्त्यायुध से अप्रतिहत होता है। दिग्विजय के लिये कटिबद्ध रावण के सुन्दर रूप देखकर जनता शुभलक्षणयुक्त उनके हर एक अंगोपाङ्ग की भूरि-भूरि प्रशंसा करती हुई उन्हें इन्द्रतुल्य महर्द्धि-सम्पन्न कहती है।

युद्ध क्रूर कर्म है अवश्य; फिर भी रावण की उस विजय-यात्रा में सभी राजे-महाराजे हार मान कर उसकी शरण में ही आते हैं, मरते नहीं। इसका प्रधान कारण रावण की दयालुता है। माहीष्मतीपुर के स्वामी सहस्रबाहु अथवा सहस्ररश्मि को रावण कैद कर लेता है। पीछे जैन मुनियों के कहने पर उससे कर लेकर उसका राज्य उसी को सौंप देता है। वरुण जब रावण की अधीनता स्वीकार नहीं करता है, तब वह ससैन्य जाकर, उसे हराकर कैद कर लेता है। वरुण के नगरवासी बहुत दुःखी होते हैं। रावण इसे जानकर दयाद्रवित हो उसे कारा-मुक्त कर देता है। एक समय रावण विजयार्द्ध पर्वत पर छावनी डालता है। इससे उस

प्रान्त के नायक इन्द्र उस पर क्रुद्ध हो युद्ध के लिये संनद्ध होता है। रावण तत्क्षण ही उसे बाँध कर अपना अतुल शौर्य का परिचय देता है। इन्द्र के पिता सहस्रार पुत्र-मोह से रावण से विनय करता है। उसकी दीन-प्रार्थना को सुन कर रावण इन्द्र को मुक्त कर उसका राज्य उसे दे देता है। इस प्रकार लोक-कण्टक बनने के लिये रावण विजय-यात्रा के लिये नहीं निकला था; बल्कि अपने पौरुष को प्रदर्शित करने के लिये। वह जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ अपनी दयालुता एवं क्षमता को ही व्यक्त करता है। जिन-मन्दिर तथा जिन-मुनियों को देख कर भक्ति से विनम्र होता है। हरिषेण नाम के मुनि का पुण्यचरित्र सादर एवं सकुतूहल सुनकर सन्तुष्ट होता है। इन सबों से बढ़ कर उस विजययात्रा में अपूर्व, अद्भुत और आकस्मिक एक घटना घटती है जो कि रावण के सदाचारित्व के लिये एक ज्वलन्त दृष्टान्त है।

अष्टापद शैल के कटक-प्रदेश में रावण की विजय-वाहिनी है और उसी के पास दुर्लङ्घ्यपुर नामक देश। उसका स्वामी नल-कूबर था जो कि इन्द्र का लोकपाल था। रावण के आने की खबर पाकर निर्भीकतापूर्वक आग उगलनेवाले यन्त्रों के द्वारा अपने किला को वह सुरक्षित करता है। रावण उसे वश-वर्ती करने का उपाय मन्त्रियों के साथ सोचने में संलग्न है। ठीक उसी समय नलकूबर की पत्नी उपरंभा के द्वारा प्रेषित दूती चित्रमाला वहाँ पर पहुंचती है। प्रणाम कर वह रावण से कहती है—नलकूबर की पत्नी उपरंभा ने मुझे आपके पास भेजा है। बहुत दिनों से आपके दर्शन के लिये वह उत्सुक है। सदैव उसे आप ही की चिन्ता है। एकबार उन्हें दर्शन देने की आप अवश्य दया दिखायें। रावण दोनों कानों को बन्द कर मन में इस प्रकार सोचता है—सुदृढ़शीलधारी होकर मैं इस निन्द्य कर्म को करूँ ? कितनी ही रूपवती क्यों न हो वेश्या की ओर भी आँख उठा कर नहीं देखनेवाला मैं एक परस्त्री को अपनाऊं ? यह कार्य इह-पर दोनों के लिये अहित है। पर-स्त्री उच्छिष्ट के समान त्याज्य है। परन्तु मन्त्रियों से कुछ सलाह कर रावण दूती से कहता है—ठीक है, अपनी रानी उपरंभा को बुलालावो। उपरंभा बड़ी उमंग से आती है। रावण उससे कहता है—भद्रे ! दूती के द्वारा सभी वृत्त ज्ञात किये। पर रणभूमि में इस कार्य के लिये अवकाश ही कहाँ ? दुर्लङ्घ्यपुर ही इस कार्य के लिये समुचित स्थान है। उपरंभा इस बात को यथार्थ समझती है। कामातुरा वह रावण को सालभंजिनी विद्या बता देती है। उसकी सहायता से रावण किला तोड़ कर नलकूबर को पराजित कर उसे कैद कर लेता है। पश्चात् वह उपरंभा के पास जा कर कहता है—मां ! तू मेरी विद्या-गुरु है। उत्तम वंश में जन्म लेकर ऐसे कदाचरण का आश्रय मत ले। काशध्वज की पुत्री ! तू शील की रक्षा कर। तुम्हारे पति जीवित हैं। साथ ही साथ सुन्दर भी हैं। उन्हीं के साथ यथेच्छ विषय-भोग करो। रावण नलकूबर को क्षमा प्रदान कर राज्य वापिस कर देता है। वह कितना विवेकी है ! ऐसी विषम परिस्थिति में भी अपने को तिलमात्र भी शील से विचलित नहीं होने

देता है। आज इसके शील की यह अग्निपरीक्षा हुई और इसमें जयशील होकर रावण खरा उतरता है। बाद सन्तुष्ट हो ससैन्य भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के शासकों को पराजित कर वह अनन्त-वीर्य केवली के पास आता है। उन्हें देख एवं भक्ति से प्रणाम कर वह उनसे आत्म-हित-धर्म के स्वरूप की जिज्ञासा करता है। केवली भी उसे समयोचित उपदेश देकर पंच अणुव्रत ग्रहण करने के लिये आदेश देते हैं। प्रायः उपरंभा की पूर्व घटना का स्मरण कर रावण असहमत पर-स्त्री के त्यागव्रत को सहर्ष अपनाता है। इस प्रकार पूर्व पुण्य से वह वैभव-सम्पन्न, कीर्त्ति-शाली एवं लोकमान्य होता है। दुनिया उसे सिर झुकाती है। जिस देश में वह प्रवेश करता है वह देश स्वर्गसदृश, धन-धान्य एवं रत्नों से परिपूर्ण और दुर्भिक्ष, भयादि से मुक्त, पुण्यमय होता है। लोकानुराग के पात्र हो कर रावण सुख से राज्य करता है। विमल सूरि के हृदय-वैशाल्य के लिये यह एक सजीव चित्र ही पर्याप्त कहा जा सकता है। उनका रावण सौम्याकार, सौजन्य, दया, क्षमा, धर्म-भीरुत्व तथा गांभीर्य आदि सद्गुणों से पुरुष-प्रवर सिद्ध होता है।

विमल सूरि रावण की उदारता को अद्भुत रचना-कौशल से वर्णित एवं उसके दोष को बारीकी से सूचित कर उस पर हमलोगों की सहानुभूति एवं श्रद्धा व्यक्त करा देते हैं। परन्तु व्यक्ति कितना ही उदार हो पुण्यावसान में उसके सभी वैभव एक के पीछे एक सन्ध्याकालीन राग के समान देखते-देखते विलुप्त हो जाते हैं। रावण को भी ऐसे ही एक कुसमय का सामना करना पड़ता है। उसके सभी भोग-विलास संचित पुण्यों को नापने लगते हैं। साथ ही साथ दैव निमित्त बनकर रावण को अपने मरण की सूचना पहले से देने लगता है। रावण घबड़ा जाता है। सीता के कारण ही दाशरथि के हाथों से रावण अवश्य मरेगा—इस भविष्यद्वाणी से उसका सुदृढ़ हृदय भी काँप उठता है, फिर भी उससे डर कर रावण चुप हो नहीं बैठता है। अजेय विधि को भी अपने पौरुष से जीतने के लिये वह कटिबद्ध होता है। रावण पास ही में खड़े हुए विभीषण की गंभीर मुद्रा को देखने लगता है। विभीषण कहता है—इसके लिये इतनी चिन्ता क्यों? जनक और दशरथ को अन्त कर देने मात्र से सभी प्रश्न हल हो जाते हैं। पीछे सन्तान होगी कैसे? इस बात से रावण की चिन्ता दूर होती है। भाई के हित-चिन्तक विभीषण इस क्रूर अमानुषिक कार्य के लिये सन्नद्ध हो प्रस्थान करता है। पर भाग्य सदा बलवान होता है। इसे जीतना आसान काम नहीं है! वह पहले से नारद के द्वारा दशरथ एवं जनक को इस भावी विपत्ति की सूचना देकर वेश बदल कर देशान्तर जाने को बाध्य करता है। वह विभीषण की आँखों में भी पट्टी बाँध देता है। विभीषण उनकी नकली मृण्मयी मूर्त्तियों को ही प्रकृत दशरथ एवं जनक समझ कर उन्हें नष्ट कर डालता है। बल्कि लंका जा अपने भाई रावण को इस शुभ संवाद को सुनाकर उसे आनेवाली दुर्घटना से

निश्चिन्त कर देता है। किन्तु भाग्य गुप्त गंगा के समान भीतर ही-भीतर अपना काम कर रहा है। समय बहुत बीत जाता है। इधर दैव इस महानाटक के कुशल पात्रों को सिद्ध कर रहा है। देशान्तर गये हुए दशरथ एवं जनक सकुशल अपनी-अपनी राजधानी को लौट आते हैं। यथाकाल राम तथा सीता का जन्म भी होता है। पहले किसी समय कैकशी को उसकी सहायता के उपलक्ष में राजा दशरथ के द्वारा प्रदत्त दो वर तीक्ष्ण यम-दंष्ट्र के समान दशरथ के हृदय को भेदने लगते हैं। राम को जंगल में भटकना पड़ता है। सीता और लक्ष्मण ये दोनों राम का साथ देते हैं। पूर्व संचित दुष्कर्म का फल उन्हें भी नहीं छोड़ता है। वन-पर्वत-नदी आदि भयंकर से भयंकर दुर्गम स्थानों में भटकते हुए वे दण्डकारण्य में आकर वहाँ पर कुछ काल तक विश्राम करने लगते हैं। वर्षाकाल प्रारंभ होता है। वनदेवी के अलौकिक सौन्दर्य को देखने की प्रबल इच्छा से प्रेरित लक्ष्मण इधर-उधर भ्रमण करता है। कहीं से शीतल सुगंध वायु की लहर आ-आकर लक्ष्मण के नासिकारंध्र को परिपूरित करने लगती है। विस्मित हो उद्वेग से उसी ओर बढ़ता हुआ वह एक विशाल बाँस के सघन कुंज को देखता है। उसके पास ही स्वर्गीय पुष्पों से समर्चित सूर्यहास नामक खड्ग तीक्ष्ण प्रभा से चमक रहा है। लक्ष्मण उसकी ओर अपना दाहिना हाथ बढ़ाता है। वह खड्ग उसके हस्तगत होता है। तत्क्षण ही वह उसे चला कर उसकी परीक्षा करता है। पास के बाँस का कुंज कट कर गिर जाता है। उसके साथ ही साथ कुण्डल-मण्डित बालक का एक सुन्दर मस्तक भी उछल कर गिर पड़ता है। वहाँ पर रक्त से सराबोर एक शरीर दिखने लगता है। क्या किया जाय! कार्य समाप्त हो गया था। वह बालक रावण की बहन चन्द्रनखा का था। पुत्र के छिन्न-भिन्न मस्तक को देखकर वह छाती पीट-पीट कर रोने लगती है। इस दुःसंवाद को तुरत वह अपने पति खर-दूषण को सुनाता है। खर दूषण क्रुद्ध हो पुत्रघातक की हत्या का बदला लेने के लिये अस्त्रों से सुसज्जित हो तुरत निकल पड़ता है। मंत्री की सलाह से यह दुःखद समाचार रावण के पास भी दूत के द्वारा पहुंचाया जाता है।

दूत की बात सुनकर रावण क्रोध से जल-भुन कर खाक हो जाता है। तुरत ही वह पुष्पक विमान पर आरूढ़ हो आकशमार्ग से रणभूमि की ओर चलता है। रास्ते में मनोमुग्ध-कारिणी सीता का सुन्दर मुख रावण का चित्त हर लेता है। रावण सोचता है—शची-तुल्य सर्वाङ्ग-सुन्दरी इस रमणी के बिना मेरा राज्य ही निष्फल है। वह सीता पर एकान्त मुग्ध हो नाना प्रकार के विचार-सागर में गोता लगाने लगता है। तत्क्षण ही वह अपनी अवलो-किनी विद्या का स्मरण करता है। उससे रावण उस सुन्दरी का नाम-गोत्रादि का पता लगाता है और राम से सीता को पृथक् करने का उपाय भी पूछता है। लक्ष्मण के सिंहनाद करते ही राम उसकी सहायता के लिये अवश्य जायगा; इस पूर्व संकेत को विद्या रावण को

बताती है। आखिर पराक्रमी खर-दूषण राम-लक्ष्मण दोनों को मार डालेगा यों सोच कर लक्ष्मण के समान रावण सिंहनाद करता है। राम उस सिंहनाद को लक्ष्मण का ही सिंहनाद समझ कर व्याकुल हो सीता को जटायु की रक्षा में रखकर कोदण्ड-पाणि हो चल देता है। तब रावण विमान से उतर कर अचानक सीता को हर ले जाता है। जटायु रावण को रोकता है, पर महाबली रावण के लिये जटायु की रुकावट एक खेल सी हो जाती है। रावण उसे कर-प्रहार से मरणापन्न कर निर्भीकतापूर्वक लंका की ओर बढ़ता है। मार्ग में उसे रोकने वाले रत्नजटी को जान से न मार कर उसकी गगन-गामिनी विद्या को छीन लेता है। विमान में जाते हुए वह सीता का करुण-विलाप सुनकर उसे समझाने का प्रयत्न करता है। कितना ही कहा, पर वह प्रसन्न नहीं होती है। रावण सोचता है—मैं पहले से ही असहमत परस्त्री-त्याग-व्रत ले चुका हूं। यह प्रसन्न होती भी नहीं है। प्रायः कुछ समय के बाद राजी हो जायगी। तब तक मेरा व्रत भी बना रहेगा। रावण लंका जाना ही उचित समझता है। खैर, यहाँ से रावण का अब अधोगति की ओर पैर बढ़ता है। उसके धर्म, व्रत आदि सभी सुकृत-क्षय से मलिन होते हैं। दैव क्रूरता से अपने चिन्तित कार्य का प्रसार करता है। प्राणि-हिंसा के खयाल से मरुत का यज्ञ बन्द करनेवाला वही रावण इस समय दुर्मोहान्ध हो सती सीता को हर ले जाता है। जटायु की हत्या कर डालता है और रत्नजटी को तंग करता है। रावण रत्नजटी को पराजित कर विमान से प्रयाण करता हुआ कामातुर हो सीता से नाना प्रकार का प्रस्ताव एवं प्रार्थना करता है। उस पर सीता कहती है—ऐसी परलोक-विरुद्ध बातें मुंह से मत निकाल। तू पर-स्त्री-रूपी आग में पतंग की तरह गिर गया और दुःख-निबिड़ नरक के लिये नाहक मार्ग ढूंढ़ लिया! परन्तु इन परुष वचनों से भी रावण अप्रसन्न नहीं होता उलटा कामोत्तेजित हो हाथ जोड़ कर सीता के पैरों पर गिरता है। सीता राम का कुशल-समाचार पाने तक अनशन व्रत ग्रहण करती है। हताश रावण उसे देवरमण नामक उद्यान में कैद कर निरुत्साह हो महल को जाता है।

उसे महल में भी शान्ति नहीं मिलती। प्रतिक्षण उसे सीता की ही चिन्ता बनी रहती है। इस बीच में पतिवियोग का वृत्त जान कर बहन चन्द्रनखा विलाप करती हुई भाई के पैरों पर आ गिरती है। उसे समयोचित सदुक्तियों से समझा कर रावण रनि-वास में जाता है। कामज्वर से पीड़ित उसे नींद नहीं आती। उष्ण एवं दीर्घोच्छ्वासपूर्वक चुप-चाप शय्या पर बैठे हुए अपने पति रावण को देख कर मन्दोदरी उसकी इस असीम चिन्ता का कारण पूछती है। वह लाजत होता हुआ सीतापहरण-सम्बन्धी कुल वृत्तान्त उसे सुना कर सीता को प्रसन्न एवं वश कर देने के निमित्त अपनी जीवन-रक्षा के लिये मन्दोदरी से प्रार्थना करता है। मन्दोदरी रावण की यह दयनीय दशा देखकर सीता के पास

जा पति के सौभाग्य एवं सामर्थ्य आदि की बड़ाई करती हुई उसे अपनाने के लिये आग्रह करती है। उस पर सीता मन्दोदरी को खरा-खरी बातें सुनाती हुई शरीर छिन्न-भिन्न होने पर भी इस जन्म में तो राम को छोड़ कर वैभव में इन्द्र, रूप में कामदेव ही क्यों न हों दूसरे को ग्रहण नहीं करूँगी यों स्पष्ट जनाये देती है। रावण मन्दोदरी के लौटने के विलम्ब को भी न सह कर रागान्ध तथा उन्मत्त हो स्वयं सीता के पास जाता है और पट्टमहिषी बनाने आदि बड़े-बड़े प्रलोभनों को दिखलाता हुआ अपने को पतिरूप में स्वीकृत करने के लिये गिड़-गिड़ा कर प्रार्थना करता है। पर सीता टस से मस नहीं होती। अब वह भय-प्रदर्शन-द्वारा सीता को वश में लाने की चेष्टा करता है। रात भर अनेक भयंकर से भयंकर दृश्य सीता को दिखाये गये; पर सब निष्फल। वह अपने पुनीत एवं अचल शील से तिलमात्र भी विचलित नहीं होती है। सबेरा होता है। सीता का क्रन्दन सुनकर विभीषण दया-द्रवित होता है और रावण को नाना प्रकार से समझाता है। पर सदुपदेश देनेवाले विभीषण को ही पिता-पुत्र मिलकर लंका से निष्कासन कर देते हैं। रावण धीरे-धीरे गहरे पाप-पङ्क में धसता जाता है। उसे अपनी पाशविक शक्ति में विश्वास बढ़ता जाता है। मनुष्य राम मुझ खेचर को नहीं जीत सकेगा, यह दुरभिमान उसके सिर पर सवार हो जाता है।

युद्ध अनिवार्य होता है। राम की बड़ी सेना आकाश-मार्ग से समुद्र पार कर लंका को घेर लेती है। रावण की सेना भी उस सेना का सामना करती है। रणभेरी से दिशायें गूंज उठती हैं। दोनों सेनायें महासागर के समान उमड़ पड़ती हैं। इस महासंग्राम में रावण के हस्त-प्रहस्त आदि महाभट वीरगति को प्राप्त होते हैं। इसके पुत्र सहोदरादि एक-एक कर के शत्रु के हस्तगत होते हैं। रावण की शक्ति कुण्ठित होती है। वह रण-भूमि में देदीप्यमान और भीषण शक्ति-प्रहार से लक्ष्मण को मूर्च्छित करता है। इतने में उस दिन का रण-कोलाहल शान्त होता है। छोटे भाई की दशा देखकर राम शोक-विह्वल होता है। रावण ने तो लक्ष्मण को जीत लिया, इस महान् हर्ष से गर्वोद्रिक्त होकर महल की ओर प्रस्थान करता है। महल में आकर वह देखता है—भानुकर्ण, मेघ-वाहन, इन्द्रजित् आदि नजर नहीं आते हैं। इससे रावण घोर दुःखी होता है। इस बीच में विशल्यसौन्दरी के द्वारा लक्ष्मण के सचेत होने की खबर मिलती है। रावण एकदम किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है। मन्त्रियों को बुला कर वह सलाह पूछता है। उस पर मंत्री मदाङ्क सीता-समर्पण-पूर्वक राम से सन्धि करने का ही हितकर प्रस्ताव उपस्थित करता है। पुत्रमोह से रावण भी उस प्रस्ताव से सहमत होता है। उत्तमकुलसंभूत नय-विनय-शक्ति-सम्पन्न सुमन्त इस सन्धि-प्रस्ताव को उपस्थित करने के लिये दूत नियुक्त होता है। पर सन्धि का शर्त्त विलक्षण था। उसका आशय यही था कि लंका-सहित, समुद्र-वेष्टित खेचर-

राज्य को लेकर राम मेरे भाई और पुत्रों एवं अपनी सीता को मुझे दे दे। दूत अपमानित तथा अकृतकार्य होकर लौट आता है। सन्धि का कार्य समाप्त होता है।

अब रावण सोचता है कि सब से पहले बहुरूपिणी विद्या को मुझे सिद्ध करनी होगी। इसके लिये वह तत्क्षण शान्तिनाथ-चैत्यालय में जा कर विद्या-साधन-कार्य में संलग्न होता है। इधर मन्दोदरी नगरभर में जीव-हिंसा की निषेधाज्ञा जारी कराती है। अनेक विघ्न उपस्थित होने पर भी मेरु-सदृश अचल हो एकाग्रतया ध्यानारूढ़ रावण को वह बहु-रूपिणी देवता प्रत्यक्ष होती है और चक्रधर को छोड़ कर दुनिया को ही जीतने का आश्वासन देती है। वास्तव में रावण का यह साहस प्रशंसनीय है। विद्यासाधनार्थ संयम को धारण करनेवाले रावण का चित्त अब कुछ शान्त होता है। परन्तु महल में पहुंचते ही उसकी अट्ठारह रानियाँ सब की सब अङ्गद के द्वारा किये गये अपमान को जताती एवं रोती हुई उसके पैरों पर गिरती हैं। फिर रावण के क्रोध का पारा चढ़ जाता है। अपमान करने-वाले व्यक्तियों को वास्तविक दण्ड देने का आश्वासन देता हुआ रावण स्नान, जिन-पूजा भोजनादि नित्यकर्म से अवकाश पाकर रणभूमि के लिये अपने अन्यान्य वीरों को भेजकर स्वयं भी रण के लिये सन्नद्ध होता है। पर एकाएक उसे सीता याद आ जाती है। तुरत ही सर्वालंकार-भूषित हो इन्द्र के समान वह देवरमण-उद्यान में जाता है। अपने को पतिरूप से मानने के लिये सीता से फिर प्रार्थना करता है। यह उसकी अन्तिम प्रार्थना थी। उस पर सीता गद्गद् हो एक बात का निवेदन करती है—रावण! अगर तुझे मुझ पर दया है तो कितना ही क्रोध आये पर राम, लक्ष्मण तथा भाई प्रभामण्डल को मत मारना। जब तक वे जीवित रहेंगे तभी तक मैं भी जीती रहूंगी। इतना कह कर सीता मूर्च्छित हो जमीन पर गिरती है। उसकी यह दयनीय दशा को देख कर रावण पिघल जाता है। सीता का अश्रुधारापूर्ण मुख एवं शिथिल शरीर को देख कर रावण का चित्त बहुत ही कोमलता को धारण करता है और उसका हृदय पश्चात्तापरूपी आग से धधक उठता है। वह अपने नीच एवं क्रूर कर्म को बार-बार धिक्कारता है। रावण मन में सोचता है—राम से उसका प्रिय-पत्नी सीता को विमुक्त करने का जो मैंने निन्द्य कार्य किया है, उसे धिक्कार है! पर-स्त्री पर मोहित हो मैंने अपनी समुज्ज्वल कुलकीर्त्ति को ही कलङ्कित कर दिया! हा धिक्कार!! उस पुरुष-सिंह राम की पत्नी सती सीता को चुरा कर स्वयं मैंने नरक का रास्ता परिष्कृत कर लिया! कैसा भीषण अपमान एवं अमिट अपकीर्त्ति है! हा! विभीषण, मैंने तेरे हितकर उपदेश को भी ठुकरा दिया! नाहक मेरे बहुत से वीर मर गये और बहुत से शत्रु के हस्तगत हुए! मैंने राम को निष्कारण ही अपमानित किया! अब क्या करूँ? सीता को यों ही दे दूं? किन्तु दुनिया क्या कहेगी? यही न कि डर कर ही रावण ने सीता को दे दिया! संग्राम में

राम और लक्ष्मण को जीत कर वैभव से सीता को लौटाना अच्छा नहीं है ? इससे पौरुष अकलङ्क रह जायगा। साथ ही साथ कीर्त्ति भी अटल रहेगी। अतः युद्ध ही मेरे लिये एकमात्र उत्तम मार्ग है। रावण के इस हृदय-परिवर्तन को देखकर किस के हृदय में अनुकम्पा का आविर्भाव नहीं होता ? दैव प्रतिकूल होने पर भी रावण अपने पुरुषत्व से डिगता नहीं। फिर भी दैव को उस पर दया नहीं आती। वह तो उसके सर्वनाश के लिये सर्वथा तुल जाता है। सच पूछिये तो इस समय रावण तीव्र पश्चत्ताप के द्वारा अवश्य कलङ्क-विमुक्त हो जाता है।

खैर, इस समय रावण के चारों-ओर निराशा ही निराशा नजर आती है। वह वीरोचित कीर्त्ति के लिये मरना ही पसन्द करता है। सीता का अन्तिम दर्शन वास्तव में उसके लिये सद्दर्शन बन जाता है। अन्त में आशावादी रावण बहुरूपिणी से प्रेरित हो रणभूमि में सहर्ष उतर पड़ता है। हा ! कर्म किसी को नहीं छोड़ता !

रणक्षेत्र में जाने के कबल एक बार रावण फिर महल में जाता है। वहां पर महिषियों के म्लान मुख देखकर उसे अङ्गद आदि के अनार्य आचरण एक बार फिर याद आ जाते हैं। वह क्रुद्ध हो कर भी फिर शीघ्र सीता की उस दीन प्रार्थना को स्मरण कर लेता है। रावण अपने मन में निश्चय कर लेता है कि राम एवं लक्ष्मण को न मार कर कैद कर लाऊँगा और सीता को उन्हें अवश्य सौंप दूंगा। साथ ही साथ महल को शून्य देख कर उसे मेघवाहन, भानुकर्ण आदि याद आते हैं। रावण रो देता है। पर उत्तर क्षण में ही क्रोध से उद्विग्न हो वीरोचित वाक्यों से वह आप ही आप शत्रुओं को ललकारता है। उस समय उसका हृदय पश्चात्ताप, अनुकम्पा, निर्वेग, अभिमान, क्रोध एवं निराशा आदि से ओत-प्रोत हो जाता है। अन्त में अभिमान और क्रोध से उत्तेजित हो रावण रणाङ्गण के लिये चल देता है।

आज रावण का अन्तिम दिन है। दैव-बल-विहीन वह सेना-सहित जब महल से प्रस्थान करता है तब उसे अनेक अपशकुन दृष्टिगोचर होते हैं। रावण उनकी परवाह नहीं करता है। परन्तु मन्दोदरी उन्हें देख कर घबड़ा जाती है। उसका कलेजा धड़कने लगता है। वह शीघ्र ही श्रद्धेय पति को रोकती है और सीता को दे कर सन्धि करने को समझाती है। पर रावण उसकी प्रत्येक बात का उत्तर देता हुआ अपने सिद्धान्त से तिलमात्र भी विचलित नहीं होता है।

रावण के रणाङ्गण में पहुंचते ही राम की सेना तितर-बितर हो जाती है। इस विषम परिस्थिति को देख कर लक्ष्मण सरोष रथारूढ़ हो बिजली की तरह आगे बढ़ कर रावण को रोकता है। ये दोनों आपस में अपने अपने वीरत्व को सगर्व व्यक्त करते हैं। सीता को लौटा कर पूर्ववत् निरातंक खेचर-राज्य का शासन करने के लिये लक्ष्मण रावण को फिर भी समझाता है। पर रावण अपने अटल सिद्धान्त से जरा भी विचलित नहीं होता। दोनों

महान् वीरों में भयंकर युद्ध होने लगता है। बड़े-बड़े वीर उस युद्ध को देखकर दंग रह जाते हैं। यह युद्ध अतुलनीय था। रावण बहुरूपिणी विद्या के द्वारा अपने को असंख्य रावण बना लेता है। पर लक्ष्मण इससे घबड़ाता नहीं। अन्त में रावण के द्वारा ही प्रयुक्त अप्रतिहत चक्र से लक्ष्मण रावण को मारता है। प्रतापी रावण राज्यलक्ष्मी की नश्वरता को सोचता हुआ पश्चात्ताप-पूर्वक सहर्ष वीरगति को प्राप्त होता है।

जैन रामायणान्तर्गत रावण की इन जीवन-घटनाओं से विज्ञ पाठक रावण के मानवोचित दया, क्षमा, सौजन्य, गाम्भीर्य एवं औदार्य आदि महान् गुणों को स्वयं ही परख लेंगे। जैन रामायण ही नहीं आदि कवि वाल्मीकि ने भी अपनी रामायण में कई स्थानों पर रावण को 'महात्मा' शब्द से भी स्मरण किया है*। आखिर वह भी सत्य का गला कैसे घोंट सकते थे। इतना ही नहीं, वाल्मीकीय रामायण से यह भी सिद्ध होता है कि रावण की राजधानी में घर-घर वेदपाठी विद्यमान थे और घर-घर हवनकुण्ड थे। धर्मात्मा रावण के महलों में कभी कोई नीच कर्म नहीं किया जाता था। उनमें सदा वेद-प्रतिपादित शुभकार्य किये जाते थे, इसी लिये देवता उस पुण्यात्मा रावण के घरों को पूजते थे।†

जिस समय हनुमान् लंका में प्रवेश करता है, तब उसकी स्थिति देख कर विस्मित हो उसके मुंह से निम्न लिखित शब्द निकल पड़ते हैं—"स्वर्गोऽयं देवलोकोऽयमिन्द्रस्यापि पुरी भवेत्। सिद्धिर्वेयं परा हि स्यादित्यमन्यत मारुतिः॥" (सु० कां० सर्ग ९) अगर रावण निर्दय एवं दुष्ट होता तो क्या ऐसे प्रशंसात्मक शब्द हनुमान् के मुख से निकलने सम्भव थे? लंका का शासक एक न्यायी, सदाचारी, राजनीतिपटु एवं रणदुर्मद था तब न हनुमान् उसकी उस राजधानी को स्वर्ग, देवलोक तथा इन्द्रलोक होने का अनुमान करता है! रावण संयमी एवं सदाचारी था इस बात को हमारे महाकवि वाल्मीकि भी स्वीकार करते हैं। वह लिखते हैं कि रावण के महलों में अन्यकामा कन्या और अन्यपूर्वा (विवाहिता) स्त्री थी ही नहीं।‡

---

* (क) महात्मनो महद्वेश्म महारत्नपरिच्छदम्। महारत्नसमाकीर्णं ददर्श स महा-कपिः॥
सु० कां० सर्ग ५।
(ख) स रावणं महात्मानं विजने-मन्त्रि-सन्निधौ॥ सु० कां० सर्ग १०॥
(ग) सर्वकामैरुपेतां च पानभूमि महात्मनः॥ सु० कां० सर्ग ११॥
(घ) कञ्चनाङ्गदसन्नद्धो ददर्श स महात्मनः॥ सु० कां० सर्ग १०॥

† (क) षडंगवेदविदुषां क्रतुवत्याजिनाम्। शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥
सु० कां० सर्ग १८॥
(ख) गृहाणि नानावसुराजितानि देवासुरैश्चापि सुपूजितानि।
सर्वैश्च दोषैः परिवर्जितानि कपिर्ददर्श स्वबलार्जितानि॥ सु० कां० सर्ग ६॥

‡—न तत्र काश्चित् प्रमदाः प्रसह्य वीर्योपपन्नेन गुणेन लब्धाः।
न चान्यकामापि न चान्यपूर्वा विना वराहीं जनकात्मजान्तु॥

वह यदि चाहता तो सब कुछ उसके लिये संभव था। वह पाप-भीरु था, इसलिये उसने सीता को छोड़ कर कभी भी किसी पर-स्त्री पर हाथ नहीं उठाया। बल्कि निम्न श्लोक से सिद्ध होता है कि सीता पर भी बलात्कार करना उस का अभीष्ट नहीं था।

"एवं चैतदकामान्तु न त्वां स्प्रक्ष्यामि मैथिलि!। कामं कामः शरीरे मे यथाकामं प्रवर्तताम्॥"

अर्थात् हे मैथिलि! मेरे शरीर में कामदेव भले ही इच्छानुसार संचार करे, पर इच्छारहित तुम्हारे शरीर का मैं स्पर्श भी नहीं करूँगा। (वाल्मीकीय रामायण)।

एक जैनेतर विद्वान का ही मत है कि रावण ने किसी पाप-विचार से सीता का अपहरण नहीं किया था; किन्तु प्रत्यपकार और प्रत्यवमानना के विचार से। शूर्पनखा का नाक-कान काट कर भगवान रामचन्द्र ने महात्मा रावण का बड़ा भारी अपमान किया, जिसे वह न सह सका और उसने संसार में राम को अपमानित करने की ठान ली। क्योंकि भगवान राम ने एक अबला पर अपनी शूरता प्रदर्शित कर महात्मा रावण का अपमान किया था, इसलिये महात्मा रावण ने भी 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की नीति का अनुसरण कर उसकी धर्मपत्नी के हरण से ही उनका अपमान करने को ठान ली।

चौदहवें वर्ष के प्रवेश में सीतापहरण हुआ और वह भी बहन के नाक-कान काटे जाने के उपरांत। यदि सीतापहरण में रावण की पाप-वासना ही मूलकारण थी तो वह पाप-वासना पहले तेरह वर्ष कहाँ रही? क्या कहीं बृहन्नला (अर्जुन) के समान महात्मा रावण को भी तेरह वर्ष नपुंसक होकर बिताने का शाप तो नहीं मिला था? स्पष्ट है कि सीतापहरण का मूल कारण प्रत्यपकार है न कि पापवासना।*

रावण के चरित्र की महत्ता जानने के लिये तेलगु के सुप्रसिद्ध एवं उदीयमान लेखक श्रीमुद्दुकृष्ण का 'अशोकवन' नामक एकांक नाटक भी विशेष दर्शनीय है। बल्कि हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर-कार्यालय बंबई की ओर से उसका सुन्दर हिन्दी अनुवाद भी निकल चुका है। इस नाटक के सम्बन्ध में उसके सफल अनुवादक श्रीव्रजनन्दन शर्मा की भूमिका-सम्बन्धी कुछ वाक्यों को ही विज्ञ पाठक यहां पर पढ़ लें। "हम रावण के जिस चरित्र को देखने-सुनने के आदी हो गये हैं, उससे यह चित्र सर्वथा भिन्न है। यह रावण वाल्मीकि और तुलसी के रावण से अपना बिल्कुल साम्य नहीं रखता। दक्षिण के कुछ आधुनिक विद्वानों की राय है कि लंका-वासी दर-असल वैसे नहीं थे, जैसा कि संस्कृत या अन्य भाषा के कवियों और लेखकों ने उन्हें चित्रित किया है। ऐसे विकृत चरित्र गढ़ने की जड़ आर्य और अनार्य की भावना काम कर रही थी। इस लेखक ने भी 'कैफियत' में वही बात सामने रक्खी है।" वास्तव में यह 'कैफियत' विचारणीय है। क्या ये सब बातें जैनरामायण की कथा को पुष्ट नहीं करती हैं?

* देखें—सरस्वती भाग १२, खण्ड १ में प्रकाशित 'महात्मा रावण' शीर्षक लेख।

अब गुणभद्राचार्य की रामकथा में विमल सूरि की रामकथा से जो भिन्नता दृष्टिगोचर होती है उसका भी यहां पर उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। गुणभद्र की रामकथा में सीता मन्दोदरी की पुत्री थी। भारतीय साहित्य में सीता को मन्दोदरी की पुत्री माननेवाली कथा सिर्फ यह एक ही नहीं है और भी बहुत सी कथायें हैं।* इस कथा की अपेक्षा दशरथ की राजधानी वाराणसी थी। सीतापहरण भी उस नगर के समीप ही उद्यान में हुआ था। बौद्धों के 'दशरथजातक' में सीतापहरण का उल्लेख नहीं है अवश्य। फिर भी और सब बातें मिलती जुलती हैं। गुणभद्र की उक्त रामकथा में प्रतिपादित सुवर्णमृग, वालिवध एवं माया सीता का शिरश्छेदनादि बातें वाल्मीकीय रामायण से मिलती हैं। इन सब बातों को देखते हुए गुणभद्र-सम्प्रदाय-सम्बन्धी रामायण के लिये कोई मूल खास रामायण नहीं मालूम होती। ज्ञात होता है कि कई रामायणों को सामने रख कर ही इसकी रचना की गयी थी। हरिषेण की कथा एवं यज्ञ-यागादि का विरोध विमल सूरि और गुणभद्र की कथाओं में समान रूप से पाये जाते हैं।

यहां पर वाल्मीकीय रामायण एवं जैनरामामण में पाये जानेवाले कुछ प्रमुख भेदों का भी उल्लेख कर दिया जाता है—

जैन रामायण में राम की माता अपराजिता और शत्रुघ्न की माता सुप्रभा बतायी गयी है। सुमित्रा के लक्ष्मण एक ही पुत्र था इसमें विश्वामित्र की चर्चा ही नहीं है। सुग्रीव-वाली आदि बंदर नहीं थे; किन्तु कपिध्वज थे। बल्कि रावण से इनका सम्बन्ध था। वरुण के युद्ध में हनुमान ने रावण की सहायता की थी। शम्बूक शूद्र न होकर रावण की बहन चन्द्रनखा का लड़का था। बल्कि 'सूर्यहास' खड्ग के लिये तपस्या करते हुए इसे लक्ष्मण ने भ्रम से मारा था जो रावण-द्वारा सीतपहरण का एकमात्र कारण बन गया। राम का वर्ण गौर और लक्ष्मण का श्याम था। लक्ष्मण ने ही रावण को मारा, राम ने नहीं। राम उसी भव से मोक्ष गये हैं। सीता को प्रभामण्डल नामक एक भाई भी था। जैन रामायण में सीता पहले अर्थात् रामायण के युद्ध के बाद अयोध्या लाने के पहले अग्नि-प्रवेश न कर के लवांकुश के जन्म के बाद ही करती है बल्कि अग्नि-प्रवेश करने के बाद विरक्त हो वह जिनदीक्षा ही ले लेती है। विरक्ति का कारण एकमात्र उन पर लगाया गया मिथ्या लाञ्छन ही था।

पाश्चात्य विद्वानों में रामायण के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत है। जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् वेबर ने लिखा है कि रामायण काव्य दक्षिणापथ में आर्य-सभ्यता विशेषतया कृषि-ज्ञान-विस्तार-विषयक एक रूपकमात्र है। सीता किसी का नाम है। सीता ही हलपद्धति और रामायण हलधर बलराम है। महाभारत-वर्णित युद्धपर्व के बहुत पीछे रामायण संकलित हुई है।†

* देखें—Winternitz, H. I. L., 494, N. 4.

† Weber's Sanskrit Literature P. 192.

बौद्धों के 'दशरथ-जातक' के कितने ही श्लोकों के साथ रामायण के श्लोकों का मेल देखकर उक्त विद्वान् ने प्रमाणित किया है कि दशरथ-जातक के मूल उपाख्यान का आश्रय लेकर वाल्मीकीय रामायण रची गई। इसके अतिरिक्त कोई कोई पाश्चात्य पण्डित यह भी कहते हैं कि हिन्दू और सिंहलस्थ बौद्धों के परस्पर विवाद-विसंवाद विज्ञापक रूपक लेकर रामोपाख्यान की सृष्टि हुई है। फिर किसी का मत है कि रामायण होमर-कृत ग्रीक काव्य का ही अनुकरण है। इसी प्रकार रामायण के विषय में कितने ही अश्रुत एवं अद्भुत मत-मतान्तर देखने को मिलते हैं। पर 'हिन्दीविश्वकोष' के विज्ञ सम्पादक प्राच्य-महाविद्यार्णव नगेन्द्रनाथ वसु ने अपने कोष में उल्लिखित मतों को पुष्ट युक्तियों से खण्डन कर यह सिद्ध किया है कि महाभारत से रामायण बहुत प्राचीन है। साथ ही साथ उनका यह भी कहना है कि रामायण-रचना काल में संस्कृत का ही कथित भाषारूप में प्रचार था† और इसी समय लौकिक काव्य-रचना का सूत्रपात हुआ। किन्तु रामायण के रचना-काल के सम्बन्ध में वसु महाशय भी सन्दिग्ध हैं। वह कहते हैं कि "जैनतीर्थंकर और बुद्धदेव के आविर्भाव-काल में 'मागधी' भाषा का प्रचार हुआ था। इसी कारण प्राचीन जैन और बौद्ध धर्म-ग्रन्थ मागधी वा अर्द्ध मागधी भाषा में रचे गये हैं। ई० सन् ७७७ वर्ष पहले जैनतीर्थङ्कर पार्श्वनाथ स्वामी ने निर्वाण लाभ किया। उन्होंने जो चातुर्याम धर्मप्रचार किया वह भी मागधी भाषा में ग्रथित देखा जाता है। इस हिसाब से उनके पहले से मागधी भाषा जन-साधारण की बोलचाल की भाष में गिनी जाती थी, इसमें और सन्देह ही क्या रह गया ? अतः उससे भी सैकड़ों वर्ष पहले अर्थात् मागधी भाषा का जब बिल्कुल प्रचार नहीं था उस समय संस्कृत भाषा ही भारतीय आर्यसमाज में प्रचलित थी तथा उसी समय मूल रामायण रची गयी।" साथ ही साथ उनका यह भी मत है कि "रामचन्द्र का आदर्श चरित्र-वर्णन ही मूल रामायण का उद्देश है। उनके देवत्व वा अवतारवाद की घोषणा करना मूलरामायण का मूल उद्देश नहीं है। इसी कारण रामायण के जिस-जिस स्थान में रामचन्द्र का विष्णु का अवतार बताया है, उस अंश को बहुतेरे प्रक्षिप्त कह कर विश्वास करते हैं।

इस प्रकार मैंने विज्ञ पाठकों के समक्ष एक नया विषय उपस्थित किया है। मैं आशा करता हूं कि विद्वत्समाज इस पर विशेष प्रकाश डालने का कष्ट उठायेगा। किसी नूतन बात को देख कर किसी को सहसा भड़कना नहीं चाहिये। अनेकान्त-नीति का आश्रय लेकर उसपर उन्हें गौर से विचार करना चाहिये। कोई भी खोज अन्तिम निर्णायक नहीं होती। उसमें विचार-विमर्श के लिये काफी गुंजायश रहती है।

---

† धारयन् ब्राह्मणां रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन।
आमंत्रयति विप्रान् स श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः॥ (अरण्यकाण्ड)
अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः।
वाचश्चोदाहरिष्यामि मानुषीमिव संस्कृताम्॥
यदि वाचं वदिष्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥
अवश्यमेव वक्तव्यं मानुष्यं वाक्यमर्थवत्।
मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता॥ (सुन्दरकाण्ड)

वीरनन्दी और उनका आचारसार

(ले०—श्रीयुत पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

दि० जैनग्रन्थकारों में आचार्य वीरनंदी का नाम भी बड़े गौरव के साथ लिया जाता है, और इनकी गणना भी बहुत बड़े विद्वानों में की जाती है। आप सिद्धान्त-शास्त्रों के अच्छे मर्मज्ञ थे। और व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि विषयों में भी अपने गुरु मेघचन्द्र के समान ही प्रतिभा-सम्पन्न थे। साथ ही, सिद्धान्त-चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित थे। यह उपाधि सिद्धान्त-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों को दी जाती थी, और इसका सब से प्रथम सौभाग्य आचार्य जिनसेन के गुरु वीरसेन को प्राप्त हुआ था। इसके बाद उत्तरोत्तर विद्वानों में इसका प्रचार हुआ जान पड़ता है।

आचार्य वीरनन्दी मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव के आत्मज और शिष्य थे। जैसा कि आचारसार की प्रशस्ति के निम्न वाक्य से स्पष्ट है :—

वैदग्धश्रीवधूटीपतिरतुलगुणालंकृतिर्मेघचन्द्र-
स्त्रैविद्यस्यात्मजातो मदनमहिभृतो भेदने वज्रपातः।
सैद्धान्तिव्यूहचूडामणिरनुफलचिन्तामणिर्भूजनानां
योऽभूत्सोजन्यरुन्द्रश्रियमवति महावीरनंदी मुनीन्द्रः ॥*

—आचारसार, १२, ३२

अर्थात् आचार्य वीरनन्दी चतुरतारूपीलक्ष्मी के स्वामी हैं, अनुपम गुणों से अलंकृत हैं, मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव के आत्मज—पुत्र हैं और कामदेवरूपी पर्वत को भेदन करने के लिये वज्र के समान हैं, सिद्धान्त-शास्त्रज्ञों के समूह में चूड़ामणि हैं और पृथ्वी-मंडल के लोगों को इच्छित फल देने वाले उत्तम चिन्तामणि हैं; ऐसे श्रीवीरनन्दी मुनि सज्जनता-रूप सघन लक्ष्मी की सदा रक्षा किया करते हैं।

वीरनन्दी के गुरु आचार्य मेघचन्द्र मूलसंघ के पुस्तक-गच्छ और देशीय गण के आचार्य थे। साथ ही, तार्किक-चक्रवर्ती, सिद्धान्तेश्वर-शिखामणि और त्रैविद्यदेव नामक उपाधियों से अलंकृत थे, जैसा कि श्रवणबेल्गोल के शिलालेख नं० ४७ के निम्न पद्य से प्रकट है :—

श्रीमूलसंघकृतपुस्तकगच्छदेशी-
योद्यद्गणाधिपसुतार्किकचक्रवर्ती।

* यह पद्य आचारसार के १२ वें अधिकार में ३२ नं० पर और श्रवणबेल्गोल के शिलालेख में ५० नं० पर पाया जाता है।

सैद्धान्तिकेश्वरशिखामणिमेघचन्द्र-
स्त्रैविद्यदेव इति सद्विबुधा(:) स्तुवन्ति ॥

इनके गुरु न्याय, व्याकरण, सिद्धान्त आदि सभी विषयों के अधिकारी विद्वान् थे और इसीलिये उक्त शिलालेख में आप की बड़ी प्रशंसा की गई है। लेखवृद्धि के भय से उसे यहां नहीं दिया जा सकता, परन्तु उसमें का एक पद्य नीचे दिया जाता है :—

सिद्धान्ते जिनवीरसेनसदृशः शास्त्राब्जभा-भास्करः
षट्तर्केष्वकलंकदेवविबुधः साक्षादयं भूतले।
सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयं
त्रैविद्योत्तममेघचन्द्रमुनिपो वादीभपंचाननः ॥

इस श्लोक में बताया गया है कि आचार्य मेघचन्द्र सिद्धान्त में वीरसेन, तर्क में अकलंक और व्याकरण में पूज्यपाद के समान विद्वान् थे।

इसके सिवाय, आचार्य वीरनन्दी ने स्वयं अपने 'आचारसार' नामक ग्रन्थ में अपने गुरु मेघचन्द्र की बड़ी प्रशंसा की है, उसका पाठक ग्रन्थ पर से ही अवलोकन करें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आचार्य मेघचन्द्र अपने समय के सकुशल विद्वान माने जाते थे। यद्यपि आप के जीवन-सम्बन्धी विशेष घटनाओं का उल्लेख अभी तक मेरे देखने में नहीं आया है—न जन्मभूमि आदि का ही कुछ परिचय उपलब्ध हुआ है और न यही मालूम हो सका है कि आपने अपने जीवन में किन-किन ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं। हाँ, कर्नाटककविचरिते से सिर्फ इतना अवश्य पता चलता है कि आपने आचार्य पूज्यपाद के 'समाधितन्त्र' नामक ग्रन्थ पर एक संस्कृत टीका लिखी है,[1] परन्तु वह अभी तक मेरे देखने में नहीं आई। इसके सिवाय, आप का और कोई ग्रन्थ सुनने में नहीं आया। आचार्य मेघचन्द्र अभिनव पंप (नागचन्द्र) के गुरु बालचन्द्र के सहाध्यायी और सकलचन्द्र के शिष्य थे। आप की गुरु-परम्परा गोलाचार्य से शुरू होती है, इसका विस्तृत उल्लेख श्रवणबेल्गोल के शिलालेख

१ 'कर्नाटककविचरिते' में ऐसा नहीं लिखा है। 'चरिते' में तो स्पष्ट यह लिखा है कि श्रवणबेल्गोल के ४२वें शिलालेख में प्रतिपादित मेघचन्द्र, वीरनन्दी के गुरु सकलचन्द्र के शिष्य एवं शक १०३७ (वि० सं० ११७२) में स्वर्गगत मेघचन्द्र से भिन्न नयकीर्ति के शिष्य द्वितीय मेघचन्द्र हैं। चरित्रकार का अनुमान है कि शक १०७० (वि० सं० १२०५) में अभिनव पंप या नागचन्द्र के पुत्र के लिये समाधिशतक की व्याख्या इन्हीं द्वितीय मेघचन्द्र ने लिखी होगी। अतः वीरनन्दी के गुरु सकलचन्द्र के शिष्य प्रथम मेघचन्द्र से समाधिशतक की व्याख्या लिखनेवाले नयकीर्त्ति के शिष्य द्वितीय मेघचन्द्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। वीरनन्दी के गुरु प्रथम मेघचन्द्र ही हैं यह बात उसी श्रवणबेल्गोल के ५०वें शिलालेख से व्यक्त होती है।

—के० बी० शास्त्री

नं० ४७ में किया गया है। आप के अनेक शिष्य थे, परन्तु उनमें प्रभाचन्द्र, शुभचन्द्र* और वीरनन्दी आदि कई प्रधान शिष्यों के स्मृतिलेख श्रवणबेल्गोल के शिलालेख नं० ४७ और ५० पर अङ्कित हैं।

आचार्य मेघचन्द्र का स्वर्गवास शक संवत् १०३७ (वि० सं० ११७२) में मगसिर सुदी चतुर्दशी बृहस्पतिवार के दिन धनुर्लग्न में हुआ था, जैसा कि श्रवणबेल्गोल के शिलालेख नं० ४७ के निम्नवाक्य से स्पष्ट है :—

"सक वर्ष १०३७ नेय मन्मथ संवत्सरद मार्ग्गसिर सुद्ध १४ बृहवार धनुलग्नद पूर्वाह्नदारु-घलिगेयप्पागलु श्रीमूलसङ्घद देसिगगणद पुस्तकगच्छद श्रीमेघचन्द्रत्रैविद्यदेवर्तम्मवसानकाल-मवरिदु पल्यङ्काशनदोलिद्दु आत्मभावनेयंभाविसुत्तं देवलोकक्के सन्दराभावनेयेन्तप्पुदेन्दोडे।"

और इनके शुभचन्द्र नाम के शिष्य का स्वर्गवास शक संवत् १०४५ (विक्रम संवत् ११८०) में श्रावण बदी दशमी को अपने गुरु मेघचन्द्र से ठीक आठ वर्ष बाद हुआ था। जैसा कि निम्न शिलालेख के निम्नवाक्य से मालूम होता है—

बाणाम्भोधिनभश्शशाङ्कतुलिते जाते शकाब्दे ततो-
वर्षे शोभकृताह्वये व्युपनते मासे पुनः श्रावणे।
पक्षे कृष्णविपक्षवर्तिनि सिते वारे दशम्यां तिथौ,
स्वर्यातः शुभचन्द्रदेवगणभृत् सिद्धान्तवारान्निधिः॥

—श्रवणबेल्गोल शिलालेख ४३†

प्रवचनसारादि ग्रन्थों के टीकाकार आचार्य जयसेन ने अपनी पंचास्तिकाय की दूसरी गाथा की टीका में आचार्य वीरनन्दी के आचारसार के चतुर्थ अधिकार के ९५, ९६ नं० के दो श्लोक उद्धृत किये हैं, और प्रोफेसर ए० एन० उपाध्याय जी ने अपनी प्रवचनसार की प्रस्तावना में आचार्य जयसेन का समय ११५० A. D. के बाद विक्रम की १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य जयसेन वीरनन्दी के ही समकालीन थे; क्योंकि आचारसार के मूल रचे जाने के कुछ समय बाद आचार्य वीरनन्दी

* श्रवणबेल्गोल के शिलालेख ४७ और ५० पर से शुभचन्द्र मेघचन्द्र के शिष्य सिद्ध नहीं होते हैं। बल्कि इन शिलालेखों में तो शुभचन्द्र का नाम-निर्देश मुझे दृष्टिगोचर ही नहीं हुआ। हाँ, ४१वें शिलालेख में इसी मेघचन्द्र की गुरुपरम्परा में एक शुभचन्द्र का नाम उपलब्ध होता है अवश्य; पर यह म० रामचन्द्र के शिष्य बतलाये गये हैं।

† ४३वें शिलालेख में प्रतिपादित यह श्लोक मलधारी देव के शिष्य शुभचन्द्र के स्वर्गारोहण का निर्देश करता है। यह शुभचन्द्र उल्लिखित (२रे फुटनोट में दिये गये) म० रामचन्द्र के शिष्य शुभचन्द्र से भिन्न हैं। — के० बी० शास्त्री

ने ११५३ A. D (वि० सं० १२१०) में उस पर एक कनड़ी टीका बनाई। इससे प्रतीत होता है कि आचार्य वीरनन्दी वि० की १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए हैं और वि० की १३वीं शताब्दी तक उनका अस्तित्व रहा जान पड़ता है।* इन दो ग्रन्थों के सिवाय, उनका और कोई ग्रन्थ देखने में नहीं आया। और न यही ज्ञात हो सका कि १३ वीं शताब्दी में उनका कब तक अस्तित्व रहा।

आचार्य वीरनंदी का 'आचारसार' संस्कृत का अपूर्व ग्रन्थ है, इसमें मुनि की क्रियाओं का—उनके आचार-विचार का—कितना ही विधान कहा गया है। इसके सिवाय, अन्य भी आवश्यक विषयों का समावेश किया गया है। इस ग्रन्थ में मूलाचार की तरह १२ अधिकार दिये हैं, परन्तु उनके पृथक्-पृथक् नाम नहीं दिये गये हैं; जबकि मूलाचार में दिये हैं। आचारसार का मूलाचार के साथ तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर पता चलता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य वीरनंदी की स्वतंत्र रचना नहीं मालूम होती, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि आचार्य वीरनन्दी ने 'मूलाचार' को सामने रख कर ही प्रायः इस ग्रन्थ की रचना की है; इसी कारण आचारसार के प्रत्येक अधिकार के आदि-अन्त मंगल और प्रशस्ति को छोड़ कर शेष सब श्लोकों का प्रायः मूलाचार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध जान पड़ता है और वह उसी पर से अनुवादित किये गये हैं। मूलाचार के पर्याप्ति नाम के १२ वें अधिकार का कुल वर्णन जो द्रव्यानुयोग और करणानुयोग से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है और जो प्रकृत विषय में अनुपयोगी भी है वह सब का सब आचारसार में तीसरे, चौथे और ११ वें अधिकार में दिया गया है। मूलाचार के विषयों का यद्यपि इसमें क्रमवार वर्णन नहीं दिया गया है। आगे पीछे के विभिन्न अधिकारों में दिया गया है उसके भाव को बिल्कुल नहीं छोड़ा है, प्रायः ज्यों का त्यों समन्वय किया गया है। पाठकों की जानकारी के लिये मूलचार की कुछ गाथाएँ आचारसार के श्लोकों सहित नमूने के तौर पर दी जाती हैं:—

सुत्तं गणधरकधिदं तहेव पत्तेयबुद्धि कधिदं च
सुदकेवलिणा कधिदं अभिण्णदसपुव्वकधिदं च ॥
—मूलाचार, २७७

गणेशोक्तं मतं सूत्रमभिन्नदशपूर्विभिः ।
उक्तं प्रत्येकबुद्धैश्च श्रुतकेवलिभिः श्रुतम् ॥
—आचारसार, ४, ८८

* १३वीं शताब्दी में १० साल तक आप का जीवित रहना निर्भ्रान्त सिद्ध है। क्योंकि वि० सं० १२१० में ही तो आप ने अपने 'आचारसार' पर कन्नड टीका लिखी थी। साथ ही साथ यह भी एक ज्ञातव्य विषय है कि आचार्य सोमदेव के 'नीतिवाक्यामृत' पर कन्नड टीका लिखनेवाले नेमिनाथ इन्हीं वीरनन्दी के शिष्य हैं। —के० बी० शास्त्री

समदा सामाचारो सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिं हि समाणं सामाचारो दु आचारो॥
—मूलाचार, ४, १२३

समः समानः सं सम्यगाचारो यः समैर्युतैः।
आचर्यत इति प्राज्ञैः स समाचार ईरितः॥
—आचारसार, २, ३

सचित्ता चित्ताणं किरिया संठाण वण्णभेएसु।
रागादि संगहरणं चक्खुणिरोहो हवे मुणिणो॥
—मूलाचार, १, १७

चेतनेतरवस्तूनां हर्षमर्षाकरक्रिया।
वर्णसंस्थानभेदेषु चक्षुरोधोऽविकारधीः॥
—आचारसार, १, १८

सज्जादी जीव सद्दे वीणादि अजीवसंभवे सद्दे।
रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु॥
—मूलाचार, १, १८

जीवा जीवोभयोद्भूते चेतोहारीतरस्वरे।
रागद्वेषाविलस्वान्तदण्डनं श्रोत्रदण्डनम्॥
—आचारसार, १, २९

वंजण मंगं सरं छिण्णं भूमं च अंतरिक्खं च।
लक्खणसुविणं च तहा अट्ठविहं होइ णेमित्तं॥
—मूलाचार ६, ४४९

स्वरान्तरित्वभौमांगव्यंजनच्छिन्नलक्षण—
स्वप्नाष्टांगनिमित्तैर्यन्निमित्तमशनार्जनम्॥
—आचारसार, ८, ३९

खीरदहि सप्पितेल गुडलवणाणं च जं परिच्चयणं।
तित्त कडु कसायं बिल मधुररसाणं च जं चयणं॥
—मूलाचार, ३५२

दधिक्षीराऽऽज्यतैलादेः परिहारो रसस्य यः।
तपो रसपरित्यागो मधुरादिरसस्य वा॥
—आचारसार, ६, १३

अणसणअवमोदरियंरसपरिचाओयवुत्तिपरिसंखा ।
कायस्स च परितावो वि वित्तसयणासणं छट्ठं ॥

—मूलाचार, ३४६

अनशनावमोदर्यं वृत्तिसंख्या रसोज्झिता ।
विविक्तशयनाशनं कायक्लेशो बहिस्तपः* ॥

—आचारसार, ६, ४

इन सब उद्धरणों से पाठक जान सकेंगे कि प्रस्तुत ग्रन्थ स्वतंत्र कृति नहीं है, किन्तु अनुवादित है।

यहाँ यह भी बता देना आवश्यक समझता हूं कि आचारसार के कर्ता वीरनंदी से 'चंद्रप्रभ-चरित' के कर्ता वीरनंदी भिन्न व्यक्ति हैं और वे इनसे पहले हो गये हैं। उनके गुरु का नाम अभयनन्दी था; क्योंकि वीरनंदी ने 'चन्द्रप्रभचरित' में अपने गुरु अभयनन्दी की बहुत तारीफ़ की है। पं० जवाहरलाल जी शास्त्री ने द्रव्यसंग्रह की प्रस्तावना में चन्द्रप्रभचरित के कर्त्ता को आचारसार का कर्त्ता भी लिखा है, जो कि ठीक नहीं है; क्योंकि दोनों ही वीरनंदी भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं और उनकी गुरु-परम्परा भी भिन्न-भिन्न ही है, तथा समय भी भिन्न है—इस कारण वे दोनों व्यक्ति एक नहीं हो सकते। और न चन्द्रप्रभचरित के कर्ता-द्वारा आचारसार के रचे जाने की कल्पना ही की जा सकती है।

---

* इसी आशय का निम्न सूत्र भी तत्त्वार्थ सूत्र में पाया जाता है :—'अनशनावमोदर्य-वृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनं कायक्लेशः बाह्यं तपः। – तत्त्वा० सूत्र, ९, १९

'नय-विवरण' का कर्ता कौन है ?

[लेखक—श्रीयुत पं० सुमेरुचंद्र जैन, दिवाकर, न्यायतीर्थ, शास्त्री, बी० ए०, एल-एल०बी०]

संस्कृत का संग्रहात्मक ग्रन्थ प्रथम गुच्छक दुवारा बाबू पन्नालाल जी चौधरी के द्वारा काशी से मुद्रित हुआ है, उसमें 'नयविवरण' नाम की एक पद्यमयी रचना ११९ पद्यों में प्रकाशित हुई है। उसके विषय में पुस्तक में यह लिखा है कि 'इसके कर्ता का नाम अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है।'

एक दिन नयविवरण को पढ़ने के पश्चात् मुझे श्लोकवार्तिक का नय-सम्बन्धी वर्णन देखना पड़ा, तब यह प्रतीत हुआ, कि श्लोकवार्तिक के 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र पर पेज ११७ आदि में तथा 'नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः' सूत्र पर पेज २६७ आदि में, जो स्याद्वादविद्यापति आचार्य विद्यानंदि ने नयों के सम्बन्ध में निरूपण किया है, उसमें से पद्यात्मक उपयोगी अंश ही नयविवरण के रूप में संकलित हुआ है।

यदि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के उपर्युक्त प्रकरण के पद्यों से नयविवरण के पद्यों की तुलना की जाय, तो प्रेस की कुछ अशुद्धियों के सिवाय दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं मिलता।

नयविवरण में नं० ५ का यह श्लोक उपर्युक्त प्रकरण में श्लोकवार्तिक में नहीं मिला।

स्वार्थांशस्यापि वस्तुत्वे तत्परिच्छेदको नयः ।
प्रमाणमन्यथा मिथ्याज्ञानं प्राप्तः स इत्यसत् ॥५॥

'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र पर जो विद्यानंदि-स्वामी ने श्लोकवार्तिक में अपना भाष्य रचा है उसमें 'नांशेभ्योर्थांतरं कश्चित्' इत्यादि श्लोक नं० ७ से लेकर 'यथांशिनि प्रवृत्तस्य ज्ञानस्येष्टा प्रमाणता' इत्यादि श्लोक नं० १८ तक के १२ श्लोक नयविवरण में संकलित नहीं किये गए हैं।

इसी प्रकार 'प्रमाणेन नयैश्चापि स्वार्थाकारविनिश्चयः' (श्लोकवार्तिक पद्य २८, पेज १२४) से आगे २५ श्लोक और छोड़ दिये गये हैं।

नयविवरण के शुरू के १६ पद्य तो 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र के भाष्य में से लिए गए हैं; बाकी पद्य 'नैगमसंग्रह'.....आदि सूत्र के भाष्य के हैं। इस सूत्र के भाष्य में १०२ श्लोक आए हैं; सब वे कारिकाएँ नयविवरण में शामिल की गई हैं। (निर्दिश्याधिगमोपाय .....से लेकर संक्षेपेण नयास्तावत् पर्यन्त; अर्थात् नयविवरण के श्लोक नं० १७ से श्लोक नं० ११८ पर्यन्त)।

नयविवरण की अन्तिम कारिका नं० ११९, जो शार्दूलविक्रीडित छंद में लिखी गई है, वह श्लोकवार्तिक में नहीं पाई जाती है। वह इस प्रकार है -

बालानां हितकामिनां मतिमहापापैः पुरोपार्जितैः।
माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात्प्रायो गुणद्वेषिभिः॥
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्यते नीयते।
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः॥११९॥*

नयविवरण पेज २६४॥

उपर्युक्त कारिका नं० ५ तथा ११९ नयविवरण में ऐसी हैं, जो कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में नहीं मिलीं। इनके सिवाय शेष ११७ कारिकाएं श्लोकवार्तिक की हैं। अतः नयविवरण किसी विद्वान् की संग्रह की हुई रचना प्रतीत होती है। ग्रन्थ का प्रमेय श्लोकवार्तिक का है, अतः उसकी अपेक्षा रचना का श्रेय तथा गौरव विद्यानंदि-स्वामी को ही दिया जा सकता है।

अन्य किसी विद्वान् ने श्लोकवार्तिक से श्लोकों का चुनाव (Selection) करके उसकी अन्वर्थता को देखकर 'नयविवरण' नामकरण कर दिया।

नयविवरण का संकलनकार जो हो, किन्तु विद्यानंदिस्वामिकृत श्लोकवार्तिक को देख कर यह कहना पड़ता है कि इस रचना के जनक के रूप में श्रेयो-भाजन आचार्य विद्यानंदी हैं। उपर्युक्त श्लोक नं० ५ में—

'स्वार्थांशस्यापि वस्तुत्वे तत्परिच्छेदको नयः।
प्रमाणमन्यथा मिथ्याज्ञानं प्राप्तः स इत्यसत्॥'

नवीन कारिका आई है, उसका प्रमेय श्लोकवार्तिक पेज ११८ में इन शब्दों में विद्यमान है ही। यथा:—

'स्वार्थांशस्यापि वस्तुत्वे तत्परिच्छेदे छेदलक्षणत्वात्प्रमाणस्य स न चेद्वस्तु तद्विषयो मिथ्याज्ञानमेव स्यात्तस्यावस्तुविषयत्वलक्षणत्वादिति चोद्यमसदेव'

इससे तो यह संभावना भी होती है, कि उपर्युक्त कारिका श्लोकवार्तिक की रही हो; इस बात का निश्चय अन्य प्राचीन प्रतियों की जाँच से हो सकता है।

इस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों को विचारना चाहिए कि उपर्युक्त दो श्लोक कहाँ से लिए गए हैं या वे श्लोकवार्तिककार ने ही अन्यत्र लिखे हैं। मौजूदा सामग्री तो एक प्रकार से इस नतीजे पर पहुंचाती है, कि नयविवरण परमार्थदृष्टि से विद्यानंदिस्वामी की अमूल्य रचना है।

* यह श्लोक संग्रहकर्त्ता का ज्ञात होता है। —के० बी० शास्त्री

सम्राट् खारवेल का हाथीगुफावाला शिलालेख

[लेखक—श्रीयुत प्रो० बेनीमाधव बारुआ, एम० ए०, डी० लिट्]

सम्राट् खारवेल का हाथीगुफावाला शिलालेख प्राचीन ब्राह्मी-लिपि का एक मुख्य शिलालेख है, जो उदयगिरि पर्वत पर की एक खुली गुफा में अङ्कित है। भुवनेश्वर-मंदिर से पश्चिम की ओर तीन मील पर उक्त गुफा अवस्थित है। शिलालेख एक प्राकृतिक चट्टान पर उकेरा हुआ है, जिसे सब से पहले स्टरलिंग साहब ने देखा था। पं० इन्द्र जी ने उसे सत्रह पंक्तियों में पढ़ा और वह लगभग चौरासी घन फीट लम्बा-चौड़ा है। यद्यपि चट्टान की सतह काम लायक चिकनी नहीं प्रतीत होती, परन्तु अक्षर बड़े और गहरे उकेरे हुए हैं। समय और प्रकृति का असर भी उस पर बेढब पड़ा है। पहली छै पंक्तियाँ तो बिल्कुल सुरक्षित हैं। अन्तिम चार कहीं-कहीं पर ही सुरक्षित रह पाई हैं। बीच की पंक्तियाँ बहुत खराब हो गई हैं—कहीं-कहीं पर तो कोई-कोई भाग प्रकृति के प्रकोप से पूरा उड़ गया है। कहीं-कहीं पर एक या अधिक अक्षर पढ़े जा सकते हैं। खास कर शिलालेख के बायें हिस्से को बहुत नुकसान पहुंचा है और इस दिशा की आठ पंक्तियों के प्रारंभिक अक्षर साफ उड़ गये हैं।

श्रीराखालदास बनर्जी के साथ श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल जी ने तो इस शिलालेख को ठीक पढ़ कर उसका यथार्थ प्रकट करना अपने जीवन का एक कार्य बना लिया था और वह इसमें आशातीत सफलता प्राप्त कर सके थे। सन १९१७ में उन्होंने इस विषय में लिखा था कि "शिलालेख का दांया हिस्सा खुरदरीला छोड़ दिया गया था। उसमें छैनी के चिह्नों से भ्रांति हो जाती है। उनके कारण ग़लत पाठ हो जाते हैं। किन्तु यह चिह्न ही केवल धोखे की चीज नहीं है—बरसात के पानी ने गुफा की छत पर से आ कर शिलालेख के अक्षरों के बीच में कुछ अक्षरों जैसे चिह्न बना दिये हैं। काल के प्रभाव से हुई हानि-द्वारा कितने ही अक्षरों की आकृति में अन्तर पड़ने की भ्रांति होती है। किन्हीं कीड़ों ने भी आज़ादी से उस पर कुछ अनियमित चिह्न बना छोड़े हैं। ऋतु का हानिकारक प्रभाव भी शिलालेख पर पड़ा है। पहले की चार पंक्तियों में लगभग १३ अक्षर प्राकृतिक रीत्या नष्टप्राय हो गये हैं। छठे वर्ष (पं० ६) के इतिहास का आधा भाग और ७वें वर्ष (पं० ७) का विवरण सर्वथा लुप्त हो गया है। ८वीं पंक्ति से १५वीं पंक्ति तक प्रत्येक पंक्ति में स्वाभाविक रीत्या अक्षरों के नष्ट हो जाने से कई स्थल खाली हो गये हैं। १६वीं और १७वीं पंक्तियाँ खूब सुरक्षित हैं; यद्यपि उनके भी प्रारंभिक १२ अक्षर नष्ट हो गए हैं। और भी हानि पहुंचने की संभावना प्रकट चिह्नों से है।"

इस ऐतिहासिक लेख का महत्त्व इस बात में गर्भित है कि प्राचीन कलिङ्ग देश में ऐसा कोई शिलालेख नहीं है जो इतना प्राचीन हो और जिसे उस देश के किसी स्वाधीन राजा ने अङ्कित कराया हो। प्राचीनता की अपेक्षा इस शिलालेख की गणना अशोक के दो शिलालेखों के बाद की जा सकती है, जिसने कलिङ्ग को ईस्वीपूर्व तीसरी शताब्दी में विजय किया था और अपने साम्राज्य का एक प्रांत बना लिया था। इस शिलालेख के अक्षरों से ब्राह्मी-लिपि के विकास की एक श्रेणी का भी पता चलता है। यह शिलालेख आंध्रवंश नृप शातकर्णी प्रथम की विधवा नयनिका के नानाघाट वाले गुफालेख जितना ही प्राचीन है। यद्यपि रायबहादुर रामप्रसाद जी चंदा इसे नानाघाट, बेसनगर, भरहुत और सांची के लेखों से भी बाद का लिपि की अपेक्षा अनुमान करते हैं। बोधगया के कुरंगी और नागदेवी-सम्बन्धी शिलालेख भी अपनी लिपि में इससे किञ्चित् प्राचीन प्रकट होते हैं। भाषा की अपेक्षा, हाथीगुफा का ही एक शिलालेख ऐसा है जिस की भाषा बौद्ध ग्रन्थ 'मिलिन्दपण्ह' के समान शिष्ट पाली है। बौद्धों का यह ग्रन्थ ईस्वी पहली शताब्दी से प्राचीन नहीं है। कलकत्ता विश्वविद्यालय-द्वारा प्रकाशित 'ओल्ड ब्राह्मी इंसक्रिपशन्स इन दी उदयगिरि एन्ड खंडगिरि केव्स' और 'इपीग्रेफिया इंडिका' भाग २० इस शिलालेख के विशेष परिचय के लिये पढ़ना चाहिये। यहां पर उस शिलालेख का संस्कृत और नवीन पाठ उपस्थित किया जाता है।

मूलपाठ

[॥] नमो अरह (न्) ता नं (,) नमो सवसिधानं [॥]

१ ऐरेन महाराजेन महामेघवाहनेन चेतिराजव (ंश) स[1]-वधनेन पसथ-सुमलखणेन[2] चतुरंत-लुठन[3]-गुण-उपेतेन[4] कलिंगाधिपतिना सिरिखारवेलेम[5] [पं० १] पंदरस[6]-वसानि सिरिकडार-सरीरवता कीडिता कुमार-कीडिका [।] ततो लेख-रूप-गणना-ववहार-विधि-विसारदेन सवविजावदातेन नव-वसानि योवराज (ं) व सासितं[7] [।] स [ं] पुण-चतुवीसति-वसो तदानि[8] वध

१ 'चेति' चाहे 'चेत' पढ़िये।

२ जायसवाल, 'लखनेन'।

३ जायसवाल, 'लुठित' 'ठ' पर ि- मात्रा नहीं है।

४ जाय० गुणोपहितेन।

५ पं० इन्द्रजी ने पहले-पहल खारवेल का नाम ठीक-ठीक पढ़ा था।

६ ऐसा ही उड़िया शब्द अङ्क १५ के लिये पन्द्रर है।

७ जाय० पसासितं। यह भी ठीक पाठ कहा जा सकता है।

८ जाय० का पाठ 'तदानि' बारुआजी को अपने पाठ 'सोदानि' की अपेक्षा विशेष उपयुक्त जंचा और अब वही स्वीकृत है।

(मान)-(सेस) योवनाभिविजयो[1] ततिये (पं० २) कलिंग-राजवंसे पुरिस-युगे महाराजाभिसेचनं[2] पापुनाति [।]

२. अभिसितमतो च पधमे वसे वात-विहत-गो-पुरपाकार-निवेसनं पटिसंखारयति कलिंग-नगरी खि (ब)ीर (ऽ)[3] [,] सितल[4]-तडाग-पाडियो च बंधापयति [,] सवुयानपटिसंठपनं च [पं० ३] कातयति पनतीसाहि सत-सहसेहि [,] पकतियो च रंजयति [।]

३. दुतिये च वसे अचितयिता सातकणि[5] पचिमदिसं हय-गज-नर-रध-बहुलं दंडं पठापयति[6] [,] कन्हबेंनंगताय[7] च सेनाय वितासिति[8] असिक-नगरं[9] [।]

४. ततिये पुनवसे [पं० ४] गंधव-वेद-बुधो दप-नत-गीत-वादित-संदसनाहि[10] उसव-समाज-कारापनाहि कीड़ापयति नगरि (ऽ) [।]

५. तथा चवुथे वसे विजाधराधिवासं अहतपुवं[11] कलिंग-पुवराज (?) न (वेसितं)[12] वितधमकुटे[13] ? ? ? ? ? ते[14] निखित-छत-(पं० ५) भिंगारे हित-रतन-सापतेये सव-रठिक-भोजके पादे वंदापयति [।]

६. पंचमे चेदानि[15] वसे नंदराज-ति-वस-सत-ओघाटितं तनसुलिय-वाट पनाडि (ऽ) नगरं पवेस (यति) सो.....[16] [।]

---

१ जाय० वधमानसेसयो वेनाभिजयो ।

२ जाय० माहा ।

३ पहले बारुआ जी ने गभिर पढ़ा था, परंतु अब वह उसे ठीक नहीं समझते ।

४ जाय० इसिताल जो ठीक नहीं है ।

५ जाय० कंणि

६ यह ओड़िया महावरे 'दंड पढायोचि' का पोषक है ।

७ जाय० कञ्हबेंनागताय

८ जाय० वितासितं ।

९ जाय० मुसिक ।

१० जाय० संदंसनाहि ।

११ वारुआजी को अब अपना 'आहत-पुवं' पाठ स्वीकार नहीं है ।

१२ इन्द्र जी, नमंसितं ; जाय०—निवेसितं ।

१३ जाय० वितध-मकुट । पहले जायसवाल जी ने भी वितध-मकुटे पढ़ा था ।

१४ जाय० (स) बिलंधिते ।

१५ जाय० च दानि ।

१६ जायसवाल जी ने छठे वर्ष का विवरण 'सो' शब्द से आरंभ किया था ।

७. अभिसितो ?.....[1] राजसेयं[2] संदंसयंतो[3] सव-कर-वण[4] (पं० ६) अनुगह-अनेकानि सत-सहसानि विसजति पोर-जानपदं[5] [।]

८. सतमे च वसे (अ) ससत[6]—वजिरघर-खतिय-सत-घटनि[7] समतक[8]—पदषंन[9] संतिपद[10]? ?.....[।]

९. अठमे च वसे महता सेनाय (अपति) हत-ि (भ) ति-[11] गोरधगिरिं (पं० ७) घातापयिता राजगह (') उपपीड-पयति[12] [.] एतिनं[13] च कंम-पदान-पनादेन[14] पवंत[15]-सेनवाहने[16] विपमुचितुं[17] मधुरं अपयातो[18] यवन-राजा ? मि ?? स ? [19] (आ) मो, दति[20] ???..... सव (र—रा) जान[21] च.....ग (च) ति[22] (पं० ८) पलवभार[23]-(पं० ८ अ)

---

१ इस स्थान की पूर्ति च कुठे वसे वाक्य से हो सकती है।

२ इन्द्र जी का पाठ भी यही है। जाय० रजसुयं।

३ इन्द्र जी, संदंसनतो: कनिघम, संदसंतो।

४ जाय० उअणं।

५ जाय० पोरं जानपदं।

६ प्रिंसिप०, पसासतो: जाय० सतमं च वसं पसासतो।

७ जाय० वति-ग्सुसित-घरिनि, जो ठीक नहीं है।

८ जाय० समतुक।

९ जाय० पदपुंग[10] दषंन वस्तुतः लेखक ने दसंन (dasamna) लिखा है।

१० जाय० .....(कु) म प्रिंसिप व कनिंघम, सवत-कहदपन नरप।

११ जाय० महत-भिति पहला अक्षर 'अ' सदृश प्रतीत होता है।

१२ प्रिंसिप० राजगभं उपपीडपयति; कनिंघम, राजगंभु उपपीडपयति; इन्द्रजी, राजगह-नपं पीड़ापयति।

१३ जाय० एतिना। यह भी संभव है।

१४ जाय० संनादेन।

१५ जाय० संबित: प्रिंसिप, पंवात।

१६ जाय० सेनवाहनो। अन्ततः उन्होंने 'वाहने' पढ़ा था।

१७ जाय० विपमुंचितु।

१८ नासिक-गुहा लेख नं० १० से मिलान करो।

१९ डा० स्टेनकोनो ने इसे 'डिमित' पढ़ा था: किंतु डिमित अथवा जायसवाल जी के अनुसार दिमित पढ़ना बहुत आगे बढ़ जाना है। हाँ, यवनराज पाठ ठीक है।

२० पाठ प्रायः ठीक है।

२१ जाय० यचति। २२ जाय० पलव.....।

कपरुख[1]-हय-गज-रध-सह यं [ि] त[2] [,] सव-घररावास-प ? ? ? ? य[3] सवगहनं च कारयितुं ब्रह्मणानं[4] ज (य्) अ[5]—परिहार ([6]) ददाति, अरहत·····[।]

१०. ·····वसुविजय[7]—[पं० ९] ते उभय[8]—प्रचि—तटे[9] (राज—) निवासं[10] महाविजय[10]—पासादं कारयति अठतिसाय सत-सहसेहि [।]

११. दसमे च वसे दड-नि ? धीत (भिस) मयो[11] भरधवस—प ? नं[12] ? हि—? यनं[13]·····[14] कारापयति·····[15] ।

१२. ···[16]?????? तानं[17] मनि-रतनानि-सहयाति[18] (पं० १०)—??[19] पुवराज[20] —निवेसितं पिथुडगदभ नगले नेकासयति[21] [,] जनपद-भावनं च तेरस-वस-सत-कतं भिदति[22] तमिरदह[23]-संघातं [।]

---

१ जाय० कपरुखे ।

२ जाय० सहयंते ; इन्द्रजी, सह-यत ।

३ प्रिंसिप घरवसप; कनिघम, घरवसय-अनतिकगवय; इन्द्र जी, घरवसधं; जायसवाल, गहरावास-परिवेसने अगिनठिया। स्पष्टतः कुछ भी नहीं पढ़ा जाता ।

४ इन्द्रजी ने ठीक पढ़ा था। जाय०, बंहणानं ।

५ प्रिंसिप, जतः जाय० जाति परिहारं ।

६ नवें वर्ष के विवरण का आरंभ अज्ञात है ।

७ जाय० कि मानाति ।

८ पुतितटे और पुरितटे भी हो सकता है ।

९ जाय० संनिवासं ।

१० जाय० महाविजयं ।

११ कनिंघम, दतिभिसर·····; जाय०, दंड-संधिसाममयो ।

१२ कनिंघम, प·····न; इन्द्र जी, पठानं; जाय० पठानं ।

१३ कनिंघम, महयन ; जाय०, मही-जयनं ।

१४ कुछ भी ठीक पढ़ा नहीं जाता ।

१५ यह अन्तिम शब्द पढ़ने में नहीं आते ।

१६ ग्यारहवें वर्ष के विवरण-सम्बन्धी आरंभिक शब्द उपलब्ध नहीं हैं ।

१७ जाय० निरितिय-उयातानं; अन्ततः·····प (र) यातानं ।

१८ जाय० उपलभते ।

१९ जाय० मंदं च ।

२० जाय० अवराज ।

२१ जाय० पिथुंडं गदभ-नंगलेन-कासयति ।

२२ स्टेनकोनो, तेरस-वससत कत (ि) भदति ; जाय० तेरस-वससतिकं-आभिंदति ।

२३ इन्द्रजी, तमर-देहसंघातं जाय० तमिर-देश-संघातं ।

१३. बारसमे च वसे ? (ि) स ? का (नं)[1] स (ह) सेहि[2] वितासयंतो[3] उतरापध-राजानो (पं० ११) मागधानं च विपुल (•) भयं जने तो हथसं० गंगाय[4] पाययति (,) मा (गधं) च राजानं बह (स) तिमित (•) पादे व (•) दाप (य)ति (,) नदराज-जित[5]-कलिंग-जन-सं (नवे) सं[6].....? (सस) ति (,) कितव-नय-निपु (न) एहि[7] अग-मगध-वसुं नयति[8].....(पं० १२)——तु (•)[9] ज (ठ) र-लखिल[10](गो) पुरानि सिहरानि[11] निवेसयति (,) सत-विसिकान (•) परिहारेन[12] अभुतंचरिय (•) च हथि-नाव-(तं)[13] परिहरति (,) तिन्ह[14]-हय-हथि-रतन-मानिको पंड-राजा (आभ-रणानि)[15] मुता-मणि-रत्नानि आहरापयति इध सत-स.....'[16] (पं० १३)——सिनो वसी करोति (।)

१४. तेरसमे च वसे सुपवत-विजय-चके कुमारी-पवते अरहते[17] पखिण संसितेहि कय्य[18]-निसिदियाय यापुजवकेहि राज-भितिनि[19] चिन-वतानि[20] वसासितानि[21] पूजाय-

१ जाय० -वस-के मूलशब्द 'सिवकानं' प्रतीत होता है।
२ जाय० सहसेहि।
३ अथवा वितासयतो।
४ जाय० हथि सुगंगिय (÷)।
५ जाय० नंदराजनितं।
६ जाय० जिनं संनिवेस।
७ जाय० गह-रतनानं परिहरेहि; इन्द्रजी, गह-रतन-परिहारेहि।
८ जाय० नेवाति।
९ जाय० कातुं।
१० जाय० लिखिल।
११ जाय० सिहरानि।
१२ जाय० परिहारेहि।
१३ प्रिंसिप, हथि-नवुन; कनिंघम, हथिनवेन; जाय० हथि-निवास।
१४ जाय० देन्ह।
१५ जाय० चेदानि अनेकानि।
१६ मूलशब्द 'सहसानि' प्रकट होता है।
१७ पढो 'अरहतेहि'।
१८ अथवा 'कय'।
१९ प्रकटतः गलती 'राज-भितिनं' लिखा गया है।
२० ,, ,, 'चित-वतानं' ,, ,, ।
२१ ,, ,, 'वसासितानं' ,, ,, ।

रत[1] उवास (ग)—(खार) वेल-सिरिना जीवदेह[2]-?? का[3]……ता[4] [।] (पं० १४)

१५. ———?[5] सकत[6]-समण-सुविहितानं च सत-दिशानं वा ? नं (सम) पसि (नं)[7] (मि) ??—सं(ि) घयन (॰)[8] अरहत-निसीदिय समीपे पभारे[9] वराकर-समुथापिताही अन (॰) क-योजनाहिताहि पक-सिसेहि सत-(सहसा) हि सिलाहि सिपज[10]-थभ (नि) वध-सयना (स)नानि[11] व——[12] पटालके चतरे च वेडुरिय-गभे थभे[13] पतिथापयति पनतरिय[14]-(सत-सहसेहि) [,] (म) खिय-कल वोचिने[15] च चोयथ-अंगे[16] सतिकं तुरियं उपाद (यति) [।]

१६. खेमराज स (,) वध[17]-राजा स (,) भिखुराज स (,) धमराज पसंतो सुनुंतो

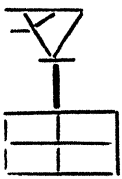

अनुभवंतो कलाणानि [पं० १६]—[18]गुण-विसेस-कुसलो सवपासंड-पूजा का सव-देवायतन-स (॰) कार[19]-कारको अपतिहत-चक-वाहन[20]-बलो चकधरो[21] गुत-चको पवत-चको राजिसि-वंस-कुल[22]-विनि(श्रि) तो महाविजयो राजा खारवेल-सिरि [।]

---

१ जाय० पुजानुरत ।
२ प्रिंसिप, जि……देत ; कानघम, जि.विमक ।
३ जाय० सिरिकाः बारुआ, सयिका ।
४ प्रिंसिप व कनिंघम, रिखित : जाय० परिखित । क्या यह 'पनिखात' है ?
५ पंक्ति १६ के आरंभिक शब्द अप्राप्त हैं ।
६ जाय० सुकता ।
७ जाय० तपसि-इसिनं ।
८ जाय० संघयनं ।
९ ,, पाभारे ।
१० ,, सिहप- ।
११ ,, (सिहपथ)-रानी सिंधुलाय, जो बिल्कुल ग़लत है ।
१२ पंक्ति १६ का प्रारंभिक अंश खो गया है । (?)
१३ जाय० थंभे ।
१४ ,, पानतरिय ।
१५ ,, वोचिनं ।
१६ ,, च चोयथि अंग ।
१७ ,, वढ ।
१८ पंक्ति १७ का प्रारंभिक अंश लुप्त हो गया है ।
१९ जाय० संखार ।
२० ,, चकि-वाहिनि ।
२१ ,, चकधर ।
२२ ,, राजासि-वसु-कुल ।

२—अनुवाद

१—अर्हतों को नमस्कार। सर्वसिद्धों को नमस्कार।

महान ऐर[1] महाराज कलिंगाधिपति[2] महामेघ-कुलकेतु, चेति-राज[3]-वंस-वर्द्धन, प्रशस्त-शुभ-लक्षण-सम्पन्न, समुद्र-पर्यंत पृथ्वी को वश करने के लिए शक्ति-गुण-धारक श्री खारवेल ने पन्द्रह वर्ष तक श्रीसम्पन्न गंदुमी रंगवाले शरीर से कुमार क्रीड़ायें कीं। बाद में लेख, रूप-गणना, व्यवहार-विधि में उत्तम योग्यता प्राप्त कर के और भारतीय राजनीति की शिक्षा में प्रवीण हो कर उन्हों ने नौ वर्षों तक युवराज-पद से शासन किया। जब वह पूरे चौबीस वर्ष की आयु को प्राप्त हुए तब वे जिनका शेष जीवन उल्लेखनीय विजयों को सम्पन्न करने में व्यतीत हुआ, परम्परागत राजत्व को प्राप्त हुए। तृतीय कलिंग-राज-वंश में महाराज्याभिषेक-द्वारा उच्च पद प्राप्त किया।

२. अपने राज्याभिषेक के पहले ही वर्ष में उन्होंने कलिंगनगर खिबिर के तूफान से बिगाड़े गये गोपुर, प्राकार और भवनों का जीर्णोद्धार कराया और शीतल (जल से पूर्ण) तालाबों के बाँध बंधवाये एवं सब ही बगीचों का पुनः स्थापन कराया। इन कार्यों में ३५ लाख प्रचलित राजसिक्कों को व्यय कर के अपनी प्रजा को प्रसन्न किया।

३ दूसरे वर्ष में, सातकर्णि की चिन्ता न कर के उन्होंने पश्चिम देश को बहुत से हाथी, घोड़ों, पयादों और रथों की एक बड़ी सेना भेजी। कृष्णवेणा नदी पर सेना पहुंचते ही, उन्होंने उसके द्वारा असिक (मुषिक ?) नगर को संतापित किया।

४. तीसरे वर्ष में फिर, उन गन्धर्व वेद में निपुणमति ने दम्प, नृत्य, गीत, वाद्य, सन्दर्शन, उत्सव और समाज के द्वारा नगरी का मनोरंजन किया।

५. इसी तरह चौथे वर्ष में भी, विद्याधर-निवास (के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने के लिए), जिसे कलिंग के पूर्व राजाओं ने निर्माण कराया था और जिस पर पहले कभी आक्रमण नहीं हुआ था, उन्होंने समस्त राष्ट्रिकों और भोजकों से अपने चरणों की वन्दना कराई; जिनकी धन-सम्पत्ति छीन ली गई थी, राजचिह्न छत्र और भृंगार नष्ट कर दिये गये थे, श्रेष्ठ ब्राह्मणों (?) ने जिनको त्याग दिया था और जिनके मुकुटों को व्यर्थ कर दिया गया था।

---

१ जायसवाल जी ने इस शब्द को 'इला' शब्द से समुद्भूत 'ऐल' शब्द पढ़ा है; परंतु इस दशा में वह 'एलेय' होना चाहिये। (बारुआ सा० इसे पाली शब्द 'अयिरे' (=सामि के अनुरूप समझते हैं।

२ खारवेल अपनी महारानी के लेख में 'कलिंग-चक्रवर्ती' कहे गए हैं।

३ चाहे चेतिराज अथवा चेतराज पढ़िये, अर्थ दोनों का एक है।

६. इसके बाद पाँचवें वर्ष में, उन्होंने तनसुलिय मार्ग से राजधानी में उस नहर का प्रवेश कराया, जिसको नन्दराजा ने तीन सौ (अथवा १०३) वर्ष पहले खुदवाया था।

७. और छठे वर्ष में, उन्होंने अपने राजसी वैभव का प्रदर्शन करते हुये पुरों और जनपदों के निवासियों पर अगणित शत-सहस्र (प्रचलित मुद्राओं के) कर और महसूल माफ कर के अनुग्रह प्रदान किया।

८. और सातवें वर्ष में, उन्होंने समतक (पर्वत) की शांतिपूर्ण तलहटी को अनेक घोड़ों के समूहों, 'हीरक गुहायों' (diamond chambers) और सैनिकों को भेजा (?)··· ···।

९. और आठवें वर्ष में, उन्होंने बड़ी दीवारवाले गोरथगिरि (के किले) को शक्तिशाली सेना-द्वारा उड़ा कर के राजगृह पर दबाव डाला और यवन राजा ? मि ????। उन (खारवेल) की सेना के आक्रमण का शोर सुन कर के अपनी घिरी हुई सेना और रथों को छुड़ाने के लिये उलटा मथुरा को चला गया।·····वापस (कलिंग को) पल्लवयुक्त कल्पवृक्ष और घोड़ों, हाथियों और रथों (की सेना) सहित आये; (कुछ कार्य) गृहस्थों के लिये किया और सब को मोहित करने के लिये (उन्होंने) विजय का दान ब्राह्मणों को दिया, आर्हत (श्रमणों को कुछ भेंट किया)·····।

१०. और नवें वर्ष में, उन्होंने प्राचीतट पर ३८ शत-सहस्र प्रचलित (मुद्राओं) की लागत का "महाविजयप्रासाद" नामक राज-सन्निवास बनवाया।

११. और दशवें वर्ष में, राजनीतिक का प्रचुर ज्ञान और अनुभव रखने वाले (उन महाराजा ने) भारतवर्ष के देशों को जीतने के लिये प्रस्थान किया ····· ?

१२. और ग्यारहवें वर्ष में, (वह राजा) ····· ···मणि और रत्नों सहित जुलूस निकाल कर गये ····· एक पूर्व राजा-द्वारा स्थापित पृथुदक (नगर में) अत्यधिक उगी हुई घास को (लाङ्गल नदी में) उखड़वा कर डलवा दिया तथा अन्धकारपूर्ण दलदलों को नष्ट करा दिया जो ११३ वर्षों में उत्पन्न होकर देश के लिये चिन्ता के कारण बन रहे थे।

१३ और बारहवें वर्ष में, (उन राजा ने ···· सहस्राधिक शिवि (?) क्षत्रियों की) सहायता से उत्तरापथ के राजाओं में त्रास उत्पन्न किया और मगध के अधिवासियों में विपुल भय उत्पन्न करते हुए (उन्होंने) अपने हाथियों और घोड़ों को गंगा (नदी का पानी) पिलाया और मगध के राजा बृहस्पतिमित्र से अपने चरणों की वंदना कराई। नन्द राजा-द्वारा पराजित (और शासित) किये गये कलिंग-निवासियों की छावनियों (settlements) के लिये (कुछ किया।) ··· ··· चतुर मनुष्यों की सहायता से अङ्ग और मगध की सम्पत्ति को भी (वह) ले आये। ····· ···(उन्होंने) गगनचुम्बी मंदिर और गोपुर निर्माण कराये, जिनके ताकों में लक्ष्मी का मूर्तियाँ पधरवाई; हाथियों के अमूल्य और अद्भुत आभरण एक शत (स्वर्ण)

'विशा' (मुद्राओं को) खर्च कर के प्राप्त किया; पाण्ड्यराज ने, जिनके पास घोड़े, हाथी, मणि और रत्न अत्यधिक थे, इस समय शतसहस्राधिक मोती, मणि और रत्न (खारवेल को) भेंट किये ..... (किन्हीं लोगों को) परास्त किया।

१४. और तेरहवें वर्ष में, महाराज श्रीखारवेल ने कुमारी-पर्वत पर, जहां उनका चक्र पूर्णरूप से स्थापित था, 'जीवदेहाश्रयिकाओं' (जीवधारियों की रक्षा के लिये गुफाओं को) संसृतित्तीण और चातुर्मास में यम-नियम को पालने के लिये आए हुए आर्हत (श्रमणों) के विश्राम के वास्ते खुदवाया। (वह राजा) उनका भक्त था जो राज्याश्रय पर अवलम्बित थे, जिन्होंने अपने (धर्म) व्रतों को पाला था और जो वर्षा ऋतु में आश्रय खोजते थे।

१५. (उन महाराज ने) सब वस्तुओं और विविध दिशाओं से भिन्न-भिन्न संघों के आए हुए साधुओं को समदृष्टि से देखते हुए, प्रसिद्ध और पूज्य श्रमणों और ज्ञात्रिकों (?) के लिये आर्हतों के विश्रामस्थल के निकट शयन और विश्राम के आवास उत्तमोत्तम खानों से मंगवाये गये शतसहस्राधिक पाषाणों से चतुर (शिल्पियों) द्वारा अनेक योजनों में बनवाये; जिनमें कलापूर्ण स्तंभ (?) बनाये गये थे और ७५ शत-सहस्र (प्रचलित मुद्राओं) की लागत से सुंदर दालान वाले भवन के स्तंभों में वैडूर्यमणि प्रस्थापित कराये और दृश्य-उत्कीर्णित ६४ पटलिकाओं में शांतिरसपूर्ण संगीत (के दृश्य) अङ्कित कराये।

१६. क्षेमराज, वर्द्धराज, भिक्षुराज और धर्मराज 'कल्याणकों' के देखने, सुनने और अनुभव करने में क्षमताशील महाराज श्रीखारवेल हैं, जो महान विजेता; राज्याज्ञा-जनित भुवन के वर्द्धक और उसके संरक्षक, सर्व देवालयों के संस्कार कराने वाले, सर्वमतों की पूजा करनेवाले और गुण-विशेष-प्राप्ति से कुशल हैं।

३ प्राचीन उड़िया शास्त्र—

जायसवाल जी ने उड़ियालिपि के एक हस्तलिखित शास्त्र से कुछ श्लोक उपस्थित कर के खारवेल के इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया था। बारुआ सा० ने उस शास्त्र को ढूंढ निकलवा कर उसे पढ़वाया तो उन्होंने उसे संदिग्ध और 'ब्राह्मणडपुराण' का एक अंश पाया; जिसे वह प्रामाणिक नहीं समझते।

४ परिणाम—

(१) हाथीगुफा-शिलालेख के उपर्युक्त संशोधित संस्करण के परिणाम प्रायः पूर्ववत् हैं। जो पाठ में कतिपय परिवर्तन हुये हैं उनसे कुछ भिन्न अर्थ प्रकट नहीं होता। खारवेल का व्यक्तिगत इतिहास भी प्रायः वैसा ही रहता है जैसा कि बारुआ सा० ने अपने 'ओल्ड ब्राह्मी इंस्क्रिपशन्स' नामक लेख में लिखा है। नई बात जो इस संशोधन से विदित होती हैं उनमें

पहली तो कलिंग की राजधानी के नामविषयक है। शिलालेख में उसका उल्लेख खिविर नाम से हुआ मानना चाहिये—बिल्कुल ठीक उल्लेख उसका 'कलिंगदेश का नगर' रूप में है। अभाग्यवश यह नाम अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। इसलिये राजधानी कहाँ पर थी? यह प्रश्न जब तक प्रामाणिक साक्षी उपलब्ध न हो बिना हल हुआ ही रहेगा। शिलालेख में जो उल्लेख हैं उनसे यही अनुमान किया जा सकता है कि खारवेल की राजधानी भुवनेश्वर और खंडगिरि उदयगिरि के निकट प्राचीनदी के तट पर ही कहीं थी।

(२) निस्सन्देह खारवेल का समसामयिक मगध और संभवतः अंग देश का राजा बृहस्पतिमित्र था। मथुराप्रदेश के आस-पास एक यवन राजा शक्तिशाली था, जिसके नाम का अनुमान डा० स्टेनकोनो ने डिमित किया था। जायसवाल जी ने उसे स्पष्टतः दिमित पढ़ कर उसे दमत्रय (Demetrius) बताया था। किन्तु उस यवनराज का नाम अब भी अस्पष्ट है।

(३) पहले शिलालेख में 'मुरियकाल' वाक्य पढ़ा गया था; किन्तु अक्षरों से 'मखियकाल' पढ़ने में आता है। पाली 'संगायन' शब्द और शिलालेखीय 'संघयन' शब्दों की गड़बड़ी में पड़कर जायसवाल जी ने यह प्रकट किया था कि खारवेल ने जैनसंघ निमंत्रित किया था। शिलालेखीय वाक्य 'चोयथ-अंगे सतिकं तुरियं उपादयति' के अर्थ का ठीक भाव न समझने के कारण उन्होंने जैन आगमोद्धार की बात लिख दी थी। वास्तव में इस वाक्य का अर्थ कतिपय पाटलिकाओं पर ७५ शतसहस्र मुद्राओं की लागत से संगीत के दृश्यों को अंकित कराने से सम्बन्ध रखता है।

(४) बारहवें वर्ष के विवरण में मौर्यों के महल 'मुगांग' का उल्लेख नहीं है। तथा 'कलिंगजन-सन्निवेस' वाक्य को 'कलिंगजिन-सन्निवेस' पढ़ कर के जायसवाल जी ने यह समझा था कि राजा नन्द 'कलिंग के जिन की मूर्ति' ले गया था, जो यथार्थ घटना से बहुत दूर की वस्तु है।

(५) सोलहवीं पंक्ति में जिन आवास के बनने का उल्लेख है, उसे जायसवाल जी ने 'रानीनूर' नामक गुफा का उल्लेख समझा था, परंतु वह ठीक नहीं है।

नोट—उपर्युक्त लेख प्रो० बारुआ के अंग्रेजी लेख का स्वतन्त्र अनुवाद है, जो 'इंडियन हिस्टोरीकल क्वार्टरली' के 'विन्टरनिज़वोल्युम' भाग २ में प्रकट हुआ है। हम ने बड़े-बड़े फुटनोटों को छोड़ दिया है। जिज्ञासुओं को मूल लेख में उन्हें देखना चाहिये। उक्त लेख को हिन्दी रूपान्तर देते हुये हम लेखक और प्रकाशक का आभार स्वीकार करते हैं।

—का० प्र०

धम्मपद और श्वेताम्बर-जैनागम

(ले०—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर)

भास्कर के भाग ५ किरण २ में "धम्मपद में जैन आदर्श" शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है उसमें धम्मपद के सातवें अर्हन्त-वर्ग पर कुछ चर्चा की गई है; पर धम्मपद का श्वेताम्बर आगमों से तुलनात्मक अभ्यास करने पर धम्मपद में केवल जैन आदर्श ही नहीं प्रत्युत कई गाथाएँ श्वेताम्बर आगमों की इस ग्रन्थ में ज्यों की त्यों कुछ शाब्दिक फेर-फार के साथ उद्धृत की हुई पाई जाती हैं। प्रस्तुत लेख में इसी बात की सप्रमाण आलोचना की जायगी।

बौद्ध ग्रन्थों में जो स्थान 'धम्मपद' को है (स्वयं गौतम बुद्ध ने उसे कहा था या वही गौतम बुद्ध के उपदेशों का संग्रह कहा जाता है) जैनागमों में 'उत्तराध्ययन' सूत्र को भी वही स्थान है, अर्थात् भगवान् महावीर ने अपने निर्वाण के समय उसे स्वयं कहा था, इसीलिये उसे मूल* सूत्रों में स्थान दिया गया है। मूलसूत्रों में एक और दशवैकालिक नाम के सूत्र को भी स्थान है, यद्यपि उसको भगवान् महावीर के चतुर्थ पट्टधर शय्यं भवसूरि ने जो कि वीर-निर्वाण सं० ७५ से ९८ तक पट्टधर थे, संकलित किया है। फिर भी उन्होंने इसकी रचना मौलिकरूप से नहीं कर, प्राचीन आगमों से सारगर्भित बातें चुन-चुन कर संग्रह-रूप से की है। हम इन दोनों एवं अन्य जैनागमों के साथ ही धम्मपद की तुलना करेंगे। जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि धम्मपद में केवल जैन आदर्श ही नहीं पाया जाता पर जैनागमों की गाथाएँ एवं उनके अंश भी अच्छे परिमाण में पाये जाते हैं।

धम्मपद और उत्तराध्ययन†

शाब्दिक समानता

१ मासे मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेथ भोजनं। न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोलसिं ॥११॥ (बालवग्ग ५वाँ)	मासे मासे उ जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजए। न सो सुक्खाअधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं ॥४४॥ (नवां अध्ययन)

* मूलसूत्र ४ कहे जाते हैं—१ आवश्यक २ दशवैकालिक ३ उत्तराध्ययन ४ पिंडनिर्युक्ति या ओघनिर्युक्ति इन दोनों में एक। इनकी संज्ञा मूलसूत्र के रूप में होने के सम्बन्ध में विद्वानों के ३ मत हैं। देखें संतबाल अनुवादित दशवैकालिक सूत्र की प्रस्तावना।

† उत्तराध्ययन बौद्ध ग्रन्थों से तुलनात्मक अध्ययन के लिये देखें, A comparative study

भावार्थ दोनों का एक ही है। शाब्दिक समानता में भी बिल्कुल साधारण अंतर है।

भावार्थ—महीने-महीने के अंतर से बाल (मूर्ख या अज्ञानी) कुश के अग्रभाग प्रमाण भोजन जो (फल लाभ करने) करता है पर वह धर्मज्ञों के सोलवीं कला (षोड़शांश) जितना भी नहीं होता।

२ यो सहस्सं सहस्सेन,	जो सहस्सं सहस्सेणं
सङ्गामे मानुसे जिने।	संगामे दुज्जए जिणे।
एकं च जेय्यमत्तानं,	एगं जिणेज्जअप्पाणं,
सवे सङ्गामजुत्तमो ४	एसमे परमो जओ ३४
(सहस्सवग्ग ८वाँ)	(नवां अध्ययन)

भावार्थ दोनों का एक ही है कि—उन पुरुषों से जो संग्राम में हजारों को जीतता है, वह अच्छा है जो अपनी आत्मा को जीत लेता है। अर्थात् आत्मजय ही परमजय है।

आंशिक शब्द-साम्य और भाव-समानता

सब्बसंयोजनं छेत्वा,	जहिता पुव्व संजोगं,
यो वे न परितस्सति।	नाति संगेय बंधवे।
सङ्गातिगं वि संयुत्तं	जो न सज्जइएगासु,
तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १५	तं वयं ब्रूम माहणं ॥२६
(ब्राह्मणवर्ग २६वाँ)	(अध्ययन २५ वाँ)

भावार्थ—जो सम्बन्ध (बंधन) को छोड़ (छेद) कर फिर कभी आसक्त नहीं होता, हम उसी को ब्राह्मण कहते हैं।

वारिपोक्खर पत्तेव,	जहा पोम्मजले जायं
आरग्गेरिव सासपो।	नो वलिप्पइ वारिणा।
यो न लिम्पति कामेसु	एवं अलित्तं कामेहिं
तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं १९ वही	तं वयं बूम माहणं २७ वही

भावार्थ—जो सांसारिक सुखों में जल-कमलवत् निर्लेप रहता है वही ब्राह्मण है।

योध दीघं व रस्सं वा	चित्तमंतमचित्तं वा
अणुम थूलं सुभासुभं।	अप्पं वा जइ वा बहुं।
लोके अदिन्नं नादियति	न गिण्हइ अदत्तं जो,
तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् २७ वही	तं वयं बूम माहणं २४ वही

of उत्तराध्ययन सुत्त with Pali Canonical Books by Prof. P. V. Bapat (जैन साहित्य संशोधक वर्ष १ अंक ३)।

भावार्थ—जो विना दी हुई थोड़ी या ज्यादा कोई भी वस्तु नहीं लेता वही ब्राह्मण है।

शैली की समता व एकता का दृष्टि से और भी बहुत गाथाएँ हैं।

निधाय दण्डं भूतेसु,	तसे पाणे वियाणिता
तसेसु थावरेसु च।	संगहेणय थावरे।
यो न हन्ति न घातेति	जो न हिंसइ तिविहेणं,
तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं २३ वही	तं वयं बूम माहणं २२ वही।

भावार्थ—जो जल और स्थावर किसी प्राणी को नहीं मारता है वही ब्राह्मण है।

अत्तानं चे तथा कयिरा,	अप्पा चेव दमेअव्वो,
यथञ्ञमनुसासति।	अप्पाहि खलु दुद्दमो।
सुदन्तो वत दम्मेथ	अप्पादंतो सुही होइ
अत्ताहि किर दुद्दमो। ध. १२।३	अस्सिं लोए परम्हि च। उ० १, १५।

भावार्थ—आत्मा को दमन करो, वस्तुतः आत्म-दमन ही कठिन है।

गाथाओं के चरणों में शब्द-साम्य

भस्मच्छन्नो वपावको, ध०	भासछन्ना इवग्गिणो उ० १५।१८
सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति ६।६	मेरुव्व वाएण अकंपमाणे उ० ११।१९
उच्छिन्द सिनेह मत्तनो, ध०	वुच्छिंद सिणेह मप्पणो उ०
कुमुदं सारदिकं वपाणिना ध०	कुमुदं सारदिअं व पाणिअं उ०१०।२८
पन्तं च सयसासनं ध०	पंतं सयणासणं भइत्ता उ० १५। ४
समचरिया समणोति वुच्चति ।६।	समयाए समणो होइ। अ० २५ गा० ३०
न मुण्डेक समणो ।९। वर्ग १६ वां	नवि मुंडिएण समणो। अ०२५ गा०२९
एवं निंदापसंसासु ।६। वर्ग छट्ठा,	समो निंदा पसंसासु। अ० १६ गा० ९१
तं महं ब्रूमि ब्राह्मणं	तं वयं बूम माहणं
(वर्ग २६ की ३२ गाथाओं के अन्त में यही पद आया है)	(उ० अध्ययन २५ की ११ गाथाओं के अंत चरण में यही पद आया है)
तसेसु थावरेसु च।	तसेसुथा वरेसु च।
उपर्युक्त २३वीं गाथा में।	उ० अ० २९ गा० ९०

धम्मपद और दशवैकालिक

यथापि भमरो पुप्फं,	जहा दुमस्स पुप्फेसु
वाण्ण गन्धं अहेठयं ।	भमरो आविय इरसं ।
पलेति रसमादाय,	णाय पुप्फं किलामेइ
एवं गामे मुनिचरे । ६ । पुष्प वर्ग	सोय पिणंइ अप्पयं । २ । प्रथम अध्याय

भावार्थ—मुनि को चाहिये कि जिस प्रकार भौंरा पुष्पों का रस लेता हुआ भी उसे पीड़ा नहीं देता न बिगाड़ता है उसी प्रकार विचार कर आहार ले।

चरन्ति बाला दुम्मेधा	अजयं चरमाणो
अमित्तेनेव अत्तना ।	अयाण भूयाइं हिंसइ ।
करोन्ता पापकं कम्मं	बंधइ पावयं कम्मं
यं होति कटुकफलं ।७। बाल वर्ग	तं से होइ कडुअंफलं अ० ४ गा० १

भावार्थ—अज्ञानी (अयत्ना से) चलता हुआ प्राणों की हिंसा कर अपने अमित्र हैं वे पाप कर्म बांधते हैं, और उसका कटुफल मिलता है।

हत्थसंयतो पादसंयतो	हत्थसंजए पायसंजए
वाचाय संयतो संयतुत्तमो ।	वायसंजए संजए इंदिय
अज्झत्तरतो समहितोएको	अज्झप्परए सुसमाहि अप्पा
सन्तु सितो तमाहु भिक्खुं ।३	सुत्तत्थं चपिआणाइ जे.स भिक्खू ।१५
(भिक्षुवर्ग)	(अध्ययन १० वां)

भावार्थ—जिसने हाथ, पैर, वाणी और इन्द्रियों को संयम में किया है, अध्यात्मरत और (जो सूत्रार्थ को जानता है) समाहित है वही भिक्खू है।

धम्मपद और आचारांग व सूयगडांग

सव्वे संजीवितं पियं २ दंडवर्ग	*सव्वेसि जीवियं पियं (आचारांग ६-७)*
एकासनं एकसेय्यं,	एगे चरे ठाणमासणे सयणे
एकोचरमतन्द्रितो	एगे समाहियेसिया ।
एको दमयमत्तानं	भिक्खूउवहाण वीरिए
वनन्तेरमितोसिवा १६ वर्ग २१ वां	वइ गुत्ते अज्झत्थसंवुडे । स्था० द्वि० द्वि० गा १२

भावार्थ—भिक्षु अकेला ही विचरे, अकेला ही सोवे, अकेला ही आसन पर बैठे और अपने को संयत-दमित रखे।†

धम्मपद में भावसाम्य तो जैनागमों से इतना अधिक है कि सारे ग्रन्थ में से केवल ५।१० बौद्ध साम्प्रदायिक उल्लेखों वाली गाथाओं को अलग कर दी जाय तो वह जैनसर्वसाधारण का ग्रन्थ माना जा सकता है। अब प्रश्न यह होता है शाब्दिक साम्य इतना अधिक होने का कारण क्या है? विचार करने पर इसके केवल ३ ही कारण हो सकते हैं—१ जैनग्रन्थों से बौद्धों ने अपने अनुकूल शब्द और गाथाएँ ले ली हों। २ बौद्ध ग्रन्थों से जैनों ने लिया हो। ३ दोनों ने ही किसी अन्य ग्रन्थ में से लिया हो, पर ऐसा कोई ग्रन्थ न तो अभी विद्यमान है और न होने का कोई प्रमाण ही, अतः पहले दो विकल्पों पर ही विचार करने को रह जाता है। इनमें प्रथम इसलिये अधिक संगत ज्ञात होता है क्योंकि जैनागमों में ये गाथाएँ ऐसे सिलसिले में पाई जाती हैं जहाँ इनका सम्बन्ध ठीक बैठता है यानी उनके वहाँ होने से वह विषय-निरूपण अधिक रोचक हो जाता है। तब धम्मपद ग्रन्थ एक संग्रह ग्रन्थ सा नजर आता है। उसमें कोई कथा-सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि पाश्चात्य विद्वान् जैनागमों से बौद्ध पिटकों का लेखनकाल प्राचीन बतला कर उनकी प्राचीनता बतलाते हैं, पर जैनागमों के लेखनकाल को ही उनको निर्माणकाल नहीं कहा जा सकता। उनके अधिक प्राचीन होने के कतिपय निम्नोक्त कारण ये भी हैं—

१—जैनागमों का लेखन-समय यद्यपि वीरात् ९८० कहा जाता है फिर भी उससे पहले आगम ग्रंथों का वर्तमान रूप स्थिर हो चुका था और प्रारंभ से मूल वस्तु में तनिक भी परिवर्तन न होने पावे इसकी पूरी सावधानी रखी गई ज्ञात होती है। अन्यथा इस लेखनकाल से बहुत समय पूर्व दि० श्वे० सम्प्रदाय अलग-अलग हो चुके थे फिर भी वर्तमान श्वे० जैनागमों में अचेलक अवस्था का महत्त्व, जिनकल्पी मुनियों के आचार आदि अपने सम्प्रदाय में उस समय नहीं प्रचलित बातों का पाया जाना उनकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता का प्रमाण है।

२—मथुरा के प्राचीन लेखों में जिन कुल शाखाओं के नाम पाये जाते हैं उनका नाम श्वे० आगमों में ही पाये जाते हैं।

३—मथुरा के प्राचीन शिल्प में महावीर के गर्भापहरण के प्रसंग का भी शिल्प पाया गया है, जिसका उल्लेख केवल श्वे० आगमों में ही है।

४—श्वे० आगमों में ग्रीक-खगोल के विचारों का उल्लेख न होने से उनको वर्तमान रूप प्रथम शताब्दी के पूर्व का ही सिद्ध होता है। यानी यदि जैनस्थविर आगमों के प्राचीन रूप को

† इन उद्धरणों के संग्रह करने में स्था० मुनि आत्माराम जी लिखित एक लेख से भी सहायता ली गई है।

सुरक्षित रखने का प्रयत्न नहीं करते तो जो खगोल-विषयक विचार प्रथम शताब्दी के पश्चात् के ग्रन्थों में पाये जाते हैं उनका भी उल्लेख अवश्य कर दिया गया होता। लेकिन उन्होंने जैसा कि कई स्थानों में कहा है कि आगमों के पाठों में जान-बूझ कर एक अक्षर मात्रा को भी अपनी कल्पना से फेरफार कर देना अनंत संसार को बढ़ाना है फलतः वे उनके मूलरूप को सुरक्षित रखने में बहुत सचेष्ट रहे हैं।

५—छंद शास्त्र का बारीकी से अध्ययन करनेवाले, प्राचीन छंद विज्ञान के विशेषज्ञ डो० जाकोबी भी सिद्धांत ग्रन्थों के वैतालिक त्रिष्टुभ और आर्या आदि छंद, ललित विस्तर और उत्तर हिन्द के अन्य बौद्ध ग्रन्थों से प्राचीन है अतः आगमों का समय इस दृष्टि से वे ई० प्रथम शताब्दी से पूर्व एवं ई० ३०० पूर्व के मध्य, होने का सिद्ध करते हैं।

६—जैन आगमों में ब्राह्मण ने अमुक अपराध किया हो तो उसे 'डाम' देते, शुनक (कुत्ता) के कुण्डिय की प्रतिकृति उसके कपाल पर छाप दी जाती ऐसे दण्ड-विधान का उल्लेख है यह परिपाटी कौटिल्य समय के अर्थशास्त्र से मिलती है इससे पिछले मनु आदि के ग्रन्थों में ऐसा दण्डविधान नहीं मिलता अतः जैनआगम कौटिल्य के आसपास या पूर्व के होने चाहिये।†

७—बौद्धों के प्राचीन ग्रन्थों से जैनागमों की शैली बहुत अधिक मिलती जुलती है। कई-कई उपाख्यान भीएक से मिलते हैं। उदाहरणार्थ रायपसेणी सूत्र और बौद्ध दीघनिकाय का पलासियसुत्त।

इन सब बातों पर विचार करने से प्रथम विकल्प की ही विशेष संभावना होती है। यानी जैन ग्रन्थों से ही बौद्धों ने कई प्रसंग व गाथाएं ली होंगी।

ब्र० शीतल प्रसाद जी ने "जैनबौद्धतत्वज्ञान" नामक ग्रन्थ के दो भाग तुलनात्मक दृष्टि से उभय दर्शनों के ग्रन्थों के अध्ययन के फलस्वरूप लिखे हैं पर उनमें केवल दि० ग्रन्थों से ही तुलना की गई है। मेरे ख्याल से श्वे० आगमों के साथ बौद्ध ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन कर ग्रन्थ लिखा जाय तो बहुत अधिक शब्द-साम्य एवं नवीन ज्ञातव्य मिलेगा। आशा है ब्रह्मचारी जी व अन्य श्वे० विद्वान इस कार्य में शीघ्र प्रयत्नशील होंगे।

† देखें—"उत्तर प्रान्त में जैनधर्म" ग्रंथ।

क्या यह सचमुच भ्रमनिवारण है ?

[लेखक—श्रीयुत पं० जुगलकिशोर मुख्तार]

जैनसिद्धान्तभास्कर के ५वें भाग की २री किरण में 'भ्रामक सूचनाएँ' नामका मैंने एक लेख लिखा था, जिसमें पंडित हीरालालजी शास्त्रीकी कुछ ऐसी भ्रमपूर्ण सूचनाओंको स्पष्ट किया गया था, जो उनके 'भगवान् पुष्पदन्त और पूज्यपादस्वामी' शीर्षक उस लेखमें पाई जाती हैं जो कि जैनसिद्धान्तभास्करके ४थे भाग की ४थी किरणमें मुद्रित हुआ है। लेखके अन्तमें मैंने यह वाक्य भी दिया था—

"आशा है सत्यके अनुरोध और भ्रामक सूचनाओंके प्रचारको रोकनेकी सद्भावनासे लिखे हुए इस लेखसे बहुतोंका समाधान होगा और वे सब इस बातका प्रयत्न करेंगे कि भविष्यमें इस प्रकारकी ग़लत सूचनाओंका अवरोध होवे, वे फैलने न पाएँ और हमारी लेखनी अधिकाधिक सावधान हो कर उन्नत, पुष्ट एवं निर्भ्रान्त साहित्य तय्यार करनेमें समर्थ हो सके।"

मेरे उक्त लेखके उत्तरमें शास्त्रीजीने कुछ भी लिखना उचित नहीं समझा। वे जब मुझसे मिलने वीरसेवामंदिरमें आये थे तब कहते थे कि मेरी उन अधिकांश भूलोंका प्रधान कारण पूरे धवल ग्रन्थका अब तक पढ़नेको न मिल सकना ही है, और इसका मुझे खेद है। हाँ, पं० पन्नालालजी सोनीने, मेरे लेखके उक्त वाक्यका अभिनन्दन करते हुए और उसे अपनाकर अपने लेखके अन्तमें भी स्थान देते हुए, एक लेख लिखा है, जो कि 'षट्खण्डागम और भ्रमनिवारण' शीर्षकके साथ भास्करके ५वें भागकी ३री किरणमें प्रकट हुआ है। इस लेखमें शास्त्रीजीकी जिन सूचनाओंको मैंने 'भ्रामक' बतलाया है उन्हें 'अभ्रामक' सिद्ध करनेका कोई यत्न नहीं किया गया; बल्कि शुरूमें ही उन्हें भ्रामकरूपसे स्वीकार करते हुए यह लिख दिया है कि "पं० हीरालालजी अपने लेखमें कई भ्रम फैलानेवाली बातें लिख गये हैं उन्हींकी सूचनाएँ उक्त बाबूजी (जुगलकिशोर मुख्तार) ने अपने उस लेखमें दी हैं।" साथ ही, यह भी लिखा है कि "मेरे इस लेखका उद्देश किसी एकको भला-बुरा कहनेका नहीं है, परन्तु इतना अवश्य कहूंगा कि भ्रामक सूनाओंसे उक्त बाबूजी भी अछूत नहीं रह सके हैं।" —अर्थात् शास्त्रीजीने जो भ्रामक सूचनाएँ कीं सो तो कीं, बाबूजी भी कुछ भ्रामक सूचनाएँ कर गये हैं। इसके बाद उन भ्रामक सूचनाओंका यथास्थान आगे उल्लेख करनेकी प्रतिज्ञा करके सोनीजीने षट्खण्डागमका निजी कल्पनाओंसे मिश्रित कुछ परिचय दे डाला है, जिसने लेखके पूरे आठ पृष्ठ घेरे हैं, और उसे देते हुए लिखा है—"इसके बिना बाबूजीकी सूचनाएँ

भ्रामक हैं यह समझमें नहीं आ सकेगा।" अन्तमें 'भ्रमनिवारण' शीर्षकके नीचे उन भ्रामक सूचनाओंको बतलानेकी चेष्टा की गई है। अस्तु।

मुझे इस लेखको देखकर अपने उक्त वाक्यकी स्पिरिटके अनुसार बड़ी प्रसन्नता हुई—एक रिसर्चप्रेमी एवं अनुसंधानप्रिय व्यक्ति होनेके कारण मुझे अपनी भूलको मालूम करके बड़ी खुशी होती है। मैं समझता हूं—मैं कोई आप्तपुरुष या किसी विषयका एक्सपर्ट (expert) नहीं हूं, त्रुटियोंसे भरा हुआ एक अपूर्ण प्राणी हूं, बहुत कुछ सावधानी रखने पर भी मुझसे भूलोंका होना सम्भव है, और इसलिये मैं अपनी भूलोंको मालूम करनेके लिये बहुत उत्सुक रहता हूं। जब मुझे उनका ठीक पता चल जाता है तब मैं उनमें निःशंक सुधार कर डालता हूं। अपनी इस परिणतिके अनुसार मैंने सोनीजीके उक्त लेखको बहुत गौरसे पढ़ा और जहाँतक मेरे पासके धवलादि-विषयक नोट्ससे संबंध था मैंने उसकी जाँच भी की। जाँचसे मुझे सोनीजीके लेखकी बहुतसी बातें ऐसी जान पड़ीं जो भ्रमनिवारणके रूपमें न होकर भ्रमप्रसारणका काम दे रहीं हैं और कहीं कहीं उनमें व्यर्थका कदाग्रह भी पाया जाता है। यह सब देखकर हृदय एकदम कह उठा—'क्या यह सचमुच भ्रमनिवारण है ?' सोनीजीके लेखकी ऐसी ही कुछ बातोंको नीचे स्पष्ट करके बतलाया जाता है :—

(१) मैंने अपने लेखमें एक वाक्य निम्न प्रकारसे दिया था—

"अन्तके दो खण्डोंका मूल परिमाण तो, इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके कथनानुसार, प्रथम चार खण्डोंके परिमाणसे पंचगुनेसे भी अधिक है।"

इस वाक्यको अपने लेखमें उद्धृत करते हुए सोनी जी लिखते हैं—

"यह कथन तो सर्वथा ग़लत है; क्योंकि इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके कथनानुसार अन्तके दो खण्डोंका मूल-परिमाण प्रथमके चार खण्डोंके परिमाणसे पंचगुनेसे अधिक नहीं है, किन्तु अन्तके एक खण्डका मूल-परिमाण प्रथमके पांच खण्डोंके परिमाणसे पंचगुनेसे अधिक है।"

इसके बाद 'यथा—' शब्दके साथ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके चार श्लोकोंको उद्धृत करके सोनीजी पुनः बड़े गर्वके साथ लिखते हैं—

"यहाँ करकंकणको देखनेके लिये आरसी की जरूरत नहीं है। ये श्लोक इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके ही हैं। इनसे यह अर्थ तो निकलता है कि भूतबलि आचार्यने पांच खण्डोंके छः हजार ग्रन्थ परिमाण सूत्र पहले रचे जिनमें पुष्पदन्तकी सत्प्ररूपणाके सूत्र भी सम्मिलित हैं, पीछे उनने महाबन्ध नामके छट्ठे खण्डके तीस हज़ार ग्रन्थ परिमाण सूत्र रचे परन्तु यह अर्थ नहीं निकलता कि पहले चार खण्डोंके छः हजार सूत्र रचे गये और बाद अंत दो खण्डोंके तीस हजार सूत्र लिखे। यदि ऐसा लिखा होता तो पहले चार खण्डोंके परिमाणसे अन्तके दो खण्डोंका परिमाण पंचगुना हो सकता था। अधिक तो फिर भी नहीं होता।"

यही सब सोनीजीकी मेरे उक्त वाक्यपर आपत्ति है, और इसीके बल तथा आधारपर आप मेरे कथनको "सर्वथा ग़लत" और मेरी उक्त सूचनाको "भ्रामक सूचना" बतलानेका साहस करते हैं, यह देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है !! गणितका एक साधारण विद्यार्थी भी आपके इस प्रतिवादकी निःसारताको सहज हीमें ताड़ सकता है। जब सोनी जी यह स्वीकार करते हैं कि इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें छठे खण्डका परिमाण ३० हज़ार दिया है और प्रथम पांच खण्डोंका परिमाण ६ हज़ार बतलाया है, तब प्रथम चार खण्डोंका परिमाण—पांचवें खण्डका परिमाण निकल जानेके कारण—६ हज़ारसे कम रहता है या कि नहीं ? और पाँचवें खण्डके परिमाणको छठे खण्डके परिमाणमें जोड़ देनेसे दोनों खण्डोंका परिमाण ३० हज़ारसे ऊपर हो जाता है या कि नहीं ? जब ऐसा होना निःसन्देह है तब दोनों खण्डोंके ३० हज़ारसे ऊपरवाले परिमाणको प्रथम चार खण्डोंके ६ हज़ारसे कमवाले परिमाणसे पंचगुनेसे अधिक बतलाना कैसे आपत्ति के योग्य हो सकता है ? सोनीजीको इतनी भी ख़बर नहीं पड़ी कि जब वे स्वयं छठे खण्डके परिमाणको ही शेष पांच खण्डोंके परिमाणसे पंचगुनेसे अधिक बतलाते हैं* तब वह परिमाण प्रथम चार खण्डोंके परिमाणसे पंचगुनेसे कम कैसे हो सकता है ? —खासकर ऐसी हालतमें जब कि उसमें पाँचवें खण्डके सूत्रोंका परिमाण भी मिला दिया जाय ? और जब वह संयुक्त परिमाण पंचगुनेसे कम न होकर और भी अधिक होता है तो फिर आपत्ति कैसी ? और उसमें भ्रमकी बातोंको अवकाश कहाँ ?

सोनीजीने अपने उक्त प्रतिवादमें जिस दूसरे अर्थकी बात की है वह किसने कहाँपर दिया है उसे बतलाना चाहिये—मेरे लेखमें तो उसकी गन्ध तक भी नहीं है। यों ही व्यर्थकी कल्पना करके खुद ही उस बे-सिर-पैरवाली कल्पना का उपहास करने बैठ जाना कहाँ का न्याय है ? इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं। यह देख कर तो मुझे बड़ा ही खेद होता है कि सोनीजी अपने उक्त दोनों प्रतिवाद-वाक्योंके अन्तमें एक स्थान पर तो पंचगुने परिमाणको "पंचगुनेसे अधिक" बतलाते हैं। और दूसरे स्थान पर "अधिक तो फिर भी नहीं होता" ऐसी तर्कणा करते हैं ! समझमें नहीं आता इसे सोनीजीके लेखकी कोई अव्यवस्था कहा जाय अथवा खुद सोनीजीके ही अव्यवस्थित चित्तका परिणाम समझा जाय !! स्वयं सोनी जी ही इसे स्पष्ट करनेका कष्ट उठाएँगे तो अच्छा होगा।

ऐसी मोटी भूलोंको लिये हुए इस प्रथम नमूनेसे ही पाठकजन इतना तो सहज हीमें समझ सकेंगे कि सोनीजीके लेखका सावधानता और गहरे विचारके साथ कहाँ तक सम्बन्ध है।

---

* यह बतलाना भी आपत्तिके योग्य है; क्योंकि जब छठे खण्डका परिमाण आप खुद ही ३० हज़ार लिखते हैं तब शेष खण्डोंके ६ हजार परिमाणसे वह पंचगुना ही तो हुआ, अधिक कैसे हो सकता है ?

(२) मैंने अपने उक्त वाक्यके पूर्व यह भी लिखा था कि – "धवला टीका वास्तवमें समूचे षट्खण्डागमकी टीका नहीं है बल्कि उसके प्रथम चार खण्डोंकी टीका है।" साथ ही, लेखमें वेदनाखण्डके दो वाक्योंको भी उद्धृत किया था जिनमेंसे एकको २२वें अनुयोगद्वारका, दूसरेको २४वेंका बतलाया था, और जिससे पढ़नेवालोंको इतनी सूचना स्वतः मिल जाती है कि 'वेदना' नामके ४थे खण्डमें कमसे कम २४ अधिकार ज़रूर हैं। परन्तु सोनीजीको यह सब इष्ट नहीं है। आपकी समझमें 'धवला' चार खण्डोंकी टीका न होकर पांच खण्डोंकी टीका है—पाँचवां 'वर्गणा' खण्ड भी उसमें शामिल है—और वेदनाखण्डमें २४ अनुयोगद्वार नहीं हैं, 'वेदना' नामका दूसरा अनुयोगद्वार ही 'वेदनाखण्ड' है। और 'वर्गणाखण्ड' उक्त अनुयोगद्वारोंमेंसे फास, कम्म, पयडि, अनुयोगद्वारों और बन्धन अनुयोगद्वारके 'बंध' और 'बंधणिज्ज' अधिकारोंसे मिलकर बनता है। इसीसे मेरे लिखनेको "बिल्कुल ग़लत" तथा "भारी भूल" बतलाते हुए आप एक स्थान पर लिखते हैं—

"२२वें और २४वें अनुयोगद्वार जिनको बाबूजी वेदनाखण्डके लिखते हैं—बिल्कुल ग़लत हैं। ये अनुयोगद्वार 'वेदनाखण्ड' के नहीं हैं बल्कि 'कम्मपयडिपाहुड' के हैं। 'कम्मपयडिपाहुड' अग्रायणीय नामके दूसरे पूर्वकी पाँचवीं च्यवनलब्धि वस्तुका चौथा पाहुड है, जिसके कि कदि, वेदणा आदि २४ अनुयोगद्वार हैं और 'वेदनाखण्ड' कम्मपयडिपाहुडका दूसरा वेदना नामका अनुयोगद्वार है। इस वेदनानुयोगद्वारके कहिये या वेदना खण्डके कहिये १६ ही अनुयोगद्वार हैं।"

इसके बाद १६ अनुयोगद्वारोंके नाम दिये हैं, जो कि वेदनाखण्डके नहीं किन्तु वेदना-खण्डान्तर्गत 'वेदना' नामक द्वितीय अनुयोगद्वारके अवान्तर अनुयोगद्वार हैं। तदनन्तर मेरे २२वें और २४वें अनुयोगद्वारोंको वेदनाखण्डका बतलाने पर 'आश्चर्य' प्रकट किया है और फिर लिखा है—

"जहाँ तक उक्त १६ अनुयोगद्वारोंका कथन है वहीं तक वेदनाखण्ड हो सकता है; क्योंकि आगेके (फास आदि) अनुयोगद्वारोंको भी वेदनाखण्डके नामसे कहना भारी भूल है।"

परन्तु यह सब लिखते हुए सोनीजी इस बातको भुला देते हैं कि 'कम्मपयडिपाहुड' और 'वेयणकसीणपाहुड' दोनों एक ही चीज़के नाम हैं। कर्मोंका प्रकृत स्वरूप वर्णन करनेसे जिस प्रकार 'कम्मपयडिपाहुड' गुणनाम है उसी प्रकार 'वेयणकसीणपाहुड' भी गुणनाम है; क्योंकि 'वेदना' कर्मोंके उदयको कहते हैं, उसका निरवशेषरूपसे जो वर्णन करता है उसका नाम 'वेयणकसीणपाहुड' है: जैसा कि धवलाके निम्नवाक्यसे प्रकट है, जिसे सोनीजीने भी अपने लेखके प्रारंभिक अंशमें (पृ० १५२पर) उद्धृत किया है—

"कम्माणं पयडिसरूवं वण्णेदि तेण कम्मपयडिपाहुडे त्ति गुणणामं, वेयणकसीण-पाहुडे त्ति वि तस्स बिदियं णाममत्थि, वेयणा कम्माणमुदयो तं कसीणं णिरवसेसं वण्णेदि अदो वेयणकसीणपाहुडमिदि, पढमवि गुणणाममेव।"

वेदनाखण्डका विषय 'कम्मपयडिपाहुड' न होनेकी हालतमें यह नहीं हो सकता कि भूतबलि आचार्य कथन करने तो बैठें वेदनाखण्डका और करने लगें कथन कम्मपयडिपाहुडका, उसके २४ अधिकारोंका क्रमशः नाम देकर! उस हालतमें कम्मपयडिपाहुडके अन्तर्गत २४ अधिकारों (अनुयोगद्वारों)मेंसे 'वेदना' नामके द्वितीय अधिकारके साथ अपने वेदनाखण्डका सम्बन्ध व्यक्त करनेके लिये यदि उन्हें उक्त २४ अधिकारोंके नामका सूत्र देनेकी ज़रूरत भी होती तो वे उसे देकर उसके बाद ही 'वेदना' नामके अधिकारका वर्णन करते; परन्तु ऐसा नहीं किया गया--'वेदना अधिकारके पूर्व 'कदि' अधिकारका और बादको 'फास' आदि अधिकारोंका भी उद्देशानुसार (नामक्रमसे) वर्णन प्रारंभ किया गया है। धवलकार श्रीवीरसेनाचार्यने भी, २४ अधिकारोंके नामवाले सूत्रकी व्याख्या करनेके बाद, जो उत्तर-सूत्रकी प्रस्तावना दी है उसमें यह स्पष्ट कर दिया है कि उद्देशके अनुसार निर्देश होता है इसलिये आचार्य 'कदि' अनुयोगद्वारका प्ररूपण करनेके लिये उत्तरसूत्र कहते हैं। यथा—

'जहा उद्देसो तहा णिद्देसोत्ति कट्टु कदिअणिओगद्दारं परूवणट्ठ मुत्तरसुत्तं भणदि।"*

इससे स्पष्ट है कि 'वेदनाखण्ड'का विषय ही 'कम्मपयडिपाहुड' है, इसीसे इसमें उसके २४ अधिकारोंको अपनाया गया है, मंगलाचरण तकके ४४ सूत्र भी उसीसे उठाकर रक्खे गये हैं। यह दूसरी बात है कि इसमें उसकी अपेक्षा कथन संक्षेपसे किया गया है, कितने ही अनुयोगद्वारोंका पूरा कथन न देकर उसे छोड़ दिया है और बहुतसा कथन अपनी ग्रन्थ-पद्धतिके अनुसार सुविधा आदिकी दृष्टिसे दूसरे खण्डोंमें भी ले लिया गया है। इसीसे 'षट्खण्डागम' महाकम्मपयडिपाहुड (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत)से उद्धृत कहा जाता है।

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि वेदनाखण्डके मूल २४ अनुयोगद्वारोंके साथ ही धवला टीका समाप्त हो जाती है और फिर उसमें वर्गणाखण्ड तथा उसकी टीकाके लिये कोई स्थान नहीं रहता। उक्त २४ अनुयोगद्वारोंमें 'वर्गणा' नामका कोई अनुयोगद्वार भी नहीं है। 'बंधण' अनुयोगद्वारके चार भेदों में 'बंधणिज्ज' भेदका वर्णन करते हुए, उसके अवान्तर भेदोंमें विषयको स्पष्ट करनेके लिये संक्षेपमें 'वर्गणा-प्ररूपणा' दी गई है—वर्गणाके १६ अधिकारोंका उल्लेख करके भी दो ही अधिकारोंका वर्णन किया है। और भी बहुत कुछ संक्षिप्ततासे काम लिया है, जिससे उसे वर्गणाखण्ड नहीं कहा जा सकता और न कहीं वर्गणाखण्ड लिखा ही है।

* देखो, आरा-जैनसिद्धान्तभवन की 'धवल' प्रति, पत्र ५५२।

ऐसी हालतमें सोनीजीका उक्त लिखना कहां तक ठीक है, इसे विज्ञ पाठक इतने परसे ही स्वयं समझ सकते हैं; फिर भी साधारण पाठकोंके ध्यानमें यह विषय और अच्छी तरहसे आजाय, इसलिये, मैं इसे और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं और यह खुले रूपमें बतला देना चाहता हूं कि धवला वेदनान्त चार खण्डोंकी ही टीका है—पांचवें वर्गणाखण्डकी टीका नहीं है।

वेदनाखण्डकी आदिमें दिये हुए ४४ मंगलसूत्रोंकी व्याख्या करनेके बाद श्रीवीरसेनाचार्यने मंगलके 'निबद्ध' और 'अनिबद्ध' ऐसे दो भेद करके उन मंगलसूत्रोंको एक दृष्टिसे अनिबद्ध और दूसरी दृष्टिसे निबद्ध बतलाया है और फिर उसके अनन्तर ही एक शंका समाधान दिया है, जिसमें उक्त मंगलसूत्रोंको ऊपर कहे हुए तीन खण्डों—वेदणा, बंधसामित्तविचओ और खुद्दाबंधो—का मंगलाचरण बतलाते हुए यह स्पष्ट सूचना की गई है कि 'वर्गणाखंड' की आदिमें तथा 'महाबन्धखंड' की आदिमें पृथक् मंगलाचरण किया गया है—मंगलाचरणके विना भूतबलि आचार्य ग्रन्थका प्रारम्भ ही नहीं करते हैं। साथ ही यह भी बतलाया है कि जिन कदि, फास, कम्म, पयडि, [बंधण] अनुयोगद्वारोंका भी यहाँ (एत्थ)—इस वेदनाखण्डमें-प्ररूपण किया गया है, उन्हें खण्डग्रन्थ-संज्ञा न देनेका कारण उनके प्रधानताका अभाव है, जो कि उनके संक्षेप कथनसे जाना जाता है। इस कथनसे सम्बन्ध रखने वाले शंका-समाधानके दो अंश इस प्रकार हैं :—

"उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु कस्सेदं मंगलं ? तिण्णं खंडाणं। कुदो ? वग्गणा-महाबंधाणं आदीए मंगलकरणादो। ण च मंगलेण विणा भूदबलिभडारओ गंथस्स पारंभदि तस्स अणाइरियत्तप्पसंगादो।"

"कदि-फास-कम्म-पयडि - [बंधण] - अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि तेसिं खंडगंथसण्णमकाऊण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे ? ण तेसिं पहाणत्ता-भावादो। तं पि कुदो णव्वदे ? संखेवेण परूवणादो।" *

उक्त, 'फास' आदि अनुयोगद्वारोंमेंसे किसीके भी शुरूमें मंगलाचरण नहीं है—'फासे त्ति' 'कम्मे त्ति' 'पयडि त्ति' 'बंधणे त्ति' सूत्रोंके साथ ही क्रमशः मूल अनुयोगद्वारोंका प्रारंभ किया गया है, और इन अनुयोगद्वारों की प्ररूपण वेदना खण्डमें की गई है तथा इनमेंसे किसीको खण्डग्रन्थकी संज्ञा नहीं दी गई, यह बात ऊपरके शंकासमाधानसे स्पष्ट है। ऐसी हालतमें सोनीजीका 'वेदना' अनुयोगद्वारको ही 'वेदनाखण्ड' बतलाना और फास, कम्म पयडि अनुयोगद्वारों को तथा बंधण अनुयोगद्वारके बन्ध और बंधनीय अधिकारोंको मिलाकर वर्गणाखण्ड की कल्पना करना और यहाँ तक लिखना कि ये अनुयोगद्वार "वर्गणाखण्डके

* देखो, आरा-जैनसिद्धान्तभवन की 'धवल' प्रति, पत्र ५३२।

नामसे प्रसिद्ध है", "यह वर्गणाखण्ड है", "यही वर्गणाखण्ड है",—"इससे जुदा और कोई वर्गणाखण्ड नहीं है", कितना अविचारित और असंगत है उसे बतलाने की जरूरत नहीं रहती। 'वर्गणाखंड' के नामसे उक्त अनुयोगद्वारोंके प्रसिद्ध होनेकी बात तो बड़ी ही विचित्र है! अभी तो यह ग्रन्थ लोकपरिचयमें भी अधिक नहीं आया। कुछ अनुयोगद्वारोंकी 'वर्गणाखंड' नामसे प्रसिद्धिकी तो बात ही दूर है। सोनीजीको यह सब लिखते हुए इतनी भी समझ नहीं पड़ी कि यदि अकेला वेदना-अनुयोगद्वार ही वेदनाखण्ड है तो फिर 'कदि' अनुयोगद्वारको कौनसे खण्डमें शामिल किया जायगा? 'बंधसामित्तविचओ' नामके पूर्वखण्डमें तो उसका समावेश हो नहीं सकता—वह अपने विषय और मंगलसूत्रों आदिके द्वारा उससे पृथक् हो चुका है। इसी तरह यह भी खबर नहीं पड़ी कि यदि बंधण-अनुयोगद्वारके बंध और बन्धनीय अधिकारोंको वर्गणाखण्डमें शामिल किया जायगा तो शेष अधिकारोंके क्रमशः प्राप्त कथनके लिये कौनसे नये खण्डकी कल्पना करनी होगी? क्या उसे किसी भी खण्डमें शामिल न करके अलग ही रखना होगा? आशा है इन सब बातोंके विचार परसे सोनीजीको अपनी भूल मालूम पड़ेगी।

अब मैं उन बातोंको भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं जिनसे सोनीजीको भ्रम हुआ जान पड़ता है और जिन्हें वे अपने पक्षकी पुष्टिमें हेतुरूपसे प्रस्तुत करते हैं:—

सबसे पहली बात है वेदना-अनुयोगद्वारके अन्तमें वेदनाखण्डकी समाप्तिका लिखा जाना जिसकी शब्द रचना, इस प्रकार है—

"एवं वेयणा अप्पाबहुगाणिओगद्दारं समत्तं वेयणाखंडं समत्ता।"

इस वाक्यमें "वेयणाखण्डसमत्ता" यह पद अशुद्ध है—"वेयणा समत्ता" ऐसा होना चाहिये; क्योंकि 'वेयणकसीणपाहुड' अथवा कम्मपयडिपाहुडके २४ अनुयोगद्वारोंमेंसे, जिनका ग्रन्थमें उद्देश-क्रमसे कथन किया है, 'वेयणा' नामका दूसरा अनुयोगद्वार है, जिसकी टीका प्रारंभ करते हुए वीरसेनाचार्यने भी, "वेयणमहाहियारं विविहियारं परूवेमो" इस प्रतिज्ञा-वाक्यके द्वारा उसे विविध अधिकारोंसे युक्त 'वेयणा' नामका महाअधिकार सूचित किया है—'वेयणाखंड' नहीं लिखा है—:वही अधिकार अथवा अनुयोगद्वार अपने अवान्तर १६ अनुयोगद्वारों और उनके भी फिर अवान्तर अधिकारोंके साथ वहाँ पूरा हुआ है। 'वेयणा' के १६ अनुयोगद्वारोंमें अन्तका अनुयोगद्वार 'वेयणअप्पाबहुग' है, उसीकी समाप्तिके साथ 'वेयणा' की समाप्तिकी बात उक्त समाप्तिसूचक वाक्यमें कही गई है। 'वेयणा' पद स्त्रीलिंग होनेसे उसके साथमें 'समत्ता' (समाप्त हुई) क्रिया ठीक बैठ जाती है। दोनोंके बीचमें पड़ा हुआ 'खण्ड' शब्द असंगत और प्रक्षिप्त जान पड़ता है। श्रीवीरसेनाचार्यने अपनी धवला टीकामें कहीं भी अकेले 'वेयणा' अनुयोगद्वारको 'वेयणाखण्ड' नहीं लिखा है—

वे 'वेयणाखण्ड' अनुयोगद्वारोंके उस समूहको बतलाते हैं जिसका प्रारंभ 'कदि' अनुयोगद्वारसे होता है। और इसीसे 'कदि' अनुयोगद्वारके शुरूमें दिये हुए उक्त ४४ मंगलसूत्रों को उन्होंने 'वेदनाखण्ड' का मंगलाचरण बतलाया है; जैसा कि उनके निम्नवाक्यमें प्रयुक्त हुए "वेयणाखंडस्स आदीए मंगलट्ठं" शब्दोंसे स्पष्ट है—

"ण ताव णिबद्धमंगलमिदं महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदियादिचउवीसअणियोगावयवस्स आदीए गोदमसामिणा परूविदस्स भूदबलिभडारएण वेयणाखंडस्स आदीए मंगलट्ठं तत्तो आणेदूण ठविदस्स णिबद्धत्तविरोहादो।"

ऐसी हालतमें और इससे पूर्वमें डाले हुए प्रकाशकी रोशनीमें 'उक्त' खण्ड शब्दके प्रक्षिप्त होनेमें कोई संदेह मालूम नहीं होता। 'खण्ड' शब्द लेखककी किसी असावधानी का परिणाम है। हो सकता है कि यह उस लेखकके द्वारा ही बादमें बढ़ाया गया हो जिसने उक्त वाक्यके बाद अधिकारकी समाप्तिका चिन्ह होते हुए भी नीचे लिखे वाक्योंको प्रक्षिप्त किया है—

"णमो णाणाराहणाए णमो दंसणाराहणाए णमो चारित्ताराहणाए णमो तवाराहणाए। णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं। णमो भयवदो महदि महावीरवड्ढमाणबुद्धिरिसिस्स णमो भयवदो गोयमसामिस्स० नमः सकलविमलकेवलज्ञानावभासिने नमो वीतरागाय महात्मने नमो वर्द्धमानभट्टारकाय। वेदनाखण्डसमाप्तम्।"*

ये वाक्य मूलग्रन्थ अथवा उसकी टीकाके साथ कोई खास सम्बन्ध रखते हुए मालूम नहीं होते—वैसे ही किसी पहले लेखक-द्वारा अधिकारसमाप्तिके अन्तमें दिये हुए जान पड़ते हैं। और भी अनेक स्थानों पर इस प्रकारके वाक्य पाये जाते हैं, जो या तो मूलप्रतिके हाशिये पर नोट किये हुए थे अथवा अधिकारसमाप्तिके नीचे छुटे हुए खाली स्थान पर बादको किसीके द्वारा नोट किये हुए थे; और इस तरह कापी करते समय ग्रन्थमें प्रक्षिप्त हो गये हैं। वीरसेनाचार्यकी अपने अधिकारोंके अन्तमें ऐसे वाक्य देनेकी कोई पद्धति भी नहीं पाई जाती - अधिकांश अधिकार ही नहीं किन्तु खण्ड तक ऐसे वाक्योंसे शून्य पाये जाते हैं। और कितने ही अधिकारोंमें ऐसे वाक्य प्रक्षिप्त हो रहे हैं जिनका पूर्वापर कोई भी सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। उदाहरणके लिये 'जीवट्ठाण' की एक चूलिका (संभवतः ७ वीं या ८ वी) में "तव्वदिरित्तठाणाणि असंखेज्जगुणाणि पडिवादुप्पादठाणाणि मोत्तूण सेससव्वट्ठाणाणं गहणादो।" इस वाक्यके अनन्तर ही बिना किसी संबंधके ये वाक्य दिये हुए हैं—

"श्री श्रुतिकीर्तित्रैविद्यदेवस्थिरं जीयाओ ॥१०॥
नमो वीतरागाय शान्तये"†

* देखो, आरा-जैनसिद्धान्तभवन की 'धवल' प्रति, पत्र ८२७।
† देखो, आरा-जैनसिद्धान्तभवन की 'धवल' प्रति, पत्र सं० ३४१।

ऐसी हालतमें उक्त 'खण्ड' शब्द निश्चितरूपसे प्रक्षिप्त अथवा लेखककी किसी भूलका परिणाम है। यदि वीरसेनाचार्यको 'वेदना' अधिकारके साथ ही 'वेदनाखण्ड' का समाप्त करना अभीष्ट होता तो वे उसके बाद ही क्रमप्राप्त वर्गणाखण्डका स्पष्ट रूपसे प्रारंभ करते - फासाणियोगद्दारका प्रारंभ करके उसकी टीकाके मंगलाचरणमें 'फासणिओअं परूवेमो' ऐसा न लिखते। मूल 'फास' अनुयोगद्वारके साथमें कोई मंगलाचरण न होनेसे उसके साथ वार्गणाखण्ड का प्रारंभ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वर्गणाखण्डके प्रारंभमें भूतबलि आचार्यने मंगलाचरण किया है, यह बात श्रीवीरसेनाचार्यके शब्दोंसे ही ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है। अतः उक्त समाप्तिसूचक वाक्यमें 'खण्ड' शब्दके प्रयोगमात्रसे सोनीजीके कथनको कोई पोषण नहीं मिलता। उनकी इस पहली बातमें कुछ भी जान नहीं है—वह एक निर्दोष हेतुका काम नहीं दे सकती।

(ख) दूसरी बात बहुत साधारण है। फासाणियोगद्दारकी टीकाके अन्तमें एक वाक्य निम्नप्रकारसे पाया जाता है—

"जदि कम्मफासे पयदं तो कम्मफासो सेसपगणारसअणिओगद्दारेहि भूदबलिभयवदा सो एत्थ किमण परूविदो ? ण एस दोसो, कम्मक्खंधस्स फाससण्णिदस्स सेसाणियोगद्दारेहि परूवणाए कीरमाणाए वेयणाए परूविदत्थादो विसेसो णत्थि त्ति।"

इस वाक्यके द्वारा यह सूचित किया गया है कि फासाणिओगद्दारके १६ अनुयोगद्वारोंमेंसे एकका कथन करके शेष १५ अनुयोगद्वारोंका कथन भूतबलि आचार्यने यहाँ इसलिये नहीं किया है कि उनकी प्ररूपणामें 'वेदना' अधिकारमें प्ररूपित अर्थसे कोई विशेष नहीं है।

इसी तरह पयडि (प्रकृति) अनुयोगद्वारके अन्तमें भूतबलि आचार्यका एक वाक्य निम्नप्रकारसे उपलब्ध होता है—"सेसं वेयणाए भंगो।"

इस वाक्यकी टीकामें वीरसेनाचार्य लिखते हैं—"सेसाणिओगद्दाराणं जहा वेयणाए परूवणा कदा तहा कायव्वा।" अर्थात् शेष अनुयोगद्वारोंकी प्ररूपणा जिस प्रकार वेदना-अनुयोगद्वारमें की गई है उसी प्रकार यहां भी कर लेनी चाहिये।

उक्त दोनों वाक्योंको देकर सोनीजी लिखते हैं—"इन दो उद्धरणोंसे भी स्पष्ट होता है कि 'फासाणियोगद्दार'के पहले तक ही 'वेदनाखण्ड' है।" परन्तु कैसे स्पष्ट होता है ?, इसे सोनी जी ही समझ सकते हैं !! यह सब उसी भ्रम तथा भूलका परिणाम है जिसके अनुसार 'फासाणियोगद्दार'के पूर्ववर्ती 'वेयणा अणियोगद्दार'को 'वेदनाखण्ड' समझ लिया गया है और जिसका ऊपर काफी स्पष्टीकरण किया जा चुका है। उक्त वाक्योंमें प्रयुक्त हुआ 'वेयणा' शब्द 'वेदनाअनुयोगद्वार'का वाचक है—'वेदनाखण्ड'का वाचक नहीं है।

(ग) तीसरी बात वर्गणाखण्डके उल्लेखसे सम्बन्ध रखती है। सोनीजी 'जयधवला' से "सिप्पोग्गहादीणं अत्थो जहा वग्गणाखंडे परूविदो तहा एत्थ परूवेदव्वो" यह वाक्य उद्धृत करके लिखते हैं—

"जयधवलमें न तो अवग्रह आदिका अर्थ लिखा है और न मतिज्ञानके ३३६ भेद ही स्पष्ट गिनाये गये हैं। प्रकृति अनुयोगद्वारमें इन सबका स्पष्ट और सविस्तर वर्णन टीकामें ही नहीं बल्कि मूलमें है। इससे मालूम होता है कि वेदनाखण्डके आगेके उक्त अनुयोगद्वार वर्गणाखण्डके अन्तर्गत हैं या उनका सामान्य नाम वर्गणाखण्ड है। यदि ऐसा न होता तो आचार्य प्रकृति अनुयोगद्वारको वर्गणाखण्डके नामसे न लिखते।"

कितना बढ़िया अथवा विलक्षण यह तर्क है, इसपर विज्ञ पाठक ज़रा गौर करें! सोनीजी प्रकृति (पयडि) अनुयोगद्वारको 'वर्गणाखण्ड' का अंग सिद्ध करनेकी धुनमें वर्गणाखण्डके स्पष्ट उल्लेखको भी 'प्रकृति' अनुयोगद्वारका उल्लेख बतलाते हैं और यहाँ तक कहनेका साहस करते हैं कि खुद जयधवलाकार आचार्यने 'प्रकृति' अनुयोगद्वारको वर्गणाखण्डके नामसे उल्लेखित किया है!! इसीका नाम अतिसाहस है! क्या एक विषयका वर्णन अनेक ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता? यदि पाया जाता है तो फिर एक ग्रन्थका नाम लेकर यदि कोई उल्लेख करता है तो उसे दूसरे ग्रन्थका उल्लेख क्यों समझा जाय? इसके सिवाय, यह बात ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है कि वर्गणाखण्डकी आदिमें भूतबलि आचार्यने मंगलाचरण किया है और जिन 'फास' आदि चार अनुयोगद्वारोंको 'वर्गणाखण्ड' बतलाया जाता है उनमेंसे किसीकी भी आदिमें कोई मंगलाचरण नहीं है. इससे वे वर्गणाखण्ड नहीं हैं किन्तु 'वेदना-खण्ड' के ही अधिकार हैं, जिनके क्रमशः कथनकी ग्रन्थमें सूचना की गई है।

(घ) चौथी बात है कुछ वर्गणासूत्रोंके उल्लेख की। सोनीजीने वेदनाखण्डके शुरूमें दिये हुए मंगलसूत्रोंकी व्याख्यामेंसे निम्न लिखित तीन वाक्योंको उद्धृत किया है, जो वर्गणासूत्रोंके उल्लेखको लिये हुए हैं—

"ओहिणाणावरणस्स असंखेज्जमेत्ताओ चेव पयडीओ त्ति वग्गणसुत्तादो।"

"कालो चउण्णउड्ढी कालो भजिदव्वो खेत्तवुड्ढीए।
वुड्ढीए दव्वपज्जय भजिदव्वा खेत्तकाला दु॥
एदम्हादो वग्गणासुत्तादो णव्वदे।"

"आहारवग्गणाए दव्वा थोवा, तेयावग्गणाए दव्वा अणंतगुणा, भासावग्गणाए दव्वा अणंतगुणा, मण० दव्वा अणंतगुणा, कम्मइय अणंतगुणा त्ति वग्गणसुत्तादो णव्वदे।"

ये वाक्य धवल-सम्बन्धी मेरी नोट्सबुकमें नोट किये हुए नहीं हैं, इससे मुझे इनकी जाँचका और इनके पूर्वापर सम्बन्धको मालूम करके यथेष्ट विचार करनेका अवसर नहीं मिल

सका ; फिर भी सोनीजी इन वाक्योंमें उल्लेखित प्रथम दो वर्गणासूत्रोंका 'प्रकृति' अनुयोगद्वारमें और तीसरेका 'बन्धनीय' अधिकारमें जो पाया जाना लिखते हैं उस पर मुझे सन्देह करनेका ज़रूरत नहीं है। परन्तु इस पाये जाने मात्रसे ही 'प्रकृति' अनुयोगद्वार और 'बन्धनीय' अधिकार वर्गणाखण्ड नहीं हो जाते। क्योंकि प्रथम तो ये अधिकार और इनके साथके फासादि अधिकार वर्गणाखण्डके कोई अंग नहीं हैं, यह बात ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है—इनमेंसे किसीके भी शुरू, मध्य या अन्तमें इन्हें वर्गणाखण्ड नहीं लिखा, अन्तके 'बन्धनीय' अधिकारको समाप्त करते हुए भी इतना ही लिखा है कि "एवमोगाहणप्पाबहुए सुवुत्ते बंधणिज्जं समत्तं होदि।" दूसरे, 'वर्गणासूत्र'का अभिप्राय वर्गणाखण्डका सूत्र नहीं किन्तु वर्गणाविषयक सूत्र है। वर्गणाका विषय अनेक खण्डों तथा अनुयोगद्वारोंमें आया है, 'वेदना' नामके अनुयोगद्वारमें भी वह पाया जाता है—"वग्गणपरूवणा' नामका उसमें एक अवान्तरान्तर अधिकार है। उस अधिकारका कोई सूत्र यदि वर्गणासूत्रके नामसे कहीं उल्लेखित हो तो क्या सोनी जी उस अधिकार अथवा वेदना अनुयोगद्वारको ही 'वर्गणाखण्ड' कहना उचित समझेंगे ? यदि नहीं तो फिर उक्त वर्गणासूत्रोंके प्रकृति आदि अनुयोगद्वारोंमें पाये जाने मात्रसे उन अनुयोगद्वारोंको 'वर्गणाखंड' कहना कैसे उचित हो सकता है ? कदापि नहीं। अतः सोनीजीका उक्त वर्गणासूत्रोंके उल्लेख परसे यह नतीजा निकालना कि "यही वर्गणाखण्ड है—इससे जुदा और कोई वर्गणाखंड नहीं है" ज़रा भी तर्कसंगत मालूम नहीं होता।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूं कि षट्खण्डागमके उपलब्ध चारखण्डोंमें सैकड़ों सूत्र ऐसे हैं जो अनेक खण्डों तथा एक खण्डके अनेक अनुयोगद्वारोंमें ज्योंके त्यों अथवा कुछ पाठभेदके साथ पाये जाते हैं—जैसे कि 'गइ इंदिए च काए०' नामका मार्गणासूत्र जीवट्ठाण, खुद्दाबंध और वेयणा नामके तीन खण्डोंमें पाया जाता है—किसी सूत्रकी एकता अथवा समानताके कारण जिस प्रकार इन खंडोंमेंसे एक खण्डको दूसरा खण्ड तथा एक अनुयोगद्वारको दूसरा अनुयोगद्वार नहीं कह सकते उसी प्रकार वर्गणाखंडके कुछ सूत्र यदि इन खंडों अथवा अनुयोगद्वारोंमें पाये जाते हों तो इतने परसे ही इन्हें वर्गणाखण्ड नहीं कहा जा सकता। वर्गणाखण्ड कहनेके लिये तद्विषयक दूसरी आवश्यक बातोंको भी उसी तरह देख लेना होगा जिस तरह कि उक्त सूत्रकी एकताके कारण खुद्दाबंधको जीवट्ठाण कहने पर जीवट्ठाण-विषयक दूसरी ज़रूरी बातोंको वहाँ देख लेना होगा। अतः सोनीजीने वर्गणासूत्रोंके उक्त उल्लेख परसे जो अनुमान लगाया है वह किसी तरह भी ठीक नहीं है।

(ङ) एक पाँचवी बात लेखके अन्तिम भागमें और दी है और वह इस प्रकार है—

"आचार्य वीरसेन लिखते हैं—'अवसेसं सुतट्ठं वग्गणाए परूवइस्सामो' अर्थात

सूत्रका अवशिष्ट अर्थ 'वर्गणा' में प्ररूपण करेंगे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'वर्गणा' का प्ररूपण भी वीरसेन स्वामीने किया है। वर्गणाका वह प्ररूपण धवलसे बहिर्भूत नहीं है किन्तु धवल ही के अन्तर्भूत है।"

यद्यपि आचार्य वीरसेनका उक्त वाक्य मेरे पास नोट किया हुआ नहीं है, जिससे उस पर यथेष्ट विचार किया जा सकता; फिर भी यदि वह वीरसेनचार्यका ही वाक्य है और 'वेदना' अनुयोगद्वारमें दिया हुआ है तो उससे प्रकृत विषय पर कोई असर नहीं पड़ता—यह लाज़िमी नहीं आता कि उसमें वर्गणाखण्डका उल्लेख है और वह वर्गणाखण्ड फासादि अनुयोगद्वारोंसे बना हुआ है—उसका सीधा संबंध स्वयं 'वेदना' अनुयोगद्वारमें दी हुई 'वग्गणपरूवणा' तथा 'बंधणिज्ज' अधिकारमें दी हुई वर्गणाकी विशेष प्ररूपणाके साथ हो सकता है, जोकि धवलके बहिर्भूत नहीं है। और यदि जुदे वर्गणाखण्डका ही उल्लेख हो तो उस पर वीरसेनाचार्यकी अलग टीका होनी चाहिये जिसे वर्तमानमें उपलब्ध होने वाले धवलभाष्य अथवा धवला टीकामें समाविष्ट नहीं किया गया है। हो सकता है कि जिस विकट परिस्थितिमें यह ग्रन्थप्रति मूडबिद्रीसे आई है उसमें शीघ्रतादिके वश वर्गणाखण्डकी कापी न हो सकी हो और अधूरी ग्रन्थप्रति पर यथेष्ट पुरस्कार न मिल सकनेकी आशासे लेखकने ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिको 'वेदनाखण्ड' के बाद जोड़कर ग्रन्थप्रतिको पूरा प्रकट किया हो, जिसकी आशा बहुत ही कम है। कुछ भी हो, उपलब्ध प्रतिके साथमें वर्गणाखण्ड नहीं है और वह चार खण्डोंकी ही टीका है, इतना तो स्पष्ट ही है। शेषका निर्णय मूडबिद्रीकी मूल प्रतिको देखनेसे ही हो सकता है। आशा है पं० लोकनाथजी शास्त्री उसे देखकर इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे—यह स्पष्ट लिखनेका ज़रूर कष्ट उठाएँगे कि वेदनाखण्ड अथवा कम्मपयडिपाहुडके २४वें अधिकारकी समाप्तिके बाद ही—"एवं चउवीसदिमाणिओगद्दारं समत्तं" इत्यादि समाप्तिसूचक वाक्योंके अनन्तर ही—उसमें 'जस्स सेसाणमए' नामकी प्रशस्ति लगी हुई है या कि उसके बाद 'वर्गणाखण्ड'की टीका देकर फिर वह प्रशस्ति दी गई है।

हाँ, सोनीजीने यह नहीं बतलाया कि वह सूत्र कौनसा है जिसके अवशिष्ट अर्थको 'वर्गणा'में कथन करनेकी प्रतिज्ञा की गई है और वह किस स्थान पर कौनसी वर्गणाप्ररूपणामें स्पष्ट किया गया है? उसे ज़रूर बतलाना चाहिये था। उससे प्रकृत विषयके विचारको काफी मदद मिलती और वह बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता। अस्तु।

यहाँ तकके इस संपूर्ण विवेचन परसे, मैं समझता हूं, यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उपलब्ध धवला टीका षट्खण्डागमके प्रथम चार खण्डोंकी टीका है, पाँचवें वर्गणाखण्डकी टीका उसमें शामिल नहीं है और अकेला 'वेदना' अनुयोगद्वार ही वेदनाखण्ड नहीं है बल्कि उसमें दूसरे अनुयोगद्वार भी शामिल हैं। और इसलिये सोनीजीका मुझे समझनेकी प्रेरणा

करते हुए, यह लिखना कि "वेदनाअणुयोगद्वारका जहाँ तक वर्णन है वहीं तक वेदनाखण्ड है। उससे आगे फास, कम्म, पयडि, ये तीन अनुयोगद्वार और बन्धन अनुयोगद्वारके बन्ध और बन्धनीय ये दो अधिकार खण्डके हिसाबसे वर्गणाखण्डके हैं। इस वर्गणाखण्ड पर भी वीरसेन-स्वामीने टीका लिखी है। अतः (उपलब्ध) धवला टीका प्रथम चार खण्डोंकी नहीं किन्तु आगेके पाँचवें वर्गणाखण्डकी भी है" कहाँतक युक्तिसंगत है, उसे अब उक्त विवेचनकी रोशनीमें सहृदय पाठक सहज हीमें समझ सकते हैं। मुझे तो वह बिल्कुल ही असंगत तथा भ्रमपूर्ण जान पड़ता है। और इसीसे मैं उसे भ्रमनिवारणकी बात न कह कर भ्रम-प्रसारणकी बात कहता हूं।

लेखकी कुछ अवशिष्ट रही और दूसरे विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली बातोंका विचार बादको किया जाएगा।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० २६-५-१९३९

श्रावण कृष्णा प्रतिपदाकी स्मरणीय तिथि

और

वीर-शासन-जयन्ती

[ले०—श्रीयुत पं० परमानन्द जैन, शास्त्री]

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा भारतवर्षकी एक अति प्राचीन ऐतिहासिक तिथि है। इसी तिथिसे भारतवर्षमें बहुत पहले नववर्षका प्रारम्भ हुआ करता था, नये वर्षकी खुशियाँ मनाई जाती थीं। तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) और धवल जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें 'वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुल पडिवाए" तथा "वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले, पाडिवद पुव्वदिवसे" जैसे वाक्योंके द्वारा इस तिथिको वर्षके प्रथम मास और प्रथम पक्षका पहला दिन सूचित किया है। देशमें सावनी-आषाढ़ीके विभागरूप जो फ़सली साल प्रचलित है वह भी उसी प्राचीन प्रथाका सूचक जान पड़ता है, जिसकी संख्या आजकल ग़लत प्रचलित हो रही है*।

इतना ही नहीं, युगका आरम्भ और सुषम-सुषमादिके विभागरूप कालचक्रका अथवा उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालोंका प्रारम्भ भी इसी तिथिसे हुआ करता है, ऐसा पुरातन शास्त्रोंमें उल्लेख है। साथ ही, यह भी उल्लेख है कि युगकी समाप्ति आषाढ़की पौर्णमासीको होती है पौर्णमासीकी रात्रिके अनन्तर ही प्रातः श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको अभिजित् नक्षत्र, बालव करण और रुद्र मूहूर्तमें युगका आरम्भ हुआ करता है। ये नक्षत्र, करण और मूहूर्त ही नक्षत्रों, करणों तथा मूहूर्तोंके प्रथमस्थानीय होते हैं—अर्थात् इन्हींसे नक्षत्रादिकोंकी गणना प्रारम्भ होती है। इन सबके द्योतक शास्त्रोंके कुछ प्रमाण नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

सावणबहुले पाडिव रुद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो।
अभिजिस्स पढमजोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं॥

—तिलोयपण्णत्ती, १, ७०

*कहीं कहीं विक्रम संवतका प्रारम्भ भी श्रावण कृष्णा १ से माना जाता है; जैसा कि पं० विश्वेश्वरनाथ रेउके 'राजा भोज' नामक इतिहास-ग्रन्थके निम्न अवतरणसे प्रकट है—

"राजपूतानेके उदयपुर राज्यमें विक्रम संवतका प्रारंभ श्रावण कृष्ण १ से माना जाता है। इसी प्रकार मारवाड़के सेठ-साहूकार भी इसका प्रारंभ उसी दिनसे मानते हैं।" (पृ० ५४)

इससे ऐसा ध्वनित होता है कि उदयपुर राज्य और मारवाड़में पहलेसे वर्षका आरम्भ श्रावण-कृष्णा प्रतिपदासे ही होता था। विक्रम संवतको अपनाते हुए वहांके निवासियोंने अपनी वर्षारम्भकी तिथिको नहीं छोड़ा और उसके अनुरूप विक्रम संवतको परिवर्तित कर दिया। —लेखक

वेदांगज्योतिष, गर्गसंहिता आदि सुप्राचीन हिन्दू ज्योतिष ग्रन्थों में भी वर्षारंभ श्रावण कृष्णा १ से ही माना जाता है।

—के० बी० शास्त्री

सावणबहुलपडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो।
अभिजिस्स पढमजोए तत्थ जुगादी मुणेयव्वो॥

—धवल, प्रथमखण्ड

आषाढपौर्णिमास्यां तु युगनिष्पत्तिश्च श्रावणे।
प्रारम्भः प्रतिपच्चन्द्रयोगाभिजिदि कृष्णके॥

—लोकविभाग, ७, ३६

आसाढपुण्णमीए जुगणिप्पत्ती दु सावणे किण्हे।
अभिजिम्हि चंदजोगे पाडिवदिवसम्हि पारंभो॥

—त्रिलोकसार, ४११

सावणबहुलपडिवए बालवकरणे अभीइनक्खत्ते।
सव्वत्थ पढमसमये जुगस्स आइं वियाणाहि॥

—ज्योतिषकरण्डक, ५५

एए उ सुसमसुसमादयो अद्धा विसेसा जुगादिणा सह पवत्तंति जुगंतेण सह समप्पंति।

—पादलिप्ताचार्य, ज्यो० कर० टी०

भरतैरावते महाविदेहेषु च श्रावणमासे कृष्णपक्षे बालवकरणेऽभिजित्नक्षत्रे प्रथमसमये युगस्यादिं विजानीहि।

—मलयगिरि, ज्यो० करण्ड टीका

सर्वेषामपि सुषमसुषमादिरूपाणां कालविशेषाणामादि युगं, युगस्य चादिः प्रवर्तते श्रावणमासि बहुलपक्षे प्रतिपदि तिथौ बालवकरणे अभिजिन्नक्षत्रे चन्द्रेण सह योगमुपागच्छति।

– मलयगिरि, सूर्यप्रज्ञप्ति-टीका, ९४

यदाषाढपौर्णमासीरजन्याः समनन्तरं।
प्रवर्तते युगस्यादिर्भरतैरावतारव्ययोः॥

—लोकप्रकाश, ६३, पृ० ३८६

सावणाइया मासा, बहुलाइया पक्खा.....रुद्दाइया मुहुत्ता, बवाइया करणा, अभिपाइया नक्खत्ता।

—जम्बूदीवपण्णत्ती

इन सब अवतरणोंसे उक्त तिथिका ऐतिहासिक तथा प्राकृतिक महत्व स्पष्ट है और वह महत्व और भी बढ़ जाता है अथवा यों कहिये कि असाधारण कोटिमें पहुंच जाता है, जब यह मालूम होता है कि इसी श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको प्रातःकाल सूर्योदयके समय अभिजित् नक्षत्रमें ही श्रीवीर भगवानके शासनतीर्थकी उत्पत्ति हुई है, उनकी दिव्यवाणी सर्वप्रथम खिरी

है और उसके द्वारा उनका धर्मचक्र प्रवर्तित हुआ है, जिसका साक्षात् सम्बन्ध सब जीवोंके कल्याणके साथ है। मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके शब्दोंमें—"कृतज्ञता और उपकार-स्मरण आदिकी दृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह तीर्थ-प्रवर्तन-तिथि दूसरी जन्मादि-तिथियोंसे कितने ही अंशोंमें अधिक महत्व रखती है; क्योंकि दूसरी पंचकल्याणक-तिथियाँ जब व्यक्ति-विशेषके निजी उत्कर्षादिसे सम्बन्ध रखती हैं तब यह तिथि पीड़ित, पतित, और मार्गच्युत जनताके उत्थान एवं कल्याणके साथ सीधा सम्बन्ध रखती है, और इसलिये अपने हितमें सावधान कृतज्ञ जनताके द्वारा खास तौरसे स्मरण रखने तथा महत्व दिये जानेके योग्य हैं।" धवल सिद्धान्त और तिलोयपण्णत्तीमें भगवान महावीरके धर्मतीर्थकी उत्पत्तिका उल्लेख करते हुए जो वाक्य दिये हैं वे इस प्रकार हैं—

> वासस्स पढमपासे, पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
> पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजम्हि॥
>
> —धवल, प्रथम खण्ड

> वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए।
> अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स॥
>
> —तिलोयपण्णत्ती, १, ६९

इनमें बतलाया है कि श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको, जो कि वर्षका पहला महीना, पहला पक्ष और प्रथम दिन था, प्रातःकाल अभिजित् नक्षत्रमें श्रीवीर प्रभुके धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई है अर्थात् यह उनके शासनकी जन्मतिथि है।

ऐसी महत्वपूर्ण एवं मांगलिक तिथिको, खेद है कि, हम अर्सेसे भूले हुए थे। सर्वप्रथम मुख्तार सा० ने धवलग्रन्थपरसे वीरशासनकी इस जन्मतिथिका पता चलाया और उनके दिलमें यह उत्कट भावना उत्पन्न हुई कि इस दिन हमें अपने महोपकारी वीरप्रभु और उनके शासनके प्रति अपने कर्तव्यका कुछ पालन ज़रूर करना चाहिये। तदनुसार उन्होंने १५ मार्च सन् १९३६ को 'महावीरका तीर्थप्रवर्तन-तिथि' नामसे एक लेख लिखा और उसे तत्कालीन 'वीर'के विशेषाङ्कमें प्रकाशित कराया, जिसके द्वारा जनताको इस पावन तिथिका परिचय देते हुए और इसकी महत्ता बतलाते हुए इसकी स्मृतिमें उस दिन शुभ कृत्य करने तथा उत्सवादिके रूपमें यह पुण्य दिवस मनानेकी प्रेरणा की गई थी, और अन्तमें लिखा था—"इस दिन महावीर-शासनके प्रेमियोंको खास तौर पर उक्त शासनकी महत्ताका विचार कर उसके अनुसार अपने आचार-विचारको स्थिर करना चाहिये और लोकमें महावीरशासनके प्रचार का—महावीरसन्देशको फैलाने का—भरसक उद्योग करना चाहिये अथवा जो लोग शासन-प्रचारके कार्यमें लगे हों उन्हें सच्चा सहयोग एवं साहाय्य प्रदान करना चाहिये, जिससे वीर-शासनका प्रसार होकर लोकमें सुख-शान्ति-मूलक कल्याणकी अभिवृद्धि होवे।"

इसके बाद ही, २६ अप्रेल १९३६ को उद्घाटित होनेवाले अपने 'वीरसेवामन्दिर'में उन्होंने ५ जुलाई सन् १९३६ को वीरशासन-जयन्तीके उत्सवका आयोजन किया और उस वक्तसे यह उत्सव बराबर हर साल मनाया जा रहा है। बड़ी प्रसन्नताकी बात है कि जनताने इसे अपनाया है, दि० जैनसंघ अम्बालाने भी इसके अनुकूल आवाज़ उठाई है और पिछले दो वर्षोंमें यह शासन-जयन्ती बहुतसे स्थानों पर बड़े उत्साहके साथ मनाई गई है—गत वर्ष वीरसेवामन्दिरमें इस शासन-जयन्तीके मनानेमें जो उत्साह व्यक्त किया गया उसके फल-स्वरूप ही 'अनेकान्त'का पुनः प्रकाशन हुआ है।

इस वर्ष यह चिरस्मरणीय तिथि ता० २ जुलाई सन १९३९ रविवारके दिन अवतरित हुई है। अतः सर्वसाधारणसे निवेदन है कि वे इस आनेवाली पुण्यतिथिका अभीसे ध्यान रक्खें और उस दिन पूर्ण निष्ठा एवं उत्साहके साथ वीर-शासन-जयन्तीके मनानेका आयोजन करें और उसे हर तरहसे सफल बनानेकी पूर्ण चेष्टा करना अपना कर्तव्य समझें।

वीर-सेवामन्दिर, सरसावा, ता० २२-५-१९३९

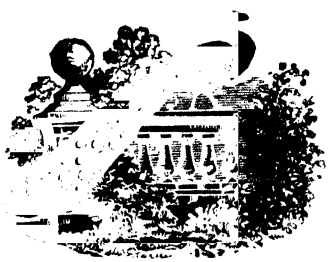

विविध विषय

(१)

द्राविड़-संघ

श्री देवसेनाचार्य-द्वारा संकलित 'दर्शनसार' में 'द्राविड़संघ' की उत्पत्ति विक्रम राजा की मृत्यु से ५२६ वर्ष बीतने पर दक्षिण मथुरा में पूज्यपाद स्वामी के शिष्य वज्रनंदि-द्वारा हुई बताई गई है और उसे 'महामोहरूप' इस कारण कहा है कि उसके मतानुसार बीजों में जीव नहीं, कुछ वस्तु प्रासुक नहीं और सावद्य दोष भी नहीं है।[1] इस प्रकार मूलसंघानुयायियों की दृष्टि में द्राविड़संघ जैन-मार्ग-विपरीत होने से अमान्य प्रकट होता है। किन्तु दक्षिण भारत की मान्यता इसके विपरीत है। आज ही नहीं वहाँ बहुत पहले से द्राविड़-संघ सम्माननीय रहा है। प्रो० चक्रवर्ती ने हमारे अंग्रेजी विभाग के गत लेख में उसका उल्लेख महत्त्वपूर्ण शब्दों में किया है। वह उसका अस्तित्व श्रीकुन्दकुन्दाचार्य जी के समय से मानते हैं और उसे मूलसंघ से अभिन्न समझते हैं। जब प्राचीन मूलसंघ अथवा द्राविड़संघ शिथिल हो गया, तो, उसका पुनरुद्धार वज्रनंदी जी ने किया था। दक्षिणभारत के अन्य इतिहासज्ञ विद्वान् भी यह प्रकट करते हैं कि जैनधर्म के हतप्रभ हो चुकने पर उसके उत्कर्ष के लिये जैनियों ने अपना पृथक् संघ—द्राविड़संघ स्थापित किया था। प्रो० भास्करानन्द सालेतोरे ने शिलालेखीय साक्षी के आधार से प्रकट किया है कि अनेक जैन गुरुओं द्वारा समलंकृत द्राविड़संघ नन्दिसंघ का एक अन्तर्भाग (sub-divisions) था। सन १०५० के एक शिलालेख में गुणसेन पण्डित नामक साधु के विषय में लिखा है कि वह नन्दिसंघ (के) द्राविड़संघ और इरुंगुलान्वय से सम्बन्धित थे। सन् १०६४ के शिलालेख में स्पष्टतः द्राविड़संघ को नन्दिसंघ का एक गण बतलाया है; जिसमें उपर्युक्त गुणसेन की समाधि का उल्लेख है। इस प्रकार के उल्लेख प्रो० सा० को दस-बीस शिलालेखों में मिले हैं, जिनमें से कुछ में द्राविड़-संघ को मूलसंघ से सम्बन्धित बताया गया है। (where Dravida sangh is said to belong to the Mula sangha) इसीलिये वह स्पष्ट शब्दों में द्राविड़-संघ को नन्दिसंघ का अन्तर्भाव लिखते हैं[2]। जिन शिलालेखों में प्रो० सा० ने उपर्युक्त उल्लेख पाये हैं

१ 'सिरिपुज्जपाद सीसो दाविडसंघस्स कारगा दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्ती ॥२४॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरण-पत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो' ॥२८॥—जैनहितैषी, भा० १३ पृ०२५५-२५६

२ Mediæval Jainism, 237—238.

वह ११वीं १२वीं शताब्दियों के हैं और 'दर्शनसार' दसवीं शताब्दी में संकलित हुआ है।' इससे अनुमान होता है कि यद्यपि वज्रनंदी आचार्य की निजी मान्यताओं के कारण प्रारंभ में उनके संघ का विरोध हुआ; परंतु उपरान्त उस संघ के प्रमुख आचार्यों द्वारा दक्षिण भारत में जैनधर्म का विशेष अभ्युदय होने के कारण उसका प्राबल्य बढ़ गया और वह मूलसंघ से अभिन्न और सम्मानीय माना जाने लगा। क्या यह अनुमान ठीक हो सकता है?

—का० प्र०

(२)

'उपदेशतरंगिणी' का गिरिनार-प्रकरण

श्वेताम्बराचार्य श्रीरत्नमन्दिरगणिकृत 'उपदेशतरंगिणी' के गिरिनार-प्रकरण में लिखा है कि "सुराष्ट्रदेश के गोमण्डल नामक गांव के निवासी धाराक नाम के संघपति थे। उनके ७ पुत्र, ७०० योद्धा, १३०० गाड़ियां और २८ करोड़ अशर्फियां थीं। वे शत्रुंजय की यात्रा करके जब गिरिनार तीर्थ की यात्रा को गये जो कि ५० वर्ष से दिगम्बरों के अधिकार में था, तब उन्हें वहाँ खङ्गार नामक किलेदार से लड़ना पड़ा और उसमें उनके सातों पुत्र और सारे योद्धा मारे गये। उसी समय जब उन्होंने सुना कि गोपगिरि अर्थात् ग्वालियर के राजा आम हैं और उन्हें बप्पभट्टि नामक श्वेताम्बराचार्य ने प्रतिबोधित कर रक्खा है, तब वे ग्वालियर आये।"[२] धाराक ने दिगम्बर-गृहीत गिरिनार तीर्थ की हालत सुनाई। आम राजा गिरिनार तीर्थ की यात्रा कर के भोजन करने की प्रतिज्ञा करके चल पड़े। खंभात तीर्थ तक पहुंचते-पहुंचते राजा को बहुत शिथिल हुआ देख कर श्वेताम्बराचार्य ने अपायमठ (?) से एक जिनप्रतिमा मंगवाई और उसके दर्शन कराकर राजा की प्राणरक्षा की। फिर दिगम्बरों से एक महीने तक वाद किया। अन्ततः अम्बिकादेवी ने प्रकट होकर श्वेताम्बरों का तीर्थ घोषित किया और वाद का अन्त कर दिया। इस प्रकरण से यह स्पष्ट है कि जूनागढ़ किले के शासक खङ्गार के समय में गिरिनार तीर्थ दिगम्बर जैनियों के अधिकार में था—स्वयं खङ्गार दिगम्बर अधिकार का संरक्षक था उसने श्वेताम्बर संघपति को मार भगाया था, जो आम राजा की शरण में पहुंचा था और तीर्थोद्धार के लिये साथ लाया था। जूनागढ़ के शासनाधिकारियों में राजा खङ्गार और उनकी रानी रागिकदेवी बहुत प्रसिद्ध हैं।[३] इस

१ 'रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥४७॥

२ जैनहितैषी, भाग १२, पृष्ठ १३३—१३४।

३ फॉर्बस, रासमाला, पृष्ठ १२०—१२१।

शासक के पूर्वज सिंधुदेश से दसवीं शताब्दी में आ कर जूनागढ़ के अधिकारी बने थे और अपने पूर्वज चन्द्रचूड़ के नाम से 'चूड़ासमास' कहलाते थे। राजा खङ्गार सोलंकी राजा सिद्धसेन का समकालीन था और वह उसी के हाथ से रणक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त हुआ था। इस खङ्गार के अतिरिक्त जूनागढ़ का अन्य कोई अधिकारी इस नाम का धारी नहीं मिलता। इसलिये श्वेताम्बराचार्य ने इसी खङ्गार का उल्लेख किया प्रतीत होता है। यहाँ तक तो उनका कथन ऐतिहासिक प्रकट होता है परन्तु इसके आगे वह साम्प्रदायिकता में बह गये, क्योंकि जिन बप्पभट्ट सूरि के शिष्य आमराजा का वह उल्लेख करते हैं वह राजा खङ्गार से पहले हो चुके थे। आमराजा कन्नौज के शासक यशोवर्मा (सन ७२५) के पुत्र थे, जिनको बप्पभट्टसूरि ने प्रतिबुद्ध किया था[1]। इस प्रकार आमराजा और राजा खङ्गार के अस्तित्वकाल में करीब २-३ शताब्दियों का अन्तर पड़ता है और इस कारण यह नितान्त असम्भव है कि राजा खङ्गार से युद्ध में हारकर धाराक आमराजा को तीर्थरक्षा के लिये ला सका हो।

यही कारण है कि श्वेताम्बर लेखक आमराजा खङ्गार का युद्ध नहीं कराता। वह बीच में अम्बिका देवी को ले आता है। परंतु यह विश्वसनीय नहीं जँचता कि अम्बिकादेवी की घोषणा से ही दिगम्बरों ने अपना अधिकार तीर्थ पर से छोड़ दिया हो। हाँ, यह दूसरी बात है कि सोलंकी शासकों की कृपा से वह दिगम्बरों के साथ-साथ स्वयं भी तीर्थ के अधिकारी रहे हों। श्वेताम्बराचार्य रत्नमण्डनगणिकृत 'सुकृतसागर' नामक ग्रन्थ में जो विवरण गिरनार-विषयक है, उससे भी यही बात प्रकट होती है, क्योंकि उसमें दिल्ली के दिगम्बर जैनी सेठ पूर्णचन्द्र के संघ का उल्लेख है जो गिरनार में आया हुआ था और उस तीर्थ को अपना बताता था[2]। यह सेठ पूर्णचन्द्र सुलतान अल्लाउद्दीन-द्वारा मान्य थे, इसलिये उनके समकालीन थे। 'रासमाला' को देखने से पता चलता है कि सिद्धराज के बाद में हुए राजा कर्ण के राज्यकाल में अलाउद्दीन ने गुजरात पर आक्रमण किया था[3]। इसका अर्थ यह होता है कि 'सुकृतसागर' में 'उपदेशतरंगिणी'-गत गिरिनार प्रकरण से बाद का विवरण है और उसमें भी दिगम्बरों का प्राबल्य और अधिकार गिरिनार तीर्थ पर प्रकट होता है। परंतु दिगम्बरों के अधिकार का अर्थ यह नहीं कि वह श्वेताम्बरों को दर्शन-पूजन नहीं करने देते थे। 'सुकृतसागर' के उल्लेख से स्पष्ट है कि दोनों सम्प्रदायों के भक्त जन गिरिनार तीर्थ के दर्शन और पूजन साथ-साथ करते थे—यह बात अवश्य थी कि गिरिनार तीर्थ के प्राचीन मंदिर में मूलनायक भ० नेमिनाथ जी की प्रतिमा आभरणादि-रहित नग्न (दिगंबर) थी और

१ टॉड, दी जैन वार्थोग्रेफिकल डिक्शनरी, पृष्ठ ७६।

२ जैनहितैषी, भाग १५, पृष्ठ १३२—१३३।

३ फॉर्बस, रासमाला, पृष्ठ २१४—२१५।

संभवतः तीर्थरक्षा का भार दिगम्बरों के हाथ में था—इसी कारण उपर्युक्त श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में दिगम्बरों का स्वामित्व स्वीकार किया गया है। पहले दोनों सम्प्रदायों में वैसी कट्टरता नहीं थी जैसे कि आजकल है। 'उपदेशतरंगिणी' में अन्ततः यह भी लिखा है कि अम्बिका देवी-कृत घोषणा के बाद से मूर्तियों में नग्नत्व और आञ्जलिका का भेद कर दिया गया था; परन्तु उसका यह कथन गिरिनार की मूलनायक प्रतिमा के विषय में ठीक नहीं प्रमाणित होता, क्योंकि उसके बाद की जिस घटना का उल्लेख 'सुकृतसागर' में है, उसमें मूलनायक प्रतिमा को आभरणादि-रहित नग्न (दिगम्बर) लिखा है। क्या ही अच्छा हो, यदि जैनी साम्प्रदायिक मोह को छोड़कर पारस्परिक वात्सल्य-द्वारा 'जैनत्व' का प्रकर्ष होने दें!

—का० प्र० जैन

(३)

तेरापुर और कलिकुंड

प्रो० हीरालाल जी ने 'करकंड-चरिउ' की भूमिका (पृष्ठ १५-१८) में लिखा था कि "करकंडु अंगदेश की चंपापुरी से चोल, चेरादि दक्षिण के राज्यों की तरफ जा रहे थे तभी उन्हें तेरापुर मिला था। अतः दक्षिणापथ में ही उसे होना चाहिये। खोज करने से हैदराबाद राज्य के उस्मानाबाद जिले में एक 'तेर' नाम का स्थान मिला है।" इसी को प्रो० सा० ने करकंडुचरित-गत 'तेरापुर' अनुमान किया था। उनके इस अनुमान की पुष्टि श्री-हरिषेणाचार्य-कृत 'कथाकोष' ग्रन्थ से भी होती है। उसमें ५६ नं० की कथा 'करकंडु महाराज' के चरित्र से ओतप्रोत है; जिसमें तेरापुर का उल्लेख निम्न प्रकार है:—

"लंकादक्षिणभागे तौ विधाय जिनवंदनां।
दक्षिणापथ देशस्थे मलये विषयांतिके ॥११॥
भूतिपर्वतमायातौ श्रीखंडतरुसंकुलं।
भक्तिनिर्भरचेतस्कौ जिनबिंबानि वंदितुं ॥१२॥

❀ ❀ ❀

व्रजन्नमितवेगोऽयं गृहीत्वा प्रतियातनां।
कलिकुंडस्य तां भूयो मुमोच लयनांतरे ॥१६॥
विधाय तां नुतिं भक्त्या बहुक्षितिपतिः प्रभुः।
तावत्तत्प्रतिमात्रैव तस्थौ निश्चलविग्रहा ॥१७॥
ततो मंजूषिकांतस्थां तदर्थां भूमिसंगतां।
विधायासौ प्रयत्नेन तेराख्यं पुरमाययौ ॥१८॥

सहस्रकूटसंख्याने समुत्तुंगे जिनालये।
मुनिर्यमधरस्तत्र तिष्ठति स्थिरमानसः ॥१९॥"

यह श्लोक सुवेग और अमितवेग नामक दो विद्याधर राजाओं के तीर्थयात्रा-प्रसंग में हैं। दक्षिणापथ के मलयविषयान्तर्गत स्थित एक पर्वत पर से वह श्रीपार्श्वनाथ जी की प्रतिमा को लेकर चले और कलिकुंड गुफा के पास उसे विराजमान किया: परन्तु जब उस प्रतिमा को उठा कर वह आगे चलने के लिये उत्सुक हुए तो वह प्रतिमा निश्चल रही। ज्यों-त्यों करके वह तेरापुर पहुंचे, जहाँ पर सहस्रकूट चैत्यालय में उन्हें यमधर मुनि मिले। उनसे पूर्व वृत्तांत पूछने पर उन्हें नील महानील नामक विद्याधर-द्वारा उस चैत्यालय के बनाये जाने का एवं अन्य वृत्तान्त ज्ञात हुआ। इस प्रसंग में तेरापुर का उल्लेख इस प्रकार हुआ है :—

"अभीराख्यमहादेशे तेराख्यनगरं परं।
तदा नीलमहानीलौ प्रयातौ विजिगीषया ॥५२॥

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि तेरापुर और कलिकुंड की गुफा दक्षिणापथ की ओर अभीर देश में स्थित थे। आधुनिक शोध से प्रमाणित है कि दक्षिण-पूर्वीय गुजरात और कोङ्कणदेश से दक्षिण की ओर ताप्ती नदी के इर्द-गिर्द का देश 'अभीर' नाम से प्रसिद्ध था*। अतः उस्मानाबाद जिले का तेरपुर ही प्राचीन तेरापुर मानना अनुपयुक्त नहीं है। साथ ही जैनियों में जिन 'कलिकुंड पार्श्वनाथ' की पूजा प्रचलित है वह तेरापुर की वही पार्श्वनाथ जी की प्रतिमा होगी जिसे विद्याधर लोग दक्षिण से लाए थे।

* नंदलाल डे कृत जागरफ़िकल डिक्शनरी पृ० १।

साहित्य-समालोचना

(१)

परमप्प-पयासु परमात्म-प्रकाश और जोगसार (योगसार)

श्रीजोइन्दुदेव—(योगीन्दुदेव) रचित दो अपभ्रंश रचनाएँ। संस्कृत-छाया, पाठान्तर, टीका, अनुक्रमणिका एवं विस्तृत प्रस्तावना के साथ सम्पादित। सम्पादक—प्रोफेसर आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, एम० ए०। प्रकाशक व्यवस्थापक परमश्रुत प्रभावक-मण्डल, खारा कुँवा, जौहरी बाजार, बंबई नं० २, वि० सं० १९९३। सुपर रायल अठपेजी आकार। पृष्ठ-संख्या १२ + १२४ + ३९६। सजिल्द मूल्य ४॥)। मुद्रण एवं कागज आदि चित्ताकर्षक।

अपभ्रंश भाषा का साहित्य कई दृष्टियों से महत्त्वशाली होता हुआ भी पर्याप्तरूप में इसका प्रकाश में न आना सचमुच दुःख की बात है। प्राचीन भाण्डारों में जहाँ-तहाँ अपभ्रंश भाषा की कृतियाँ मिलती हैं अवश्य; किन्तु बहुतेरे लोग ग्रन्थतालिका में अपभ्रंश ग्रन्थों को प्रायः प्राकृत ही लिख दिया करते हैं। क्योंकि इन दोनों का प्रभेद करना परिश्रम-साध्य कार्य है। हर्ष का विषय है कि जैनसमाज में श्रीयुत प्रोफेसर बाबू हीरालाल जी एवं श्रीयुत प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये जी अपभ्रंश-साहित्योद्धार-कार्य में विशेषरूप से संलग्न हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक भी ए० एन० उपाध्ये हैं। श्रीयुत उपाध्ये जी कोल्हापुर के राजाराम कालेज में अर्द्धमागधी भाषा के अध्यापक हैं। आप प्राकृत एवं जैन साहित्य के एक अच्छे विद्वान हैं। खासकर सम्पादनकला में आप सर्वथा दक्ष हैं। इसी से आप अल्पकाल में ही साहित्य-संसार में पर्याप्त यशः प्राप्त कर चुके हैं। इस ग्रन्थ का सम्पादन भी आपने बड़े सुन्दर ढंग से किया है।

इस ग्रन्थ में श्रीयोगीन्दु की दो अपभ्रंश रचनाओं का संकलन है। ये दोनों दोहा छन्द में रचे गये हैं। पहले ३५२ पृष्ठों में परमप्प-पयासु (परमात्म-प्रकाश) का मूलपाठ और उस की दो टीकाएँ दी गयी हैं। इन टीकाओं में संस्कृत टीका के प्रणेता ब्रह्मदेव एवं हिन्दी टीका के रचयिता दौलत राम हैं। प्रत्येक दोहे के नीचे संस्कृत-छाया भी दी गयी है। पृष्ठ ३५३ से ३६२ तक परमप्प-पयासु के पाठान्तरों का संग्रह है। आगे ८ पृष्ठों में मूल दोहों की और संस्कृत-टीका में उद्धृत पद्यों की अक्षरानुसार दो तालिकाएँ दी गयी हैं। पृष्ठ ३७१ से ३९४ तक जोगसार का मूलपाठ, संस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद और पाठान्तर दिये गये हैं। अन्त के दो पृष्ठों में जोगसार के दोहों की वर्णानुक्रम सूची है।

प्रारम्भ में ९२ पृष्ठों में अंग्रेजी भाषा में इन्डेक्स के साथ एक गवेषणापूर्ण प्रस्तावना है। इसमें ग्रन्थ से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों पर बड़ी छान-बीन के साथ प्रकाश डाला गया है। अंग्रेजी नहीं जाननेवालों के लिये पृष्ठ ९३ से १२२ तक प्रस्तावना का सार भी हिन्दी में दे दिया गया है। १२३—१२४ पृष्ठ में ग्रन्थगत विषयानुक्रमणिका भी संनद्ध है। उपाध्ये जी ने ग्रन्थ को उपयोगी बनाने में कोई कसर उठा नहीं रक्खी है। प्रस्तावना-संबंधी एकाध बातों में मतभेद हो सकता है। परन्तु उससे प्रस्तावना का महत्त्व नहीं घट सकता।

मैं अन्त में इस सुन्दर ग्रन्थ के प्रकाशन के उपलक्ष में सहयोगी मित्रवर प्रो० श्रीयुत उपाध्ये जी एवं प्रकाशक 'परमश्रुत प्रभावक-मण्डल' (रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला) बंबई को कोटिशः धन्यवाद देता हूं। साथ ही साथ आशा करता हूं कि उपाध्ये जी के सहयोग से यह ग्रन्थ-माला इसी प्रकार अनेक बहुमूल्य कृतियों को साहित्य संसार के समक्ष रखती रहेगी।

—के० भुजबली शास्त्री

(२)

जम्बू स्वामी चरित्र

भाषाकार—ब्र० शीतल प्रसाद जी, पृष्ठ सं० २१४, मूल्य सवा रुपया,

प्रकाशक मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत।

पिछले वर्ष बम्बई की 'माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला' से पं० राजमल्ल रचित जम्बू स्वामी चरित (संस्कृत) प्रकाशित हुआ था। ब्रह्मचारी जी ने उसी का हिन्दी भावानुवाद किया है। एक तो राजा श्रेणिक के समकालीन कुमार जम्बू का जीवन-चरित ही अत्यन्त रोचक और शिक्षाप्रद है, दूसरे ग्रन्थकार ने अपने समय के बादशाह अकबर, उनकी राज-धानी आगरा तथा गृहस्थ टोडरमल का ऐतिहासिक वर्णन भी दिया है। भाषाकार ब्रह्मचारी जी एक अध्यवसायी व्यक्ति हैं, और वे प्रति-समय कुछ न कुछ लिखा पढ़ा करते ही हैं। उनकी अवस्था अब इस लायक नहीं है कि उनके कार्यों की आलोचना वगैरह की जाये, तिस पर भी अपनी भूमिका में उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है—'कठिन भाषा कहीं समझ में नहीं आई है, वहाँ भाव मात्र ले लिया है।' यह लिखने की आवश्यकता इसलिये हुई कि अनुवाद कहीं-कहीं स्खलित हो गया है। उदाहरण के लिये—नौवें अध्याय के १००—१०३ श्लोकों को ही ले लीजिये। आशय यह है कि 'एक जवान बन्दर बूढ़े बन्दर को मारकर, विजयी हो कर घर की ओर लौटा। प्यास से व्याकुल होकर उसने एक गदले पानी वाले जलाशय

में प्रवेश किया ; प्यासा तो था ही, पानी पीकर वहाँ से निकल न सका और वहीं मर गया।' किन्तु ब्रह्मचारी जी ने जवान बन्दर के स्थान में उसके प्रतिपक्षी वृद्ध बन्दर के साथ यह घटना होने का उल्लेख किया है, भ्रमपूर्ण है। ग्रन्थ अच्छा है और सभी लोगों के पढ़ने के योग्य है।

(३)

तत्त्वसार टीका (भाषा)

भाषाकार—ब्रह्मचारी जी. और प्रकाशक उक्त कापड़िया जी, पृष्ठ सं० १६२,
मूल्य एक रुपया।

मूल ग्रन्थ तत्त्वसार आचार्य देवसेन का बनाया हुआ है। उसमें जीव अजीवादि तत्त्वों का विवेचन किया है। यह आध्यात्मिक ग्रन्थ है और ब्रह्मचारी जी अध्यात्मरस के प्रेमी हैं। फलतः उन्होंने इसकी हिन्दी टीका बनाई है। गाथाओं का अन्वयार्थ लिखकर उनका भावार्थ भी लिखा है। स्वाध्याय प्रेमियों के लिये अच्छी चीज है।

उक्त दोनों ग्रन्थों की छपाई वगैरह कापड़िया जी के नाम के अनुरूप ही है। अशुद्धियां काफी रह गई हैं। दोनों ही ग्रन्थ 'जैन मित्र' के ग्राहकों को दो दानियों की ओर से उपहार में दिये गये हैं।

—कैलाशचन्द्र जैन, शास्त्री

(४, ५, ६, ७)

सरल जैनधर्म (चारों भाग)

प्रकाशक—सरल जैनग्रन्थ-माला, जब्बलपुर।

ये चारों भाग आधुनिक पद्धति से सुन्दर ढंग से तैयार किये गये हैं। छात्रों को सुगमता से समझाने के लिये यथास्थान कई चित्र भी दिये गये हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये पाठ्यपुस्तकें बच्चों के लिये बहुत ही उपयोगी हैं। प्रकाशक का प्रयास सराहनीय ही नहीं बल्कि अन्य प्रकाशकों के लिये अनुकरणीय भी है। पुस्तकों की विषय-समर्थन-शैली भी सुबोध है। मैं आशा करता हूं कि जब्बलपुर की यह 'सरल-जैनग्रन्थ-माला' बालोपयोगी पाठ्यपुस्तकों को तैयार करने में इस प्रकार सदैव औरों के लिये आदर्श बनी रहेगी।

(८)

आत्म-चिन्तन

प्रकाशक—मंत्री श्रीसन्मति पुस्तकालय नं० २ बामतला ष्ट्रीट कलकत्ता ; पृष्ठसंख्या ३२।
इसमें महाकवि दौलत राम, भागचंद, बुधजन और भैया भगवती दास की आध्यात्मिक

कविताओं का संकलन है। ये सभी हिन्दी जैन साहित्य के ख्याति-प्राप्त कवि हैं। अतः इनके संबंध में विशेष प्रकाश डालने की कोई आवश्यकता नहीं दिखती। वास्तव में कवितायें वैराग्यवर्द्धक हैं। अध्यात्म-प्रेमियों को इसे अवश्य मंगा कर पढ़ना चाहिये। संपादन भी इसका अच्छा हुआ है।

(९)

पञ्चकल्याण

प्रकाशक—श्रीमठ मूडबिदुरे : पृष्ठसंख्या ३०।

यह एक सरल कन्नड भाषा में लिखी हुई लघुकलेवर पुस्तिका है। इसमें लोक-स्वरूप, जीव-स्वरूप, तीर्थङ्कर-स्वरूप, पार्श्वनाथ स्वामी के भवान्तर एवं तीर्थङ्करों के पंचकल्याण वर्णित हैं। प्रारंभ में धर्मप्रेमी एवं कलाविद् श्रीयुत मंजय्य हेगडे, धर्मस्थल-द्वारा अङ्कित श्रीपार्श्वनाथ तीर्थङ्कर का एक भव्यचित्र भी सम्बद्ध है। इसके लेखक भी आप ही ज्ञात होते हैं। यों तो पुस्तक में कहीं लेखक का नाम नहीं है। ज्ञात हुआ है कि यह पुस्तक गत माघ मास में वेणूर के पञ्चकल्याण के शुभावसर पर दर्शकों को भेंट की गई थी। 'पञ्चकल्याण' का उद्देश समझाना ही इस निबन्ध का मुख्य लक्ष्य है। वास्तव में लेखक का यह प्रयत्न प्रशंसनीय एवं उदाहरणीय है। क्योंकि ऐसे-ऐसे महान उत्सवों के समय उन उत्सवों का उद्देश समझाने से उपस्थित जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

(१०)

जैनसमाज का ह्रास क्यों ?

लेखक—श्रीअयोध्या प्रसाद गोयलीय : प्रकाशक—जैनसंगठन सभा पहाड़ी धीरज, देहली: मूल्य - छः पैसे : पृष्ठ संख्या ३२: ई० सन १९३९।

यह निबन्ध 'जैन समाज क्यों मिट रहा है' इस शीर्षक से 'अनेकान्त' वर्ष २, किरण १, २, ३ में क्रमशः प्रकाशित हो चुका है। वही नाम-परिवर्तन और कुछ संशोधन कर के अब पुस्तकाकार में छपा है। इसमें विज्ञ लेखक ने उत्पादन-शक्ति-क्षीण, बहिष्कार की विषैली प्रथा तथा नवदीक्षा-प्रणाली बन्द इन्हीं को जैन समाज के ह्रास का मुख्य कारण बतलाया है। विद्वानों को गोयलीय जी के दरसाये हुए इन कारणों पर विचार करना चाहिये। पुस्तक परिश्रम से लिखी गयी है।

—के० भुजबली शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा का संक्षिप्त वार्षिक-विवरण

(२-६-३८—२२-५-३९)

वीर सं० २४६४ ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी से वीर सं० २४६५ ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी तक भवन के सामान्य दर्शक-रजिस्टर में ४००० व्यक्तियों के हस्ताक्षर हुए हैं। यों तो भवन से लाभ उठाकर भी प्रमाद या अज्ञानवश हस्ताक्षर नहीं करनेवाले सज्जनों की संख्या भी इससे कम नहीं है; बल्कि इससे कहीं अधिक होगा।

विशिष्ट दर्शकों में से निम्नलिखित महानुभावों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं:—

श्रीयुत श्रद्धेय भट्टारक ललितकीर्त्तिजी कारकल, श्रीयुत पी० वी० श्रीकान्त राव एम० एस० सी०, टी० टी० कालेज बनारस, श्रीयुत विभूति प्रसाद, महामन्त्री 'साहित्य-कला-सदन' बनारस, श्रीयुत समतानन्द, प्रचारक थियोसोफी संघ बिहार प्रान्त, श्रीयुत पं० सुमेरचन्द जैन दिवाकर शास्त्री, बी० ए० एलएल० बी० सिवनी, श्रीयुत नरेशचन्द्र वन्द्योपाध्याय प्रोफेसर ट्रेनिंग कालेज पटना, श्रीयुत वैद्यरत्न, पं० कन्हैया लाल कानपुर, श्रीयुत सुन्दरलाल जैन, ऐडवोकेट कानपुर, श्रीयुत पं० इन्द्रचन्द्र जैन, शास्त्री भारतवर्षीय दि० जैन संघ अम्बाला, श्रीयुत एम० डी० दरबारी।

इन विद्वानों ने अपनी बहुमूल्य सम्मतियों के द्वारा भवन की सुव्यवस्था एवं संग्रह आदि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

सर्वसाधारण जनता को भवन से पुस्तक घर ले जाने को नहीं मिलती है, अतः स्थानीय पाठकों को भवन में ही आकर अध्ययन करना पड़ता है। इनके सिवा विशेष नियम से कुछ खास-खास व्यक्तियों को जो पुस्तकें घर ले जाने को दी गयी हैं उनकी संख्या २५० है। इन पुस्तकों से स्थानीय पाठकों के अतिरिक्त विश्वविद्यालय मद्रास, विश्वविद्यालय मैसूर, वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा, श्रीयुत कामता प्रसाद जैन अलीगंज, श्रीयुत जयभगवान वकील पानीपत, श्रीयुत गोविन्द पै मंजेश्वर, श्रीयुत पं० नेमिराज शास्त्री मैसूर आदि संस्थाओं एवं विद्वानों ने भी लाभ उठाया है।

इस साल मुद्रित प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती एवं कन्नड आदि भारतीय भिन्न-भिन्न भाषा की चुनी हुई ११० तथा अंग्रेजी की ४० कुल १५० पुस्तकें भवन में संगृहीत हुई हैं।

पुस्तक भेंट देनेवालों में गवर्नमेन्ट ओरियन्टल लायब्रेरी मैसूर, आर्चिओलाजिकल मैसूर, विश्व-विद्यालय मैसूर, श्रीयुत धनकुमार चन्द जैन बाढ़ के नाम विशेष उल्लेखार्ह है। बल्कि बा० धनकुमार चन्द ने ५०) रु० मूल्य की एक आलमारी भी भवन को भेंट

की है। १०८ श्रद्धेय नेमिसागर मुनिसंघ से भी ताड़पत्राङ्कित निम्नलिखित चार ग्रन्थ भेंटरूप में मिली हैं :—

(१) चावुंड राय पुराण (कन्नड) (२) ब्रह्मसूरित्रैवर्णिकाचार (संस्कृत) (३) एक-संधि-संहिता (संस्कृत) (४) इन्द्रनन्दि-संहिता (संस्कृत)। साथ ही साथ माघनन्दि-संहिता शोलापुर से लिखवा कर मंगाई गई है।

प्रकाशन-विभाग में 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर', 'तिलोयपण्णत्ती' एवं 'प्रशस्ति-संग्रह' आदि का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा है। बल्कि 'भास्कर' उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता जा रहा है। पाश्चात्य पण्डितगण भी बड़े चाव से इसे पढ़ते हैं।

इस वर्ष अंग्रेजी के (1) Indian Culture (2) Indian Historical Quarterly (3) Annals of the Bhandarkar Oriental research Institute (4) Journal of the University of Bombay (5) Karnatak Historical review (6) The Adyar Library Bulletin (7) Journal of the Annamalai University (8) The Poona Orientalist (9) Oriental Literary Digest (10) Quarterly Journal of the Mythic society (11) New Asia (12) Jaina Gazette (13) Indian Veterinary Journal.

हिन्दी के—(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (२) विशाल भारत (३) सरस्वती (४) किशोर (५) वैद्य (६) धर्मदूत (७) कल्याण (८) साहित्यसन्देश (९) अनेकान्त (१०) जैन-महिलादर्श (११) दिगम्बर जैन (१२) जैनबन्धु (१३) जैनबोधक (१४) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु (१५) जैनसन्देश (१६) जैनमित्र (१७) जैनगजट (१८) नवशक्ति (१९) स्वाधीन भारत २० वीर (२१) दैनिक विश्वमित्र। संस्कृत के—(१) सूर्योदय (२) उद्यानपत्रिका (३) मैसूर महाराज संस्कृत महापाठशाला पत्रिका। गुजराती के—(१) सुवास, कन्नड के—प्रबुद्ध कर्नाटक (२) कन्नड साहित्य परिषत्पत्रिका (३) जय कर्नाटक (४) जयन्ति (५) सुबोध (६) अध्यात्म प्रकाश (७) शरण साहित्य (८) विवेकाभ्युदय (९) वीर वाणि। ये कुल ४७ पत्र पत्रिकायें बराबर भवन में आई हैं। इनमें से विशाल भारत, सरस्वती, विश्वमित्र एवं Indian Historical Quarterly को छोड़ कर शेष सभी भास्कर के परिवर्तन या भेंट-रूप में ही आते रहे हैं, इसलिये इनके संचालक एवं सम्पादक धन्यवाद के पात्र हैं।

ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी,
मंगलवार वीर सं० २४६६

मन्त्री,
जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा।

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये.

देवीउ तिण्णि सया अड्ढाइज्जं सयाणि दुसयाणि ।
आदिमममज्झिमबाहिरपरिसासुं होंति बिदियइंदस्स ॥१०३॥

३०० । २५० । २०० ।

दोण्णि सया देवीउ सट्ठीचालादिरत्तपक्कसयं ।
णागिंदाणं अब्भिंतरादितिण्णिपरिसदेवीसु ॥१०४॥

२०० । १६० । १४० ।

सट्ठोणुदमेक्कसयं चालीसजुदं वीससहियपक्कसयं ।
गरुडिंदाणं अब्भंतरादितिण्णिपरिसदेवीउ ॥१०५॥

१६० । १४० । १२० ।

चालीसुत्तरमेक्कसयं वीसब्भहियं सयं च केवलयं ।
देविंदाणं आदिमपरिसण्णहुदीसु देवीउ ॥१०६॥

१४० । १२० । १०० ।

असुरादिदसकुलेसुं हुवंति सेणा सुराण पत्तेक्कं ।
पण्णासा देवीउ सयं च परो महत्तरसुराणं ॥१०७॥

५० । १०० । ० ।

जिणदिट्ठपमाणाउ होंति पइण्णयतियस्स देवीऊ ।
सव्वणिगिट्ठसुराणं पि देवीउ बत्तीस पत्तेक्कं ॥१०८॥

३२ ।

एदे सव्वे देवा देविंदाणं पहाणपरिवारा ।
अण्णो वि पण्णधाणा संखातीदा विधायंति ॥१०९॥
इंदपडिंदप्पहुदी तद्देवीउ मणेण आहारं ।
अमयमयमहसिणिद्धं संगिण्हंते णिवरुवमणं ॥११०॥
चमरदुगे आहारे वरुससहस्सेण होदि णियमेण ।
पणुवीसदिणाण दलं भूदाणंदादि छण्णं पि ॥१११॥

ब १००० । दि २५ ।

२

बारसदिणेसु जलपहुदीछण्णं पि भोयणावसरो ।
पण्णरसमासदलं अमिदगपहुदिछक्कम्मि ॥११२॥

१५ ।

२

इंदादीपंचण्णं सरिसो आहारकालपरिमाणं ।
त[illegible]रक्खप्पहुदीणं तस्सि उवदेस उच्छिण्णा ॥११३॥
चमरदुगे उस्सासं पणरसदिणाणि पंचवीसदलं ।
[illegible]हपुहमुहुत्तयाणं २ दाणंदादिछक्कम्मि ॥११४॥

दि १५ मु २५ ।
२

बारसमुहुत्तयाणि जलपहपहुदीसु छस्सु उस्सासा ।
पणणारसमुहुत्तदलं अमिदगदिप्पहुदिछण्णं पि ॥११५॥

मु १२ । १५ ।
२

दसवरससहस्साऊ जो देवो तस्स भोयणावसरो ।
दोसु दिवसेसु पंचसु पल्लपमाणाउजुत्तस्स ॥११६॥
जोयजुदाऊ देवो उस्सासा तस्स सत्तपाणेहिं ।
ते पंचमुहुत्तेहिं पलिदोवमयावजुत्तस्स ॥११७॥
पडिइंदादिचउण्णं इंदसरिसा हुवंति उस्सासा ।
तणुरक्खपहुदीसुं उवएसो संपइ पणट्ठो ॥११८॥
सव्वे असुरा किण्हा हुवंति णागा वि कालसामलया ।
गरुडा दीवकुमारा सामलवण्णा सरीरेहिं ॥११९॥
उदधिधणिदकुमारा ते सव्वे कालसामलायारा ।
विज्जू विज्जुसरिच्छा सामलवण्णा दिसकुमारा ॥१२०॥
अग्गिकुमारा सव्वे जलंतसिहिजालसरिसदितिधरा ।
णवकुवलयसमभावा वादकुमारा वि णादव्वा ॥१२१॥
पंचसु कल्लाणेसुं जिणिंदपडिमाण पूजणणिमित्तं ।
णंदीसरम्मि दीवे इंदा जायंति भत्तीए ॥१२२॥
सीलादिसंजुदाणं पूजणहेदूं परिक्खणणिमित्तं ।
णियणियकीडणकज्जुववइरिसमूहस्स मारणिच्छाए ॥१२३॥
असुरप्पहुदीण गदी उड्ढसरूवेण जाव ईसाणं ।
णियवसदो परवसदो अच्चुदकप्पा वही होदि ॥१२४॥
कणय व्व णिरुवलेवा णिम्मलकंती सुगंधणिस्सासा ।
णिरुवमयरूवरेखा समचउरस्संगसंठाणा ॥१२५॥

लक्खणजुत्ता संपुण्णमियंकसुंदरमहाभासा।
णिच्चं चेयकुमारा देवा देवी य तारिसिया ॥१२६॥
रोगजरापरिहीणा णिरुवमबलवीरियेहि परिपुण्णा।
आरत्तपाणिचरणा कदलीघादेण परिचत्ता ॥१२७॥
वररयणमोड[1]धारी वरविविहविभूसणेहिं सोहिल्ला।
मंसट्ठिमेधलोहिदमज्जवसासुक्कपरिहीणा ॥१२८॥
कण्हकेसविहीणा णिरुवमलावण्णदित्तिपरिपुण्णा।
बहुविहविलाससत्ता देवा देवी य ते होंति ॥१२९॥
असुरादीभवणसुरा सव्वे ते होंति कायपडिचारा।
वेदसुदीरणायाए अणुभवणं माणससमाणं ॥१३०॥
धाउविहीणत्तादो वेदविणिग्गमणमत्थि ण हु ताणं।
संकप्पसुहं जायदि वेदस्स उदीरणाविगमे ॥१३१॥
बहुविहपरिवारजुदा देविंदा विविहछत्तपहुदीणं।
सोहंति विभूदीहिं पडिइंदादी य चत्तारो ॥१३२॥
पडिइंदादिचउण्हं सिंहासणछादवत्तचमराणिं।
णियणियइंदसमाणि आयारं होंति किंचूणा ॥१३३॥
सव्वेसिं इंदाणं चिण्हाणि तिरीटमेव मणिखजिदं।
पडिइंदादिचउण्हं चिण्हं मउडं मुणेदव्वा ॥१३४॥
उज्जणसालापुरदो चेत्तदुमा होंति विविहरयणमया।
असुरप्पहुदिकुलाणं ते चिण्हा इंदमाहोंति ॥१३५॥
अस्सत्थसत्तवण्णा संमलजंबू य वेतसकदंबा।
तयपीयंगू सिरसा पाला सरा य हु दुमा कमसो ॥१३६॥
चेत्तदुमामूलेसुं पत्तेक्कं चउदिसासु चेट्ठंते।
पंचजिणिंदपडिमा पलियंकठिदी परमरम्मा ॥१३७॥
पडिमाणं अग्गेसुं रयणत्थंभा हवंति वीस फुडं।
पडिमापीढसरिच्छा पीढा थंभाण णादव्वा ॥१३८॥
पक्केक्कमाणथंभे अट्ठावीसं जिणिंदपडिमाउ।
चउसु दिसासुं [illegible]णासजुत्ताउ ॥१३९॥
सेसाउ वराणाणाउ चउवणमज्झत्थचेत्ततरुसहस्सा।
छत्तादिछत्तपहुदीजुदाणि जिणणाहपडिमाणं[2] ॥१४०॥

1 AB मेड ; 2 पडिमाणि (?)।

चमरिंदो सोहम्मे ईसदि वइरोयणो[1] य ईसाणे।
ईसाणंदे वेणू धरणाणंदम्मि वेणुदारि[2] त्ति ॥१४१॥
एदे अट्ठ सुरिंदा अणणोणणं बहुविहाउ भूदीउ।
दट्ठूणं मच्छरेण ईसंति सहावदो केई ॥१४२॥

। इदं[3] विभवो समत्ता[4] ।

संखातीदो सेढी भावणदेवाण दसविकप्पाणं।
तीए पमाणसेढीबिदगुणगारपढममूलहदो ॥१४३॥

। संखा समत्ता ।

रयणाकरेक्कउवमा चमरदुगे होदि आउपरिमाणं।
तिगिण पलिदोवमाणि भूदाणंदादिजुगलम्मि ॥१४४॥
वेणुदुमे पंचदलं पुण्णावसिट्ठेसु दोण्णि पल्लाइं।
जलपहुदिसेसयाणं दिवड्ढपल्लं तु पत्तेक्कं ॥१४५॥

सा १ प ३ प ५ । प २ प ३ । से १२ ।
२ २

अहवा उत्तरइंदेसु पुव्वं भणिदं हुवेदि अदिरित्तं।
पडिइंदादिचउण्णं आउपमाणाणि इंदसमं ॥१४६॥
एक्कपलिदोवमाऊ सरीररक्खवाण होदि चमरस्स।
वइरोयणस्स अधियं भूदाणंदस्स कोडिपुव्वाणि ॥१४७॥

प १ । प १ । पु को १ ।

धरणिंदे अधियाणि वच्छरकोडी हुवेदि वेणुस्स।
तणुरक्खाउवमाणं अदिरित्तो वेणुधारिस्स ॥१४८॥

पु को १ । व को १ ।

पत्तेक्कमेक्कलक्खं वासा आऊ सरीररक्खवाणं।
सेसम्मि दक्खिणिंदे उत्तरइंदम्मि अदिरित्ता ॥१४९॥

१००००० । १००००० ।

अड्ढाइज्जा दोण्णि य पल्लाणि दिवड्ढआउपरिमाणं।
आदिममज्झिमबाहिरतिण्णिपरिससुराण चमरस्स ॥१५०॥

---

1 A B वइरोयईणो; 2 वेणुधारि (?); 3 इंद (?); 4 सम्मत्तो ।

प ५ । २ । ३ ।
२ २

तिगिण पलिदोवमाणि अड्ढाइज्जा दुवे कमा होदि ।
वइरोयणस्स आदिमपरिसप्पहुदीणं जेट्ठाऊ ॥१५१॥

प ३ । ५ । २ ।
२

अट्ठसोलसवत्तीसेवं पलिदोवमस्स भागाणि ।
भूदाणंदे अधिओ धरणाणंदस्स परिसतिदयाऊ ॥१५२॥

प १ । प १ । प १ ।
८ १६ ३२

परिसत्तयजेट्ठाऊ तियदुगएक्का य पुव्वकोडीओ ।
वेणुस्स होदि कमसो अदिरित्ता वेणुदारिस्स ॥१५३॥

पु को ३ । २ । १

तिण्णिरिसाणं आऊ तियदुगएक्कं उ वासकोडीओ ।
सेसम्मि दक्खिणिंदे अदिरित्तं उत्तरिंदम्मि ॥१५४॥

व को । ३ । २ । १ ।

एक्कपलिदोवमाऊ सेणाधीसाण होदि चमरस्स ।
वइरोयणस्स अधियं भूदाणंदस्स कोडिपुव्वाणि ॥१५५॥

प० । १ । पुव्वको १ ।

धरणाणंदे अधियं वच्छरकोडी हवेदि वेणुस्स ।
सेसा महत्तराऊ अधिरित्ता[1] वेणुदारिस्स ॥१५६॥

वर्ष को १ ।

पत्तेक्कमेक्कलक्खं आऊ सेणावईण णादव्वो ।
सेसम्मि दक्खिणिंदे अधिरित्तं उत्तरिंदम्मि ॥१५७॥

१००००० ।

पलिदोवमद्धमाऊ आरोहकवाहणाण चमरस्स ।
वइरोयणस्स अधियं भूदाणंदस्स कोडिवरिसाइं ॥१५८॥

प १ । व को १ ।
२

1 अदिरित्ता ।

धरणाणंदे अधियं बच्छरलक्खं हुवेदि वेणुस्स ।
आरोहवाहणाइं तु अधिरित्तं वेणुदारिस्स ॥१५९॥

१००००० ।

पत्तेक्कमद्धलक्खं आरोहकवाहणाणं जेट्ठाऊ ।
सेसम्मि दक्खिणिंदे अधिरित्तं उत्तरिंदम्मि ॥१६०॥

५००००० ।

जेत्तियमेत्तायाऊ पइण्णअभिजोगकिब्बिससुराणं ।
तप्परिमाणपरूवणउवएसं संपइ णट्ठं ॥१६१॥
दसवाससहस्साऊ जो देवाउ[1] माणुसाण सयमेत्तं ।
मारिदुमह पोसेदुं सो सक्कदि अप्पसत्तीए ॥१६२॥
खेत्तं दिवड्ढसयधणुपमाणआयामवासबहलत्तं ।
बाहाहिं वेढेदुं उप्पादेदुं[2] पि सो सक्को ॥१६३॥

दं १५० ।

एक्कपलिदोवमाऊ उप्पाडेदुं महीए कुक्खंडं ।
तग्गदणरतिरियाणं मारेदुं पोसिदुं सक्को ॥१६४॥
उवहिउवमाणजीवी जंबूदीवस्स उम्मिमे खिविदुं ।
तग्गदणरतिरियाणं मारेदुं पोसिदुं सक्को ॥१६५॥
दसवाससहस्साऊ सदरूवाणि विगुव्वणं कुणदि ।
उक्कस्सम्मि जहण्णे सगरूवा[3] मज्झिमे विविहा ॥१६६॥
अवसेससुरा सव्वे णियणियओहिपमाणखेत्ताणं ।
जित्तियमेत्ताणि पुढं पूरंति विउव्वणाए पत्ताइं ॥१६७॥
संखेज्जाऊ जस्स य सो संखेज्जाणि जोयणाणि सुरो ।
गच्छेदि एक्कसमए आगच्छदि तेत्तियाणि पि ॥१६८॥
जस्स असंखेज्जाऊ सो वि य संखेज्जजोयणाणि पुढं ।
गच्छेदि एक्कसमए आगच्छदि तेत्तियाणि पि ॥१६९॥
अड्ढाइज्जं पल्लं आऊ देवीण होदि चमरम्मि ।
वइरोयणम्मि तिण्णि य भूदाणंदम्मि पल्लमट्ठं सो ॥१७०॥

प ५ ३ १ ।
२ ८

1 S जो देव; 2 उप्पाडेदुं (?); 3 सदरूवा (?) ।

धरणागंदे अधियं वेणुम्मि हुवेदि पुव्वकोडि त्ति ।
जंदेवीण आउसंखा अधिरित्तं वेणुदारिस्स[1] ॥१७१॥

पु को ३ ।

पत्तेक्कमाउसंखा देवीणं तिरिगा वरसकोडीओ ।
सेसम्मि दक्खिणिंदे अधिरित्तं उत्तरिंदम्मि ॥१७२॥

व को ३ ।

पडिइंदाणि चउराणं आऊ देवीण होदि पत्तेक्कं ।
णियणियइंदपवणिणदेवीआउस्स सारिच्छा ॥१७३॥
जेत्तियमेत्ता आऊ सरीररक्खाण होइ देवीणं ।
तस्स पमाणणिरूवणउवएसो णत्थि कालवसा ॥१७४॥
असुरादिदसकुलेसं सव्वणिरिट्ठा ण होदि देवाणं ।
दसवाससहस्साणि जहण्णआउस्स परिमाणं ॥१७५॥

। आउपरिमाणं सम्मत्ता[2] ।

असुराण पंचवीसं सेसासुराणं हुवंति दस दंडा ।
एस महाउच्छेहो विक्किरियंगेसु बहुभेया ॥१७६॥

२५ । १० ।

। उच्छेहो गदो ।

णियणियभवणठिदाणं उक्कस्से भवणवासिदेवाणं ।
उड्ढेण होदि णाणं कंचणगिरिसिहरपरियंतं ॥१७७॥
तट्ठाणादोहो[3] थोवत्थोवं पयट्टदे ओही ।
तिरियसरूवेण पुणो बहुत्तर[4]खेत्तेसु अक्खलिदं ॥१७८॥
पणुवीसजोयणाणं होदि जहण्णेण ओहिपरिमाणं ।
भावणवासिसुराणं एक्कदिणब्भंतरे काले ॥१७९॥
असुराणमसंखेज्जाजोयणकोडीउ ओहिपरिमाणं ।
खेत्ते कालम्मि पुणो होंति असंखेज्जवासाणि ॥१८०॥
संखातीदसहस्सा उक्कस्से जोयणाणि सेसाणं ।
असुराणं कालादो संखेज्जगुणेण हीणा य ॥१८१॥

1 वेणुधारिस्स (?); 2 सम्मत्तं (?); 3 तट्ठाणादोद्धो (?); 4 ब बहुतर ।

णियणियओहिक्खेत्तं णाणारूवाणि तह विकुव्वंता ।
पूरंति असुरपहुदी भावणदेवा दसवियप्पा ॥१८२॥

। ओही गदा ।

गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणा कमसो ।
उवजोगा कहिदव्वा एदाण कुमारदेवाणं ॥१८३॥
भवणसुराणं अवरे दो गुणठाणं चउ संखा ।
मिच्छाइट्ठी सासणसम्मो मिस्सो विरदसम्मा ॥१८४॥
जीवसमासं दो च्चिय णिव्वत्ति य पुण्ण पुण्ण भेदेण ।
पज्जत्ती छच्चेव[1] य तेत्तियमेत्ता अपज्जत्ता ॥१८५॥
पंच य इंदियपाणा मणवचकायाणि आउआणपाणाणि ।
पज्जत्ते दस पाणा इदरे मणवयणआणपाणूणा ॥१८६॥
चउसण्णा ता उभयमेहुणआहारसंथणामाणि ।
देवगदी पंचक्खा तसकाया एक्कारसजोगा ॥१८७॥
चउ मण चउ वयणाइं वेगुव्वदुगं तहेव कम्माइं ।
पुरिसित्थीसंहूणा सयलकसायेहि परिपुण्णा ॥१८८॥
सव्वे छण्णाणाणुदा मइसुदणाणाणि ओहिणाणं च ।
मदिअण्णाणं तुरिमं सुदअण्णाणं विभंगणाणं पि ॥१८९॥
सव्वे असंजदाइं[2] दंसणजुत्ता य चक्खुअचक्खोहीलेस्सा ।
किण्हा णीला काउया पीता य मज्झिमसमजुदा (?) ॥१९०॥
भव्वाभव्वा एव्व हि सम्मत्तेहि सण्णिणदा सव्वे ।
उवसमवेदगमिच्छासासणमिस्साणि[3] ते होंति ॥१९१॥
सव्वे य भवणदेवा हवंति आहारिणो अणाहारो[4] ।
सायारणयायारा उवजोगा होंति सव्वाणं ॥१९२॥
मज्झिमविसोहिसहिदा उदयागदसत्तपरिदिसत्तिगदा ।
एवं गुणठाणजुत्ता देवं वा होइ देवीउ ॥१९३॥

। गुणठाणादि सम्मत्ता ।

सेढीअसंखभागो विदगलपढमवग्गमूलहदो ।
भवणेसु एक्कसमए जायंति मरंति तेमेत्ता ॥१९४॥

। जम्मणमरणजीवाणं संखा समत्ता ।

---

1. छच्चेव (?); 2. असंजदा हि (?); 3. सासायण (?); 4. अणाहोरो 5. देवा वा होंति देवीउ (?) ।

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री.

पश्चात् कुम्मराण श्रेष्ठि-पुत्र नागप्प श्रेष्ठी की बड़ी प्रशंसा की गयी है। आगे पुनः क्रमशः निम्नाङ्कित व्यक्तियों के नाम स्मरण किये गये हैं :

संगरस,[1] अणंतराण श्रेष्ठी,[2] नारण श्रेष्ठी,[3] मल्लि श्रेष्ठी,[4] जिनदत्त,[5] ओजन श्रेष्ठी,[6] विजयराण,[7] लक्खण,[8] पायप्प,[9] नेमि श्रेष्ठी,[10] नेमराण श्रेष्ठी,[11] गुम्मि श्रेष्ठी,[12] नागप्प,[13] तम्मराण,[14] गुम्मदेव,[15] विजयप्प,[16] आदिनाथ,[17] नेमिचन्द्र,[18] पण्डित

१—इन्हें 'सालुवमल्लिरायनृपतेर्मन्त्रीश्वर, श्रीमान, विनिर्मितजिनावास, महासत्यवाक्, पूजादानपुरस्सरोरुहृदय, जैनेन्द्रशास्त्रादर, वीरनृसिंहरायधरणीदत्तोद्धभारोदय' कहा है।

२—इन्हें 'जिनधर्ममहामति, त्रियम्बकमहामात्यचन्दनश्रेष्ठ्यनूद्भव' बताया है।

३—इन्हें 'विभु, श्रावकाचारसद्रत्नभूषणसद्हृदय' लिखा है।

४—इन्हें 'नागिश्रेष्ठितनूभव, गुणनिधि, सद्वानतीर्थेशिनां मुख्य, जिनराजपूजनविधिव्यासक्तचित्तोत्सव, विद्यानन्दमुनीन्द्रसेवनपर, सद्धर्मकीर्तीगृह, इन्दुकल्पयश' व्यक्त किया है।

५—इन्हें 'भंगिश्रेष्ठिसुगर्भोत्थनागश्रेष्ठितनूद्भव' लिखा है।

६—इन्हें 'कृतनेमिजिनालय, गोरसोपपुरीमध्यराजित' बताया है।

७—इन्हें 'वणिजेश, दयाधर्मकोश, कविबुधसुरधेनु, पायणश्रेष्ठिसूनु, जिनमुनिकजभृंग, व्यक्तकान्ताप्रसद्गु, यतिवृत, पात्रसन्यक्तवित्त' कहा है।

८—इन्हें 'पायकापतिपायणप्रसुत, श्रेष्ठीश्वर, वाणिज्यादिकलाप्रवीण, सत्पात्रलेप, पायपवाणिजाग्रज, प्रव्यक्तपुण्योदय' लिखा है।

९—इन्हें 'जयति विजयकीर्तेः पादसेवाह्यचित्तो धनपतिनिभवित्तः पोषितानेकपात्रः। प्रथितगुरुचरित्रः कामसंकाशगात्रो जनजलजविमित्रः पायपो जैननेत्रः॥' कहा है।

१०—इन्हें 'देविश्रेष्ठ्यनुजात, गुणाकर, भुवनस्तुत' लिखा है।

११—इन्हें 'गुम्मराणश्रेष्ठ्यनुत्पन्न, दयाविशिष्टसद्धर्मवार्धिपीयूषदीधिति' बताया है।

१२—इन्हें 'मन्त्रिसंघविपुत्र, दयानधि, व्रतशीलतपोनिधि, चारुदर्शन, कहा है।

१३—इनकी माता नागरसी, पिता श्रेष्ठी तम्मराण, देव वृषभेश्वर, व्रत-गुरु नेमिचन्द्र व्रती, शिक्षागुरु विद्यानन्द बताये गये हैं। इन्होंने दो मन्दिर भी बनवाये थे।

१४—'श्रीशं नागरसीशदुग्गणविभोर्गर्भाब्धिराकाविधुं
सर्वज्ञामलपूजनात्तविभवं सौजन्यरत्नाकरं।
आहारादिसमस्तदानिरतं संसारसौख्योदयं
पायात्तम्मणनामधेयवणिजं श्रीवर्द्धमानो जिनः॥' कहा है।

१५—इन्हें 'कुम्मराणश्रेष्ठिनन्दन, दयाविशिष्टसद्धर्मवार्धिपीयूषदीधिति' लिखा है।

१६—इन्हें 'करणिकतिलक' बताया है।

१७—इन्हें दशरथ की उपमा दी गयी है।

१८—इन्हें 'चेन्नरायपट्टणराज्यश्रीमुखाब्ज, मन्त्रिकुञ्जर, चतुर्विध-महादान' लिखा है।

विजयप्प,[1] गुम्मय,[2] देवरस,[3] धरणिपण्डित,[4] लुम्मग,[5] गुम्मि श्रेष्ठी,[6] विजयनगरवासी,[7] गुम्मि श्रेष्ठी,[8] चेन्न श्रेष्ठी,[9] देवरसी,[10] मल्लि श्रेष्ठी,[11] गुम्मट श्रेष्ठी,[12] नेमराण श्रेष्ठी,[13]

१—इन्हें 'आयुर्वेदविशारद, भूनुत, देवेन्द्रानुजनंजरायनृपसुप्राप्तोद्घसंपद्व्रज, देवरसाख्य-पण्डिततनूजात, द्विजाग्रेसर, काश्यपगोत्रज, स्मरसम, गोविन्दराजस्तुत' कहा गया है।

२—इन्हें 'अमचवादीपत्तनश्रीमुकुन्द, कृतजिनपतिगेह, अमात्यवर्य, विबुधजनवसन्त, जैनविप्रावतंस, परवलमधुकृष्ण, कामरूप' बताया है।

३—इन्हें 'निरञ्जनार्यतनय, प्रभंजनसुतप्रभ, रायसभाप्राच्यमहोदय, बोम्मरसानुज, द्विज-कुलसोमामलश्रीसुधासूति, दानमरुन्नदीपरिहृतप्राहोरजःसंहृति, पार्श्वजिनेन्द्रपादयुगलीकंज-प्रसूनातिथि, मन्त्रि-तिलक, सम्यक्त्वपूतव्रत, सोमभूपालसन्मन्त्री, द्विज, हरवेग्रामसन्मध्यकृत-पूतजिनालय' लिखा है।

४—इन्हें 'आयुर्वेदविधानज्ञ, श्रीमान, वीरपृथ्वीशसचिव, धर्मवत्सल' बताया है।

५—इन्हें 'वेलगावेनगराधीश, महाप्रभु, जिनेन्द्रधर्मनिरत, मुनिसेवाविचक्षण' कहा है।

६—इन्हें 'विद्यानगरे निर्मापितजिनालय, वैश्यकुलाग्रणी, मृदुवचा, नागांबिकावल्लभ, अवनीजनस्तुतगुण, सद्दानकृत्' लिखा है।

७—"विजयनगरवासा वैश्यवंशावतंसा जिनपतिपदपूजासक्तचित्ता विभान्ति। अनुगत-पुरुपुण्याः कामिनीपुत्रयुक्ताः परहितमुचरित्रा दानपूजाप्रसंगाः" ॥

८—"विद्यानन्दव्रतिपतिपदाराधनासक्तचित्तो विद्वत्सेव्यः सकलभुवनख्यातकीर्त्तिर्गुणाढ्यः। साहित्यज्ञो जिनपतिमताचारवान टंकशालावोम्मिश्रेष्ठी जयति भुवने चातुरंगप्रवीणः ॥"

९—इन्हें 'हरियणसहजात, सकलगुणसमेत, धर्मवार्धित्रिजात, जनविनुतचरित्र, लेपदा-नार्हवित्त' लिखा है।

१०—"श्रीमन्या जन (चेन्न)-वाणिजस्य कृतिनः सद्धर्मसंशोभिनो दौहित्री जिननेमिनाथ-वसतेरग्रे जिनार्चाङ्कितं। मानस्तम्भमलं चकार रमणी सीमन्तमुक्तामणिर्लौहं देवरसी सदम्बु-वणिग्दृक्चित्तोत्सवानन्दिनी" ॥

११—इनके विषय में लिखा है कि मागोदु के पति, धनसम्पन्न मल्लि श्रेष्ठी ने नेमि तीर्थङ्कर का चैत्यालय बनवाया।

१२—इन्हें 'देविश्रेष्ठिसहोदर, कविनुत, धर्मालिगितविग्रह, जिनपतिश्रीपादसेवापर' लिखा है।

१३—इन्हें 'गुम्मटश्रेष्ठ्यनुज, क्षमादिनिलय, श्रेष्ठीश, जिनदर्शनश्रुतपटु, पुत्रपौत्रान्वित' बतलाया है।

दुग्गण श्रेष्ठी,[1] बोम्मण श्रेष्ठी,[2] सालुव नायक,[3] कामण-देवरस,[4] होन्नप नायक,[5] हैवण नायक,[6] तिम्मण नायक,[7] पद्मण श्रेष्ठी,[8] मणगामरि नायक,[9] पायण श्रेष्ठी,[10]

१—इन्हें 'अंगजाम, जिनेन्द्रपूजासुरराजकल्प, जैनशास्त्रप्रवीण, अव्याहतपुण्यसार्थ' कहा गया है।

२—"दुमूरुग्राममध्ये कृतजिनसदनो बोम्मणश्रेष्ठिवर्यः
शास्त्राढ्यानां यतीनां कमनगु·····यजां जैमनार्थं प्रमोदात्।
त्रिंशत्संख्यायुतानां प्रशमितवृजिनां शालिजं क्षेत्रमुच्चैः।
प्रादात् पूजाव्रताढ्यो वणिजकुलमणिः स्वर्गमोक्षाप्तये वै॥

३—"मावुनायकपुत्रोऽभात् श्रीमान् सालुवनायकः।
दानपूजाप्रसक्तात्मा गुरुराजांघ्रिभक्तिमान॥
संगीतनगरे श्रीलो ब्रह्मिश्रेष्ठि-जिनालयम्।
संतनोतिम्म तोषेण ताम्रसंछादितं वरम्॥"

४—इन दोनों अधिकारियों ने एक जिनमन्दिर का निर्माण कराया था।

५—"श्रीद्धं होन्नपनायकं गुणनिधिं प्रजाधनानन्दिनम्
कारुण्यामृतपूर्णपात्रमवनौ विद्वज्जनैः संस्तुतम्।
जैनेन्द्रामलशास्त्रनिश्चितमहाजीवादिभावस्थितम्
पायात्संगरनिर्जितारिनिकरं श्रीवर्द्धमानो जिनः॥"

६—"श्रीमत्सालुवकृष्णदेवनृपतेः संवाप्रसद्भवो-
धीमाञ्जीवदयापरो नयविदामग्रे सरः सौख्यभाक्।
भव्यो हैवणनायकः कृतमहाजैनप्रतिष्ठोत्सवो-
योगिस्वान्तकजांशुमान् विजयते सम्यक्त्वचूडामणिः॥"

७—"श्रीतिम्मनायक कृपापरपुण्यमूर्ते श्रीकृष्णदेवनृपदक्षिणबाहुकल्प।
विद्वत्कवीन्द्रसुरभूरुह जीवभूमौ प्रद्युम्नबाणवनितानयनाब्जमित्र॥"

८—"पद्माकरपुरस्थः श्रीपार्श्वेशो मन्त्रिशेखरम्।
पद्मणश्रेष्ठिनं पायाद्विनिर्मितजिनालयम्॥"

९—"रामराजनृपामात्योऽभात्मणगिरिनायकः।
जिनप्रतिष्ठासद्दानसंघपूजादिभासुरः॥"

१०—"पायिश्रेष्ठिनृभुवो जिनगृहं वेश्यातटाके वरम्
पश्चात्पोम्बुचनाम्नि पञ्चवसतीः कृत्वा पुरे पाम्नरिः। (?)
जीर्णोद्धारविधानतो जिनमहायज्ञं ध्वजाशङ्कितम्
भक्त्या पायणवाणिजो व्यरचयत् सत्संघपूजां च सः॥"

पार्श्व श्रेष्ठी,[1] गुम्मि श्रेष्ठी,[2] तिम्मि श्रेष्ठी,[3] बोम्मराज[4] । इस प्रकरण के अन्तिम पद्य निम्न प्रकार है :—जिनशासननिष्णाताः सदा सत्कर्मकर्मठाः । जैनद्विजाः सदाराध्या जयन्ति करुणापराः ॥ वर्द्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्यबन्धुना । दानपूजागुणाढ्यानां श्रावकानां स्तुतिः कृता ॥

पृष्ठ १२३ पंक्ति ४ में तुळुदेशान्तर्गत मूडबिदुरे के श्रीचन्द्रनाथ से तत्रस्थ भव्यों की रक्षा करने की प्रार्थना की गयी है । इस प्रकरण में कविवर्द्धमान जी ने मूडबिदुरे को स्वर्ग-तुल्य कह कर वहाँ के श्रावकों को धनवान्, धीमान्, रूपवान्, शुद्धचारित्रधारक, मुनिसेवासक्त, सागारधर्मनिरत, मंजनमुनि-आज्ञाधारक रागद्वेष-विमुक्त एवं त्यागप्रिय आदि विशेषणों से स्मरण किया है । साथ ही साथ चन्द्रनाथ या त्रिभुवनचूडामणि चैत्यालय की बड़ी प्रशंसा की है । वहाँ के पार्श्वनाथ-मंदिर की प्रशंसा करना भी आप नहीं भूले हैं । इस प्रकरण का अन्तिम पद्य यह है :—

वर्द्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्यबन्धुना ।
श्रीवेणुपुरकान्तानां श्रावकानां स्तुतिः कृता ॥

बाद पूर्व पृष्ठ १२६ में देवेन्द्रकीर्त्ति, विद्यानन्द, देवरससूरि एवं इनके कुटुम्ब की प्रशंसा की है—

"श्रीमान्देवेन्द्रकीर्त्तिर्यतिपतिमुकुटो मन्त्रवादीभसिंहः
साहित्याम्भोजसूर्यो विमलतरतपः श्रीसमालिंगिताङ्गः ।

१—"श्रीपार्श्वश्रेष्ठिनं पायाज्जिनेन्द्रो गुम्मगणाग्रजम् ।
दानपूजादिदिव्यास्तम्बापतेयं महाधियम् ॥"

२—"कोटीश्वरानुजापुत्रो गुम्मिश्रेष्ठिगुणाकरः ।
दानपूजादिनिरतो राजते जनतामतः ॥"

३—"देविश्रेष्ठ्यंगजातः सकलगुणनिधिर्जैनसत्संघबन्धुः
चेन्नादेव्याः पदाब्जद्वितयमधुकरः संगराभंगतेजाः ।
तिम्मिश्रेष्ठिजिनेन्द्रामलमतनिरतः श्रीदयाधर्मकोशः
मन्त्रीशः शक्तियुक्तो जगति विजयते सत्यवान्दानशूरः ॥"

४—बोम्माम्बापतिपाण्ड्यभूपतनयः श्रीवर्द्धमानोदयः
सद्धर्म्मोदयशीलवालतरणिः सद्दानचिन्तामणिः ।
सर्वज्ञामलपादयुग्मसरसीजानाद्विरेफः सदा
जेजीयाद्भुवि बोम्मराजनृपतिर्नारीमनोजाकृतिः ॥"

विद्यानन्दार्यसूनुः कविविबुधमहापारिजातो विभाति
प्रायो भूताचलेन्द्रः परहितनिरतः शारदाकर्णपूरः ॥
श्रीकृष्णरायसहजाच्युतरायमौलिविन्यस्तपादकमलः कमनीयमूर्त्तिः ।
देवेन्द्रकीर्त्तिसुखिराट् जयति प्रसिद्धः स्याद्वादशास्त्रमकराकरशीतरोचिः ।

× × × ×

"यो विद्यानगरीपुरीगणविजयश्रीकृष्णरायप्रभोः
आस्थाने विदुषां गणं समजयत् पञ्चाननो वा गजम् ।
सद्वाग्भिनखरैरुदात्तविमलज्ञानाय तस्मै नमो
विद्यानन्दसुखीश्वराय जगति प्रख्यातसत्कीर्त्तये ॥
वाग्देवी वदनाम्बुजे नयनयोः कृष्णार्जुनौ सत्करे
स्वर्गं नुहृदये मरुज्जिनपतिः सन्तिष्ठते राजते ।
पादे कुम्भकलानिधिप्रभृतयो रोमालिकायां कणा
यस्य श्रीविजयाम्बिका वरगुणा सा विश्वदेवाकृतिः ॥"

× × × ×

जायात् साळुवमल्लिरायनृपतेः सच्छास्त्रविद्यागुरुः
सर्वज्ञोदिततत्त्वनिश्चितमतिः साहित्यविद्याधरः ।
भारद्वाजविशालगोत्रतिलकः स्याद्वादशास्त्राकृतिः
श्रीमान् देवरसाख्यसूरिरमलाचाराग्रणीः सन्नुतः ॥
तस्य देवरसाख्यस्य विद्वद्राजशिरोमणेः ।
सेयं त्रिवर्गनिष्पन्ना विजयासीन्महीयसी ॥
तयोर्वा विजयादेवरसोपाध्याययोरभूत् ।
सुतो बोम्मरसो नाम नीतिविक्रमयोरिव ॥
तत्पुत्रो जनताप्रियः परहितः सद्दर्शनालंकृतः
श्रीमत्साळुवदेवरायनृपतेरास्थानिकाभूषणः ।
विद्यानन्दसुखीन्द्रपादसरसाजातद्वयेन्दीवरो-
जीयाद्बोम्मरसो विचक्षणवरः साहित्यरत्नाकरः ॥

× × × ×

तस्याभवत् बोम्मरसस्य पत्नी गुणाश्रया निर्मलवृत्तरम्या ।
मुक्तामया हारलतेव कान्ता कण्ठास्पदं देवरसी लतांगी ॥

नीलः श्रीचिकुरः प्रवालमधरो वक्त्रञ्च दन्तावलिः
वैडूर्यं नखरः कलेवरमिदं सत्पुष्परागो मणिः ।
यस्याः शोणरुगंघ्रियुग्ममममलं शृङ्गारसंजीवनी
सा रत्नप्रतिमेव भाति तरुणी श्रीदेवरस्यम्बिका ॥
कुम्भौ पीनपयोधरौ मलिनिकावक्त्रं पताका क·····
पर्णं पाणितलं सुतण्डुलचयी दन्तावलिस्तोरणम् ।
हेमस्तम्भसदृत्तमूरुयुग वाद्यं च हृद्यं वचो-
यस्या मङ्गलदेवतेव वनिता सा देवरस्याबभौ ॥
तस्या वियोगविधुरः परमार्थसिद्ध्यै देवेन्द्रकीर्त्तिमुनिराजपदाम्बुजा·····
·····सागरवाडवाभां दीक्षां जिनेन्द्रगदितां वरमाश्रयेऽहम् ।"

इसके आगे कन्नड भाषा में कवि वर्द्धमान ने अपनी प्रशंसा लिखी है। बल्कि उल्लिखित देवेन्द्रकीर्त्ति, विद्यानन्द आदि की प्रशंसापरक स्तुति तथा परिचय आदि में भी कन्नड भाषा प्रयोग में लाई गयी है। पश्चात् कुछ ऐतिहासिक पद्य जो ज्ञात होते हैं, वे यथावत् नीचे उद्धृत कर दिये जाते हैं:

"श्रीकृष्णाः कुरुवंशजं गजपुरे श्रीधर्मरायं यथा
पट्टेऽस्थापयदीश्वरेन्द्रनरसः श्रीरंगरायात्मजम् ।
जामाता भुवि कृष्णारायनृपतेः श्रीरामराजस्तथा
श्रीपट्टेऽत्र सदाशिवं नरपतिं विद्यापुरेऽस्थापयत् ॥
त्रेतायां रघुरामचन्द्रनृपतिः सिन्धोस्तटे द्राविडे
रामेशं समतिष्ठपत्खलु यथा कर्णाटदेशे कलौ ।
श्रीविद्यानगरे सदाशिवमहारायं नृसिंहप्रभोः
नमारं गुरुरामराजनृपतिस्तं राजमौलिं तथा ॥
जीयाद्वीश्वरनारसिंहतनयश्रीकृष्णारायप्रभोः
भ्राता योऽजनि रंगरायनृपतिः पृथ्वीवराहाङ्कितः ।
तस्यासौ तनुजः सुपुण्यतिलकः श्रीरामराजार्चितः
क्षोणीपालबलः सदाशिवमहारायो जिनेन्द्रद्रुमः ॥
अब्दैः श्रीरंगराजक्षितिपतिकलभं वर्णयन्तीदृपुण्यम
पुत्रं जामातरं वा परिवृढमवनौ मातुलं देवरं च ।

विद्वांसस्ते कवीन्द्राः कुवलयसुखदं श्रीवरं रत्नकान्तम् ।
तेजस्वीनं च विश्राणानगुणनिरतं रामराजावनीशम् ॥"

× × × ×

"रेजे पाण्ड्यमहीमहेन्द्रमहिषी श्रीभैरवाम्बा सती
सर्वज्ञाङ्घ्रिसरोजपूजनपरा पुष्पायुधश्रीतुजः ।
साळ्वश्रीगुरुरायभैरवनृपश्रीदेवरायप्रभोः
पद्माम्बाप्रजसंगिरायनृपतेः श्रीरामचन्द्रस्यजा ॥
वीरश्रीवरदेवराजकृतसत्कल्याणापूर्णोत्सवो-
विद्यानन्दमहोदयैकनिलयः श्रीसंगिराजार्चितः ।
पद्मानन्दन.....कृष्णविनुतः श्रीवर्द्धमानो जिनः ।
पायात्साळ्वकृष्णदेवनृपतिं श्रीशोऽर्द्धनारीश्वरः ॥"

× × ×

"पञ्चार्हन्तः प्रमाणाः सकलगुणयुता मोक्षदो जैनधर्मो-
वाक्यं जैनेन्द्रवक्त्रोद्गतमवनिहितं बन्धुरा जैनबिम्बाः ।
भाम्बज्जैनालयाः श्रीसदनमुरुकलं कृष्णदेवक्षितीन्द्रम्
रक्षन्तोद्धप्रतापं कृतजिनसदं पद्मलाम्बाकुमारम् ॥"

× × ×

"बलात्कारगणाम्भोजभास्करस्य महाद्युतेः ।
श्रीमद्वेन्द्रकीर्त्याख्यभट्टारकशिरोमणेः ॥
शिष्येणा ज्ञातशास्त्रार्थस्वरूपेण सुधीमता ।
जिनेन्द्रचरणाब्जं तत्स्मरणाधीनचेतसा ॥
वर्द्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्यबन्धुना ।
कथितं दशभक्त्यादिशासनं भव्यसौख्यदम् ॥"

इसके बाद ग्रन्थरचनाकाल यों अङ्कित है:—

"शाके वेदखराब्धिचन्द्रकलिते संवत्सरे श्रीप्लवे
सिंहश्रावणिके प्रभाकरशिवे कृष्णाष्टमीवासरे ।
रोहिण्यां दशभक्तिपूर्वकमहाशास्त्रं पदार्थोज्ज्वलम्
विद्यानन्दमुनिस्तुतं व्यरचयत् सद्वर्द्धमानो मुनिः ॥"

ऊपर उद्धृत इस ग्रन्थ के जहां तहां के पद्यों से विज्ञ पाठक सहज ही समझ गये होंगे

कि इस ग्रन्थ का इतिहास से कितना घनिष्ट सम्बन्ध है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ग्रन्थ में प्रतिपादित प्रत्येक बात पर सावधानता से विचार करने पर कई नवीन बातों पर प्रकाश पड़ेगा और एक सुन्दर महत्त्व-पूर्ण प्रबन्ध तैयार होगा। खास कर उत्तर कन्नड जिला के जैन-इतिहास-निर्माण में इस ग्रन्थ से पर्याप्त सहायता मिल सकती है। किन्तु ग्रन्थ-प्रतिपादित सभी बातों को सप्रमाण खोज एवं सिद्ध करने के लिये यथेष्ट समय सापेक्ष है। पर इस समय मेरे पास इतना समय नहीं है। अतः मैं एकमात्र अन्वेषण-शील सावकाश विद्वानों से ग्रन्थगत बातों पर प्रकाश डालने के लिये अवश्य सादर अनुरोध करूँगा।

ग्रन्थ-रचयिता कवि वर्द्धमान जी ने इसमें अपने पूर्वज विद्यानन्द और देवेन्द्रकीर्त्ति की कई स्थानों पर बड़ी प्रशंसा एवं स्तुति की है। यह विद्यानन्द वही विद्यानन्द हैं जिनके सम्बन्ध में "जैनएन्टिक्वेरी" भाग ४, नं० १ में डा० सालेतोर का "Vadi Vidyananda-A Renowned Jaina Guru of Karnataka" शीर्षक एक महत्त्व-पूर्ण विस्तृत लेख अंग्रेजी में प्रकाशित हो चुका है। विज्ञ लेखक ने इनके बारे में अपने गवेषणा-पूर्ण लेख में अच्छा विवेचन किया है। विद्यानन्द विजयनगर साम्राज्य के समसामयिक हैं। मैसूर राज्यान्तर्गत नगर ताल्लुक के हुम्बुच नामक स्थान में इनसे सम्बन्ध रखनेवाले कई शिला-लेख मौजूद हैं। आप नन्दिसंघ के कुन्दकुन्दान्वय के अनुयायी थे। इस अन्वय में समन्तभद्र, पूज्यपाद आदि बड़े बड़े लोकविश्रुत आचार्य हो गये हैं। विद्यानन्द एक अद्वितीय वादि-विजयी थे। भिन्न-भिन्न राजसभाओं में जाकर इन्होंने जो जय-लाभ प्राप्त किया था उन सब का विस्तृत परिचय अनेक शिलालेखों में मिलता है। बल्कि वर्द्धमान जी ने अपने इस प्रस्तुत ग्रन्थ में भी शिलालेख-गत कतिपय पद्यों को जहां-तहां उद्धृत किया है। डा० सालेतोर ने भी पूर्वोक्त अपने लेख में इनकी विजययात्रा-सम्बन्धी बातों पर ही अधिक प्रकाश डाला है। नंजिदेवराज, केशरिविक्रम आदि जिन-जिन राजाओं की सभाओं में विद्यानन्द जी ने वाद-द्वारा यशः प्राप्त किया था वे अमुक वंश के, अमुक राज्य के एवं अमुककाल के राजा थे इन सब जटिल बातों को सप्रमाण सिद्ध करने की आपने सफल चेष्टा की है।

विद्यानन्द केवल वादी ही नहीं थे; प्रत्युत एक प्रवीण समालोचक तथा सुदक्ष कवि भी थे। शिलालेख में इनके गद्य के लिये महाकवि बाण की उपमा दी गयी है। इन्होंने धार्मिक क्षेत्र में अच्छा काम किया था। गेरुसोप्पे में तो इनका एकछत्र आधिपत्य था ही। साथ ही साथ कोपण, श्रवणबेल्गोल आदि स्थानों में भी विद्यानन्द जी ने उल्लेखनीय कार्य किया है। वर्द्धमान जी के द्वारा सिंहकीर्त्ति, देवेन्द्रकीर्त्ति, विशालकीर्त्ति एवं विद्यानन्द

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. V JUNE, 1939 No. I.

Edited by

Dr. B. A. SALETORE, M. A., Ph. D.
Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.
Prof. A. N. UPADHYE, M.A.
Babu KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSHANA.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:

INLAND RS 4. FOREIGN RS. 4-8. SINGLE COPY RS. 1-4.

CONTENTS

1. JAINA LITERATURE IN TAMIL By Prof. A. Chakravarti M.A., I.E.S. 1

2. FUTURE OF JAINISM By Dr. N. S. Junankar, Ph. D. 9

3. JAINA CRITIQUE OF THE SAMKHYA AND THE MIMAMSA THEORIES OF THE SELF IN RELATION TO KNOWLEDGE By Hari Mohan Bhattacharya, M. A. 21

4. ANOTHER JAIN INSCRIPTION OF V. S. By Dasharatha Sharma, M.A. 27

5. THE JAINA CHRONOLOGY By Kamta Prasad Jain, M. R. A. S. ... 29

6. REVIEW By A. N. Upadhye, M. A. 33

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. V. No. 1. | ARRAH (INDIA) | June 1939.

JAINA LITERATURE IN TAMIL.

By Prof. A. Chakravarti, M.A., I.E.S.

Continued from Vol. IV, No. IV, page 108.

Next we turn to Kāvya literature. Kāvya literature is generally included into 2 groups: the major Kāvyas and the minor Kāvyas. The major Kāvyas are five in number: Cintāmaṇi, Śilappadikāram Maṇimēkhalai, Vaḷaiyapati and Kuṇḍalakēśi. Of these five Cintāmaṇi, Śilappadikāram and Vaḷaiyāpati are by Jaina authors and the other two by Buddhistic scholars. Of these five, only three are available now, because Vaḷaiyāpati and Kuṇḍalakēśi are completely lost to the world. Except a few stanzas quoted here and there by commentators, nothing is known of these works. From the stray stanzas available, it is evident that Vaḷaiyāpati was composed by a Jaina author: what the frame-work of the story was, who the author was, and when he lived are all matters of mere conjecture. Similarly, in the case of Kuṇḍalakēśi, the Buddhistic work, nothing is known about the author or his time. From the stanzas quoted in the work of Neelakēśi it is clear that Kuṇḍalakēśi was a work of philosophical controversy, trying to establish the Bauddha Darśana by refuting the other Darśanas such as the Vedic and the Jaina Darśanas. Unfortunately, there is no hope to recover these two great Kāvyas. Only

the other three are now available, thanks to the labours of the eminent Tamil scholar Dr. V. Swaminātha Ayyar. Though in the enumeration of the Kāvyas, Cintāmaṇi occupies the place of honour, because of the undisputed literary eminence of the classic, it could not be supposed that the enumeration is based upon any historical succession. Probably, the two lost works Valaiyāpati and Kuṇḍalakēśi deserve to be considered as historically earlier than the others; but since nothing is known about these works, we cannot speak with any certainty. Of the remaining three, tradition makes Śilappadikāram and Maṇimēkalai contemporary works whereas Cintāmaṇi is probably a later one. Māṇimēkalai, being a Buddhistic work, cannot be brought in our review, though the story is connected with that of Śilappadikāram, which is distinctly a Jaina work

Śilappadikāram 'the epic of the anklet' is a very important Tamil classic, in as much as it is considered to serve as a land-mark for the chronology of Tamil literature Its author is the Chera prince, who became a Jaina ascetic, by name Iḷaṅgovaḍigal. This great work is taken as an authority for literary usages and is quoted as such by the later commentators. It is associated with a great mercantile family in the city of Puhār, Kaveriptumpaṭṭanam, which was the capital of the Chola empire. The Heroine Kaṇṇaki was from this mercantile family and was famous for her chastity and devotion to her husband. Since the story is associated with the attempt to sell the anklet or Śilambu in Madura, the capital of the Paṇḍyan kingdom and the consequent tragedy the work is called the epic of the anklet or Śilambu. Since the three great kingdoms are involved in this story, the author who is a Chera prince elaborately describes all the three great capital Puhār, Madura and Vañji, the last being the capital of the Chera empire.

The author of this work Iḷaṅgōvaḍigal was the younger son of the Chera king Cēralādan whose capital was Vañji. Iḷaṅgōvaḍigal was the younger brother of Śeṅguṭṭuvan the ruling king after Cēralādan. Hence the name Iḷaṅgōvaḍigal, the younger prince. After he became an ascetic he was called Iḷaṅgōvaḍigal, the term 'Aḍigal' being an honorific term referring to an ascetic. One day

when this ascetic prince was in the temple of Jina situated at Vañji, the capital, some members of the hill tribe went to him and narrated to him the strange vision which they witnessed relating to the heroine Kaṇṇaki. How they witnessed on the hill a lady who lost one of her breasts, how Indra appeared before her and how her husband Kovalan was introduced to her as a Deva and how finally Indra carried both of them in a divine chariot: all these were narrated to the Chera prince in the presence of his friend and poet Kūlavāṇigan Śāttan, the renowned author of Maṇimēkalai. This friend narrated the full story of the hero and the heroine which was listened to with interest by the royal ascetic. This story narrated by Śāttan contained three important and valuable truths in which the royal ascetic took great interest. First, if a king deviates from the path of righteousness even to a slight extent, he will bring down upon himself and his kingdom a catastrophe as a proof of his inequity; secondly, a woman walking the path of chastity is deserving of adoration and worship not only by human beings but also by Devas and Munis; and thirdly, the working of Karma is such that there is an inevitable fatality from which no one can escape, and the fruits of one's previous Karma must necessarily be experienced in a later period. In order to illustrate these three eternal truths, the royal prince undertook the task of composing this story for the benefit of mankind. In this classic called Śilappadikāram or the epic of the anklet, the first scene is laid in Puhār, the Chōla capital. This was evidently an important port at the mouth of Cauvery, and it was the capital of the Chōla king Karikāla. Being an important commercial centre, several great commercial houses were situated in the capital. Of these there was one Māsattuvan a merchant prince belonging to this noble family of commercial magnates. His son was Kovalan, the hero of our story. He was married to Kaṇṇaki, the daughter of another commercial magnate of the same city whose name was Mā Nāyakan. Kovalan and his wife Kaṇṇaki set up an independent home on a grand scale fitting their social status and were living happily for some time in conformity with the rules and conduct associated with the householders. Their happiness consisted in lavish hospitality to all the deserving ones among the householders as well as the ascetics.

While they were thus spending their life happily, Kōvalan once met a very beautiful and accomplished dancing girl by name Mādhavī. He fell in love with the actress who reciprocated it; and therefore he spent most of his time in the company of Mādhavī, to the great grief of his wedded wife Kaṇṇaki. In this erotic extravagence, he practically spent all his wealth; but Kaṇṇaki never expressed her grief, and she was quite devoted to him as she was in the beginning of her wedded life. There was the Indra festival celebrated as usual. Kōvalan with his mistress also went to the sea-shore to take part in the festival. While they were seated in one corner, Kōvalan took out the Vīṇā from the hands of Mādhavī and began to play some fine tunes of love. Mādhavī gently suspected that his attachment to her was waning. But when she took the Vīṇā from his hand and began to play her own tunes that aroused his suspicion that she was secretly attached to some other person. This mutual suspicion resulted in a break-off, and Kōvalan returned home in a state of complete poverty with a noble resolution of starting life again as an honourable householder. His chaste wife, instead of rebuking him for his past waywardness, consoled him with that kindness characteristic of a chaste wife and encouraged him in his resolve to start life again by reviving his business. He was practically penniless, since he lost everything when he was associated with his mistress Mādhavī. But his wife had two anklets still remaining. She was willing to part with these, if he would care to sell these and have the sale proceeds as the capital for reviving his business. But he was not willing to stay in his own capital any longer. Hence he decided to go to the Pāṇḍyan capital, Madura, for the purpose of disposing off these anklets. Without the knowledge of anybody, he left the Chola capital the same night accompanied by his wife and started for Madura. On his way he reached an āśrama of the Jaina ascetics on the northern banks of Cauvery. In that āśrama he met the female ascetic Kaundhi who was quite willing to accompany these two, in order that she might have the opportunity of meeting the great Jaina Ācāryas in the Pāṇḍyan capital of Madura. These three continued their march towards Madura. When, after crossing the Cauvery, resting on the banks of a tank,

Kōvalan and his wife were insulted by a wicked fellow who was wandering there with his equally wicked mistress. This provoked their ascetic friend Kaundhi who cursed these two creatures to become jackals. But after the earnest requests of Kōvalan and Kaṇṇaki the curse was revoked that they would resume their normal human form in a year.

After undergoing the troubles of the tedious journey, they reached the outskirts of Madura, the Pāṇḍyan capital. Leaving his wife Kaṇṇaki in the company and charge of Kaundhi, Kōvalan entered the city for the purpose of ascertaining the proper place where he could begin his business. While Kōvalan was spending his time in the city with his friend Mādalan, Kaundhi wanted to leave Kaṇṇaki in the house of Mādhari a good natured shepherdess of that locality. When Kōvalan returned from the city, he and his wife were taken to Āyarpāḍi and were lodged in the shepherdess' house. Her daughter was placed at the service of Kaṇṇaki who and her husband were the honoured guests in that Āyarpāḍi. After feeling sorry for the troubles and privations, Kōvalan took leave of his wife and returned to the city for the purpose of selling one of the anklets. When he entered the principal market street he met a goldsmith. He spotted him out as a goldsmith patronised by the king and told him that he had an anklet worthy of being worn by the Queen and wanted him to estimate the value of the same. The goldsmith wanted to see the value of the anklet which was accordingly delivered by the owner. The wicked goldsmith thought within himself of deceiving Kovalan, asked him to wait in a house next to his own and promised to strike a very good bargain with the king, for the anklet was so valuable that only the Queen could offer the price of it. Thus leaving poor Kovalan alone he took the anklet to the king where he misrepresented facts reporting that Kōvalan was a thief having in possession one of the Queen's anklet which was stolen from the palace a few days before. The king without further enquiry issued orders that the thief must be killed and the anklet must be recovered at once. The wicked goldsmith returned with king's officers who carried out the orders of the foolish king to the very letter ; and thus Kōvalan had to end his life, while attempting

to start life again, in the foreign country. In the meanwhile Kaṇṇaki who resided in the shepherdess' quarters had observed several evil omens prophetic of the great calamity awaiting her. When Mādhari, the shepherdess, went to bathe in the Vaigai river, she learnt from a shepherdess returning from the city the fate of Kōvalan who was killed by the command of the king on a charge of theft of the Queen's anklet. When this was reported to Kaṇṇaki, she, in a rage entered the city with her other anklet in hand in order to vindicate the innocence of her husband before the king. Reaching the palace Kaṇṇaki intimated through the sentinel that she wanted to have an interview with the king in order to vindicate the innocence of her husband who was cruelly put to death without proper enquiry. She demonstrated before the king that her anklet taken from her husband as the stolen one contained gems inside whereas the Queen's anklet contained pearls inside. When this fact was demonstrated to the king by breaking open Kaṇṇaki's anklet, the king realised the immensity of his blunder in cruelly putting to death an innocent member of a noble family of merchants. He cried that he was foolishly led into this blunder by the wicked goldsmith, fell down unconscious from his royal throne and lost his life immediately. After vindicating the innocence of her husbsnd Kaṇṇaki with unabated rage and anger cursed the whole city of Madura that it should be consumed by fire and tore off her left breast and cast it away over the city with her curse. The curse took effect and the city was burnt to ashes. Having learnt from the Goddess of Madura that all this was but the inevitable result of her past Karma and being consoled by the fact that she would meet her husband as a Deva in a fortnight, Kaṇṇaki left Madura and went westwards towards Malainādu. Ascending the hill called Tiruchchengunṛam she waited under the shade of a Vengai tree for fourteen days when she met her husband Kovalan in the form of a Deva who took her in a Vimāna to Svarga, while being adored by Devas themselves. Thus ends the second chapter called Madurai-k-kāṇḍam.

Next is the third part of the work called Vañji-k-Kāṇḍam relating to the Chera capital Vañji. The members of the hill tribe,

who witnessed this great scene of Kaṇṇaki being carried by her husband in the divine chariot, celebrated this event in their hamlet, in the form of 'Kuravaikoottu' evidently a form of inspired folk-dance. Then these hunters wanted to narrate this wonder to their king Śeṅguṭṭuvan and thus marched towards the capital each carrying a present to the king. There they met the Chera king Śeṅguṭṭuvan who was with his Queen and his younger brother in the midst of his four-fold army. When the king heard this narration how Kōvalan was killed in Madura, how the city was consumed by fire by the curse of Kaṇṇaki and how the Pāṇḍyan king lost his life, he was very greatly impressed by the greatness and chastity of Kaṇṇaki. As desired by his Queen, he wanted to build a temple for this Goddess of chastity. With this object in view he set out with his ministers and army towards the Himālayas for the purpose of bringing a rock to be sculputured into the idol of Kaṇṇaki to establish it within the temple built in her name. There he met with the opposition of the several Āryan princes who were defeated by this Chera king and were brought as captives back to the Chera capital. There he had the temple built in the name of Kaṇṇaki and celebrated the Pratishṭhā Mahōtsava according to which the idol of Kaṇṇaki, the Goddess of chastity, was placed in the temple for the purpose of worship. In the meanwhile, the parents of both Kōvalan and Kaṇṇaki, learning the fate of their children, renounced their property and became ascetics. When the Chera king Śeṅguṭṭuvan built the temple in honour of the Goddess of chastity several kings of Āryāvarta, the Mālwa king, Gajabāhu the king of Laṅkā, who were all there at the Chera capital, decided to build similar temples for Kaṇṇaki at their own capitals and wanted to conduct worship in a similar manner, so that they might also obtain the Goddess of Chastity's blessing. Thus arose the Kaṇṇaki worship which brought all prosperity and plenty to the worshippers. Thus ends the story of Śilappadikāram. It consists of 3 great divisions and 30 chapters on the whole. The work has a very valuable commentary by one Aḍiyārkkunallār. Nothing definite is known about this commentator. Since he is referred to by Naccinārkkiniyar, another commentator of a later period, all

that we can say is that he is of a period earlier than Naccinārkkiniyar's. That he must have been a very great scholar is evident from his valuable commentary on this work. That he was well-versed in the principles of music, dance and drama is very well borne out by the elaborate details given by him in this commentary elucidating the text relating those topics. This work, the epic of the anklets, contains lot of historical information interesting to the students of South Indian History. From the time of Kanakasabhai Piḷḷai, the author of "*The Tamils 1800 years ago*" up to the present day, this work has been the source of information and guidance to the research students in the Tamil land. The information that Gajabāhu, the king of Ceylon, was one of the royal visitors to the Vañji capital is emphasised as an important point for determining the chronology of the work. This Gajabāhu is assigned to the 2nd century A. D. according to the Budhistic account contained in Mahāvaṁśa. Relying upon this, critics are of opinion that the Chera king Śeṅguṭṭuvan and his brother Iḷangōvaḍigal must have lived somewhere about 150 A. D and hence the work must be assigned to that period. All are not agreed on this point, but those who are opposed to this view would bring down the period several centuries later to the period of another Gajabāhu mentioned in the same Mahāvaṁśa. Mr. Logan in his 'Malabar District Manual' states several important points indicating the Jaina influence over the people of Malabar coast before the introduction of Hinduism. Since we are not directly concerned in the chronology, we may leave that topic to the students of history. In our opinion the view associating this work with the earlier Gajabāhu of the 2nd century is not altogether improbable. But we want to emphasise one important fact. Throughout the work we find doctrines relating to Ahiṁsā expounded and emphasised; and in some places we have reference to the form of temple worhip described according to this doctrine. About this time worship with the flowers was prevalent throughout the Tamil land. This is referred to as "Pooppali" that is, Bali with flowers. The term 'Bali' refers to such sacrificial offering and 'Pooppali' is interpreted by the commentators as worship of God with flowers. *Contd.*

FUTURE OF JAINISM

BY

Dr. N. S. Junankar, Ph D.

From the numerous Jain Conferences I have attended since my return and the private conversations I had with prominent personalities, I am constrained to conclude that most of us are singularly blind to the gravity of the situation we find ourselves in, and that few of us have attempted to appreciate the importance of the titanic forces operating in the modern world. Oblivious of the fate that is in store for Jainism and studiously unmindful of the motive forces in the modern society, we have been pursuing time-honoured policies, which have to-day little or no bearing on the stark realities of our life. Every one who has the welfare of the Jain community at heart must surely be alarmed over the startling decline of Jainism over the last few centuries. And it is not difficult to prophesy that, if no drastic measures are adopted in good time, Jainism will meet with the same fate as Budhism in its land of birth. With this capital difference, however, that while Budhism, although expelled from its native soil, has made conquests abroad, Jainism if it dies of inanition in this country will have no followers to deliver its message. Surely, we must hasten to consider this phenomenon of our decline. Why has Jainism ceased to be a vital force in the national life ?

Historical retrospect—A brief historical retrospect will furnish the answer to this question. In the hands of Mahavir Jainism was not a collection of petrid dogmas but a dynamic movement. It owed its vitality to its protestant character, it flourished because it represented the outraged conscience of humanity against the tyranny of priestcraft and sacerdotalism. It challenged the divine authority of the Vedas and the infallibility of the priests who were the custodians of the divine word; it protested against the tyrrany of an all powerful God over human lives ; it denounced the cult of ritual and

sacrifice as destructive of all morals and moral responsibility; its whole teaching represented a democratic and egalitarian urges in the priest-ridden society, albeit in the realm of spirituality. In all its speculations it emphasised the necessity of rationality and scientific approach. In the intellectual fermentation that had been brewing for some time, Mahavir and Buddha focussed the deep stirrings of oppressed humanity. No wonder that Jainism and Buddhism spread like wild fire, and their revolutionery teachings caught the imagination of the people Hinduism was unable to resist the impect of these two dynamic movements, and steadily declined until it put its house in order. The reformed Hinduism had assimilated the essential contribution of Jainism and Buddhism, and thus removed their whole râison d'etre.

The 'êlan vital' of Jainism in its early stages was supplied by its relevance to the specific needs of the age. The abuses and evils it counteracted were real abuses and evils, and consequently its victories were real victories. The early vitality of the doctrine of non-violence was due to the presence of a sacrificial cult, which involved violence to animals. But when the sacrificial cult had disappeared and new forms of violence had risen in society, the older forms of the doctrine were clearly out-of-date. As the tyranny of priestcraft declined, the protest of reason also lost much of its meaning. Thanks to the efforts of Jain and Buddhist preachers, the moral responsibility of the individual was established on a more sensible foundation. The vision of the grand destiny and dignity of man had been incorporated in the framework of society. While the victories of Mahavir were solid and genuine, his followers contented themselves with sham triumphs. They invented—or perhaps developed—a dialectical method to disarm their opponents in intellectual disputations. But these very controversies had become so unreal.—And mere intellectual victories are no substitues for triumphs in the real world. Progressively the Jain doctrines were divorced from the practical realities of life, and to that extent became absolutely sterile. The ever changing society made new demands upon the ingenuity of man, and the followers of Mahavir proved unequal to the task which the prophet had assigned them. The disciples of

Mahavir, not having the will to conquer, sought to escape from the world of actuality into a world of fantasy and make-believe. They devoted their talents to the deification of Mahavir—a thing which the prophet himself would have disliked—and used their powers of imagination to conjure up pictures of heaven and hell, and the mysteries of the past and future life. The doctrine of Karma led to a sort of rigid moral determinism, leaving little or no room for individual effort, enterprise and initiative. In addition, there was always that beneful accent on the world beyond and salvation hereafter. Bound up with this emphasis was the general notion that existence is an unmitigated evil and that the whole moral effort must lead to the dissociatien of body from soul. People were ordained to seek redemption from all wordly attachments and concentrate upon the inward bliss that springs from the contemplation of the soul. New problems were pressing upon society. Foreigners had begun to pour into the country in search of wealth, and the economic conditions of the people were continuously deteriorating. But religious teachers had no solution for these burning problems. The inheritors of the past consolidated the older institutions and clung to ideas and ideals, which had lost their relevance to the changed circumstances. The whole ideological and social structure thus became petrified, and it has been decaying over the last many centuries.

Coming down to more recent times, we find the same state of affairs. The impact of the West and the rule of the British have thrown all our beliefs and institutions in a melting pot. The time-honoured structure of our society has been disintegrating. The old world is dying and the new world is yet powerless to be born. But our Jain brothers are still harking back to the days of Mahavir. We still revel in antiquity, and our amour propre is satisfied if we can unearth a relic of the past which proves Jainism to be the first religion of man. We are happy in the belief that ours is the best religion in the world and ourselves the best people inhabiting it We pretend to ourselves that the conclusions of our philosophical and moral speculations are final, and that they have been reached long before man had put on the thin veneer of civilisation. And

yet the whole doctrine of Syadvada is contrary to dogmaticism. We quote foreign and indigenous scholars who say good things about ourselves. With these testimonials and fossilised relics of the past we hope to deserve the title of Jains. Never before have conquerors behaved in this strain. The world we have conjured up for ourselves is far beyond the fantastic imagination of even Sir James Barrie. Peter Pans can amuse but cannot conquer the hard core of reality. Intellectually as well as morally we are content with formulae, which have no bearing on the present situation. To take but one spectacular example, we have always prided ourselves on the doctrine of non-violence. But it has been left to Mahatma Gandhi, who incidentally is not a Jain, to apply it to the national problem of freedom. We have, however, been keen on saving the animal world from the ravages of man. We would protect insects and animals rather than men and women and children. Our conscience is outraged by an abattoir, but the violence and oppression embedded in our social structure leave us entirely cold. We prefer idolatry to idealatry; miracles to individual moral effort; faith and superstition to reason and knowledge. This divorce of philosophy and religion from life and environment has produced moral and intellectual preversity. Intellectual and moral values are sacrificed at the altar of dogmaticism and conventional morality. But that sacrifice is at the cost of the community. Whether Jainism can survive the present process of disintegration or not, will depend upon the answer it can give to the burning problems of the day. Have we Jains any distinctive contribution to make towards the national problem of our freedom? Can we help in any way to remove the cruelty, injustice and oppression deeply embedded in our social structure? Can we provide an effective ideology, which will inspire men to end the malaise of our society and put it on a juster and more reasonable basis? On the answer to these queries will depend the future of Jainism. It will be a vital force only in proportion to its contribution to the solution of these problems.

But still more fundamental is the attack on religion as an institution. In spite of the long sway religion has held over people's

minds is the world a better place to live in? Have we run over social relationships in accordance with the demands of religion? If not, has not religion failed in its purpose? It will not do merely to blame men for their innumerable failings, for precisely to remedy them civilising institutions are called into being. If they cannot perform their avowed function must we not scrap them altogether and find better ones to introduce sanity and justice in our social structure? These are the doubts and misgivings in the minds of millions to-day. There is apathy and indifference towards religious matters. Youth is frankly sceptical about their validity or utility. There is also a suspicion, not altogether unjustified, that religion is the last resort of all reactionaries and obscurantists. It protects the ramparts of tradition and tends to preserve and perpetuate the statusquo. It is regarded as the opium of mankind. If religion sanctifies the present structure of society with its economic and cultural injustices, how can it command the allegiance of the common man? In the midst of dirt, disease and poverty, it is little comfort that all existence is evil and there is better luck in store for their victims in after life. No one to-day is prepared to accept his present unhappy lot as the inevitable outcome of his past karmas. Society and social relationships are man-made, and can be altered if they do not subserve the needs of the vast masses of the community. Salvation beyond will never be an adequate substitute for salvation here and now, which we can know and feel and enjoy.

Challenge of Science to religion.—This is particularly so because science has brought plenty within the reach of all. Whatever the ultimate mystry of life and death be, science has proved that suffering is not inevitable, poverty unnecessary and squalor and unhappiness uncalled for. Few of us would believe that there is a peculiar moral quality in suffering. If life can be ridden of its ailments, it will not be the more immoral for that; it will be a welcome riddance. In any case the suffering humanity will not accept the humilies of priests and prophets as remedies for their grievances. In spite of them science has come to stay and will be invoked to relieve the suffering of the people.

Besides the contribution science can make to the happiness of mankind, it is a profound dissolvent of all religious beliefs. In spite of the so-called revulsion against a purely scientific approach and the apparent rapproachement between science and religion, the scientific ideal is fundamentally opposed to the ideal of all religions. The distinctive feature of all scientific enquiry is the search for natural causes of all facts of experience and observation. Science is always striving to find out the missing links in its chain of natural causes, and is not prepared to invoke the miracle or supra-natural agency. Nature is a network of inter-related events, and each can be explained by reference to some other known event in Nature. The whole tendency of scientific enquiry is against dogmaticism. If fresh knowledge is added, scientists are prepared to revise their conclusions. There is no finality about them, and knowledge itself is continuously making new conquests. Science prefers the thrill and joy of new discoveries and inventions to the placid complacency of omniscience. Further, it refuses to recognise any limits to its efforts. What is unknown to day may yield its secret in future. It is pragmatic in its method and sceptical in its conclusions. It is based on reason and observation as opposed to faith and mystical experience. Its conclusions can be tested and verified. To religion and its distinctive experiences no such tests are obviously applicable. Besides, the effort of science is to enrich human life and culture here and now in measurable terms ; the ideal of religion is to enrich the abstract soul and lead it to its destiny of salvation beyond. Science has further shattered the vanity of man. Man in no longer the centre of the universe, and the planet we inhabit is but a tiny part of the cosmos. It owes its existence to the vagaries of the cosmos. Slightest disturbance in the universe may sweep it into oblivion. A tremour in the earth may submerge it, floods may wash it away ; a meteor from the stellar universe may strike it and burn it to ashes ; it had many lucky escapes in its historical existence. The earth itself is a smouldering meteor or slice of the burning stars dropped down from heaven. When it cooled off, life appeared at a comparatively late stage. Like the earth, life itself is a pure accident. One has merely to look over the conditions which make life possible.

Life can flourish only under certain temperature and atmosphere. It is only within a narrow range of temperature that life can exist. It was impossible when the earth was burning molten lava; it may become extinct if the sun cools off beyond a certain degree. Biology tells us that inanimate creation preceded the animate. Life appears as a sort of emergent evolute of the material changes in the earthly conditions If all these observations are true, nothing remains of the soul and the immanent or transcendent God Nature seems to be such a weird phenomenon as to preclude the operation of the divine agency. One could hardly assert that it is meant to subserve the ends of man. The grand destiny of man as the arbiter of the universe is thus shattered to shreds. While science unfolds a very unpleasant vista, we need not be pessimistic for that. We must make the best use of life while it lasts. One thing is, however, certain that the achievements of science cannot be ignored. They are bound to be destructive of faith and mysticism. No sanctimanious heritage of our past will be preserved or accepted because it is hallowed by tradition and blessed by prophets and priests. Nothing that cannot satisfy reason will stand What answer can religion give to the challenge of Science? One can see the writings on the wall. Religion as an institution has failed in its mission, and will not survive the onslaught of reason and science, atheists and reformers. But it may live as a custodian of individual conscience. It cannot be preserved by its temples of worship or its ritual and sacred paraphernalia. It will not be saved by its prospect of bliss and happiness in after life. It may be saved if it contributes to the building up of the Kingdom of God on this earth. That is the supreme task before all lovers of religion. Will its votaries rise to their task? That will determine the future of religion. If they still wobble in faith and mysticism and allow religion to be an instrument of preserving the statusquo, religion will be no more.

Present day need.—In view of these disintegrating factors, I would like to urge upon the conference to undertake a critical examination of all our religious beliefs and philosophical conclusions. Whatever is out-of-date or cannot stand the test of reason must be scrapped.

Further, we must address ourselves to the task of harmonising religion with science. It is idle at this stage to pretend to ourselves that the conquests man has made in the realm of knowledge and nature during the last three hundred years were made by the ancients. Let us recognise that we are always advancing knowledge, and our generation must contribute its rightful quota. Secondly, all our scholars and thinkers must labour to evolve an ideology that will meet the demands of our age. We must restate the whole moral code in the light of modern circumstances, and clothe the time-honoured formulae with new blood and flesh. Thirdly, we must create and develop a new conscience which will respond to the noble urges of man to-day. We must scrap our moral perversions, and concentrate primarily on human values Humanistic values are the paramount need of the hour. Fourthly, we must determine what specific contribution we can make to the national and social regeneration of our people. In order to discharge these functions efficiently, we must call a halt to all doctrinal controversies between different sects, and declare a truce over all disputes of temples and idols. We must discourage the vast army of our saints from spiritual experiments and call upon it to become the healers of mankind and missionaries in causes millions are fighting for. Outworn gospel truth must be abandoned in favour of new ideas and ideals. If there is a major war or a gigantic social convulsion, all the ideas and ideals dear to our saints and prophets will die with them. To meet an emergency we must devise emergency measures. Conscription of laymen and saints for bringing in a millenium on this earth is the supreme task. In order to facilitate these tasks we must pool our resources to found a Jain University, which will be a. radiating centre of these trends of thought and social regeneration Its avowed purpose will be to train a new kind of intellectual and a crusader in the cause of humanity. It will produce true Jains, conquerors of ignorance and superstition, of dirt, disease and poverty, liberators of mankind from its injustices and maladies It will be the training ground for fighting war and violence in all their forms and shapes, and a vanguard in the struggle to build up a better society and healtheir outlook on life and its problems. Jainism will be

roused from its stupour and awakened to its sacred mission. We shall conquer the hearts of men, and that is the only way to spread Jainism. No sacrifice will be too great to achieve the destiny. Mahavir has placed before us. We went to create a society of Mahavirs the creators and organiser of peace and justice, democracy and equality in matters profoundly religious and worldly. A Jain university will be the beacon of national and social regeneration. It will dedicate temples not to deities but to men.

Side by side with this essay in this creative and dynamic higher education, there must be a systematic plan to liquidate illiteracy within a reasonable period and provide higher and technical education to all deserving students. Universalisation of culture is the sine-qua-non of its preservation. So long as it is the monopoly of the privileged minority it is bound to be moribund. At present efforts are being made to provide facilities for education. But they are neither co-ordinated nor in proportion to the needs of the community. I think the problem of education should be dealt with on a broad national basis. I would suggest that all the existing funds and trusts should be consolidated to finance all educational facilities. Secondly, as the present funds are hardly adequate for the needs of our community, it is absolutely necessary to augment our resources. One of the easiest way I can think of is that all the assets of temples and religious institutions should be utilised for education. No better use could be found for divine offerings. The spread of knowledge and enlightenment is certainly one of the noblest functions of all right-minded people.

Next to education in importance is the provision of medical facilities. Before we repair and preserve the dilapidated temples and crubmling monuments, let us build up the shrines of man. Life is the most sacred thing in the world, and its preservation and enrichment should have priority in the distribution of resources. Earlier I have made it clear that in the present stage of our evolution no one is prepared to see virtue in suffering. There is no special reason why the path of virtue should be strewn with corpses. Virtue combined with happiness should be the ideal of society. The conference should investigate

the medical needs of the community and make haste to provide for them. We pride ourselves on non-violence and universal life. Let these twin principles be applied to these specific problems. Every life saved will be a fresh conquest. Side by side with the medical relief, problems of malnutrition should receive careful consideration. Deficiencies in diet are recognised as causes of ill-health and many diseases. We need a vigorous and healthy people Diseased body cannot house healthy mind. There also I must urge the necessity of coordinated action. Questions of housing and sanitary conditions should also be taken up.

Over and above these problems is the shadow of unemployment. Time has come when no half-measures will meet the requirements. Innocent men and women are prepared to work but cannot get any work for no fault of theirs. It is the duty of society to find work for the needy or supply the needs of the victims of unemployment We must first collect statistics of the unemployed, and find ways and means to alleviate their sufferings. I do not pretend to be an economist, but I would suggest a body of economic experts should take this matter up immediately. Possibilities of new business and industries financed by the big capitalists should be explored. Co-operative credit should be supplied. And the liquidation of indebtedness should be undertaken.

To finance the social amelioration programme the question of imposing a graduated Jain income-tax should be seriously considered. We have preached from the pulpit and platform that it is a special privilege to be born a Jain. Let us also pay for that privilege. We have also in our moral code a provision to limit our wordly possessions (Parigraha parimāna). I believe that every true Jain should accept that vow and act upon it. We proclaim that the attachment to flesh and its passions is the source of all sin and evil. Why not mitigate that sin right from now. I think time has come when it is not enough to be born a Jain; one must become that. I do want to urge, upon the with all the emphasis at my command, the necessity to levy the income-tax. No reform is possible without some redistribution f

wealth; it will remove the edge off the acertities and rigours of the present inequality. Sanctions to enforce the tax must be developed. So far we have used the weapons of social ostracism and boycott to enforce caste restrictions. Why not apply these sanctions to these beneficent proposals? Besides we can also exploit the social sanctions of approbation and censure to bring the defaulters to book. We can also deprive them of fame, position and honour in our gatherings which have fallen to their lot far too easily and without any material contribution to the welfare of the community. Leadership will be the badge of sacrifice and not of self-aggrandisement.

Last but not least, we must also concert measures to remove the anamolies in our social structure. The distinctions of caste, creed or colour cannot have any place in any genuine Jain creed. But unfortunately we have succumbed to the vitiating social atmosphere around us. We never believed in the *Varnāshrama-dharma*; we never had any problem of untouchability. But we have accepted these social taboos and discriminations. Our society is hidebound with restrictions of caste and diet. We must abolish them all, and evolve a hemogenous and egalitarian society. There must be fullest freedom for inter-marriage and inter-dining Similarly, we must revise our ideas of sanctity about sex and sexual relations. Let us place sex in its rightful position. It is a biological necessity, and public health and social welfare alone should regulate sex affairs. We must also remove the present obsession with sex. Character has become nine-tenths of sex, and one-tenth is taken up by conformity to conventional platitudes largely in the realm of diet, drink and dress. Consequently we have lost sight of the real elements that coustitute character; we have also become unbalanced in our appreciation of things and persons. A puritan who renounces sex and recreations of life is not necessarily more moral than one who has them in moderation. Virtue after all lies in the golden means, and extremes either way are undesirable. The old ideal of denying legitimate satisfaction to human instincts and passions is obviously impossible of achievement. The only thing that we can hope to do is to

regulate and sublimate them Further more, suppression of sex is suicidal for the human race. Celibacy is clearly out of the question. Nothing that will extinguish human stock can be regarded as either moral or normal. Self-preservation is the law of nature, and no moral code will ever defy it. Besides morality to be effective must not put undue strain on the powerful instincts and passions.

JAINA CRITIQUE OF THE SAMKHYA AND THE MIMĀMSA THEORIES OF THE SELF IN RELATION TO KNOWLEDGE.

BY

Hari Mohan Bhattacharyya Prof. of Philosophy, Asutosh College ; Lecturer, Calcutta University.

The Sāmkhya postulates the Puruṣa as the transcendental principle of Intelligence to which the conscious modifications of the psychical centre, namely, perceptions and ideas, feelings of pleasure, pain and infutuation, volitions and strivings, never cling and are thus entirely foreign. In its own entrinsic nature the purusa of the Sāṁkhyist is an eternal static principle of supernal consciousness remaining wrapt up in its transcendental luminosity, suffering no modification and therefore not entering into the constitution of ordinary psychical processes. What happens in the ordinary psychical processes is that as a result of the evolution of Prakriti, the cosmic material principle, started, however, by the glance of the transcendental puruṣa, there occurs in the individuated intellect (*citta*) an *adhyavasāya* or cognition which marks a sparkling of the *Sattvaguṇa* the illumining real preceded by the subjugation of the *Tamas* or the darkening real, which along with *Sattva* and *Rajas*, or the actuating real, make up the constitution of everything in the universe. The *Citta* or *Buddhi Sattva*, however, is unconscious by origin, originating, as it does, from Prakriti, and hence its quality or modification, namely *adhyavasāya* or cognition is necessarily unconscious. When we ordinarily state that our adhyavasāya or cognition cognises an object it is not the self that is the subject of the cognition, but it is rather the unconscious *buddhi* and its modification, *adhyavasāya* that appears to cognise the object ; and this apparent cognition on the part of the unconscious buddhi is, as the samkhya says, due to a false attribution (*āropa*) of the cognitive activity to the trancendental self which in essence is devoid of all attributes. And this attribution is due to the assumption that the Puruṣa, the illumining principle, gets reflected on the buddhi according to Vācas-

patimisra, or that there takes place a reciprocal reflection of the Puruṣa on the *buddhi* and of the buddhi on the Puruṣa as according to Vijnānabhikṣu. And what has been stated here in connection with the occurrence of cognition applies *mutatis mutandis* to the occurrence of the other conscious states like pleasure, pain, infatuation and the rest [1] If follows than that in the production of the knowledge or cognitive—situation, the punṣa or the conscious principle has no role to play ; nor is cognition by any means a conscious function seeing that the *buddhi*, intrinsically unconscious as an evolute of Prakriti, runs the whole show.

1. *Examination of the Sāṁkhya Position.*

The Jaina however, here emphatically warns us that the Śamkhyist is entirely mistaken in his view of the self in relation to knowledge. He argues that the sāinkhyist admission of the self as a reality, unlike the Buddhist reduction of the self to momentary psychoses, is quite in point, but that what is wrong with him is his conception of the self as a static and unmodifying (*apariṇāmi*) eternal principle which does not enter into the constitutton of knowledge, but which merely looks on it from a distance as it arises, as a modification of an unconscious principle. This virtual separation between the self and knowledge (buddhi) entails an actual stultification of each of tham. For the Jaina points out, and rightly, that the self as a real, like every other real, realises its own nature in and through its modifications, its cognitions, emotions and conations ; and the cognitions and the rest have their significance only as modifications of the self. The static self without its conscious modification and mere modifications apart from the conscious self, are both equally meaningless abstractions. Further it seems inconceivable, the Jaina thinks, how the buddhi of the Sāṁkhyist in itself unconscious, can be made to do the duty of a conscious principle Again supposing that the unconscious principle of *Buddhi* does the duty of a conscious principle the postulation of the self as a conscious principle becomes a gratuitous assumption. And finally the self of the sāṁkhyist being an unevolving (*aparinami*) and eternal (nitya) principle cannot satisfy

1. Tattva Kaumudi on Sāinkhya Kārikā. 5,

the requirements of an *arthakryākāri*, of a something exerting causal efficiency, and as such cannot be regarded as a *sat* or real. For the Jaina has demostrated that the reality of a real is constituted by its causal efficiency. The result will be that it would be impossible to demonstrate the reality of the self which is contrary to the very Sāṁkhya position itself [1]

2. *Examination of the Mimamsaka Position.*

The Mīmāmsaka is also another of those eternalists who maintain the unchangeable and immutable charater of the self, whose essence is consciousness (*nityacaitanyasvarupa*). Though the conscious essence of the self remains identical, yet it is allowed to undergo changes of states (avasthās) such as cognition, pleasure pain and the rest, and becomes the agent *kartā*) and the enjoyer (*bhoktā*) of the results of its agency. The attribution of agency and enjoyment of the results of its deeds to the self indeed sounds like an anomaly though it seems to fit well with the general mimāmsist standpoint which is an apotheosis of actions. This a vulnerable point in the mīmāmsa system where the advaitist *attacks* it and points out that if the self is to be regarded as an immutable conscious reality in so far as its essence is concerned, we must think twice before we can attribute agency and enjoyment (*Kartrtva* and *bhoktrtva*) which involves change and difference to the same self which is essentially identical with itself without admitting any change or difference. It remains to be seen however, if the advaitist has really solved the problem of changes and differences of function in the life of the undifferenced unity of the self by his supposition of adjuncts (*upādhis*) and of the Brtis or so called modifications as a matter of mere convention (*upacāra*) and practical necessity (*vyavahāra*). To return to the point of the mimawsist, the mimsist has striven to emphasie the unchangeable character of the conscious reality of the self by having recourse to his famous comparison of the self to the body of a snake which according to him remains identically the same in the changes of its states, sometimes, forming a circle and at other times sbretching itself into a straight line (kundalāvasthā and arjavāvasthā).[2] In formulation of his doctrine of the immutability of the

1 Prameya Kamala marhanda. pp. 25—26 and Pramāṇa mimāmsa p. 49.
2. *Vide* the five Slokas quoted in Pramana mimansa p. 49

self, the mimānsist makes the Buddhist doctine of universal flux to be his principal target at which the volleys of his intellectual shots are aimed. As an advocate of the doctrine of *Karma* which demands for its origin, potency and fruition the abiding agency of of the self, he has pointed and not unjustifiably, to the difficulties attaching to the conception of self as a momentary conscious state or as an inconnented series of them, no one member of which has anything to do with the other, the most damaging of such difficulties according to him being *Kṛtanāśa* or obliteration of all trace of action done, and *akṛtābhyāgama* or the enjoyment of the result of an action done by one momentary agent on the part of another such momentary agent who was never responsible for it [1].

A little reflection shows, however, that the mimamsaka, in his polemic against the Buddhist, has been carried away by his own bias in favour of an unmitigated identity of the self. He seems to have been blinded to the opposite difficulty of separating the structural unity of the self from its functional diversity, although such separation is unwarranted from the viewpoint of a concrete self which consists, according to the Jaina, of its dynamic reality. The Jaina is an out spoken dynamist in his vew of a real conscious or unconscious, and cannot brook any shillyshallying in the conception of the factors of a reality which necessarily enter into its constitution. His conception of a real, as we have elsewhere sufficiently pointed out, is that it is always something permanent in the midst of its changes, a unity in diversity, a being in becoming. A concious reality is never divorced from its own conscious modifications and qualities in which lies its very life. Both structure and function make up the totality of the self or the conscious real. Perceptions and ideas, feelings and conations are of the self and in the self and are never to be regarded as out of vital relation with the immamental unity of the self. The self is never transcndent retaining aloofness from its own modifications, but is always immanent in them or cognition is not a mere unaccountable *avastha* or state of the self,

1. *Vide* Mimamsā Slokarārtika—Atmavada pp. 689—727.

knowledge but is the essence of the self. It is a *pariṇāma* or self-differentiation of the self, it is the self knowing or cognising. A *pariṇāma* or modification, issuing from the *pariṇāmi* or the modifying, and yet not in essential relation with the *pariṇāmi*, is as false an abstraction as the *apariṇami* or immutable real without any *pariṇāma* or modification.

Another Jain inscription of V. S. 1176.

BY

Dasharatha Sharma

The inscription edited here for the first time is at present to be seen in the Chintāmaṇi temple, Bikaner. Curiously enough it belongs not merely to the same year but also to the same date as the Jāṇgalū inscription edited in the pages of the *Antiquary*, and seems to be the outcome of that very widespread movement of the consecration of *vidhichaityas* advocated so strongly at the time by many influential and highly learned *āchāryas* of the Kharatara gachha The inscription is mentioned as set up at Ajayapura, which however seems to be merely another name for Jāṇgalukūpa, a town believed unanimously to have been founded by Ajayadevī, the Dahiyā queen of Pṛthvīrāja Chauhān, who, as already pointed out in my note on the Jāṇgalū inscription, is to be identified not with Pṛthvīrāja III, the last Chauhan ruler of Ajmer, but with Pṛthvīrāja I, the father of Ajayarāja.

The inscription contains seven lines and the language used is Sanskrit.

TEXT.

१ ९० संवतु ११७६ मार्
२ सिर बदि ६ पु गुरो (रौ) अ-
३ जयपुरे विधिकारि-
४ ते सामुदायिक प्रति-
५ ष्ठा ॥ राणसमुदायेन
६ श्रीमहावीरप्रतिमाका-
७ रि ता ॥ मंगलं भवतु ॥

The inscription is on the *parikara* of an image of Mahāvīra. I am thankful to my friend Mr. Bhanwarlal Nahta for having brought it to my notice.

The Jaina Chronology.

By Kamta Prasad Jain, M. R. A. S

Continued from Vol. IV No. III, page 92.

EVENTS OF THE ANCIENT HISTORICAL PERIOD

No.	Period & Date.	Events.
5	...	Jarāsindhu, the King of Magadha to revenge the death of his sons, attacked the Yādavas and a great battle was fought; in which Prince Arṣṭa-Nemi also took an active part. Yādavas won the battle, but Jarāsindhu gathered a fresh force in the meanwhile and once again attacked the Yādavas. The elders of the Yādava-saṃgha considered it proper as to shift their Capital to Dwārikā in the extreme west coast of India. Consequently they colonised the whole of Kathiāwāḍa and Kṛaṣṇa ruled from Dwārikā.
6	.	Kṛaṣṇa went to Kuṇḍinapura and married Princess Rukamini, after fighting a successful battle with his opponents.
7	....	Prince Pradyumna and Bhānukumār a were born.
8	.....	The great allies of the Yādavas were the five Pāṇḍava brothers, who ruled at Hastināpura.

No.	Period & Date.	Events.
9	.....	Arjun won the hand of Princess Draupadi in an open Svayambara congregation, having accomplished the feat o shooting down a fish with his arrow.
10	.....	The Pāṇḍavas suffered loss of kingdom having staked it on dice and went out on an exile of twelve years. They reached and remained at Dwārikā for sometime. Thereafter they went away towards South India and settled at Madura.
11	.....	Jarāsindhu attacked the Yādavas again and was killed in the battle.
12	.....	Śrī Kṛaṣṇa went out on a '*Digvijaya*' and having accomplished it successfully, weighed up the heavy 'Koṭi-śilā' with his hands, in order to make known his strength and prowess. His imperial coronation was then performed.
13	.....	Prince Arṣṭa-Nemi was betrothed to Princes Rājamati, the daughter of King Ugrasena of Girinagara (Jūnāgarh). While going to Junāgarh in marriage procession with many a king and prince, Ariṣṭa-Nemi saw and took pity on the animals captured for preparing meat dishes and made them free. He set out to Mt. Girnār, having become disgusted with the ways of world.
14	Śrāvaṇa Śukla Ṣaṣṭi.	Prince Ariṣṭa-Nemi renounced the world and became a Digambara monk. When his consort Rājamati came to know of his renun-

No.	Period & Date.	Events.
14	Śrāvaṇa śukla Ṣaṣṭi.—*Contd.*	ciation, she came to Mt. Girnār and entreated him to take pity on her ; but as she did not succeed in her pursuading efforts, she herself took to asceticism and gained heaven.
	Do. Navami.	Having observed a vow for two days after his renunciation, Ariṣṭa-Nemi took his first meal as a monk at the hands of king Varadatta, who was a chief of Dvārāvati.
16	Aśvina Kṛaṣna Pratipadā.	Tirthankara Ariṣṭa-Nemi became an omniscient teacher and began to preach at large.
17	... ..	The city of Dwārikā got burnt with its inhabitants in a conflagration, which was the pitiable result of the rage of Muni Dvīyapāyana.
18	...	Kraṣṇa and Balrāma left for Madurā ; but while encamping on their way at Kośāmba forest, Kraṣṇa was shot dead by the arrow of Jaratakumāra quite incidently. Balarāma, who was away in search of water at the time, got alarmed and wept on finding his brother dead. In the meanwhile Jaratkumār hastened to Madura, where were staying the Pāṇḍava brothers and imparted to them the fatal news of the death of Kṛaṣṇa. The Panḍavas came atonce near Baladeva and consoled him. Then they cremated the body of Kraṣṇa on the summit of the Mt. Śraṃgi and Baladeva taking the vow of *Śramanahood* sat there to perform austerities. Kraṣṇa became a future Tirthankara of the Jainas.

No.	Period & Date	Events.
19	.....	The Pāṇḍavas retired to Pallava country, where Tīrthankara Ariṣṭa Nemi was on a preaching tour and took to asceticism near him.
20	...	Tīrthankara Ariṣṭa-Nemi came to Mt. Girnār with his saṃgha and delivered his last discourse from there.
21	Aśāḍa Śukla Sapatamī.	Tīrthankara Ariṣṭa-Nemi attained Nirvāṇa from Mt. Girnār with king Samudravijaya and others. Indra performed the *Nirvāṇa-Kalyāṇaka* ceremony and marked the spot from where Ariṣṭa-Nemi was liberated with sacred signs and monuments.
22	.....	Gaṇadhara Varadatta succeeded to look after and to take care of the Jaina Saṁgha.
23	.....	Yudhiṣṭara, Bhīma and Arjun gained liberation from Mt. Śatrunjaya. [Refs. Harivaṃśapurāṇa, Sargas 43—63 and Uttarapurāṇa, Parva 71].
24	.....	Brahmadatta. the last *Chakrāvartī* monarch flourished at Kāmpilya. [Ref. Uttarapurāṇa, 72/287]'
25	.....	Nāgakumāra, the *Kamadeva* appeared at Kanakapura in Magadha. [Ref. Nāgakumāracarit, Kāranja series].
26	.....	Mahāmaṇḍalika King Ānandakumāra performed a special Pūjā of Śrī Jinendra and got built the *Vimānas* of *Sūrya*, in which he installed the images of Jina and worshipped them. He was wrongly imitated by the people, who simply adored the sun and got its images made for their worship. [Ref. Pārśvanāthacarit.]

To be Continued.

Review.

Smādhiśataka of Pūjyapāda with the Sanskrit Commentary of Prabhācandra, edited with Marāṭhī translation by Raoji Nemachanda Shaha Esq., Pleader, Sholapur, Published by Śāntisāgara Digambara Jaina Śāsanamālā, Malagaon, Crown pp. 9—15—10—22—4—126, 2nd Ed 1938.

This is the 2nd edition of Samādhiśataka with Marāṭhī translation, the first ed. of which was brought forth by Mr. R. N. Shaha in 1911. Samādhiśataka is a valuable work on Jaina Adhyātma-Vāda, and it is composed by an authoritative Ācārya like Pūjyapāda. In this edition the text is accompanied by the Sanskrit commentary of Prabhācandra and the Marāṭhī rendering of the editor.

We do not understand why Mr. Shaha has retained the Introduction of the first edition, when it deserved to be cancelled in the light of the next two Introductions. On p. 6 he mentions a book called 'Digambara Darśana' which is plainly a mistake for 'Darśanasāra'; and we do not know on what authority Pañcādhyāyī (p. 7) is attributed to the authorship of Pūjyapāda.

Next follows a short but critical Introduction by that eminent orientalist Dr. P. L. Vaidya, the first volume of whose monumental edition of Puṣpadanta's Mahāpurāṇa is recently published in the Māṇikachandra D. Jaina Granthamālā. He takes a review of all that is written about Pūjyapāda and adds relevent remarks on the life, date and works of Pūjyapāda Dr. Vaidya is inclined to accept the view that Pūjyapāda flourished in the 5th century A. D. He discusses the two titles 'Samadhiśataka' and 'Samādhitantra,' and comes to the conclusion that the former should be the genuine name of the work Turning to the text-problem, he holds that verses Nos. 2, 3, 103 and 104 are possibly later interpolations, and even No. 105 may be stamped as a Prakṣipta verse. After giving a short outline of the contents, he puts forth a valuable comparative study of Samādhiśataka and Gauḍapādiya-kārikā Dr. Vaidya remarks that Pūjyapāda's discussion about Ātmasvarūpa is extremely beautiful, rarely seen elsewhere.

Then follows another Introduction by Mr. Shaha. Besides the verses of different authors about Pūjyapāda, it does not add anything new to what has already preceded. Some of the arguments are sentimentally brandished without adding any new facts. After that comes a biographical sketch of Mr. Shaha in Marāṭhī extending over 22 pages.

Mr. Shaha, it appears, has taken much trouble to bring out this book. Remembering the greatness of Samādhiśataka, we must say that printing, typography etc. have given a slip-shod appearance to this volume. However, the book will be welcomed by all Marāṭhī readers. We expect that Mr. Shaha should give us some more of his Marāṭhī renderings of standard Sanskrit works.

A. N. UPADHYE.

"INDIAN CULTURE."

(JOURNAL OF THE INDIAN RESEARCH INSTITUTE)

A high class research quarterly in English on Indology, conducted. under the distinguished editorship of Drs. D. R. Bhandirkar, B. M. Barua, B. C. Law, with a strong Advisory Committee, consisting of such eminent orientalists as Sir, Brajendra Nath Seal, Sir D. B Jayatilaka, Drs. S. N. Das Gupta, Laksman Sarup, Radhakumud Mukerjee P. K. Acharya, MMs. Kuppuswami Sastri, Gananath Sen, and others, each of whom represents a particular section of Indian Culture.

It deals with all the branches of Indian Culture-Vedas, Philosophy, Buddhism, Jainism, Zoroastrianism, Ancient Indian Politics and Sociology, Indian Positive Sciences, History, Archaeology, Dravidian Culture, etc. Among the contributors are the best orientalists of India and foreign lands including Drs. Sir B. N. Seal, Sir, A. B. Keith, Drs. Winternitz, Otto Schrader, Otto Stein, R. C. Mazumdar, P. K Acharya, etc.

Indispensable for every lover of Indology. A most attractive get up and printing. Each issue contains about 200 pages. Price very moderately fixed Rs. 6 or Sh. 10 per annum (including postage)

Among the other publications of the Institute, which aims at wide propagation of Ancient Indian Culture and Wisdom by publication of the best products of Ancient Literature under various Series-Vedic, Buddhistic, Jain, etc., are :—

(1) An encyclopaedic edition of the Rigveda with texts, commentaries and translations with elaborate research note in English, Bengali and Hindi.

(2) Gaya and Buddha Gaya, 2 Vols. Rs. 12.

(3) Barhut, 3 Vols. Rs. 18.

(4) Upavana Vinoda (a Sanskrit treatise on Arbori Horticulture), etc., etc., Rs. 2-8.

(5) Vangiya Mahakosa (each part), As. 8.

(6) Books of the Buddhistic Series.

For further particulars, please apply to :

The Hony. General Secretary,
The Indian Research Institute.
170 Maniktala Street.
Calcutta, (India).

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*, in June, September, December and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including 'Jain Siddhanta Bhaskara') and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0.

3. Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jaina Siddhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., typewritten, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

DR. B. A SALETORE M. A., Ph. D.
PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २।)
(मू० कम कर दिया गया है)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह ... ... ।।)

(४) जैन-सिद्धान्त-भास्कर, १म भाग की १म, २य तथा ३य किरणें ... २।)

(५) " २य भाग ... ४)

(६) " ३य " ... ४)

(७) " ४र्थ " ... ४)

(८) " ५म " ... ४)

(९) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ... ।।)
(यह अर्ध मूल्य है)

(१०) भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ।।।)

प्राप्ति-स्थान—
जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ६ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. V. NO. II

Edited by

Dr. B. A. Saletore. M. A., Ph. D.
Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A.
B. Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

SEPTEMBER, 1939.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक-व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'भास्कर' आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ६ भाद्रपद किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये. एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद. एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९६

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

पृष्ठ

१ भारतवर्ष के पतन का मुख्य कारण—[श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, एम०आर०ए०एस ७१

२ क्या वादीभसिंह अकलंकदेव के समकालीन हैं ?—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ७८

३ अपभ्रंश साहित्य और जैनी !—['साहित्य-भ्रमर' ८८

४ आचार्य नेमिचन्द्र और ज्योतिष-शास्त्र—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ ९३

५ दाक्षिणात्य जैनधर्म—[श्रीयुत स्व० आर० ताताचार्य, एम०ए०, एल० टी० ... १०२

६ कोपण—कोप्पल—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... ११०

७ आचार्य वादिराज और उनकी रचनाएँ—[श्रीयुत पं० परमानन्द जैन, शास्त्री ... ११३

८ विविध विषय—(१) नयविवरण के सम्बन्ध में—[श्रीयुत कैलाशचन्द्र शास्त्री ... १२३

(२) हिन्दी के दो हरिवंश पुराण [श्रीयुत कामता प्रसाद जैन ... १२४

(३) शहर मुड़ासा कहाँ था ? [श्रीयुत कामता प्रसाद जैन १२९

(४) श्रीमाल नगर का एक शिलालेख—[श्रीयुत कामता प्रसाद जैन १३०

(५) "जैन एण्टीक्वेरी" का सार (भा० ४, कि० ४) ,, ,, ... १३२

(६) अपनी बात—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... १३३

९ साहित्य-समालोचना—(१) दादा श्रीजिनकुशल सूरि—[पं० के० भुजबली शास्त्री १३४

(२) जैनइतिहास (३ रा भाग)—[पं० के० भुजबली शास्त्री १३४

(३) रत्नकरण्ड-श्रावकाचार [श्रीयुत महेन्द्रकुमार जैन, काव्यतीर्थ १३५

ग्रन्थमाला-विभाग—

१ तिलोयपण्णत्ती [श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ८५ से ९६ तक

२ प्रशस्ति-संग्रह [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... १४५ से १५२ तक

श्रीजिनाय नमः

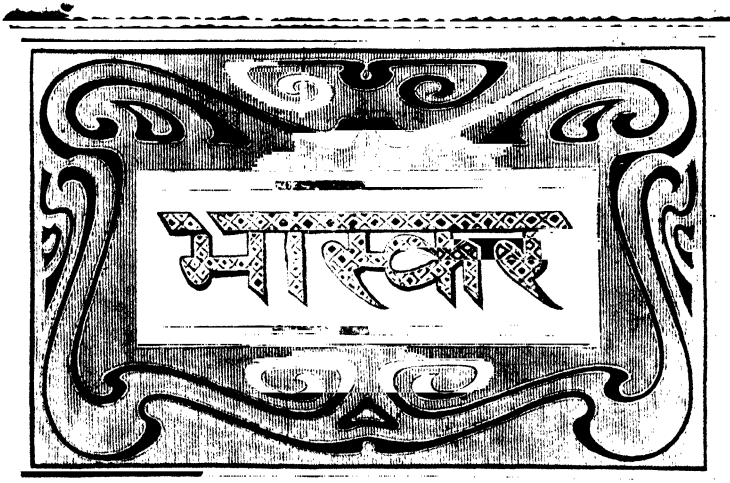

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ६ | सितम्बर १९३९। भाद्रपद वीर नि० सं० २४६५ | किरण २

भारतवर्ष के पतन का मुख्य कारण

[लेखक—श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, एम०आर०ए० एस०]

भारतवर्ष भगवान महावीर के समय में एक स्वाधीन देश था। स्वतंत्र-समुन्नत वातावरण में पाले-पोसे गये भारतीय लोग उस समय पूर्ण स्वाभिमानी और समृद्धिशाली थे। भारतीय-उत्कर्ष का सूर्य तब अपनी परमोत्कृष्ट-शीर्ष-सीमा पर था। उस समय भारत का ज्ञान भारत का सदाचार, भारत का वैभव, भारत का शौर्य, भारत का कला-कौशल और भारत का व्यापार—सब कुछ दूर दूर देशों तक प्रसिद्ध था। तत्कालीन यूनानी लेखकों ने इन सब बातों के लिए भारत की खूब ही प्रशंसा लिखी है और यह भी लिखा है कि भारत के लोह-कपाट तबतक किसी भी विदेशी आक्रमणकारी ने नहीं खोल पाये थे*—भारतीय अजेय थे, उनकी शक्ति अपार थी! किन्तु किसी के दिन सदा एक से नहीं रहते—भारत के भाग्य को घुन लग

* McCrindle, Ancient India, p. 33.

गया—उसका पतन हुआ और यहां तक हुआ कि आज भारतीय अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व का भी मूल्य नहीं जानते—वह अपनी सभ्यता और अपनी संस्कृति को भी भूल रहे हैं। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति को आदर्श मानकर अपने जीवन को नये 'सांचे' में ढालने का प्रयत्न करते हुए अपने पूर्वजों और अपने प्राचीन सिद्धान्तों की भर्त्सना कर रहे हैं। यह समय का फेर है। जिन भगवान् महावीर के महान् उपदेश को पाकर भारत का सांस्कृतिक और एक हद तक राष्ट्रीय एकीकरण हुआ था, उन्हीं भारतोद्धारक ही नहीं लोकोद्धारक महापुरुष के अहिंसा-सिद्धान्त को भारत के पतन का कारण मानने की ग़लती भी आज के लोग कर रहे हैं। वह कहते हैं कि जैनियों और बौद्धों की अहिंसा ने भारतीयों को कायर और शक्तिहीन बना दिया, जिसके कारण भारत का पतन हुआ! परन्तु यह कथन एक कल्पनामात्र है—वस्तुस्थिति इस कथन के नितान्त विपरीत है। जैनियों की अहिंसा मनुष्य को मनुष्य तो बनाती ही है; परन्तु यदि उसका पूर्णतः पालन किया जाय तो वह मनुष्य को देवता बना देती है। मन-वचन-कायिक वृत्तियों के अनुरूप अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन जैनशास्त्रों में श्लाघनीय है, जिसका अध्ययन म० गांधी ने जैनकवि रायचंद्र जी की निकटता में किया था। म० गांधी ने राजनैतिक प्रगति का अजेय अस्त्र अहिंसा सिद्धान्त ही स्वीकारा है, जिसका चमत्कार आज किसी से छिपा नहीं है। परंतु जब लोग जैनियों के अहिंसा-सिद्धांत पर लाञ्छन लगाते हैं तो संक्षेप में हमें निम्न पंक्तियों में यह देख लेना अभीष्ट है कि आखिर जैन अहिंसा को माननेवाले क्या कायर हुए थे और क्या उनके कारण भारत का पतन हुआ था!

अहिंसा का विवेचन जैनशास्त्रों में है—हम उसे यहां पर नहीं दुहरायेंगे। हां, इतना लिख देना हम ज़रूरी समझते हैं कि जैन अहिंसा के मूलतः दो रूप हैं और इसीलिये उसके उपासकों की भी दो श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी के लोग जो पूर्णरूप में मनसा वाचा कर्मणा अहिंसा-व्रत का पालन करते हैं "अहिंसा-महाव्रती" कहलाते हैं और वे लोकोद्धारक—प्राणिमात्र का हित चाहनेवाले साधु महात्मा होते हैं, जिनके पास तिल-तुष-मात्र भी परिग्रह नहीं होता और दूसरी श्रेणी के अहिंसोपासक गृहस्थ लोग होते हैं, जो आंशिक रूप में अहिंसा-धर्म को पालते हैं। ऐसे लोग जीवन-निर्वाह की सुविधाओं का ध्यान रखकर यथाशक्ति अहिंसा-धर्म का पालन करते हैं—वह जानबूझ कर—संकल्प करके किसी जीव को नहीं मारते। वैसे गृहस्थी के धंधे में, उद्योग-व्यापार में, और जीवन-रक्षा में जो हिंसा अनिवार्य है वह उनके लिये क्षम्य है। यद्यपि इस विधान का यह अर्थ नहीं है कि एक गृहस्थ सांसारिक व्यवहार (जीवन-निर्वाह) में मनमानी हिंसा करे, परन्तु साथ ही इसका यह अर्थ भी नहीं है कि हिंसा के डर से गृहस्थ कायर और अपमानित जीवन व्यतीत करने के लिये राजी हो जाये! जैन शास्त्रों और शिलालेखों के उल्लेखों से पता चलता है कि संघ-समुदाय के जीवन

की संकट में पड़ा हुआ देख कर स्वयं उच्च श्रेणी के अहिंसा-महाव्रती पूज्य साधु पुरुषों तक ने हाथों में हथियार लेकर अत्याचारी आततायी का मुकाबिला किया था। "भगवती आराधनासार" नामक प्राचीन जैनग्रन्थ में लिखा है :—

"अहिमा (सा) रएण णिवदिम्मि मारिदे गहिदु समण लिंगेण।
उड्डाहपसमणत्थं सत्थग्गहणं अकासि गणी ॥६१॥"

"अर्थ—अहिमारक नामक चोर मुनि का लिंग धारण करि राजा कूं मारते संते संघ का स्वामी गणी जो आचार्य सो समस्त संघ का उपद्रव दूरि करने के अर्थि आप शस्त्रग्रहण करत भया।" (पृष्ठ ३५३)

इसी प्रकार शिलालेखों से भी इस व्याख्या का समर्थन होता है। गंगराजा बटुग के राज्यकाल में बल्लप-नामक नायक ने केल्लनगेरे-नामक स्थान पर आक्रमण किया था। उस समय वहाँ कुन्दकुन्दान्वयी मुनि गुणसागर के शिष्य मौनी भट्टारक विराजमान थे। केल्लनगेरे के भव्यजनों पर हुए उस अत्याचार को वह सहन नहीं कर सके—उन्होंने आक्रमण का विरोध किया और वीरगति को प्राप्त हुए। सन ९५२ ई० के बस्तिहल्लि से प्राप्त शिलालेख में यह वीर-वार्ता अङ्कित है[1]। इसी तरह सौदत्ति के रट्ट (राठौर) राजा कार्तवीर्य और उनके पुत्र राजा लक्ष्मीदेव के कन्नड़ भाषामय शिलालेख द्रष्टव्य हैं। उनसे पता चलता है कि इन राजाओं के धर्मगुरु (Spiritual Preceptor) मुनिचंद्र नामक जैनाचार्य थे जिन्होंने रट्टराज्य की खूब वृद्धि की थी और वही रट्टराज्य के दृढ़ संरक्षक थे. (Firm sustainer of the kingdom of the Rattas) मुनिजनों में वह साक्षात् चन्द्र थे, जिसे देखकर भव्य-कमल प्रमुदित होते थे। अपने आध्यात्मिक ज्ञान के कारण वह राजा कार्तवीर्य के धर्म-गुरु थे और चूंकि वह शस्त्रशास्त्र के पारङ्गत विद्वान थे. इसलिये वह लक्ष्मीदेव के शिक्षा-गुरु थे। अनेक राजाओं के शत्रुओं को परास्त करके श्रीमुनिचन्द्र ने उन राजाओं का अभिषेक किया था (Through subduing many kingdoms he became the anointer of other kings)। निस्सन्देह मुनिचन्द्र एक धर्म-गुरु और साथ ही धर्म-पथ-प्रदर्शक (spiritual guide) थे। उन्होंने लक्ष्मीदेव के शासनकाल में समस्त भूमंडल को धर्म-रसिक बना दिया था और अपने भुजविक्रम से राजा के शत्रुओं को खदेड़ कर भगा दिया था। ऐसे वह मुनिचन्द्र जी थे।[2] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि मनसा वाचा कर्मणा अहिंसा-महाव्रत को पालनेवाले जैनी साधु पुरुष भी वक्त पड़ने पर—अत्याचार का प्रतीकार और संघ का संरक्षण करने एवं धर्मसाम्राज्य स्थापित करने के लिये किसी से पीछे नहीं रहे

१ इपीग्रेफिया कर्नाटिका, भाग ५, (B. L. 123) पृष्ठ ८०।

२ Report on the Antiquities of Kathiawad & Kachh (1876), pp 224-226

थे ! फिर भला सोचिये कि आंशिक रूप में अहिंसाव्रत को पालनेवाले गृहस्थ के कर्तव्यमार्ग में अहिंसा-सिद्धांत कैसे बाधक हो सकता है ? हाँ, यह अवश्य है कि वह उसे एक "पशु" न रख कर सात्विक मनुष्य बना देता है। भगवान महावीर के पश्चात् जबतक भारतीय लोक-समाज में अहिंसाधर्म प्रचलित रहा तबतक यहाँ विदेशी लोगों की दाल नहीं गली और देश भी खूब समुन्नत रहा। नन्द-सम्राटों में नन्दवर्द्धन एक महान विजेता थे—उन्होंने भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से ईरानियों को भगा दिया था[1]। विद्वानों की मान्यता है कि सम्राट् नन्दवर्द्धन जैनधर्मानुयायी थे।[2] नन्दों के बाद मौर्यों ने भारत के शासन-सूत्र को संभाला था, जिनमें सम्राट् चन्द्रगुप्त का नाम भुवन-विख्यात है। इस बाँके वीर ने भारत का राष्ट्रीय एकीकरण करके उसे खूब समृद्धिशाली बनाया था। चन्द्रगुप्त के रामराज्य की यूनानियों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और यह भी लिखा है कि उन्होंने यूनानी बादशाह सिल्यूकस नाइकेटर को परास्त करके पश्चिमोत्तर भारत से यूनानी राज्य का अन्त कर दिया था। प्राचीन शास्त्रों और शिलालेखों से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य जैनाचार्य भद्रबाहु स्वामी का शिष्य था और अन्त में उन्हीं के निकट जैन मुनि हो गया था। तीसरी बार जब फिर भारत पर विदेशियों का आक्रमण हुआ और यूनानी बादशाह दमत्रय (Demeterius) मथुरा तक घुस आया तो उस समय उससे मोरचा लेने के लिये—भारत-दिग्विजय कर के उसको स्वाधीन बनाने के लिये जैनधर्म के अनन्य संरक्षक कलिङ्ग-सम्राट् खारवेल कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण हुये थे। खारवेल के शौर्य की वार्ता सुनकर ही दमत्रय मथुरा छोड़ कर भाग गया था[3]। सारांश यह कि प्राचीनकाल में जिस समय भारतीय नरेश जैन अहिंसा के उपासक थे, उस समय देश में इतना काफी ओज, स्वाभिमान और शौर्य विद्यमान था कि यूनानियों ने लगातार आक्रमण करते रहने पर भी अपना झंडा भारत में नहीं गाड़ पाया था।

उपरांतकाल में भी भारतवर्ष के जिन आदर्श नरेशों की गणना भुवन-विख्यात सम्राटों में है उनमें से प्रमुख शासकगण जैन अथवा बौद्ध धर्मों के अनुयायी थे। अरब के लेखकों ने राठौर राजा अमोघवर्ष बल्लभराज (बलहरा) को तत्कालीन संसार के लोकप्रसिद्ध राजाओं में गिनकर उनकी एक आदर्श-शासक-रूप में मुक्तकंठ से प्रशंसा लिखी है।[4] यह अमोघवर्ष जैनाचार्य जिनसेन जी के शिष्य थे और अन्त में स्वयं जैनमुनि हो गये थे।[5] इसी

१ Journal of the Bihar & Orissa Res: Soc: I pp. 79—81 & Vol. XIII p. 245.

२ Early History of India, p. 154 & संक्षिप्त जैन इतिहास, भाग २ खण्ड १ पृ० २१८—२३८।

३ Journal of the Bihar & Orissa Res: Soc:, Vol XIII, pp. 228—244.

४ Ancient Accts of India & China, p. 15.

५ Mediaeval Jainism, p. 38.

तरह सम्राट् कुमारपाल पश्चिम भारत में[1] और मुसलमानों के साथ वीरतापूर्वक लड़नेवाला वीर सुहृद्ध्वज पूर्वीय भारत में प्रसिद्ध हुए हैं[2] और यह दोनों ही जैनधर्म के उपासक थे।

किन्तु जैन अहिंसा का सब से अनूठा चमत्कार हमें दक्षिण भारत में देखने को मिलता है। यह मानी हुई बात है कि दक्षिण भारत को यवनों ने सब से पीछे फतह कर पाया था। उस पर भी देश का शासनाधिकार पाकर भी मुसलमान हिन्दुओं के धर्म और संस्कारों को बदलने में उतने सफल नहीं हुए थे जितने कि वह उत्तर भारत में हुए थे। दक्षिण भारत में तो उनके आचार-विचारों और इमारतों पर हिंदुओं का प्रभाव पड़ा था। इसका एक मुख्य कारण दक्षिण भारत में जैनधर्म का बहु प्रसार था—एक दीर्घकाल तक दक्षिण भारत के राजा और प्रजा, दोनों ही जैनधर्म की छत्रछाया में रहे थे। जैनाचार्य नगरों और ग्रामों में घूम-घूम कर जनता को अपने मत पर दृढ़ रखते थे। यही नहीं, वह निर्भीकतापूर्वक मुसलमान बादशाहों के राजदरबारों में पहुंचते थे और उन्हें धर्मोपदेश देते थे।[3] यही कारण है कि दक्षिण भारत में जैन धर्म को माननेवाले इतने अधिक वीर योद्धा, सेनापति और नृपगण हुए हैं कि इस छोटे-से लेख में उनके नामों की सूची लिखना भी कठिन है। बालक-सेनापति विष्णु और वीराङ्गना माचिकब्बे जैसे युवक वीर और युवती वीराङ्गनायें भी अनेक हुई हैं। उनके जीवन जैन अहिंसा का महत्त्व स्थापित करने के लिये चमकते हुए तारे हैं। उनके चरित्रों को पढ़ कर किसकी सामर्थ्य है कि जो जैन अहिंसा पर कायरता सिरजने का झूठा लाञ्छन लगा सके? केवल आवश्यकता है उन जीवन-ज्योति और जागृति को सिरजनेवाले स्फूर्तिदायक चरित्रों को प्रकाश में लाने की! अहिंसा के उपासक उन वीरवरों की गाथाएँ हमारे जीवन को समुज्ज्वल बनाये बिना रुक नहीं सकेंगी और उनसे उन लोगों की हृदय-कालिमा भी धुल जायगी जो अहिंसा में वीरता का आभाव देखते हैं। सच्ची वीरता तो जैन अहिंसा में ही गर्भित है!

अब प्रश्न यह शेष रहता है कि आखिर भारत का पतन किस कारण से हुआ? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय इतिहास के अनुशीलन से ठीक-ठीक मिल सकता है। वस्तुतः महाभारतकाल से भारत में पारस्परिक अहम्मन्यता, अनैक्य और अविश्वास की ऐसी जड़ पड़ी थी कि चन्द्रगुप्त आदि नरपुंगवों के लाख प्रयत्न करने पर भी उसका अन्त न हो सका। पंचाब में सिकन्दर किन्हीं भारतीय नरेशों की अहम्मन्यता और अविश्वास के कारण ही घुसने में सफल हुआ था। यदि अश्वक, मल्लव, अक्षयद्रक और शिबि क्षत्रियों की भांति

---

१ संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २, खंड २, पृ० १२९—१३३।

२ सं० जै० इ०, भा० २, खंड २, पृ० १४६।

३ जैनसिद्धान्त-भास्कर, भा० ५, पृ० १३५—१४५।

पौरव आदि राजाओं ने देशभक्ति का परिचय दिया होता तो सिकन्दर पंजाब में आ ही नहीं पाता ! सिकन्दर की मुठभेड़ सब से पहले अश्वक क्षत्रियों से हुई थी—उन्होंने एक वीर के समान उस विश्वविजेता से मोरचा लिया था; परन्तु वह थोड़े से वीर कब तक उसके सामने टिके रहते ? पंजाब के लोगों ने उनकी विपत्ति सुनी और झटपट एक हजार चुने हुये योद्धा उनकी सहायता के लिये भेजे; परंतु वे सब के सब यूनानी विजेता के हाथ से वीरगति को प्राप्त हुए।[1] यूनानी सेना के संगठित और व्यवस्थित आक्रमण के सामने वह अधिक न टिक सके। उस पर यदि तक्षशिला के राजा ने उनका साथ दिया होता तो शायद इस संग्राम का यह रूप न होता; परंतु वह अपने स्वार्थ में बह गया और सिकन्दर के पास पहले से ही संधि की सूचना भेज बैठा था। जब सिकन्दर आगे बढ़ा तो तक्षशिला के राजा ने उसका स्वागत किया। स्वयं एक हिन्दू नरेश हिन्दुस्तान की अजेयता को नष्ट करने पर तुल पड़ा।[2] बताइये इसमें दोष किसका था ? तक्षशिला का नरेश जैन अहिंसा का उपासक नहीं था—वह अपने स्वार्थ में अंधा हो रहा था और उसे देशद्रोही बनते विलम्ब न लगा ! सिकन्दर के साथ हो कर वह अन्य हिंदू राजाओं के विरुद्ध लड़ा। पुष्कलावती का दुर्ग भी दो भारतीय सरदारों के विश्वासघात के परिणामस्वरूप सिकन्दर के हाथ लगा।[3] ओरन (Aornos) के अजेय दुर्ग का मार्ग भी एक बुड्ढे हिन्दू ने ही सिकन्दर को बताया था।[4] भारत से निर्वासित किया गया शशिगुप्त नामक एक क्षत्रिय सिकन्दर के साथ था। सिकन्दर को उससे भी पर्याप्त सहायता मिली थी। सिकन्दर ने ओरन दुर्ग का शासकपद शशिगुप्त को प्रदान किया था।[5] उपरान्त झेलम प्रदेश का शासक पुरुराज (Poros) वीरतापूर्वक यूनानियों से लड़ा था, परंतु स्वयं उसका ही भतीजा और अन्य सम्बन्धी सिकन्दर से जा मिले थे। आखिर उसने भी सिकन्दर के आगे घुटने टेक दिये। इतना ही नहीं बल्कि यूनानियों को अन्य हिंदू राजाओं को जीतने में उसने सहायता दी।[6] अभिसार क्षत्रियों (Abisares) ने भी देश के साथ यही विश्वासघात किया।[7] इस तरह स्वयं हिंदुओं की सहायता से यूनानी पंजाब में अधिकारी बन बैठे थे; परंतु हम पहले लिख चुके हैं कि जैनवीर चन्द्रगुप्त ने उनको भारत से मार भगाया था।

१ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, भा० १, पृ० ३२३।
२ पूर्व० पृष्ठ ३३१ व ३५०।
३ मैकक्रिंडल, ऐंशियेन्ट इंडिया, पृ० ७२।
४ पूर्व पृ० १६७।
५ पूर्व पृ० ७६।
६ पूर्व पृ० ११४।
७ पूर्व पृ० ११२।

यूनानियों के बाद भारत पर शकों और हूणों के आक्रमण हुए थे और अभागे भारत को इस मरतबा भी अपने ही विश्वासघाती कपूतों के हाथों पराधीनता के बन्धन में पड़ना पड़ा था। निस्सन्देह शकों और हूणों के समय का व्यवस्थित और प्रामाणिक वर्णन अनुपलब्ध है, परन्तु यह स्पष्ट है कि शक राजा अन्तिक्ष (Antiochos III) का एक सौभाग्यसेन नामक भारतीय सरदार ही उसका सहायक हुआ था। और जब हूणों ने आक्रमण किया तब उत्तरभारत में भानुगुप्त नामक राजा राज्य कर रहा था। उसके दो प्रांतीय शासक धन्यविष्णु और मातृविष्णु भाई-भाई थे। ज्यों ही उन्होंने हूणों को आया देखा वह झट से हूणों में जा मिले, जिन्होंने उनको राजा बना दिया। उनका एक भाई गोपराज अवश्य हूणों से लड़ा, परंतु यह व्यर्थ था। हूण तोरमाण दो भारतीयों के विश्वासघात की बदौलत भारत का शासनाधिकारी हुआ।१ यह उस समय की बात है जब भारत में गुप्तवंशीय सम्राटों द्वारा वैदिक धर्म काफी उन्नत हो चुका था और जैनधर्म जहां-तहां ग्रामीण जनता और वैश्यों में देखने को मिल रहा था। अब ज़रा सोचिये पाठक कि भारत के पतन का मूल कारण क्या था ?

उपरान्तकाल में तो राष्ट्रहित का बलिदान अपने निजी स्वार्थ के लिये भारतीयों ने खूब ही किया ! महमूद ग़ज़नी के आक्रमण के साथ हिंदुओं की दुर्दशा चरमसीमा को पहुंच गई। मुलतान में राजा शंकरपाल को महमूद ने इस्लाममत में दीक्षित करके उसे वहाँ का राजा बनाया। इसी तरह बरन का राजा अपने दो हजार साथियों के साथ मुसलमान हुआ। और मज़ा यह कि कन्नौज के प्रतिहार राजा राजपाल ने भी चुपचाप महमूद का अनुशासन स्वीकार कर लिया। राष्ट्र के मान-अपमान का ध्यान इनको जरा भी न हुआ—यह सब अपने निजी स्वार्थ में बह गये ! उधर लाहौर के राजा आनन्दपाल की कृतघ्नता का क्या कहना ! आनन्दपाल के पिता भारत की स्वाधीनता के लिये मर मिटे थे—उन्होंने अपने अमूल्य प्राण भारत पर न्योछावर कर दिये थे। स्वयं आनन्दपाल ने पहले महमूद के छक्के छुड़ा दिये थे। किन्तु थानेश्वर के आक्रमण से उसका दिल बदल गया—उसने भी अपना उल्लू सीधा किया और महमूद को भारत की विजय करने में हरतरह की मदद पहुंचाई !२

इस प्रकार विज्ञपाठक समझ सकते हैं कि भारत के पतन का कारण जैनधर्म नहीं है; बल्कि उसके पतन का कारण स्वयं भारत के कुछ कुपूतों की अहम्मन्यता और स्वार्थपरता है। यदि वे लोग विदेशियों का साथ न देते तो कोई कारण नहीं था कि भारत अपना राज्य खो बैठता ! आज फिर उसी अनैक्य और अविश्वास को प्रोत्साहन देना अहितकर है।

१ इण्डियन हिस्टॉरीकल क्वार्टर्ली, भाग १३, पृ० ६३६।

२ पूर्व० भाग १३, पृ० ६३८—६३९।

प्रस्तुत लेख का अंतिम भाग लिखने में इ० हि० क्वार्टर्ली (भा० १३) में प्रकाशित श्रीकृष्णकुमार जी के लेख से सधन्यवाद साहाय्य ग्रहण किया गया है। —का० प्र०

क्या वादीभसिंह अकलंकदेव के समकालीन हैं ?

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री विद्याभूषण]

गत वर्ष 'माणिकचन्द्र दिगम्बर जैनग्रन्थमाला' बंबई की ओर से प्रकाशित आचार्य प्रभाचन्द्र के 'न्यायकुमुदचन्द्र' की पाण्डित्य-पूर्ण प्रस्तावना में मित्रवर श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने कतिपय अन्य विद्वानों के साथ-साथ वादीभसिंह को भी अकलंकदेव के समकालीन सिद्ध किया है×। वास्तव में वादीभसिंह अकलंकदेव के समकालीन हैं या नहीं इस बात पर प्रकाश डालना ही प्रस्तुत लेख का ध्येय है। यद्यपि 'भास्कर' भाग २, किरण २ में "विदुषी पंपा देवी" शीर्षक लेख में इन्हीं वादीभसिंह के समय पर कुछ प्रकाश मैं डाल चुका हूं। बल्कि इसमें जो अस्पष्टता रह गई थी उसे 'भास्कर' भाग २, किरण ४ में मुद्रित "गत प्रथम एवं द्वितीय किरणों में प्रकाशित अपने लेखों के विषय में कुछ विशेष वक्तव्य" शीर्षक दूसरे एक लघु लेख में मैंने खुलासा कर दिया था। फिर भी इस लेख में मैं उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रस्तुत विषय की कुछ विशेष अभिव्यक्ति करना चाहता हूं।

सर्व-प्रथम मैं मित्रवर शास्त्री जी के द्वारा उक्त प्रस्तावना में वादीभसिंह को अकलंकदेव के समकालीन सिद्ध करने के लिये दी गयी दलीलों पर नीचे क्रमशः विचार करूंगा।

(१) "श्रीपुष्पषेणमुनिरेव पदं महिम्नो देवः स यस्य समभूत(त) स महान सधर्मा।
श्रीविभ्रमस्य भवनं ननु पद्ममेव पुष्पेषु मित्रमिह यस्य महस्रधामा॥"

"इस श्लोक में पुष्पषेण मुनि को अकलंक का सधर्मा अर्थात गुरुभाई बतलाया है। संभवतः यह पुष्पषेण मुनि वही हैं जिन्हें गद्यचिन्तामणि के प्रारंभ में वादीभसिंह ने अपना गुरु बतलाया है।"

उल्लिखित श्रवणबेल्गोल के मल्लिषेण-प्रशस्ति-गत श्लोक के आधार पर शास्त्री जी ने पुष्पषेण मुनि को अकलंकदेव का समकालीन मानकर इन्हीं को ऊपर वादीभसिंह का गुरु अनुमान किया है। किन्तु इस लेख में आगे दिये जाने वाले शिलालेखीय पुष्ट प्रमाणों से वादीभसिंह अकलंकदेव से कई शताब्दियों के बाद के सिद्ध होते हैं। अतः मल्लिषेण-प्रशस्ति में प्रतिपादित अकलंक का सहाध्यायी पुष्पषेण मुनि वादीभसिंह के गुरु कदापि नहीं हो सकते। प्रशस्ति-गत पुष्पषेण मुनि गद्यचिन्तामणि में वादीभसिंह के द्वारा गुरुरूप से स्मृत पुष्पषेण मुनि से कोई अन्य ही पुष्पषेण होना चाहिये।

× देखें—प्रस्तावना पृष्ठ १११ में 'समकालीन विद्वान' शीर्षक।

एक नाम के अनेक व्यक्तियों का होना जैनसमाज में कोई अनोखी बात नहीं है। बल्कि स्मारक-रूप में अपने पूर्वजों का ही नाम रखना समुचित समझा जाता है। साहित्यिक पर्यवेक्षण से ज्ञात होता है कि इस नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं। संभव है कि अकलंक के सधर्मा पुष्पषेण मुनि श्रवणबेल्गोल के लेख नं० २१२ में प्रतिपादित अ० शक सं० ६२२ के नविलूर संघ के आचार्य पुष्पसेन हों।

(२) "वादीभसिंह की गद्य-चिन्तामणि में बाण की कादम्बरी की झलक मारती है अतः वादीभसिंह को राजा हर्ष (६१०—६५०*) के समकालीन बाण कवि के पश्चात् का विद्वान मानना होगा। यह समय अकलंकदेव के निर्द्धारित समय के सर्वथा अनुकूल बैठता है, क्योंकि अकलंक के समकालीन पुष्पषेण का समय ई० ६२० से ६८० तक मानने पर उनके शिष्य वादीभसिंह को ६५० के बाद ही रखना होगा।"

वादीभसिंह को अकलंकदेव के समकालीन सिद्ध करने के लिये दी गई शास्त्री जी की इस दूसरी युक्ति से भी वादीभसिंह अकलंकदेव के समसामयिक सिद्ध नहीं होते। ११ वीं या १२ वीं शताब्दी में होने वाले वादीभसिंह भी ७ वीं शताब्दी में होनेवाले बाण की कादम्बरी का अनुकरण मजे में कर सकते हैं। इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती है।

(३) "आदिपुराणकार जिनसेन स्वामी ने वादिसिंह नाम के एक आचार्य का स्मरण निम्न शब्दों में किया है—

"कवित्वस्य परा सीमा वाग्मित(त्व)स्य परं पदम्।
गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः ॥"

इस से प्रतीत होता है कि वादिसिंह बड़े भारी कवि और उत्कृष्ट वाग्मी थे। अपने पार्श्वनाथचरित के प्रारंभ में वादिराज ने भी वादिसिंह का स्मरण इस प्रकार किया है—"स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जितं। दिङ्नागस्य मदध्वंसे कीर्त्तिभङ्गो न दुर्घटः ॥" इस श्लोक में बौद्धाचार्य दिङ्नाग और कीर्त्ति (धर्मकीर्त्ति) का ग्रहण करके वादिसिंह को उनका समकालीन बतलाया है। प्रेमी जी का मत है कि वादीभसिंह और वादिसिंह एक ही व्यक्ति हैं। यदि यह सत्य है तो इन उल्लेखों से वादीभसिंह के सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के विद्वान होने में कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता। और उस दशा में उन्हें अकलंक का समकालीन मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।"

शास्त्री जी की यह तीसरी युक्ति भी प्रबल नहीं है। श्रीयुत प्रेमी जी के कथनानुसार आपने जो वादीभसिंह एवं वादिसिंह इन दोनों को अभिन्न व्यक्ति मान लिया है, यह ठीक

* मि० वी० ए० स्मिथ एवं डा० ईश्वरी प्रसाद के मत से राजा हर्ष का काल ६०६—६४७ है।

नहीं है। वास्तव में ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। 'प्रमाण-नौका' 'तर्कदीपिका' और 'धर्मसंग्रह' इन ग्रन्थों के रचयिता वादिसिंह वादीभसिंह से सर्वथा भिन्न हैं।*

हां, इन वादिसिंह को दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के समकालीन ७ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के विद्वान् मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु वादीभसिंह ७ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के विद्वान् कदापि नहीं हो सकते हैं।

अब वादीभसिंह के काल-सम्बन्धी जटिल प्रश्न को हल करने के लिये पहले कतिपय प्राचीन शिलालेख ज्यों के त्यों विज्ञ पाठकों के सामने उपस्थित कर दिये जाते हैं। ये लेख श्रीमान् ब्र० शीतल प्रसाद जी के द्वारा संगृहीत एवं अनुवादित "मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैनस्मारक" से उद्धृत हैं। इनके मूल लेख इस समय मेरे सामने नहीं हैं। यद्यपि अपरिचित होने के कारण इन लेखों में दक्षिण प्रान्त के कुछ नामों में जहां-तहां रूपान्तर हो गया है अवश्य: फिर भी एकाध को छोड़कर और लेखों का अनुवाद तो ठीक ही होगा। अगर कहीं भाव में फर्क पड़ गया हो—क्योंकि लेख नं० ३७ का अनुवाद स्व० नरसिंहाचार्य के मत से भ्रमात्मक है—तो भी इस प्रस्तुत विषय के प्रमाण में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता है। ये लेख निम्न प्रकार हैं:—

(१) "नं० ४० सन १०७७ मानस्तंभ पर। चट्टल देवी ने कमलभद्र पंडितदेव के चरण धो कर भूमि दी। पंचकूट जिनमन्दिर के लिये विक्रम सान्तरदेव ने अजितसेन पंडितदेव के चरण धो कर भूमि दी।" (मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ ३२०)

नोट—यह लेख पोम्बुच्च में पाया गया है।

(२) "नं० ३ सन १०९० के करीब। कोप ग्राम। इस स्मारक को अपने गुरु मुनि वादीभसिंह अजितसेन की स्मृति में महाराज मार सान्तरवंशी ने स्थापित किया। यह जैन आगमरूपी समुद्र की वृद्धि में चन्द्रमा-समान था। ....."

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २९१)

(३) "नं० १९२ सन् ११०३। चालुक्य त्रिभुवनमल्ल के राज्य में उग्रवंशी अजयनि सान्तर ने पोम्बुच्च में पंचबस्ति बनवायी। उसी के सामने अनन्तर में चट्टल देवी और त्रिभुवनमल्ल सान्तरदेव ने एक पाषाण की बस्ति श्रीद्रविलसंघ अरुंगलान्वय के अजितसेन पंडितदेव वादिघरट्ट के नाम से बनवाई।"

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ ३२५)

नोट—यह लेख तीर्थहल्लि में पाया गया है।

* देखो—'दिगम्बर जैनग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' पृष्ठ २६। यद्यपि इसी ग्रन्थ-सूची के ३८ वें पृष्ठ में वादिसिंह का पुनः उल्लेख कर इनकी प्रमाण-नौका एवं धर्मसंग्रह नाम की दो और कृतियों का उल्लेख किया गया है। प्रमाण-नौका तो पृष्ठ २६ की कृति है ही। धर्मसंग्रह भी प्रायः पृष्ठ २६ का पूर्वोक्त धर्मसंग्रह ही होगा। ज्ञात होता है कि भ्रम से परिशिष्ट में ये दोनों ग्रन्थ दुबारा लिख दिये गये हैं।

(४) "नं० ८३ सन् १११७ ई० चामराज नगर में श्रीपार्श्वनाथ-बस्ति में एक पाषाण पर। जब द्वारावती (हलेबीडु) में वीररांग विष्णुवर्द्धन विट्टिग होयसलदेव राज्य करते थे तब उनके युद्ध और शान्ति के महामन्त्री चाव और अरसिकब्बे-पुत्र पुनीश राजदण्डाधीश था। यह श्रीअजितमुनिपति का शिष्य जैन श्रावक था तथा यह इतना वीर था कि इसने ढोड को (?) भयवान किया, कोंगों को भगाया, पल्लवों का वध किया, मलयालों का नाश किया, कालराज को कम्पायमान किया तथा नीलगिरि के ऊपर जाकर विजय की पताका फहराई।.....।

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ १८६)

(५) "नं० १०३ सन् ११२० करीब। सुकदरे (?) ग्राम में लक्कम्म मन्दिर के सामने पाषाण पर। माला एचले के पुत्र अत्रेयगोत्री जक्कि सेट्टि ने अपने सुकदरे ग्राम में एक जिनालय बनवाया व उसके लिये एक सरोवर भी बनवाया तथा श्रीदयापालदेव के चरण धोकर भूमि दान की। इसके गुरु अजितमुनिपति थे जो द्रविलसंघ में हुए; जिसमें समन्तभद्र, भट्टाकलंक, हेमसेन, वादिराज व मल्लिषेण मलधारी हुए।"

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २०२)

(६) "नं० १००, ११४५ ई० ग्राम योगादि में ध्वंश जैनमन्दिर के पास एक पाषाण पर। राजा विष्णुवर्द्धन के राज्य में उनका बड़ा मंत्री हिसाब करने वाला माधव या मादिराज था। यह श्रीअजितसेन भट्टारक का शिष्य जैन श्रावक था।..... अजितसेन योगीश्वर यह बड़े योगी थे।....."

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २०२)

(७) "नं० ३७ सन ११४७ तोरण बागिलु के उत्तर खंभे पर। जगदेकमल्ल के राज्य में राजा तेलसांतर जगदेकदानी हुए। भार्या चट्टल देवी। इनके पुत्र श्री वल्लभराज या विक्रम सांतर त्रिभुवनदानी, पुत्री पंपादेवी थी। पंपादेवी महापुराण में विदुषी थी। ... ... पंपादेवी ने अष्टविधार्चन, महाभिषेक व चतुर्भक्ति रचीं*। यह द्रविल-संघ, नन्दिगण, अकलंकान्वय, अजितसेन पंडितदेव या वादीभसिंह की शिष्या श्राविका थी। पंपा देवी के भाई श्रीवल्लभराज ने वासुपूज्य सि० देव के चरण धोकर दान किया।"

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ ३१९)

नोट—यह शिलालेख पोन्नवृक्ष में पाया गया है।

(८) "नं० १३० करीब सन ११४७ ई० इस बस्ति के द्वार पर। श्री अजितसेन भट्टारक का शिष्य बड़ा सरदार पर्मादि था। उसका ज्येष्ठ पुत्र भीमय्य, भार्या देवल थे। उनके

* ए० आर० नरसिंहाचार्य का कहना है कि अष्टविधार्चन, महाभिषेक और चतुर्भक्ति रचनायें नहीं हैं, बल्कि सेवायें हैं।

दो पुत्र थे—मसन सेट्टि और मारि सेट्टि। मारि सेट्टि ने दोरसमुद्र में एक उच्च जैन मन्दिर बनवाया। ... "(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २७३)

नोट—यह लेख मुगुलूर ग्राम में पाया गया है।

(९) "नं० १ सन ११६९ ई० ग्राम वन्दियर (?) में जैन बस्ति के पाषाण पर। इस समय होयसल बल्लालदेव दोरसमुद्र में राज्य कर रहे थे। यहां मुनि-वंशावली दी है। श्रीगौतम, भद्रबाहु, भूतबलि, पुष्पदन्त, एकसन्धि, सुमति भ०, समन्तभद्र, भट्टाकलंकदेव, वक्रग्रीवाचार्य, वज्रनन्दि भट्टारक, सिंहनन्द्याचार्य, परवादिमल्ल श्रीपालदेव, कनकसेन, श्रीवादिराज, श्रीविजयदेव, श्रीवादिराजदेव, अजितसेन पंडितदेव ... "

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २७९)

नोट—इसमें आचार्यों की नामावली कालक्रम से नहीं दी हुई है। यह त्रुटि अन्यान्य लेखों में भी पायी जाती है। मालूम होता है कि लेखक ने छन्दोबद्ध करने के लिहाज से क्रमभंग की ओर ध्यान नहीं दिया होगा।

(१०) "तालूक नंजनगूड, ग्राम नगदूर (?) चन्न-केशव-मन्दिर के बाहर भीत में एक खंभ पर। नं० १३३ सन ११७० ई० द्रविल संघ में नन्दि-संघ के अरुंगलान्वय के श्रीमुनि अजितसेनदेव आचार्य हुए—

श्रीमद्रमिलसंघेऽस्मिन नन्दिसंघेऽन्वयरंगलः।
अन्वयो भाति निःशेषशास्त्रवाराशिपारगः॥
...अजितसेनमुनिपो हि आचार्यतां प्राप्तवान।"

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ १७६)

उपर्युक्त १० शिलालेखों में सब से पहला १०७७ का एवं सब से पीछे का ११७० का है। इन दोनों लेखों का अन्तर ९३ वर्ष का होता है। यदि इन लेखों में प्रतिपादित सभी अजितसेन को एक ही व्यक्ति मान लिया जाय तो कम से कम इस ९३ में २० वर्ष और जोड़ने होंगे। क्योंकि इन्हें विद्याध्ययन कर प्रसिद्धि प्राप्त करने में इतना समय लगना वाजिब है। ऐसी दशा में लगभग ११३ वर्ष या दो वर्ष अधिक या कम अजितसेन का जीवनकाल मानना पड़ेगा। जैन मुनियों के दीर्घ जीवनकाल को—उसमें भी आठ सौ वर्ष के पूर्व के मनुष्य की दीर्घकालीन आयु को ध्यान में रखते हुए यह इनका लम्बा काल खटकना नहीं चाहिये। कुछ भी हो, यह अनुमान करना अनुचित नहीं कहा जा सकता कि यह अजितसेन या वादीभसिंह ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं १२वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के विद्वान थे। इसमें किसी का मत-भेद नहीं होना चाहिये। बल्कि पुरातत्त्व के प्रामाणिक विद्वान एवं जैन साहित्य के प्रगाढ़ प्रेमी स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य का भी यही मत है। हां, एक बात है कि उल्लिखित इन

शिलालेखों में से सन १०७७ के प्रथम लेख से वादीभसिंह की उपस्थिति पोम्बुच्च में स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योंकि उसमें साफ-साफ लिखा हुआ है कि "पंचकूट जिन-मन्दिर के लिये विक्रम सान्तरदेव ने अजितसेन पण्डितदेव के चरण धोकर भूमि दी"। अब सन १०९० के द्वितीय लेख में यह लिखा है कि "इस स्मारक को अपने गुरु वादीभसिंह अजितसेन की स्मृति में महाराज मार सांतरवंशी ने स्थापित किया"। आगे कोई ऐसा लेख नहीं है जिससे इन वादीभसिंह की उपस्थिति स्पष्ट प्रमाणित होती हो। अत एव संभव है कि कोई-कोई १०९० तक ही वादीभसिंह के जीवन-काल की मर्यादा मानकर १०९० के बाद के लेखों को इनका स्मृति-लेख मान लें। पर जीवनकाल में भी भक्तों के द्वारा अपने माननीयों का स्मारक बनवाना लोक-विरुद्ध बात नहीं है। बल्कि आजकल भी इसके एक नहीं अनेक दृष्टान्त दृष्टिगोचर होते हैं। इससे यह सिद्ध करना मेरा अभीष्ट नहीं है कि वादीभसिंह के ये स्मारक इनके जीवन-काल में ही स्थापित हुए थे। फिर भी इससे वादीभसिंह का समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध ही सिद्ध होता है न कि शास्त्री जी के कथनानुसार ९ वीं शताब्दी।

उल्लिखित लेखों में वादीभसिंह को कहीं अजितसेन पण्डितदेव, कहीं वादीभसिंह अजितसेन दोनों, कहीं अजितसेन पण्डितदेव वादिवरट्ट, कहीं अजित मुनिपति, कहीं अजितसेन भट्टारक एवं कहीं मुनि अजितसेनदेव आचार्य लिखा है। साथ ही साथ इन नामों के साथ संघ-अन्वय आदि सभी जगह नहीं कहा गया है। फिर भी मेरे जानते इन सब नामों को वादीभसिंह के ही वाचक मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। क्योंकि इतने अल्प अन्तर में दो अजितसेन होने की संभावना कम है। साथ ही साथ शिलालेख के लेखन-क्रम को देखते हुए भी हमें एक ही व्यक्ति मानने को बाध्य होना पड़ता है।

अब पता लगाना है कि वादीभसिंह के इस निर्धारित काल के बीच में इनके श्रद्धेय गुरु उल्लिखित मुनि पुष्पसेण का भी कहीं उल्लेख मिलता है। पुष्पसेण मुनि को प्रकाश में लानेवाले कतीय सन् १११७, ११२५ और ११६९ के हमें तीन शिलालेख मिलते हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—

(१) "नं० १३१ सन १११७(?) वहीं द्रविलसंघ नन्दिसंघ अरुंगलान्वय के पुष्पसेन सिद्धान्तदेव के शिष्य वासुपूज्यदेव ने समाधि-मरण किया।"

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २७४)

नोट—यह लेख हासन जिला के मुगुवर ग्राम में जैनबस्ति के द्वार पर पाया गया है। बल्कि वहीं पर इसी संघ एवं अन्वय के अजितसेन भट्टारक-सम्बन्धी एक दूसरा लेख भी मौजूद है जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

(२) नं० ४९२ शक सं० १०१५ सन ११२५ "……आ-पुष्पसेन सिद्धान्तदेवरि बलिक……।"

नोट—यह लेख श्रवणबेल्गोल में है और यह विष्णुवर्द्धन होयसलदेव के द्वारा मन्दिरों के जीर्णोद्धार एवं मुनियों के आहार-दान के लिये द्रविलसंघ अरुंगलान्वय के आचार्य श्रीपाल त्रैविद्यदेव को शल्य नामक ग्राम जो दान दिया गया था, उसी का स्मारक है। इसमें द्रविलसंघ की विस्तृत गुरु-परम्परा दी गयी है जिसमें पुष्पसेन भी शामिल हैं।

(३) "नं० १ सन् ११६९ ई० ग्राम वन्दियर में जैनबस्ति के पाषाण पर। इस समय होयसल बल्लालदेव दोरसमुद्र में राज्य कर रहे थे। यहाँ मुनि-वंशावली दी है। श्री-गौतम, भद्रबाहु, भूतबलि,.....यहाँ वादिराज और शंकरदेव ने श्रीपार्श्वदेव का मन्दिर बनवाया, जिस की प्रतिष्ठा पुष्पसेनदेव ने की। व अष्टविधपूजा के लिये श्रीवासुपूज्य सिद्धान्तदेव के चरण में भूमि भेंट की, जिसको उन्होंने वृषभनाथ पण्डित के सुपुर्द की।"

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २८०)

नोट—यह लेख अरसीकेर तालुक में पाया गया है। बल्कि ऊपर यह लेख अंकित किया जा चुका है। इसमें भी अजितसेन पण्डितदेव का उल्लेख है।

उल्लिखित इन लेखों में प्रतिपादित पुष्पसेण को ही वादीभसिंह के गुरु नहीं माना जा सकता ? पहली बात तो यह है कि ये तीनों व्यक्ति एक ही संघ, गण एवं अन्वय के हैं और दूसरी बात यह है कि उल्लिखित तृतीय लेख से सन् ११६९ में पुष्पसेण की उपस्थिति स्पष्ट सिद्ध होती है। ऐसी दशा में इन दोनों का गुरु-शिष्य एवं सम-सामयिक मानने में कोई भी ऐसा प्रबल बाधक हेतु नज़र नहीं आता। हाँ, एक शंका उठाई जा सकती है कि वादीभसिंह का जन्म जब सन् १०७७ से करीब २० वर्ष पहले मानते हैं तब इनके गुरु पुष्पसेण का जन्म उससे भी पहले मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में सन् ११६९ तक का समय इनके लिये बहुत लम्बा हो जाता है। अतः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय लेख में प्रतिपादित पुष्पसेण एक व्यक्ति नहीं माने जा सकते हैं। परन्तु समवयस्क दो व्यक्ति भी गुरु-शिष्य हो सकते हैं। बल्कि मेरा यह भी अनुमान है कि पुष्पसेण वादीभसिंह के विद्या-गुरु नहीं थे; किन्तु दीक्षा-गुरु। अन्यथा इनकी कोई कृति मिलती और साहित्य-संसार में इनकी भी ख्याति होती। मगर साहित्य-संसार में ही नहीं यों भी वादीभसिंह की जितनी ख्याति हुई है, उतनी इनके गुरु पुष्पसेण की नहीं हुई अनुमित होती है। इसके उपर्युद्धृत शिलालेख ही समुज्ज्वल दृष्टान्त हैं। वादीभसिंह राज-सम्मानित थे और कई उच्च राजपदाधिकारी भी इनके कट्टर भक्त थे। मैं समझता हूं कि खास कर पोम्बुच्च के सान्तर वंश के शासक एवं उनके प्रधान राज-कर्मचारी वादीभसिंह को बहुत मानते थे। यह बात भी उल्लिखित लेखों से ही स्पष्ट प्रमाणित होती है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए गुरु पुष्पसेण को वादीभसिंह के व्रतगुरु एवं समवयस्क मानना मेरे ख़याल से कोई अनुचित नहीं है। आजकल के मुनिसंघों में भी ऐसे-ऐसे उदाहरण हमें कई मिल जाते हैं। अगर पुष्पसेण को वादीभसिंह के दीक्षा-गुरु

मानते हैं तब सोमसेन सूरि की "वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः, श्रीवादिराजोऽपि मदीय-शिष्यः।" यह उक्ति यों ही उपेक्षणीय नहीं है। संभव है कि सोमसेन सूरि इनके विद्या-गुरु रहे हों। हाँ अपनी कृतियों में इनका उल्लेख नहीं मिलना अवश्य खटकता है। संभव है कि कोई ऐसा प्रबल हेतु रहा हो जो इस समय इसका पता लगाना हम सबों के लिये असम्भव सा हो गया हो। आजकल भी कुछ शिष्य ऐसे मिलते हैं, किसी कारण से—दोनों में से किसी एक के प्रमाद से- जब इन दोनों में मनोमालिन्य हो जाता है तब शिष्य अपने गुरु का नाम जान-बूझ कर नहीं उल्लेख करता है। जो कुछ हो परोक्ष विषय में बलिष्ठ प्रमाणों के अभाव में ऊहापोह तथा अटकलबाजी के सिवा और किया ही क्या जा सकता ? परन्तु इस संभवपरक ऊहापोह को ही सिद्धान्त मान लेना समुचित नहीं है। हाँ, भविष्य की खोज के लिये यह भी एक अन्यतम साधन बन सकता है।

अब वादीभसिंह के संघ, अन्वय, स्थान एवं नाम आदि के सम्बन्ध में भी मैं कुछ अपना विचार उपस्थित कर देना अनुचित नहीं समझता। वादीभसिंह विख्यात जैन महाकवियों में से हैं। इनकी 'गद्यचिन्तामणि' और 'क्षत्रचूड़ामणि' ये दोनों काव्य काफी प्रसिद्ध हैं। बल्कि क्षत्रचूड़ामणि तो एक खासा नीति-ग्रन्थ ही कहा जा सकता है। प्रायः प्रत्येक श्लोक के पूर्वार्द्ध में अभीष्ट चरित्रांश और उत्तरार्द्ध में उसे पुष्ट करने के लिये नीति कही गयी है। नीति का पुट देकर इन्होंने चरित्रांश को बहुत ही रोचक बनाया है। दूसरी गद्य-चिन्तामणि भी काव्योचित माधुर्य आदि अनेक प्राञ्जल गुणों से विशिष्ट एक महत्त्वपूर्ण गद्य-काव्य है।

वादीभसिंह के अजितसेन, वादीभसिंह और ओडेयरदेव ये तीन नाम उपलब्ध होते हैं। मेरा अनुमान है कि इनमें से ओडेयरदेव जन्म-नाम, अजितसेन दीक्षा-नाम और वादीभसिंह पाण्डित्योपार्जित उपाधि है। यों तो वादीभसिंह का जन्मस्थान अज्ञात सा है; फिर भी इनका ओडेयरदेव नाम, मद्रास प्रान्तान्तर्गत तामिल (तमिलु) प्रदेश के पोलूरु तालुक के तिरुमलै स्थान में विद्यमान समाधि-स्थान, द्रविल या द्राविड़-संघ एवं अरुंगल अन्वय ये चारों इन्हें तामिल प्रान्तीय सिद्ध करने की चेष्टा अवश्य करते हैं। मद्रास प्रान्तान्तर्गत तामिल-प्रान्त का नाम द्राविड़ प्रसिद्ध है ही। साथ ही साथ कई जैन, जैनेतर पुरातत्त्व-विशारद यह प्रकट कर चुके हैं कि जैनमुनियों में प्रचलित संघ, गण एवं शाखा आदि किसी आचार्य या स्थान के ही द्योतक हैं। जैसे स्थान के लिये—माथुरसंघ, नविलूरसंघ, किसुरसंघ, कोलत्तूरसंघ, देशीयगण, एवं हनसोगे शाखा आदि। अतः वादीभसिंह के द्रविल संघ से द्राविड़ अर्थात् तामिल प्रदेश मानना कोई अनुचित नहीं कहा जा सकता। अब इनके अरुंगल अन्वय को लीजिये। यह अरुंगल नाम तामिल प्रान्त के गुडियपत्तन तालुक में स्थित 'अरुंगलम्' नामक स्थान की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करता है। यह एक बहुत प्रसिद्ध एवं प्राचीन स्थान है। आज भी यहां पर

धर्मतीर्थंकर का एक भव्य मन्दिर मौजूद है। इन सब बातों को लक्ष्य में रखकर यह अनुमान करना निर्मूल नहीं कहा जा सकता कि वादीभसिंह का जन्म एवं समाधि तामिल प्रान्त में हुई थी। हाँ, मालूम होता है कि इनका बहुभाग जीवन मैसूर प्रान्त में बीता था और मैसूर प्रान्तान्तर्गत पोम्बुच्च ही इनका प्रधान निवास रहा।

हाँ, एक बात याद आ रही है। ऊपर उद्धृत शिलालेखों में जिन लेखों में अजितसेन इस नाम के साथ 'भट्टारक' शब्द आया है उन लेखों में प्रतिपादित अजितसेन को वादीभसिंह न मानकर इस नाम के किसी दूसरे मठाधीश को मानने को शायद कुछ व्यक्ति तैयार हो जायें। परन्तु प्राचीन काल में 'भट्टारक' यह शब्द केवल मठाधीशों के लिये ही प्रयुक्त न हो कर यह एक आदरसूचक शब्द होने से जिनसेन* जैसे बड़े-बड़े आचार्य एवं राजा महाराज तक भी इस विशेषण से स्मरण किये गये हैं—इस बात को उन्हें अवश्य ध्यान में रखना चाहिये।

"संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास" के विज्ञ लेखकों का कहना है कि "भोज राजा (ई० १०१८—५५) के समकालिक कालिदास का एक वचन "अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।" यह इसके (वादीभसिंह के) वचन के सदृश है। इसलिये यह भोज का पूर्ववर्ती अर्थात् १०म शतक का माना जाता है।" ज्ञात होता है श्रीयुत टी० एस० कुप्पु स्वामी शास्त्रि-द्वारा लिखित 'गद्यचिन्तामणि' की प्रस्तावना ही इनके इस मत का आधार है। मगर मेरे पूर्व कथनानुसार जब वादीभसिंह का समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध निर्विवाद सिद्ध होता है तब वादीभसिंह को १०म शतक का मानना ठीक नहीं है।

एक बात और है। इन वादीभसिंह के उपर्युक्त क्षत्रचूड़ामणि के अन्त में "राजतां राजराजोऽयं राजराजो महोदयः। तेजसा वयसा शूरः क्षत्रचूडामणिर्गुणैः॥" यह पद्य प्राप्त है। पद्यगत 'राजराज' शब्द अवश्य विचारणीय है। मेरा खयाल है कि यह श्लेषात्मक शब्द है। इसमें ग्रन्थकर्त्ता ने चरित्र-नायक जीवन्धर के अतिरिक्त तत्कालीन शासक का भी उल्लेख किया है। यह शासक चोल-वंशी राज-राज हो सकता है। चोल राजाओं में इस नाम (राजराज) के दो व्यक्ति हुए हैं। प्रथम राजराज का समय सन् ९८५ से १०१२ तक का और द्वितीय का सन् ११४६ से ११७८ तक का है। संभवतः वादीभसिंह ने द्वितीय राजराज के शासनकाल में इस काव्य की रचना की हो। मैं ऊपर लिख चुका हूं कि वादीभसिंह का समाधि-स्थान आज भी तामिल प्रान्तान्तर्गत तिरुमलै में मौजूद है। बहुत कुछ संभव है कि वादीभसिंह अन्तिमावस्था में मैसूर से अपनी जन्मभूमि को लौट आये हों और चोलशासक उक्त राजराज के राज्यान्तर्गत कहीं रह कर इस क्षत्रचूड़ा-

* देखो—मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २८१, लेख नं० १६४।

मणि की रचना कर ग्रन्थान्त में इन्होंने तत्कालीन तत्प्रान्तवर्ती शासक इस राजराज का उल्लेख कर दिया हो।

इसमें कोई शक नहीं है कि यह वादीभसिंह केवल एक उच्चकोटि के कवि ही नहीं थे; किन्तु एक उद्भट नैयायिक एवं प्रखर वादी भी थे। संभवतया इन्होंने कोई न्याय-ग्रन्थ भी रचा हो। पर अभी तक इसका कोई पता नहीं लगा है। मैं ऊपर लिख चुका हूं कि सामान्य श्रावक से लेकर राजा एवं बड़े-बड़े राजकर्मचारी भी इनके एकान्त भक्त थे। श्रवणबेल्गोल के लेख नं० ५४ (६७) में भी इनके दो विद्वान् शिष्यों का उल्लेख पाया जाता है, जिनके नाम क्रमशः शान्तिनाथ और पद्मनाभ हैं। इनमें पहले की उपाधि कविता-कान्त एवं दूसरे की वादि-कोलाहल है। उल्लिखित यह लेख इन्हीं के एक और विद्वान् शिष्य मल्लिषेण मलधारिदेव का समाधिमरण-सूचक है और यह मल्लिषेण-प्रशस्ति के नाम से प्रसिद्ध है। इस लेख में केवल मल्लिषेण की ही नहीं; इनकी गुरु-परम्परा की भी बड़ी प्रशंसा लिखी मिलती है। इसमें वादीभसिंह एवं इनके शिष्य उक्त शान्तिनाथ और पद्मनाभ की भी काफी तारीफ की गयी है। खोज करने पर इन शिष्यों का भी विशेष परिचय मिलना संभव है।

उल्लिखित लेख में वादीभसिंह की स्तुति-परक कई श्लोक मिलते हैं। पर लेखवृद्धि के लिहाज से वे श्लोक यहां उद्धृत नहीं किये गये। मैं समझता हूं कि वादीभसिंह के बारे में विशेष विमर्श के लिये यह लेख एक साधन समझा जायगा और इनकी कृतियों का अध्ययन करनेवाले छात्रों को भी इससे कुछ सहायता मिलेगी।

अपभ्रंश साहित्य और जैनी !

['साहित्य-भ्रमर' द्वारा संकलित]

भारत की साहित्यिक भाषाओं के नियमित अध्ययन का प्रारंभ मुश्किल से डेढ़ सौ वर्ष पहले से हुआ है। सन १७८३ में सर विलियम जोन्स की विज्ञप्ति के साथ ही इस शुभकार्य का श्रीगणेश हो गया था। उस समय विद्वानों का ध्यान आकर्षित करनेवाला केवल संस्कृत साहित्य—सो भी उसके काव्य थे। फिर वैदिकधर्म के साहित्य ने काव्यों का स्थान लिया था। किन्तु तब से पचास वर्ष उपरान्त तक प्राकृत साहित्य की ओर विद्वानों की दृष्टि ही नहीं गई थी। इसका कारण यही था कि इस साहित्य के मुख्य संरक्षक जैनी थे, जिन्होंने कलतक अपने साहित्य को प्रकट करने की कोशिश नहीं की थी। सचमुच प्राकृत भाषा में रचना करने का अधिकार प्राचीनकाल से ही जैनियों के हाथों में रहा है—ब्राह्मणों और बौद्धों ने बेशक करीब-करीब इसी तरह क्रमशः संस्कृत और पाली भाषाओं में रचना करने का अधिकार पा रक्खा था; किन्तु जैनियों के द्वारा प्राकृत भाषा की विशेष उन्नति हुई थी। इसका कारण यही है कि यह भाषा केवल उनकी साहित्यिक भाषा ही नहीं रही बल्कि जैनधर्म की शिक्षा भी इसी भाषा में दी जाती रही है। इसीलिये आज हमें प्राकृत के विविध रूपों के स्पष्ट दर्शन जैन साहित्य में ही होते हैं। मागधी और अर्धमागधी प्राकृत के शेष नमूने अब केवल श्वेताम्बर जैनियों के सूत्र ग्रन्थ ही हैं! महाराष्ट्री प्राकृत का भी विशेष उपयोग जैनियों द्वारा ही टीकाओं आदि के लिखने में हुआ है। इस प्राकृत का साहित्य ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में विशेष हो गया था; जैसे कि कवि हाल की रचनाओं और प्रवरसेन के 'सेतुबन्ध' नामक ग्रन्थ से प्रकट है। शौरसेनी प्राकृत का उपयोग दिगम्बर जैनियों द्वारा विशेष हुआ है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, स्वामी कार्तिकेय, वट्टकेर आचार्य, नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती आदि आचार्यों ने इसी शौरसेनी प्राकृत में मूल्यमयी रचनायें रची हैं। पशाची प्राकृत से जैनियों का प्रेम नहीं रहा और हतभाग्य से उसका साहित्य ही उपलब्ध नहीं है। हाँ, इसी प्राकृत की बहिन जो अपभ्रंश भाषा थी उसका साहित्य उपलब्ध है और वह खासकर दिगम्बर जैनियों का ही है। प्रस्तुत लेख में इसी अपभ्रंश प्राकृत की उत्पत्ति, इतिहास और उससे जैनियों के सम्बन्ध को प्रकट करना अभीष्ट है!

अपभ्रंश भाषा की प्राचीनता के विषय में जानने के लिये सब से पहले यह देख लेना ज़रूरी है कि उसका उल्लेख किन प्राचीन साहित्यरसिकों ने किया है। इसी अनुरूप नीचे इसी बात को निर्दिष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है:—

(१) पातञ्जलि, जो कि ईसा से पूर्व की दूसरी शताब्दी के और 'व्याकरण महाभाष्य'

के प्रख्यात लेखक हैं, वही संभवतः सबसे पहले 'अपभ्रंश' शब्द का व्यवहार भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में करते हैं। किन्तु वह उसे ग्रामीण मनुष्यों के मुख से निकला हुआ संस्कृत का विकृत रूप ही बतलाते हैं; क्योंकि वह कहते हैं :—

"एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा। गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतालिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।'

भावार्थ—प्रत्येक शब्द के अनेक विकृतरूप हैं; जैसे कि शब्द 'गौः' के अपभ्रंश-विकृत 'गावी', 'गोणी', गोता, गोपोतालिका आदि हैं।

यहां 'अपभ्रंश' का भाव विकृत बोलचाल से है। इसलिये यह भरतकवि के 'विभ्रष्ट' शब्द के समान है। इससे इसका संबंध आभीरों से भी प्रकट नहीं होता और न यह साधारण जनता की ही भाषा प्रमाणित होती है।

(२) कवि भरत भारतीय नाट्यशास्त्र के सब-प्राचीन लेखक हैं। यह शायद ईसा की २री या ३री शताब्दी में हुये हैं। यह अपने 'नाट्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ में प्राकृत भाषाओं का उल्लेख करते हैं; जिनको वह नाटक के पात्रों में से किन्हीं खास के बोलने की भाषा बतलाते हैं तथा उनके छन्दों के नमूने भी देते हैं। (अ० १७ और ३२) वह नाटक में शुद्ध संस्कृत, विकृत संस्कृत जिसे 'विभ्रष्ट' संज्ञा दी है और देशी भाषा का प्रयोग करते हैं। देशी भाषा विविध प्रदेशों की स्थानीय भाषा है, जैसे आजकल प्रान्तों के अलग-अलग जिलों में ग्रामीण भाषायें अलग-अलग मिलती हैं। भरत ने यद्यपि अपभ्रंश भाषा का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि उनके समय में वह उन्नत हो रही थी और 'आभीरकोटि' कहलाती थी, किन्तु उसका अस्तित्व स्पष्ट प्रमाणित है। वह पंजाब और ऊपरी सिंध के निवासियों द्वारा बोली जाती थी और उसका कोई साहित्य भी नहीं था। अन्य किन्हीं विचरती हुई (nomadic) जातियों द्वारा बोली जाती थीः जिन्होंने ही प्राचीन प्राकृतों को अपभ्रंश रूप दिया था।

(भविष्यदत्तकथा, गायकवाड ओ० सी० नं० २०, भूमिका पृ० ५१)

(३) धरसेन द्वितीय सौराष्ट्र काठियावाड़ में वल्लभीनगर के अधिपति थे। इनके एक शिलालेख में 'अपभ्रंश' का स्पष्ट उल्लेख है और वह बड़े महत्त्व का है; यथा "संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनानिपुणतरान्तःकरणः" आदि। यहां धरसेन अपने पिता गुहसेन को अपभ्रंश भाषा में ग्रन्थ रचने में सिद्धहस्त बतलाते हैं। गुहसेन के शिलालेख सन ५५९ और ५६९ ई० के मिले हैं। (बाम्बे गजेटियर भाग १, पृ० ९०) इसलिये अपभ्रंश भाषा में काव्यरचना ईसा की छठी शताब्दी में होने लगी थी, यद्यपि कोई काव्य उस समय का नहीं मिला है।

(४) भामह को भी संभवतः ईसा की छठवीं शताब्दी के अन्त में, अपभ्रंश भाषा का ज्ञान था, क्योंकि वह उसका स्पष्ट उल्लेख करता है; यथा:—

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥१।३६॥"

(५) दण्डी अपने 'काव्यादर्श' में तत्कालीन साहित्य को चार भाग में विभक्त करता है। वाग्भट ने भी इन्हीं चार भेदों का उल्लेख किया था। दण्डी इनको यों बतलाता है:—

'तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम् ॥१।३२॥'

इसमें साहित्य संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्ररूप बतलाया है। अपभ्रंश को वह आभीरों आदि की भाषा, जो साहित्य में व्यवहृत हुई हो, उसे बतलाता है। यद्यपि शास्त्रों के अनुसार संस्कृत से विलग सब ही भाषायें अपभ्रंश बताई गई हैं, वह यह कहता है, (१।३६) तथापि अपभ्रंश कविता को 'आसार' आदि में विभक्त बतलाता है (आसारादीन्यपभ्रंशो—१।३७)। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि दण्डी के समय में अपभ्रंश भाषा का प्रयोग देश के साहित्य में विशेष रीति से होने लगा था। वह भरत के समय की तरह केवल संस्कृत नाटकों के नीच पात्रों के मुख की ही भाषा नहीं रही थी; तथापि आभीर आदि जातियों की वही भाषा थी, जिनमें आभीर ही इसको अपनाने में मुख्य थे। साथ ही इस साहित्यिक अपभ्रंश भाषा के अधिकारी केवल कवि और आचार्य ही नहीं रहे थे बल्कि इस पर साधारणतः आभीर, शबर, चाण्डाल आदि जातियों का भी आधिपत्य था। जैसे-जैसे इन जातियों के निवास-स्थान आदि बदलते गये, वैसे ही वैसे अपभ्रंश भाषा में भी भेद पड़ते गये, यह विद्वानों का कथन है। (भवि० क० गा० नं० २०, भू० पृ० ५३) दण्डी का समय ईसा की ७वीं—८वीं शताब्दी माना जाता है।

(६) रुद्रट ईसा की ९वीं शताब्दी के विद्वान हैं। उनने भी अपने 'काव्यालंकार' में अपभ्रंश का उल्लेख किया है। उसको संस्कृत, प्राकृत आदि के साथ परिगणित किया है। यह भाषाओं के छः रूप बतलाते हैं—प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पिशाची, शौरसेनी और अपभ्रंश (२।११-१२)।

(७) राजशेखर ने भी अपनी 'काव्यमीमांसा' में कई स्थलों पर अपभ्रंश का उल्लेख किया है। यह मुख्यतः संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्ररूप भाषा के भेद करते हैं। तथा गौड़ आदि देशवासियों को संस्कृत का अधिकारी, लाट (गुजरात) देशवासियों का प्राकृत पर अधिकार, अपभ्रंश पर मरुदेश (मारवाड़) टक्कों (पूर्वी पंजाब) और भादानकवासियों का आधिपत्य बतलाते हैं। अवन्ती, पारिपात्र (विंध्यदेश) और दशपुर के कवियों को भूतभाषा में

कविता करते यह कहते हैं एवं मध्यदेश के कवि को इन सब भाषाओं में पारंगत बतलाते हैं। साथ ही वह यह भी लिखते हैं कि सौराष्ट्र, तुरुष्क आदि देश के निवासी संस्कृत का सम्भाषण अपभ्रंश को मिला कर करते थे। राजशेखर के इस वक्तव्य का समर्थन आजकल जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें होता है। अपभ्रंश प्राकृत पर क्रमशः दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनियों का अधिकार रहा है। जैकोबी सा० ने यह ठीक ही कहा है कि दिगंबरियों का अधिकार और बस्ती मारवाड़ और पंजाब के एक भाग में अधिक रहा है। राजशेखर के उल्लेखों से यह भी विदित होता है कि उनके समय में भी अपभ्रंश जनसाधारण की भाषा बनी हुई थी।

(८) नामसिंधु ने काव्यालंकार (११-१२) की वृत्ति में अपभ्रंश का उल्लेख यों किया है :—

"तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः। स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यादिभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। कुतो देशविशेषात्। तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्।"

इस उल्लेख का महत्त्व यह है कि नामसिंधु (१) अपभ्रंश को स्वयं एक प्राकृत मानते हैं, (२) अपने पूर्व के कवियों द्वारा उल्लिखित उपनागर, आभीर और ग्राम्यरूप उसके भेद भी बतलाते हैं; (३) किन्तु वह इन तीन से भी अधिक भेद बतलाते हैं; (४) और कहते हैं कि जनसाधारण की ही यह भाषा थी। इनके एक अन्य उल्लेख से प्रकट है कि उस समय अपभ्रंश का फैलाव पूर्व में मगध तक हो गया था। नामसिंधु ने अपनी टीका सं० ११२५ में (ई० सन १०६९) में पूर्ण की थी। (भविष्य० गायक० नं० २०, भूमि० पृ० ५७)।

इनके अतिरिक्त अन्य भी कई छोटे-मोटे उल्लेख मिलते हैं; परन्तु वह किसी विशेष महत्त्व को नहीं रखते हैं। इस तरह अपभ्रंश भाषा के प्राचीन उल्लेख मिलते हैं। इनसे भविष्यदत्त-कथा भूमिका (G. O. S. No. XX) में यह परिणाम निकाले गये हैं :—

(१) अपभ्रंश भाषा ईसा की २री या ३री शताब्दी में कम से कम 'आभीरी' भाषा के नाम से मौजूद थी और सिंध, मुल्तान एवं पञ्जाब के उत्तरीय भाग में स्थित आभीरों एवं अन्य जातियों द्वारा बोली जाती थी।

(२) ईसा की छठवीं शताब्दी तक भी वह आभीर आदि जातियों की भाषा मानी जाती थी और इसका खास नाम 'अपभ्रंश' था। इसका साहित्य भी इस दर्जे का हो गया था कि भामह और दण्डी को भी उसे स्वीकार करना पड़ा था।

(३) ईसा की ९वीं शताब्दी से वह आभीर, शबर, चांडाल जातियों की ही भाषा नहीं मानी जाती थी बल्कि मध्यम श्रेणी तथा अन्य सभ्य पुरुष भी इसी में बातचीत करते थे;

यद्यपि सभ्यसमाज में संस्कृत को ही मुख्य स्थान प्राप्त था और नाटकों में प्राकृत का आधिपत्य था। दूसरे शब्दों में वह जनसाधारण की भाषा हो गई थी। उस समय वह दक्षिण में सौराष्ट्र तक और पूर्व में संभवतः मगध तक फैल गयी थी।

(४) ११वीं शताब्दी के मध्य में कविगण भी अपभ्रंश को केवल एक साहित्यिक भाषा ही नहीं बल्कि बोलचाल की कई भाषाओं के रूप में स्वीकार कर रहे थे; जिसमें का एक भेद साहित्यिक रूप में उन्नत हुआ था।

इन खास बातों का एकीकरण आभीर (आजकल की अहीर) जाति के फैलाव से ठीक बैठ जाता है; जिनके ही कारण देश की बोलचाल की भाषाओं में अन्तर पड़ा था। महाभारत में आभीर लोग भारत के पश्चिम प्रदेश में सिंधुनदी के तट पर बसे बतलाये गये हैं। मनुस्मृति (१०।१५) में उनको ब्राह्मण पिता और अम्बष्ट माता की संतान लिखा है। इससे इनका ईसवी अब्द के पहले पंजाब में बसना प्रकट है। ईसा की २री और ३री शताब्दी के शिलालेख में भी इनका उल्लेख है। झाँसी के पास का अहिरवर प्रदेश इन्हीं लोगों का निवासस्थान माना जाता है। इस अपेक्षा ४थी शताब्दी में वह मालवा में फैल गये थे यह प्रकट है। इनमें का एक भाग इस समय स्थायी रूप में बस गया था और राज्याधिकारी भी हो गया था। (भाण्डारकर-ऐन्थोवेन पृ० २३) युक्तप्रांत के मिर्जापुर जिले का अहरौर प्रदेश भी अहीरों का वास बतलाता है। इसी समय अपभ्रंश-साहित्य की भी उन्नति होने लगी थी, क्योंकि ऊपर छठी शताब्दी के विद्वान ऐसा ही बतलाते हैं। फिर आभीर सौराष्ट्र और मगध की ओर बढ़ गये होंगे, तभी वहां पर भी अपभ्रंश की प्रधानता हो गई थी। इस तरह अपभ्रंश भाषा का संबंध आभीर लोगों से स्पष्ट है। मूल में इनकी उत्पत्ति उन्हीं से हुई ख़याल किया जाता है। ईसवी सन् के पहले से उसका अस्तित्व मिलता है।

(क्रमशः)

आचार्य नेमिचन्द्र और ज्योतिष-शास्त्र

[लेखक—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ]

आचार्य श्रीनेमिचन्द्र ज्योतिष-शास्त्र के भी मर्मज्ञ विद्वान थे। इनके त्रिलोकसारान्तर्गत ज्योतिष-सम्बन्धी विषयों पर प्रकाश डालना ही प्रस्तुत लेख का उद्देश है।

विषुप-विचार :—

आचार्य ने विषुप दिन का विचार बहुत सूक्ष्मदृष्टि से किया है। जिस दिन दिन-रात्रि दोनों समान हों वह विषुप दिन कहलाता है। यह वर्ष में दो बार आता है। आचार्य के मत से प्रत्येक अयन के अर्धभाग में विषुप दिन आता है। ज्योतिष शास्त्र के नियम से भी यह दिन सायन मेषादि और सायन तुलादि में पड़ता है: इसका भी अर्थ वही है जो आचार्य ने अयनार्ध भाग में बतलाया है। क्योंकि कर्क से लेकर धनु-पर्यन्त दक्षिणायन होता है। इसमें तुला के सायन सूर्य में विषुप दिन पड़ेगा। यहां पर भी अयन के अर्धभाग में ही विषुप दिन माना गया है। इसी प्रकार मकर से लेकर मिथुन तक उत्तरायण होता है। इसमें भी मेष के सायन सूर्य में विषुप दिन माना गया है—अर्थात् अयन के अर्धभाग में ही विषुप दिन पड़ता है। यही अन्य ज्योतिष ग्रन्थों में भी मिलता है। जैसे आचार्य ने पञ्चवर्षात्मक युग मान कर उस युग में विषुप दिन की तिथि तथा नक्षत्र लाने का करण-सूत्र बतलाया है। उसी प्रकार वेदाङ्ग ज्योतिष में भी पञ्चवर्षात्मक युग मान कर विषुप दिन के तिथि नक्षत्र का साधन किया गया है। आचार्य-कृत-करण-सूत्र यह है :—

विगुणे सगिट्ठइसुपं रुऊणे छग्गुणे हवे पव्वम्।
तप्पव्वदलं तु तिथि पवट्टमाणम्म इसुपस्स ॥४२७॥

अर्थ—विषुप-संख्या को दूना करके उसमें से एक घटा कर शेष को छः से गुणा करने से पर्व का प्रमाण आयेगा और पर्व का आधा तिथि-संख्या आयेगी। इसी आशय का वेदाङ्ग ज्योतिष में भी निम्नांकित करण-सूत्र है :—

विषुवत् तद्द्विरभ्यस्तं रूपोनं षड्गुणीकृतम्।
पक्षाः यदार्धं पक्षाणां तिथिः स विषुवान् स्मृतः ॥

यह अति प्राचीन हिन्दू ग्रन्थ वेदाङ्ग ज्योतिष का बावीसवां श्लोक है। इसका अर्थ भी वही है जो आचार्य के करण-सूत्र का है। अर्थात् विषुप संख्या को दो से गुणा कर के गुणन-फल में से एक घटा शेष को छः से गुणा करने पर विषुप की पर्व-संख्या आयेगी और

पर्व का आधा तिथि-संख्या होगी। इस प्रकार का मत अन्यान्य अजैन ज्योतिष ग्रन्थों में पाया जाता है और आचार्य के करण-सूत्र की वासना भी सिद्ध होती है। जब-तक किसी भी सूत्र की वासना सिद्ध न होवे तब-तक वह सर्वमान्य नहीं हो सकता है। वासना इस प्रकार से है—

माघ शुक्ल के आदि से तीन सौरमास के अन्तराल में पहिला विषुप दिन पड़ेगा। क्योंकि विषुप दिन सायन मेषादि और सायन तुलादि में ही पड़ता है। इसलिये युगादि से ६० सौर मासों में १२४ चान्द्रपक्ष होते हैं तो ३ सौरमास में कितने हुए? इस प्रकार अनुपात करने से यह नतीजा निकलता है।

$\frac{३ \times १२४}{६०} = \frac{३१}{५}$ यह शेष रक्खा। दूसरे विषुप में छः सौरमास होंगे, इसलिये उसके अन्तर्गत पक्ष $\frac{३१}{५} \times \frac{६}{३} = \frac{६२}{५}$ दो विषुप में क्षेप एक गुणा और तीन में द्विगुणा तथा चार में तिगुणा इस प्रकार से इष्ट विषुप में एक कम गुणा मानना पड़ेगा। अतः (वि—१) इसको पक्षों से गुणा कर देने से अभीष्ट विषुप संख्या आ जायेगी। अतः अभीष्ट विषुप संख्या =वि—१ अन्तर्गत पक्ष × पक्ष= $\frac{६२}{५}$ (वि—१)= $\frac{६२\text{वि.}}{५} - \frac{६२}{५}$ इसमें क्षेप को जोड़ देने पर युगादि से विषुप संख्या आ जावेगी।

$$\therefore \text{ पक्षा} = \frac{६२\text{वि.}}{५} - \frac{६२}{५} + \frac{३१}{५} = १२\frac{\text{वि.}}{} + \frac{२\text{वि.}}{५} - १२\frac{२}{५} + ६ + \frac{१}{५}$$

$$= १२ \text{ वि.} - ६ + \frac{२\text{वि.}}{५} - \frac{१}{५} = ६ \text{ (२ वि. — १) पक्ष} + \left(\frac{२\text{वि.}}{५} - \frac{१}{५}\right) \times १५ \text{ तिथि}$$

$$= ६ \text{ (२ वि. — १) पक्ष} + ३ \text{ (२ वि. — १) तिथि।}$$

यहां पर दो से गुणा करके दो से ही भाग देने पर राशि में कोई भी अन्तर नहीं होगा, इसलिये ६ (२ वि. — १) पक्ष+ $\frac{६(२ \text{ वि.} - १)}{२}$ इस प्रकार से आचार्य-कृत करण-सूत्र निष्पन्न हो गया। इसी अभिप्राय को आर्य ज्योतिष में भी एक करण-सूत्र है—

विषुवन् तद्गुणं द्वाभ्यां रूपहीनं तु षड्गुणम्।
यल्लब्धं तानि पर्वाणि तदर्धं सा तिथिर्भवेत्॥

इस प्रकार से आचार्य ने युग में विषुप का साधन किया है।

उत्तरायण और दक्षिणायन में तिथि नक्षत्र लाने का विचार—

वेगाउट्ठिगुणं तेसीदि सदं सहिद तिगुणगुणरूवं।
पण्णरभजिदे पव्वामेसा तिहिमाणमयणस्स॥

अर्थ—विवक्षित आवृत्ति में से एक घटाकर शेष को १८३ से गुणा कर के गुणनफल में गुणाकार को तीन से गुणा कर जोड़ दें और योगफल में एक और मिलाने से जो हो उसमें

१५ का भाग देने से लब्ध पर्व और शेष तिथि आयेगी। इस प्रकार से आचार्य ने तिथि और पर्व का अयन में साधन किया है। वेदाङ्ग-ज्योतिष और गर्गसंहिता में भी इसी आशय का सूत्र है। क्योंकि वहां पर भी पञ्चवर्षीय युग मानकर के ही उत्तरायण और दक्षिणायन में पर्व और तिथि का मान निकाला है। आचार्यकृत सूत्र की उपपत्ति बहुत आसानी से सिद्ध होती है। अत एव आचार्य की युक्ति महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। क्योंकि ज्योतिष-शास्त्र में जिसकी वासना सरल एवं सहज में सिद्ध हो वह सूत्र सर्वमान्य होता है। आचार्य की वासना निम्न प्रकार से है—इनके मत से एक अयन से दूसरे अयन-पर्यन्त तिथि की संख्या ६ अधिक होती है। अत एव एक अयन से दूसरे अयन-पर्यन्त चान्द्र दिन $= \frac{\text{चान्द्र वर्ष}}{२} = \frac{३७२}{२} = १८६$ तिथि अथवा चान्द्र दिन एक अयन से दूसरे अयन-पर्यन्त होते है। चान्द्र दिन में ३० से भाग दें तो लब्ध मास और शेष तिथि आयेगी। अतः १८६ ÷ ३०=६+६ यहां पर मासों को छोड़ दिया, क्योंकि प्रयोजन नहीं है: इसलिये ६ तिथि का ग्रहण किया। इससे सिद्ध हुआ कि प्रथम तिथि से द्वितीय तिथि ६ अधिक होती है। अतः १ + ६=७, ७+६ = १३, १३+६=१९, १९+६=२५, क्रम से १, ७, १३, १९, २५, १, ७, १३, २५ यहां पर जो संख्या १५ से अधिक है उसमें १५ का भाग देकर लब्ध को छोड़ दिया और शेष को ग्रहण किया तो १, ७, १३, ४, १०, १, ७, १३, ४ १० यह हुआ। अब दक्षिणायन से गणना की जाय तो प्रथम तिथि-संख्या दक्षिणायन में और दूसरी उत्तरायण में आयेगी।

नक्षत्र लाने की उपपत्ति

एक सौर वर्ष में चान्द्र दिन ३७२ और एक युग ५ वर्ष का होता है, इसलिये इस में रवि भगण ५ सौर मास ६० सौर दिन १८००, चान्द्र मास ६२, चान्द्र दिन १८६०, क्षय दिन ३० मध्रम वा नक्षत्रोदय १८३०, चान्द्र भगण ६५, चान्द्रसावन दिन १७६८, एक सौर वर्ष में सावन दिन ३६६, एक वर्ष में नक्षत्रोदय ३६७, एक अयन से दूसरे अयन-पर्यन्त सौर दिन १८०, एक अयन से दूसरे अयन तक सावन दिन १८३, २७ नक्षत्रों का भोग एक ही भगण में होता है।

$\therefore \frac{३६०}{२७} = \frac{\text{भगण}}{२७} = \frac{४०}{३}$ सौरांश=१ नक्षत्र $\frac{१८३ \times ३}{४०} = \frac{५४९}{४०} = १३\frac{२९}{४०}$ यह द्वितीय अयन का नक्षत्र-भाग हुआ। इस प्रकार से द्वितीय अयन पुष्यार्ध में उपपन्न हुआ। इस प्रकार से आचार्य की नक्षत्र-वासना युक्ति-संगत है और इसी प्रकार से नक्षत्र-आवृत्ति अयन की वासना संगत-सिद्ध होती है। यदि इसी पञ्चवर्षात्मक युग को मान कर आजकल भी आचार्यकृत करण-सूत्रों के आधार से सारिणी बनाई जाय तो पञ्चांग आसानी से बन सकता है। आधुनिक प्रचलित पञ्चांग प्रायः वेदाङ्ग-ज्योतिष के आधार पर है। परन्तु वेदाङ्ग-ज्योतिष

की मूल भित्ति को ही लेकर बाद के अजैन ऋषियों ने उसमें बड़ा सुधार किया है। इसी प्रकार जैन ज्योतिष के नियमों से भी यदि सारणी बनाने का परिश्रम किया जाय तो जैन ज्योतिष भी विकसित होकर महत्त्वपूर्ण ही नहीं किन्तु समस्त फलित, गणित, सिद्धान्त-सम्बन्धी ज्यौतिष-शास्त्र में गणमान्य स्थान को प्राप्त हो जायेगा। हमारे जैन ज्योतिष में फलित के अनेक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। निमित्त-शास्त्र जिनका फल बहुत ठीक घटता है ऐसे अनेक ग्रन्थ जैनियों के भी मौजूद हैं। कुछ ग्रन्थ निमित्त-शास्त्र-सम्बन्धी जैन सिद्धान्त-भवन आरा में भी मौजूद हैं। इन पर पुनः समय मिलने पर प्रकाश डाला जायगा।

गति-विचार :—

आचार्य ने सूर्य-चन्द्रमा की गति प्रथम योजनात्मक बतलाई है। फिर उसको कलात्मक करने की युक्ति भी बतलाई है। इस प्रकार से आचार्य ने ग्रहगणित की उपयोगिता के लिये दो तरह की गति निकाली है। फिर क्रम से प्रतिदिन के गतिमान के वृद्धि-ह्रास को भी बतलाया है। उन्होंने सूर्य की १८४ वीथी मानी है। प्रतिदिन सूर्य अपनी गति से एक वीथी को तय करता है—यह योजनात्मक गति है और जो गगन-खण्ड मान कर सूर्यादि ग्रहों की गति बतलाई है वह कलात्मक गति है। इसी प्रकार अजैन ज्योतिष-शास्त्र में भी सूर्यादि ग्रहों की गति दो प्रकार की बतलाई है। एक योजनात्मक दूसरी कलात्मक। ज्योतिष-शास्त्र के मत से सूर्य क्रान्ति-वृत्त में चलता है और चन्द्रमा विमण्डल में। सूर्य के घूमने के मार्ग का नाम अहोरात्र वृत्त है। प्रत्येक दिन का अहोरात्र वृत्त अलग-अलग होता है। इस प्रकार से एक अयन में १८३ और कुछ अधिक अर्थात् १८४ अहोरात्र वृत्त होते हैं। अजैन ज्योतिष-शास्त्र में भी १८४ वीथी : घटित होती हैं। केवल उन्होंने उसका नाम वृत्त रक्खा और आचार्य ने वीथी परन्तु वीथी और वृत्तका अर्थ परिभाषा के अनुसार एक ही है। यहां पर वृत्त शब्द से दीर्घवृत्ताकार लिया जाता है। या यों कहिये कि ढोलक के आकार का मार्ग वृत्त शब्द से लिया जाता है। सब ग्रहों की कक्षा दीर्घवृत्ताकार की ली जाती है। आचार्य की यही योजनात्मक गति अजैन ज्योतिष-ग्रन्थों में पायी जाती है। जैसे आचार्य ने गगनखण्ड-रूप गति बतला कर सूर्य-नक्षत्र और चन्द्र-नक्षत्र की सिद्धि की है उसी प्रकार से आधुनिक ज्योतिष के नियमों से भी सूर्य-नक्षत्र और चन्द्र-नक्षत्र का मान आता है। क्योंकि सिद्धान्त-शिरोमणि के गणिताध्याय में नक्षत्रानयन प्रकरण में आचार्य की व्यवस्था ही दृष्टिगत होती है—

स्थूलं कृतं मानयनं यदेतज्ज्योतिर्विदां संव्यवहारहेतोः।
सूक्ष्मं प्रवक्ष्येऽथ मुनि-प्रणीतं विवाहयात्रादिफल-प्रसिद्ध्यै॥

अध्यर्ध-भागानि (११८५।५२) पडत्र तज्ज्ञाः प्रोचुर्विशाखादिति भद्र वाणि। पडर्धभागानि च

(३९५।१७) भोगिरुद्रवातान्तकेन्द्राधिपवारुणानि ॥ शेषाण्यतः पञ्चदशकभोगान्युक्तो मभोगः शशिमध्यमुक्तिः (७९०।३५)।

इस प्रकार से चक्र कला मानकर अजैन ज्योतिष में कलात्मक गति को ही सूक्ष्म बतलाया है जो आचार्य की बतलाई गयी गति से मिलती है।

परिधि-विचार :—

परिधि के आनयन के लिये भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। परन्तु जिसकी वासना युक्ति-युक्त हो वही सर्वमान्य जानना चाहिये। त्रिलोकसार में जो आचार्य ने परिधि लाने का नियम बतलाया है वह सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसकी वासना ठीक है—

नियम—विक्खंभ वग्गदह गुणकरणी वट्टस्स परिरयोहोदि।

अर्थ—व्यास के वर्ग को १० से गुणा कर जो गुणनफल हो उसका वर्गमूल निकालने पर परिधि का मान आता है।

वासना—किसी भी वृत्त की परिधि के अनन्त हिस्से किये जायें और उसी माप के हिसाब से व्यास के भी टुकड़े किये जायें तो रूप-व्यास में परिधि का मान $\sqrt{१०}$ करणी आयेगा। यहां पर शंका हो सकती है कि परिधि तो चापाकार होती है और व्यास सरलाकार। फिर इन दोनों का अनुपात करके रूप-व्यास में $\sqrt{१०}$ करणी का ज्ञान कैसे किया? इसका उत्तर यह है कि किसी भी वृत्त का ९६ वां भाग चापाकार को छोड़ कर सरलाकार हो जाता है। इस नियम को सभी गणितज्ञ स्वीकार करते हैं; क्योंकि उपर्युक्त नियम मानने से ही प्रथम ज्या का साधन किया जाता है, अन्यथा प्रथम ज्या का साधन नहीं हो सकता। क्योंकि प्रथम ज्या प्रथम चाप-तुल्य मानी जाती है। इसलिये यह निर्विवाद सिद्ध है कि रूपव्यास में $\sqrt{१०}$ करणी परिधि का मान माना जाता है। अब इष्ट परिधि के लिये इष्ट व्यास से गुणा कर दें तो इष्ट परिधि आ जायेगी। परन्तु जब इष्ट व्यास को $\sqrt{१०}$ से गुणा करेंगे तो व्यास का भी वर्ग हो जायेगा। क्योंकि "वर्गं वर्गेण गुणयेत्" यह नियम है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि व्यास के वर्ग को १० से गुणा कर के वर्गमूल निकालें तो परिधि आयेगी। सूर्य सिद्धान्त में भी इसी फल के अनुकूल नियम बनाया गया है—"व्यासवर्गतो दशगुणात्पदं भूपरिधिः" यह नियम है; परन्तु नवीन आचार्यों ने इसका परिष्कार दूसरे रूप से किया है। सुधाकर द्विवेदी जी का मत है कि "व्यासवर्गतोऽदशात्पदं भूपरिधिः" इस प्रकार का परिष्कार मानना चाहिए और व्याख्या में भी इस प्रकार का परिवर्तन किया है कि "न दशान्यदश किञ्चिन्न्यूना दशतैर्गुणात्मकं भूपरिधिः" इस प्रकार की व्याख्या करते हैं। परन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है। सिद्धान्त-तत्त्वविवेक के अवलोकन से मालूम होता है कि उसमें संभवतः आचार्यकृत नियम का ही अनुसरण किया गया है—

व्यासवर्गाद्दशगुणात्पदं भूपरिधिर्भवेत् ।
व्यासः स्यात् परिधेर्वर्गाद्दिगमत्ताच्च पदं त्विह ॥

इसकी उपपत्ति के लिये भी यह प्रमाण दिया है—

रुद्राहतव्यासदलोत्थवृत्तेर्व्यासोत्क्रमज्यावशतः क्रमज्या ।
या तत्समोऽयं परिधिः सुसूक्ष्मो व्यासैकमानाद्दशमूलरूपा ॥

व्याख्या—रुद्राहतो यो व्यासस्तस्य दलेनोत्थं तस्मिन् व्यासतुल्या या उत्क्रमज्या तद्वशतः क्रमज्याऽर्धज्या या तत्सम एवायं सूक्ष्मपरिधिः स्यात् ।

क्षेत्रदर्शन

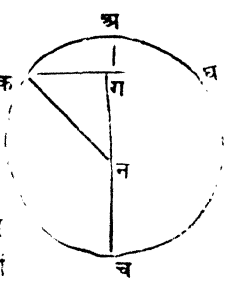

जैसे यहां पर अ घ च वृत्तक्षेत्र लिया जिसका कि व्यास अ च है और परिधि अ घ च क तथा उत्क्रमज्या अ ग है ∴ ११ × व्यास=अ च और अ ग=व्यास (उत्क्रमज्या) यहां पर उत्क्रमज्या शब्दसे व्यास जानना चाहिए। ∴ ग च=१०×व्यास

अतः अ ग × ग च=क ग×ग घ (रे० ३ अध्याय ३४ के) यदि वृत्त में दो पूर्ण ज्यायें संपात करती हों तो एक के दोनों खण्डों का गुणनफल दूसरी के दोनों खण्डों के गुणनफल के बराबर होता है। ऊपर क्षेत्र में अ च केन्द्रग पूर्ण जीवा है और यह जीवा क घ अकेन्द्रग पूर्ण जीवा पर लम्ब-रूप है तथा ग बिन्दु पर संपात भी करती है।

∴ क ग=ग घ (रे० ३ अ० ३ प्र०) तथा अ च रेखा के न बिन्दु पर सम और ग बिन्दु पर असम खण्ड हैं।

∴ ग च × अ ग+न ग²=न च² (रे० २ अ० ५ प्र०) अथवा अ ग × ग च+न ग²=न क²

∴ न क²=क ग²+न ग² (रे० १ अ० ४७ प्र०) अब यहां पर दोनों में से न ग² को अलग कर दिया तो क ग²=ग च×अ ग अथवा क ग²=क ग×ग घ ∴ क ग × ग घ=ग च × अ ग

∴ ग च×अ ग=क ग²=व्यास × १० व्यास=क ग²=व्यास × १० इसका वर्गमूल परिधि होगा। इस प्रकार से कमलाकर के सूत्र की वासना सिद्ध होती है। परन्तु कमलाकर और आचार्य के सूत्र में कोई भी भेद नहीं है। दोनों का अर्थ एक है। इसलिये संभवतः यह सिद्ध हुआ कि आचार्य का अनुसरण कमलाकर भट्ट ने किया हो। क्योंकि कमलाकर का जन्म १५८० शकाब्द में हुआ है; और नेमिचन्द्राचार्य इनसे बहुत पहले हुए हैं; इसलिये संभवतः यह मानना

पड़ता है कि आचार्य की मान्यता का ही अनुकरण कमलाकर भट्ट ने किया हो। आधुनिक ग्रह-गणित की उपयोगिता में भी ग्रहकक्षा की परिधि लाने के लिये इसी नियम की आवश्यकता होती है। क्योंकि सूक्ष्म परिधि इसी नियम से निकलती है तथा वृत्त-क्षेत्र का गणित भी ज्योतिष-शास्त्र में बहुत आवश्यक है। विना ज्या-चाप और परिधि गणित के ग्रह स्फुट नहीं हो सकते हैं। इसलिये ही आचार्य ने परिधि-नियम को सूक्ष्म बतलाया है। यह एक महत्त्व का विषय है। इसकी प्रशंसा आधुनिक और प्राचीन ग्रहगणित के जाननेवाले ज्योतिर्विदों ने की है। सिद्धान्त-शिरोमणि गोलाध्याय में भास्कराचार्य ने पचासो श्लोक इसकी प्रशंसा में लिख डाले हैं तथा आगे जाकर भू-परिधि का मध्यम और स्फुट मान निकालते समय भी इसी नियम का आश्रय लिया है। अत एव आचार्यकृत परिधि लाने का करण-सूत्र बहुत ही उपयोगी है।

बाण-ज्या-चाप-विचार :—

आचार्य ने बाण-ज्या-चाप के गणित को निकालने के लिये कई करण-सूत्र बतलाये हैं; जिनकी वासना भी युक्तियुक्त है और सूत्रों में भी लाघव किया है। अत एव गणित-ज्योतिष के विषय को ज्या-चाप का गणित बहुत ही पुष्ट करता है। गणित-शास्त्र में जो नियम लाघव का हो वही महत्त्वपूर्ण समझा जाता है; इसलिये आचार्यकृत ज्या-चाप-बाण का गणित बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। लीलावती, बीजसिद्धान्त आदि में इतने लाघव-पूर्ण एवं सूक्ष्म विषय को प्रतिपादन करनेवाले सूत्र नहीं मिल सकते हैं। उदाहरण के लिये एकाध नमूना पाठकों के सामने रखता हूं। बाण निकालने के लिये आचार्य का सूत्र :—

जीवाविक्खंभाणं वग्गविसेसस्स होदि जम्मूलम्।
तं विक्खंभा सोहय सेसद्धमिसुं विजाणाहि॥

अर्थ—जीवा के वर्ग को वृत्त के व्यास के वर्ग में से घटा कर जो शेष रहे उसका वर्गमूल जो आवे उसमें से व्यास को घटा देवें तो शेष का आधा करने से बाण आजायेगा। लीलावती का बाण लाने का सूत्र—

ज्याव्यासयोगान्तरघातमूलं व्यासस्तदूनो दलितः शरः स्यात्॥

अर्थ—ज्या और व्यास को योग और अन्तर करके दोनों का आपस में गुणा कर ले; फिर उसका वर्ग-मूल निकालें बाद उसमें से व्यास घटा देने और शेष को आधा कर देने पर बाण आजायेगा।

अब विचार कीजियेगा कि इस सूत्र के गणित में कितना गौरव है; क्योंकि योग और अन्तर पृथक-पृथक् कर के फिर गुणा करें तब गुणनफल वर्गान्तर-तुल्य होगा। किन्तु आचार्य ने सीधा वर्गान्तर ही बतलाया है। अत एव जिसमें थोड़ी क्रिया हो वह लाघव और जिसमें ज्यादा हो वह गौरव कहा जाता है। इससे आचार्य की कितनी गणितज्ञता

प्रकट होती है इस बात को गणितशास्त्र के जानकार ही समझ सकते हैं। आचार्य-कृत सूत्र की वासना निम्न प्रकार से सिद्ध होती है।

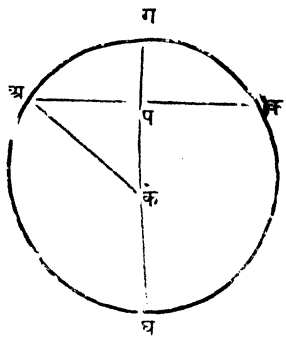

यहां पर ज्या शब्द से पूर्ण ज्या ही जानना चाहिये। कल्पना की कि अ क=ज्या के = वृत्तकेन्द्र। ग प = श र=श, ग घ = वृत्तव्यास = व्या०।

अब क्षेत्रमिति के नियम से—

$$\text{के}\overset{2}{\text{प}} = \text{अके} - \text{अय} = (\text{अके} + \text{अप})\ (\text{अके} - \text{अप})$$

इसको ४ से गुणा किया और ४ से ही भाग दिया तब

$$= \frac{४ \times (\text{अके} + \text{अप})\ (\text{अके} - \text{अप})}{४} =$$

$$\frac{(२\ \text{अके} \times २\ \text{अप})\ (२\ \text{अके} - २\ \text{अप})}{४} = \frac{(\text{व्या} + \text{ज्या})\ (\text{व्या} - \text{ज्या})}{४} = \frac{\text{व्या}^{२} - \text{ज्या}^{२}}{४}$$ क्योंकि

योगान्तर घात वर्गान्तर-तुल्य होता है। इसका वर्गमूल लिया तो

$$\text{के प} = \frac{\text{मू}}{२} \therefore \text{गप} = \text{केग} - \text{केप} = \frac{१}{२}\ \text{व्या} - \frac{\text{मू}}{२} = \frac{\text{व्या} - \text{मू}}{२} = \text{श}$$ इस प्रकार से आचार्य का सूत्र निष्पन्न होगया।

जीवा-चाप का गणित भी आचार्य का महत्त्वपूर्ण है। भास्कराचार्य जो कि गणित-शास्त्र के अद्वितीय ज्ञाता माने जाते हैं उन्होंने भी स्थूल जीवा को ही निकाला है। जैसे—लीलावती में लिखा है कि "स्थूलजीवाज्ञानार्थमाह"—'चापोननिघ्नपरिधिः प्रथमाह्वयस्यादित्यादि'। किन्तु आचार्य ने सूक्ष्मता बतलाने के लिये करणी-द्वारा जीवा तथा चाप को निकालने के लिये करणसूत्र बतलाये हैं। जो गणित करणी से निकाला जाता है वह बहुत ही सूक्ष्म आता है। आचार्यकृत करणसूत्रों की सूक्ष्मता को पुष्ट करने के लिये केवल वासना ही प्रमाणरूप है, जो कि सर्वथा गणितशास्त्र के मान्य है। ब्रह्म-सिद्धान्त जो कि गणित-ज्योतिष में बहुत प्राचीन माना जाता है, उसकी जीवानयन-क्रिया भास्कराचार्य से भी स्थूल है; क्योंकि उसकी वासना स्वल्पान्तर से ही सिद्ध होती है तथा भास्कर-वासना में भी स्वल्पान्तर की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु आचार्यकृत करण-सूत्र की वासना में स्वल्पान्तर की आवश्यकता नहीं पड़ती है। अत एव आचार्यकृत ज्या-चाप का गणित सर्वश्रेष्ठ है। इस गणित की ज्योतिषशास्त्र में बहुत ही आवश्यकता पड़ती है। अजैन ज्योतिष में ग्रहों की कक्षा दीर्घवृत्ताकार है और चलने का मार्ग भी वृत्ताकार है; इसलिये मध्यम ग्रह को मन्दस्फुट अथवा स्फुट बनाने में जीवा-तुल्य संस्कार करना पड़ता है, इसलिये ग्रहण आदि को सिद्ध करने के लिये जीवाचाप के गणित की नितान्त आवश्यकता होती है। जैन ज्योतिष में भी जीवा-चाप के गणित की अत्यावश्यकता है, क्योंकि प्रत्येक वीथी के बिना जीवा-चाप का

ज्ञान किये ग्रहों की गति का ज्ञान नहीं हो सकता है; अत एव जीवा-चाप का गणित ज्योतिषशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार से आचार्य ने ज्योतिष-शास्त्र पर प्रकाश डाला है। वेदाङ्ग-ज्योतिष की मान्यता और आचार्य की मान्यता में बहुत कम अन्तर है। वेदाङ्ग-ज्योतिष से ज्ञात होता है कि श्रविष्ठा (धनिष्ठा) नक्षत्र के आदि से सूर्य का उत्तरायण और अश्लेषा के अर्ध से दक्षिणायन होता है। यह उत्तर और दक्षिण गति का समय माघ और श्रावण मास में होता है। उत्तरायण और दक्षिणायन में दिन की बढ़ती और घटती एक प्रस्थ जल के बराबर मानी गई है। उक्त दोनों अयनों में दिन-रात्रि के मान में ६ मुहूर्त्त का भेद पड़ता है। धनिष्ठा के आदि में वत्सरारम्भ माना गया है। इसके पूर्वकाल में कभी वासंत विषुवहिन से कभी सूर्य के उत्तरायण के अन्त से वर्षारंभ गिना जाता था। इसी प्रकार से वेदाङ्ग-ज्योतिषकाल में चान्द्रमास पूर्णिमा से लिया जाता था। किन्तु आजकल अमावस्या से लिया जाता है। तैत्तिरीय संहिता के समय में वर्षारंभ माघी पूर्णा से होता था। परन्तु वेदाङ्ग-ज्योतिष में अमा से माना गया है। वेदाङ्ग-ज्योतिष के नियम से पञ्चवर्षीय युग मानकर पञ्चाङ्ग की मान्यता भारतवर्ष में बहुत समय तक रही है। शक की पाँचवीं शताब्दी में वराहमिहिर ने पञ्चाङ्ग की संस्कृति में परिवर्तन कर दिया, किन्तु अयन-प्रवृत्ति तथा सौर वर्ष और चान्द्र वर्ष के मान को वेदाङ्ग-ज्योतिष के अनुसार ही रक्खा। अपनी बृहत्संहिता में अयन-प्रवृत्ति लिखते हुए वराहमिहिर ने लिखा है :—

आश्लेषार्द्धादक्षिणमुत्तरमयनं रवेर्धनिष्ठार्द्धम
नूनं कदाचिदासीद्यं नोक्तं पूर्वशास्त्रेषु ॥

इस आर्या से ज्ञात होता है कि 'पूर्वशास्त्रेषु' से वेदाङ्ग-ज्योतिष का स्मरण किया है। पाराशर-तंत्र जो कि भारतीय ज्योतिष-शास्त्र में बहुत प्राचीन माना जाता है, उसकी मान्यता भी पञ्चवर्षीय युग को लेकर अयन, नक्षत्र, तिथि, पर्व, विषप, दिन तथा चक्रकला मानकर नक्षत्र-भुक्ति आदि की मान्यता आचार्य के ही अनुरूप है। पूर्वलिखित प्राचीन भारतीय ज्योतिष की मान्यता से मालूम होता है कि आचार्य की मान्यता प्रायः मिलती-जुलती है केवल उत्तरायण और दक्षिणायन की नक्षत्र-मान्यता में ही भेद है। क्योंकि आचार्य ने अभिजित् नक्षत्र से दक्षिणायन और हस्त नक्षत्र से उत्तरायण को माना है। शेष दिन-रात्रि का वृद्धि-ह्रास और नक्षत्र, पर्व, दिन आदि व्यवस्था पाराशर-तंत्र, आर्य-ज्योतिष, अथर्व-ज्योतिष, वेदाङ्ग-ज्योतिष आदि सुप्राचीन ग्रन्थों से प्रायः मिलती है। किन्तु गणित-विषय का प्रतिपादन आचार्य का इन ग्रन्थों से भी सूक्ष्म एवं महत्त्वपूर्ण है। यदि वेदाङ्ग-ज्योतिष के सूत्रों के अनुसार त्रिलोकसार में ४५ गाथा जो गणित-ज्योतिष-शास्त्र से सम्बन्ध रखती हैं, सुधार हो जाये तो उससे अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है। क्योंकि वेदाङ्ग-ज्योतिष में केवल ३६ ही कारिकायें हैं। उनकी ही मूल-भित्ति से आधुनिक ज्योतिषशास्त्र इस रूपमें है। इस प्रकार से नेमिचन्द्राचार्य का ज्योतिष-शास्त्रसे बहुत ही सम्बन्ध है और आप गणितज्योतिषके एक अच्छे विद्वान् थे इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

दाक्षिणात्य जैनधर्म

[ले०—श्रीयुत स्व० आर० ताताचार्य, एम० ए०, एल० टी०]*

.....:*:.....

जैनधर्म एक अनादिकालीन मत है—वह किसी प्राचीन धर्म की शाखा नहीं है। श्री-पुरुदेव के पूर्व भी जैन धर्म विद्यमान था। सच तो यह है कि जैनधर्म की प्राचीनता की चर्चा विश्व की प्राचीनता के समतुल्य है। संक्षेप में इस मत के मूल-तत्व यों कहे जा सकते हैं। जैनधर्म में जीवादि सात तत्त्व माने गये हैं। पंचास्तिकायों में जीव के स्वभाव का विस्तृत वर्णन है। जीव नित्य है। संसारावस्था में वह देहधारी है। इस देह के बन्धन से उसे मुक्त होना है। बस संसार से छूटना ही मोक्ष है। और इस बन्धन से छुड़ानेवाला भी कोई दूसरा नहीं है। प्रत्येक जीव स्वयं मुक्त होने की सामर्थ्य रखता है—वह चेतन है—ज्ञानमय है। सुयोग मिलना उसके लिये संभव है। स्वकृत कर्मों का शुभाशुभ फल जीव अकेला ही भोगता है। एक जीव के किए हुए पुण्य-पाप का भागी दूसरा जीव नहीं होता। जीव अपने हित के लिए दूसरों का मुंह ताकता बैठा रहे तो कुछ नहीं होगा। यह अवश्य है कि अग्रज पुरुषार्थी के मार्ग में कर्म और काल बाधक भी होते हैं। किन्तु कालोचित कार्य का फल प्राप्त होता ही है और उसमें सदसद् विवेचन करानेवाले उपदेश-दाता—सन्मार्गदर्शक आचार्य, उपाध्याय और साधु महानुभाव अपनी निसर्गज दयादृष्टि से सहायक होते हैं—वह हेयोपादेयदर्शक उपदेश-द्वारा जीवराशि को सद्गति दिला सकते हैं। इसके विपरीत यदि जीव उनके उपदेश को नहीं मानते हैं, पंचाणुव्रतों को नहीं पालते हैं, सप्त व्यसनों में मग्न रहते हैं और स्वेच्छाचारी बनते हैं तो निस्सन्देह उन्हें कभी भी चतुर्गति भ्रमण से छुटकारा नहीं मिल सकता। जैनाचार्यों का उपदेश परम्परा-प्राप्त आगम के अविरुद्ध और पूर्वापरविरोधरहित होता है। उससे जीवमात्र का हित सधता है। इनका उपकार चिरस्मरणीय है। दक्षिण भारत के जैनधर्म में इन गुरु महात्माओं का विशेष स्थान है। वहां सब से पहले हमें श्रुतकेवली भद्रबाहु जी का नाम मिलता है। शिलालेखों से स्पष्ट है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु

* स्व० ताताचार्य जी मद्रास प्रोविन्शियल एजुकेशन सरविस में डिस्ट्रिक्ट एजुकेशन ऑफिसर थे। वह जन्म से ब्राह्मण और वैदिक धर्म-भक्त थे। परंतु जैन क्रियाओं पर आप की विशेष श्रद्धा थी। मद्रास विश्वविद्यालय के लिये आपने अंग्रेजी में कुछ भाषण दिये थे—उनमें एक भाषण "जैन वाङ्मय" शीर्षक था। उसी से उपर्युक्त अंश संकलित करके कन्नड से हिन्दी रूप में उपस्थित किया जाता है।

—वर्द्धमान हेगडे

अपने शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त-सहित बारह हजार मुनियों को साथ लेकर दक्षिण भारत को आये थे। वह संघसहित मैसूर प्रान्त के श्रवणबेल्गोलस्थ कटवप्र पर्वत पर ठहरे थे। इन गुरुओं के शुभागमन से स्पष्ट है कि उस समय यह प्रदेश विशेष समृद्धिशाली था और वहाँ जैनधर्म की विशेष उन्नति थी। यह कहना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता कि इन मुनियों के आगमन से ही जैनधर्म दक्षिण में अंकुरित हुआ था। कन्नड-रामायण से स्पष्ट है कि श्रीमुनिसुव्रत तीर्थंकर के काल में श्रीरामचन्द्रजी दक्षिणभारत में आये थे और उन्होंने वहाँ जैनमुनियों की पूजा तथा चैत्यालयों की वन्दना की थी। अतः बहुत प्राचीन समय से ही दक्षिण देश में जैनधर्म विद्यमान था। ऐतिहासिकों के लिये श्रीभद्रबाहु स्वामी की दक्षिण-यात्रा जैनधर्म के इतिहास में विशेष महत्त्व रखती है।

जब उत्तर देश में दुष्काल का अन्त हो गया तो उनमें से कुछ साधुगण उल्टे वहां वापस चले गए। दक्षिण में रहे हुए उन महानुभावों के वेश, भाषा, शील, दयार्द्र भाव, सदाचार, सदुपदेश, समयोचित हितोपदेश इत्यादि बातों का प्रभाव दक्षिण देश के निवासियों पर पड़ा था—उन्होंने उनके चित्त को अपनी ओर आकृष्ट किया था और उनमें धर्मवात्सल्य सिरजा था। वे जैनव्रतों को पालते हुए धर्म में स्थिर हुए। बहुविद्या-प्रवीण जैनगुरुओं के उपदेश की सुलभता से बहुत से लोग उनके शिष्य हो गए। जैनियों ने राजदरबारों में विशेष सत्कार तो पाया ही, परंतु उनमें से बहुत से राजा, अमात्य और मंत्री पद को अलंकृत करते थे। इस तरह विद्या, धर्म और राज्याधिकार—इन तीनों बातों में जैनी अन्यमतावलम्बियों से उत्कृष्ट हुए। पाण्ड्य, चोल, पल्लवादि देशों में राजाश्रय पाकर जैनियों ने सुविधापूर्वक शास्त्र-पुराण-काव्य, शिल्प इत्यादि की अभिवृद्धि की। अनेक ग्रन्थों को संस्कृत, प्राकृत, तामिल, कन्नड आदि भाषाओं में रचा। तामिल भाषा में उन्होंने खूब साहित्य सिरजा। उनके पहले भी तामिल में प्रौढ़ वाङ्मय था। प्राचीन तामिल वाङ्मय में तीन पर्व हैं। उनमें से अन्तिम पर्व "कडैच्चंगं" में जैन ग्रन्थों को तामिल साहित्यिकों ने मिला लिया है। उनमें 'तिरुक्कुरल'—'नालदियार'—'पल्लिमोल्ली'—'नानुल्ली'—'चिंतामणि'—'शिलप्पदिकारं'—'वलणप्पदि' इत्यादि काव्य विशेष प्रशंसा के योग्य कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त 'पेरकदै' 'यशोधरकाव्य'—'चूडामणि'—'एलादी'—'कलिंगतुप्परणी'—'नन्नूल'—'नेमिनादं'—'यप्पारु' 'कलक्कारिकै' 'श्रीपुराणं'—'मेरुमंदर पुराणं' आदि तामिल जैन ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। निस्सन्देह तामिल भाषा में व्याकरण, छन्दःशास्त्र, जैनागम आदि-विषयक अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखकर तामिल वाङ्मय को उत्कृष्ट स्थिति में लानेवाले जैनी ही थे।

कावेरीप्पुंपट्टनं, उरैयूर, मदुरे इत्यादि बड़े बड़े शहरों में जैनियों के विशाल मंदिर और मठ थे। वे स्त्रियों को भी विद्याभ्यास कराते थे। जैनाचार्यों ने वर्तमान प्रचारशैली के

अनुरूप दिवाली, पूर्णिमा आदि त्यौहारों के अवसरों पर उच्च स्थानों पर खड़े होकर जन-समूहों को युक्तियुक्त हितकारी उपदेश बड़े मनोरंजक रीति से दिया था, जिससे देश एवं जाति की विशेष उन्नति हुई थी।

जैनसमाज के प्रसिद्ध आचार्य श्रीकुन्दकुन्द महाराज ने वंदवासी तालुकवर्ती पोन्नूरग्राम के निकट अवस्थित 'नीलगिरि' नामक पर्वत पर तपस्या की थी। इनके आश्रम में आकर कांची के पल्लववंशी शिवस्कन्दवर्म महाराज ने 'प्राभृतत्रय' सिद्धान्तग्रन्थ पढ़े थे। इन्हीं का दूसरा नाम एलाचार्य था। उन्होंने ही, प्रो० चक्रवर्ती के मतानुसार, तामिल साहित्य के श्रेष्ठ नीति-ग्रंथ 'कुरल' को रचा था। अन्य प्रमाणों से भी इस मत का पोषण होता है।

ईसवी सन के आरंभ में अथवा उसके एक-दो शताब्दी उपरान्त तक द्राविड़ देश में जैनी विशेष व्युत्पन्न और विद्वान रहे। उस समय देश भी समृद्धिशाली रहा था। जैन अपनी समाज और संघों को गण, गच्छ इत्यादि में विभक्त करके संगठित रूप में रहते थे और लोकमान्य थे।

तामिल देश के इतिहास में जैनधर्म तीसरी-चौथी शताब्दियों में नहीं-सा दिखाई देता है, परन्तु ७, वीं ८ वीं शताब्दियों में अत्यन्त उच्चस्थिति में विद्यमान था। गंगवाड़ि में दूसरी शताब्दी से लगभग ११ वीं शताब्दी तक शासन करनेवाले गंगवंशी राजाओं के द्वारा जैनधर्म को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था और उस काल में वह धर्म विशेष प्रबल था। "दर्शनसार" ग्रन्थ से विदित होता है कि करीब ४०० ई० में श्रीपूज्यपाद जी के शिष्य वज्रनन्दी ने दक्षिण मथुरा में एक 'द्राविड़संघ' स्थापित किया था। सभी दिगम्बर जैन उसके सदस्य थे। उसका मुख्य उद्देश्य जैनमत का प्रचार करना था। उसको पांड्यराज-द्वारा पूर्ण प्रोत्साहन मिला था। इसी कारण वह ब्राह्मणों के साम्प्रदायिक द्वेष से अछूत रहे। पाण्ड्यराजा सभी जैनी थे। छठवीं शताब्दी में तामिल देश की परिस्थिति बदल गई। 'कलभ्र' राजवंशियों से उत्तर मथुरा छीन लिया गया।

पांचवीं शताब्दी से अनेक शिवालय तामिल देश में निर्मित हुए, जिनके द्वारा शिवभक्ति का बहुत प्रचार हुआ। शिवलीला चरितार्थ करनेवाले अनेक लोकस्तोत्र तामिल भाषा में रच दिए गये थे। कुलोत्तुंग चोल के समय में (११५०) पल्लवदेश के वेलालकवि ने ४३०६ पद्यप्रमाण 'तिरुत्तोंडर' अथवा 'पेरियपुराण' रचा था। इस पुराण में शिवभक्तों का विशद वृत्तान्त है। साथ ही जैनियों की निंदा भी उसमें खूब की गई है। यदि निंदात्मक अंश को छोड़ कर उस रचना को देखा जाय तो उससे तत्कालीन जैनियों की परिस्थिति का बोध होता है। शैवों ने जिन बातों को नहीं लिखा है उन बातों का पता वैष्णव-प्रबन्धों से चलता है।

सातवीं-आठवीं शताब्दी में जैनधर्म के लिए पल्लव और पाण्ड्य देशों में पराभव के सिवाय कुछ और शेष न था। निरे शैव चोलराजा जैनमत के विरोधी थे। इस पर भी हम यह नहीं कह सकते कि इन प्रान्तों से जैनियों का शैवों ने समूल नाश किया हो। 'सम्बन्धर' आदि शैव महात्माओं की उत्तेजना से जो आठ हजार जैनी मृत्यु को प्राप्त हुए 'वे सभी प्रायः जैनियों के मुखिया थे'। इस प्रकार जैन धर्म पर यह प्रलयंकर संकट आया था। इसका कारण भी है। पहले से ही जैनी सिद्धांत, नीति, धर्म, शील, आचार, संस्कार, साहित्य आदि विषयों में निष्णात होकर राजाश्रय पाने में सफल हुए थे और अन्ततः राज्यभार के अधिकारी हुए थे। अजैनों के लिये जैनों की यह उन्नति असह्य थी—वे उनसे जलने लगे। उधर स्वयं जैनी रागद्वेष के वशवर्ती हो कर अपने पूर्व ध्येय से पतित हुए। क्रमेण यतियों और मुनियों की विद्वत्ता भी कम हो गई। इससे जैनसंघ स्वयं प्रतिभाहीन हुआ। बलात् बहुत से जैनी शैव बनाये गये—जो थोड़े से अपने मत पर दृढ़ थे वह तलवार के घाट उतार दिये गये। अतः ९-१० वीं शताब्दी में जैनधर्म प्रभाहीन हो गया।

किन्तु यह देखना उचित है कि तामिल देश के प्रति जैनियों ने क्या उपकार किया? यह मानी हुई बात है कि जैनी लोग पण्डित थे—शास्त्रज्ञ थे। उनमें अनेक कवि थे और वे लौकिक कलाओं में भी निपुण थे। परिणामतः जैनियों के सत्संग, सहवास और सहयोग से तामिल देश में उत्तम नीतिमार्ग प्रचलित हुआ। नीतिग्रन्थ अधिक लिखे गए। संस्कृत और प्राकृत साहित्य के ग्रन्थरत्नों को तामिल भाषा का जामा पहनाया गया। जब से तामिल साहित्य की बागडोर जैनियों के हाथ में आई तब से वह साहित्य विशेष प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त हुआ। यह हुआ भाषा—साहित्य के प्रति जैनियों का उपकार।

लोकसमाज के लिये जैनियों ने जो उपकार किया उसे कहना सुगम नहीं है। जैनियों के धर्मोपदेश और सद्धर्माचरण के माहात्म्य से जनता में अहिंसा-तत्त्व का ज्ञान विशेष घर कर गया और अधिकांश जनता मधु मांस-भक्षण की त्यागी हो गई। ब्राह्मण आदि उच्चवर्णी लोगों में से मांसाहार मिटाने में जैनियों का पवित्र जीवन ही कार्यकारी था। ब्राह्मणों पर इस अहिंसा सिद्धान्त का इतना ज्यादा प्रभाव पड़ा था कि यज्ञों में भी हिंसा बन्द हो गई—जीवहिंसा-रहित यज्ञ किये जाने लगे। लोगों की सैद्धांतिक मान्यताओं पर भी जैनधर्म का प्रभाव कार्यकारी हुआ। कतिपय विद्वानों का मत है कि विग्रहाराधना, पुराण पुरुषों की पूजा, गणपति पूजा, देवस्थान-निर्माण-प्रथा और जीर्णोद्धार-क्रिया इत्यादि शैव और वैष्णव मतों में जैनसंप्रदाय की देखादेखी प्रचलित हुई। निरंजन-निर्लेप भगवान की पूजा करने के लिये विग्रहादि वस्तुएँ आवश्यक होती हैं—परिणामतः जैनियों की अर्हत्पूजा केवलीपूजा इत्यादि धर्मक्रियाओं की नकल कर के शैवादि में उक्त रूढ़ियां प्रचलित हुई होंगी। उदाहरणतः

ग्रन्थाधार से कुछ रूढ़ियों को देखिए—

(१) श्रेयांस महाराज ने वैशाख शुद्ध तृतीया के दिन आदि तीर्थेश्वर को इक्षुरस का आहारदान दिया—उस दान को देवताओं ने 'अक्षयदान' कहा—इसीलिये 'अक्षयतृतीया' का त्यौहार प्रसिद्ध हुआ।

(२) भरत महाराज व्रतियों के सदाचार से प्रसन्न हुए और उन्हें 'ब्राह्मण' नाम से समलंकृत किया। उस समय उन्होंने प्रसन्न होकर पद्मनिधि से प्राप्त दिव्यसूत्र मंगाये और उन्हें उन ब्राह्मणों को प्रदान किये—उसमें उन्होंने उन व्रतियों के व्रत-शील-दृढ़चर्या को लक्ष्य कर के षड्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ ऐसे २७ दल तथा नव देवता-संकल्प से ९ मुख्य दल बना कर जनेऊ पहनाये। रत्नत्रय धारण करा के वस्त्राभरणादि से उनकी पूजा की और उन्हें गृह-ग्राम-क्षेत्रादि का दान दिया। इस दानोपलक्ष में श्रावण शुद्ध पूर्णिमा का श्रवण नक्षत्र उपाकर्म-पर्व-तिथि प्रसिद्ध हुआ।

(३) श्रीआदि परमेश्वर ने माघ वदी चतुर्दशी के दिन मोक्ष (शिव) प्राप्त किया था। देवेन्द्रादि चतुर्निकाय अमरलोगों ने आकर अष्ट द्रव्यों से कैलाश पर्वत की पूजा की और परिनिर्वाणकल्याणोत्सव मनाया, तभी से वह तिथि 'शिवरात्रि' के नाम से प्रचलित हुआ।

(४) साकेत नगर के आनंद महाराय ने गुरूपदेश से सूर्यमंडल-स्थित जिनदेव (की प्रतिमा) की त्रिकाल-पूजा-स्तवन किया, तब से सूर्योपासना प्रचलित हुई और 'सौरमत' चालू हुआ।

(५) अयोध्यापुर के रामस्वामी के त्रिजगद्भूषण-नामक गजेन्द्र मदमत्त हुआ और भरत को देखकर जातिस्मरण को प्राप्त हुआ। उसने खाना-पीना छोड़ दिया। अन्ततः त्रिज्ञान-धर मुनिवर्य ने राजा को उसका तात्पर्य बताया, तो उस गजेन्द्र को व्रत नियम धारण करा दिये। उसने शेष आयु में उन व्रत-उपवासों का दृढ़ता से पालन कर के मरण किया और वह देव हुआ। उस हाथी के प्रतिरूप को शिलाओं पर अंकित करके पूजने से वह देव प्रत्यक्ष होकर लोगों की अभीष्ट की पूर्ति करता था। वह देव देवों का अधीश था इसलिये 'गणेश' नाम से भाद्रपद शुद्ध चतुर्थी को प्रतिष्ठित किया गया, तब से गणेश-चौथ का त्यौहार प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार उपर्युक्त पर्वों और प्रथाओं का उद्गम जैनमत से हुआ प्रमाणित है।

अब ज़रा आइए, कर्णाटक देश में जैनधर्म की स्थिति पर विचार करें। सब से पहले वहाँ हमें सिंहनन्द्याचार्य मिलते हैं, जिन्होंने (गंगवंश के आदि पुरुष) राजकुमार दडिग और माधव के प्रति समवेदना प्रकट कर के उनको अपना शिष्य बनाया और उन्हें राजविद्यानिष्णात करके गंगराज्य की स्थापना कराई। यह राज्य 'गंगवाडि' नाम से प्रसिद्ध हुआ। गंगवाडि पर गंगराजाओं ने शासन किया। गंगवंश का पहला राजा माधव कोंगुणिवर्म हुआ; जिसका

समय हूण शक द्वितीय शताब्दी निर्णीत है। उस समय गंगवाडि में जैनधर्म ही राजधर्म था। गंगराजाओं में अविनीत के गुरु जैनमुनि कीर्तिदेव और दुर्विनीत के आचार्य पूज्यपाद थे। गंगवंश के २१ वें राजा राचमल्ल सत्यवाक्य के शासनकाल में उनके मंत्री और सेनापति चामुंडराय ने श्रवणबेल्गोल में श्रीगोम्मटेश्वर की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा करायी थी। जब-तक राजराजसेन चोल-द्वारा गंगराज्य का नाश नहीं हुआ तब-तक गंगवाडि में जैनधर्म को सुखद आश्रय प्राप्त रहा था।

गंग-काल के दुर्विनीत, गुणवर्म प्रथम, चामुंडराय, नागवर्म प्रभृति उल्लेखनीय कर्णाटक कवि थे।

चालुक्य साम्राज्य के अन्तर्गत भी जैनमत और जैनवाङ्मय को समुचित सम्मान प्राप्त हुआ था। पुलकेशी द्वितीय के राजगुरु श्रीरविकीर्ति थे। जयसिंहदेव के उपरान्त आठवें चालुक्य राजा विनयादित्य थे और उनके गुरु भी जैनाचार्य निरवद्य पण्डित थे। चालुक्य-राज द्वितीय विक्रमादित्य ने जिनभवन का जीर्णोद्धार करा कर उसके लिये जैनगुरु विजय पण्डितदेव को दान दिया था। इस प्रकार जिनधर्मवत्सल होते हुए भी चालुक्यराज अन्य मतों के विरुद्ध नहीं थे, यह एक विशेष बात है। राष्ट्रकूट राजाओं में शायद यह गुण नहीं था। उन्हें जैनधर्म का विशेष पक्षपात था। राष्ट्रकूट राजा गोविन्द द्वि० के शासनकाल में पूज्य जिनसेनाचार्य ने हूण शक ७८३ में 'हरिवंश' को रचा था। अमोघवर्ष प्रथम ने 'रत्नमालिका' नामक ग्रंथ की रचना की थी। उन्हीं के काल में श्रीमहावीराचार्य ने 'गणित-सार-संग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था।

जब दूसरी बार चालुक्यों का अभ्युदय हुआ तो जैनधर्म पूर्ववत् उन्नतावस्था में नहीं था। जैनमंदिरों को तोड़ कर मूर्तियां नष्टभ्रष्ट की गई थीं। परन्तु इस मर्तबा चालुक्य अधिक समय तक राज्य न कर सके; क्योंकि सन ११२६ में इनको पराजित कर के कलचूर्य लोग आक्रमण करते हुए आगे आये। यद्यपि कलचूर्य राज्य भी अल्पकालीन था। उस काल में जैनधर्म की प्रतिभा स्थापित न हो सकी— बल्कि उस पर अनेक आपत्तियां आईं। लिंगायत-मत के प्रवर्तकों ने उसका मूलोच्छेदन करना ही ठान लिया। बिज्जल का राज्य ही नष्ट किया गया। शैवग्रन्थों के देखने से जैनियों पर हुए अत्याचारों का पता चलता है। एक दो उदाहरण देखिये :

(१) 'मारुडिगे' नामक ग्राम में कडुगलि नाचय्य अकेला ही शिवभक्त था। वहां और सब जैनी रहते थे, जिनके १७०० जैनमंदिर थे। शिवालय केवल एक था। जैनियों ने शिवालय का दर्वाजा तोड़ डाला, तब नाचय्य ने युद्ध कर सैकड़ों जैनियों को तलवार के घाट उतार दिया और सैकड़ों को मार भगाया। जैनियों के १७०० जिनमंदिर और प्रतिमायें नष्ट कीं और इनमें शिवलिंग की प्रतिष्ठा कराई।

(२) कल्याण नगर में जैनियों पर जो आपत्ति आई, उसका मूलकारण उनके द्वारा शैवनिन्दा होनी थी। वहाँ शैवों ने जैनियों को समूल नाश करने के लिए जो पराक्रम दरसाया वह खेद और आश्चर्य का विषय है। उसका वर्णन कन्नड भाषा की एक कविता में किया गया है, जिसका भावार्थ यों है:—"उस नगर में जितने जैनमंदिर थे उनको नष्ट और जिनप्रतिमाओं को विध्वंश कर के शैवों ने सारे जैनियों को वहाँ से मार भगाया। नाममात्र के लिये एक भी जैन मंदिर या जिन-प्रतिमा कल्याण नगर में न रहे, इस उद्देश्य से रामदेव इत्यादि शैवभक्तों ने सब जैनमंदिरों को तोड़ डाला, जिनप्रतिमाओं के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और वहाँ के जैनियों को मार भगाया। जब लोगों ने जैनधर्मावलम्बी बिज्जलराय से चुगली खाई और यह खबर फैली कि उन्होंने अल्लप मादय्य की आँख फुड़वा डाली है तो शैवगण उनकी सभा में जा धमके और उन्हें मार डाला। इस प्रकार कलचूर्य राज्य नष्ट कर दिया गया।"

इस प्रकार के वर्णन शैवग्रन्थों में बहुत मिलते हैं। संभव है चिरकालीन पारम्परिक वैर के कारण जैनों ने भी विषम पक्ष भाषण का प्रयोग किया हो। कन्नड काव्यों में शैव और जैनों के पारस्परिक संघर्ष में पराजितों को त्रस्त किये जाने के विशद उल्लेख मिलते हैं। धर्म के नाम पर परस्पर द्वेष उत्पन्न होने से देश में क्षोभ फैला, जिसके परिणाम-स्वरूप उस समय के इतिहास और साहित्य में भी वह कलंक शेष रहा। वह तत्कालीन शोचनीय अवस्था का चिह्न है।

कर्णाटक देश के होय्सल-वंशी राजाओं के द्वारा भी जैनधर्म का उत्कर्ष विशेष हुआ था। होय्सल राजगण आदि से ही जैनधर्मावलम्बी थे। जब चोलों ने गंगराजाओं को पराजित कर दिया तब होय्सल (सन १००४ ई०) प्रबल हुए। इन्होंने बारी-बारी से चोलों को कर्णाटक देश से निकाल कर बाहर किया और बारहवीं शताब्दी में वह वहाँ के मुख्य राजा हो गये। मुनि शान्तिदेव के शिष्य राजा विनयादित्य से प्रारंभ हुए विट्टिदेव-पर्यन्त सभी होय्सल राजा जैनी थे। विट्टिदेव (सन ११११-११४५) को वैष्णव गुरु रामानुजाचार्य ने वैष्णवधर्म में दीक्षित किया था, जिसके कारण जैनधर्म का वह आदर होय्सलों में न रहा। एक ओर लिंगायतों के उपद्रव और दूसरी ओर चोलों के आक्रमण—जैनधर्म की रीढ़ तोड़ने के लिये काफी हुए। फिर भी विष्णु के मन्त्री गङ्गराय और नरसिंह के मन्त्री हुल्ल ने जैनधर्म का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया, जिससे जैनधर्म का समूल नाश दक्षिण भारत से नहीं हो सका। हाँ, वह क्षीणप्रभ हो गया। जैनधर्म के मुख्याचरण शैव और वैष्णवों द्वारा स्वीकृत हुए। यद्यपि जैनधर्म राजाश्रय-हीन हो गया था, फिर भी गुणग्राही राजा लोग जैन गुरुओं, विद्वानों और नेताओं का यथोचित आदर करते थे।

एक बार श्रवणबेल्गोल के मठ की वार्षिक सहायता को हैदरअली खाँ ने बन्द कर दिया

था; परन्तु उपरान्त उसने जैन देवालयों के लिए बहुत से ग्राम छोड़ दिये थे। उसके बाद किसी भी राजा ने जैनों से द्रोह नहीं किया।

यद्यपि होयसल शासन के अन्तिम काल में जैनधर्म का किंचित् अनादर हुआ, परंतु दक्षिण कन्नड और तौलव राज्य में जैनधर्म अभ्युदय का कारण हुआ था। वहां के जैनी सन्मार्ग-दर्शक ही नहीं साहित्य-स्रष्टा भी रहे। वहां बहुत-से ग्रन्थ लिखे गए। यह प्रथा थी कि उत्तमोत्तम प्राकृत, संस्कृत, और कन्नड भाषा के ग्रन्थ को लिखवा कर जैन मठों में विराजमान कर के पूजा जाये। कवि मालव, चन्द्रसागर वर्णी, रत्नाकर कवि आदि जैन विद्वानों को उदार आश्रय भी मिला था। करीब १४वीं शताब्दी में साम्प्रदायिक-विद्वेष बहुत कम हो गया और लोग प्रेम से रहने लगे। परिणामतः साहित्य में भी नवीनता आ गई। विजय-नगर के राजाओं द्वारा जैनधर्म पर कोई उपद्रव नहीं हुआ; बल्कि बुक्कराय (१३५३—१३७७) ने जैन और वैष्णवों में परस्पर सन्धि करा दी थी।

जैनियों के द्वारा हुए उपकारों में पहला उपकार देशभाषा का संस्कारित किया जाना था। इनमें अनेक लक्षण-ग्रंथ रचे गए। इसके अतिरिक्त सुगम रीति से जीवादि तत्त्वों का निरूपण करना तथा सर्वजनोपयोगी साहित्य सिरजना यह भी जैनों का उपकार था। आजकल के भौतिक शास्त्रज्ञ भी उसकी महत्ता स्वीकार करते हैं। पाश्चात्य विद्वानों में से कुछ ने जैनशास्त्रों को पढ़ कर मधु-मांस त्याग दिया है। दक्षिण भारत पर भी जैन-अहिंसा का प्रभाव पड़ा था।

अनुवादक— मा० वर्द्धमान हेगडे

कोपण — कोप्पल *

[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

श्रीमान स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य, श्रीमान दिवंगत के० बी० पाठक, प्रोफेसर कीलहार्न एवं श्रीयुत कृष्णशास्त्री आदि विद्वानों ने निजाम राज्यान्तर्गत रायचूर की नैऋत्य दिशा में वर्तमान कोप्पल को ही प्राचीन कोपण अनुमान किया था। किन्तु कोप्पलस्थ चन्द्रबंडि एवं वेङ्कटरमणदेवालय में उपलब्ध इधर के शिलालेखों से तो अब यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि कोप्पल ही प्राचीन कोपण था।

यह स्थान ई० पूर्व ३ री शताब्दी से भी पूर्व का सिद्ध होता है। इसके लिये कोप्पल के निकटवर्ती गविमठ और पाल्कीगुंडि के पर्वत-मूल में प्राप्त सम्राट् अशोक के शिलालेख ही साक्षी हैं। निजाम कर्णाटक के मस्कि नामक स्थान में उपलब्ध सम्राट् अशोक का दूसरा लेख भी कोप्पल से केवल ५४ मील दूरी पर है। एरगुडि के शिलालेखों का अन्तर भी इन शिलालेखों से सिर्फ ९४ मील का है। उक्त पाल्कीगुंडि पर्वत से पश्चिम इसी पर्वत की एक दूसरी श्रेणी दक्षिण से उत्तर की ओर अर्धचन्द्राकार से फैली हुई है। यहां के वृद्धजन इसी को इन्द्रकील पर्वत मानते हैं। इतना ही नहीं, पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिये अर्जुन ने उक्त इन्द्रकील पर्वत के जिस स्थान पर खड़े होकर तपस्या की थी उस स्थान को भी वे यहीं दिखलाते हैं। 'हंदियगुंडु' 'पांडवरबट्टल' आदि स्थानों को और तत्रत्य एक शिवालय को वे अर्जुन का महादेव के प्रत्यक्षीकरण का स्थान बताते हैं। यहां के 'मलिमल्लप' नामक पहाड़ के ऊपर सुप्राचीनकाल के मकानों एवं बहुत पुराने जमाने के अनेक कब्रस्तानों के चिह्न दृष्टि-गोचर होते हैं। हैदराबाद आर्कियोलॉजिकल विभाग के डाइरेक्टर का मत है कि इस तरह के कब्रस्तान ईजिप्ट, यूरप खण्ड के कुछ भाग, एसिया माइनर, सिन्ध, बंगाल एवं निजाम-राज्यान्तर्गत रायगिरि आदि स्थानों में पाये गये हैं। परन्तु हैदराबाद आर्कियोलॉजिकल सीरिज नं० १२ (कोप्पलद कन्नड शासनगलु) के विद्वान सम्पादक, मद्रास-प्रान्त के शासन-विभाग के सुपरिन्टेन्डेन्ट श्रीमान सी० आर० कृष्णमाचार्लु का अभिप्राय है कि स्थानीय जनता में प्रचलित इन कब्रस्तानों के नाम को परम्परागत एवं सार्थक मान लेने पर इन्हें

* यह 'कर्णाटक साहित्य-परिषत्पत्रिका' भाग २२, अंक ३ में प्रकाशित श्रीमान् स्वर्गीय ना० भा० शास्त्री के लिखे इसी शीर्षक के कन्नड लेख का सारांश है।

—के० बी० शास्त्री

इधर मौर्यकाल तक खींच लाना समुचित होगा। इस पहाड़ के आस-पास भी कुछ प्राचीन चिह्न दृष्टिगत होते है।

महाराज नृपतुंग (सन ८१५—८७५) और महाकवि रन्न (सन ९९३) की उक्तियों से यह एक बहुकालीन प्रख्यात महानगर तथा पवित्र तीर्थ सिद्ध होता है। यह बात पिकारिपुर के नं० ३१७ (सन १२०५) के शिलालेख से भी पुष्ट होती है। चावुंडरायपुराण के 'असिधारा-व्रतदिंदे' इस पद्य से अवगत होता है कि तत्कालीन जैनी कोपण में सल्लेखनापूर्वक देह-त्याग करना विशेष पुण्यप्रद मानते थे। कुमारसेन मुनि के पवित्र जीवन को अङ्कित करने के सुअवसर पर भी इन्होंने कोपण को उक्त मुनि महाराज का मुक्तिस्थान (?) बतलाकर इस स्थान की प्रशंसा की है। इस से भी व्यक्त होता है कि उस समय कोपण का माहात्म्य अतिशय समुज्वल था। वास्तव में भारतीयों को पवित्र एवं पुण्यतम स्थान तीर्थक्षेत्र ही है। स्थानीय 'चंद्रवंडे' में प्राप्त एक शिलालेख एवं श्रवणबेल्गोल के नं० ३८४ (सन ११३५ लगभग) और ३४५ (सन् ११५६) के लेखों में कोपण को क्रमशः तीर्थ, आदितीर्थ तथा महातीर्थ कहा गया है। श्रवणबेल्गोल के नं० ४५५ का एक अन्य शिलालेख यहाँ तक लिखता है—कोपण तीर्थ के उच्चारणमात्र से मानो कैवल्य की प्राप्ति होती है। नगरतालुक के नं० ४६ (सन १५३० लगभग) का एक लेख भी कोपण को तीर्थों में अग्र स्थान प्रदान करता है। साथ ही साथ ज्ञात होता है कि इसी कोपण में आहवमल्ल एवं राजेन्द्रदेव चोल में युद्ध हुआ था। क्योंकि सर जॉन माल्कम साहब और नंजुंडदेव कवि (सन १५२५ लगभग या ७०) के वाक्यों से सिद्ध होता है कि पुरातन समय में यहाँ पर एक सुदृढ़ दुर्ग मौजूद था। दक्षिण आर्काट जिला के कल्लकुरु तालुक के 'मंजकुप्पे' एवं 'तिरुवल्लं' इन स्थानों में प्राप्त चोलराज राजेन्द्रदेव के दूसरे और तीसरे साल के शिलालेखान्तर्गत उक्त युद्धवर्णन से भी कोपण ही इन शासकों का रणक्षेत्र सिद्ध होता है। डा० फ्लीट ने इन शिलालेखों का जो अर्थ किया है वह सी० आर० कृष्णमाचार्लु के मत से सर्वथा भ्रमपूर्ण है। डा० साहब ने कोल्हापुर की आग्नेय दिशा में लगभग ३० मील दूरी पर कृष्णानदी के तट पर अवस्थित 'खिद्रापुर' को ही चालुक्य-राज प्रथम आहवमल्ल एवं चोलराज राजेन्द्रदेव की युद्धभूमि अनुमान की थी। पर कृष्णमा-चार्लु इस कोपण या कोप्पल को ही उल्लिखित शासकों का संग्राम-क्षेत्र मानते हैं।

स्थानीय जनश्रुति एवं अन्यान्य ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि पहले कोपण में असंख्य भव्य जिनमन्दिर मौजूद थे। इन मन्दिरों में निम्नलिखित बारह मन्दिरों के नाम ऐतिहासिक-रीत्या सिद्ध हो चुके हैं:—

(१) सान्तलदेवि बसदि (२) तिमम्बरसि बसदि (३) तीर्थ बसदि (४) अरसि बसदि (५) नागदेव बसदि (६) दण्णायक बसदि (७) चन्द्रनाथ बसदि (८) शान्तिनाथ बसदि (९) कुश बसदि (१०) पुष्पदन्त बसदि (११) जयधीर बसदि (१२) नेमिनाथ बसदि।

अब यह विचार करना है कि उक्त वे असंख्य जिनमन्दिर हुए क्या? कोपण जब

महा तीर्थ-रूप में था, ज्ञात होता है कि उस प्राचीनतम काल में वर्तमान दुर्ग एवं नगर के बाहर की चहार-दीवाली आदि नहीं रहे होंगे। पता नहीं लगता कि विद्यमान दुर्ग तथा चहार-दीवाली किसने बनवायी। यह चहारदीवाली चालुक्य-कालीन कला के ढंग की है। मालूम होता है कि पीछे से बीजापुर के बादशाह एवं टीपू सुल्तान के किलेदारों (दुर्गपतियों) ने इसका जीर्णोद्धार करवाया। नगर और पर्वत के ऊपर के जैनमन्दिर नष्ट होने पर इन्हीं के पत्थरों से नगर के बाहर एवं पहाड़ के ऊपर के प्राकार बन गये हैं। यह केवल तर्क की बात नहीं है; जहाँ-तहाँ इनमें मन्दिर के महाद्वार में अंकित जिनप्रतिमायें एवं चित्रमय स्तंभ आदि मन्दिर के अन्यान्य भाग प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं।

प्राकार के दक्षिण भाग में उपस्थित 'कोरविय कोत्तल' की दीवाल पर बीस से ऊपर शिला-लेख और शिलालेखों के टुकड़े चुने हुए हैं। इनमें कतिपय शिलालेख विशुद्ध काले पत्थर के हैं। इन शिलालेखों की लिपियाँ नवमी शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक की है। इनके अतिरिक्त उजले पत्थर के भी कुछ स्तम्भ एवं शहतीर आदि में खुदी हुई लिपियाँ छठी शताब्दी की हैं। बल्कि इसे 'कोरविय कोत्तल' न कह कर 'शासन कोत्तल' कहना ही अधिक समुचित प्रतीत होता है। दीवाल बनानेवालों ने इन शिलालेखों का जैसे-तैसे ऊपर-नीचे, टेढ़ा-सीधा स्वेच्छानुसार उपयोग किया है।

पूर्वकाल में कोपण में कृष्ण-शिलानिर्मित अति सुन्दर जिनालय भी अनेक मौजूद थे यों अनुमान करना निराधार नहीं है। दुर्ग में वर्तमान वेंकटेश देवालय के महाद्वार के दक्षिण पार्श्व में अन्दर 'पौलि' (अर्थात मन्दिर के सामने का हिस्सा) में एवं वाम पार्श्व में स्थित सार्वजनिक 'श्रीगजाननवाचनालय' में जो सुन्दर कलापूर्ण श्वेतप्रस्तराङ्कित चार स्तम्भ मौजूद हैं इनके चारों ओर पद्मासनमण्डित कई जिनबिम्ब ही इसके लिये उज्ज्वल दृष्टांत हैं। ऐसे ही स्तम्भ दुर्ग के दक्षिण भाग में वर्तमान कृष्णमन्दिर तथा सिरसपे मठ के शिवालय और इसके बाहर भी उपलब्ध होते हैं। पूर्वोक्त वेंकटेश देवालय भी जिनालय के ढंग का है। महाद्वार में वर्तमान जिनबिम्बों को प्रायः तोड़ एवं उनके गड्ढों को मसाले से भर कर अब वह श्रीकार लिखने के काम में लाया जाता है। निजाम कर्णाटक इतिहास संशोधक समिति के संग्रहालय में बीस अंगुल लंबा, सोलह अंगुल चौड़ा और चार फूट लंबा, दो फूट चौड़ा ऐसे काले पत्थर की दो पटियाँ रक्षित हैं। इनमें प्रत्येक अंगुल पर एक-एक सुलक्षण जिनबिम्ब खुदा हुआ है। स्थानीय डगूकन बावि—डगूक का कुंआ भी ध्वंश जिनालयों के पत्थरों से ही बंधा हुआ है। मगर ये पत्थर श्वेतजिनालयों के हैं। यों पत्थर तो खुरदरा है फिर भी इसका हस्तकौशल दर्शनीय है।

इस प्रकार सम्राट् अशोक (ई० पू० २७२) के समय से बौद्ध साधुओं के विहार, जैन-मुनियों के मन्दिर, दुर्ग, प्राकार आदि समरोत्साह से योद्धाओं का रणक्षेत्र एवं विशुद्ध कन्नड-वाङ्मय का क्षेत्र बनने का सौभाग्य जिस कोपण को प्राप्त हुआ था वह वर्तमान कोप्पल ही है—यों निर्विवाद सिद्ध हुआ।

आचार्य वादिराज और उनकी रचनाएं

[लेखक—श्रीयुत पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

दिगम्बर जैन साहित्यके रचयिता ग्रन्थकारों और टीकाकारोंमें आचार्य वादिराजका भी वही स्थान है जो अकलंक आदि आचार्योंका है। आचार्य वादिराज अपने समयके एक प्रसिद्ध तार्किक विद्वान थे। सिद्धान्त-शास्त्रके अच्छे मर्मज्ञ विद्वान होते हुए भी व्याकरण, काव्य, कोष और अलंकारादि विषयोंमें आपकी अच्छी गति थी। साथ ही, आप एक साहित्यिक, कवि और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। आपकी कविता बड़ी ही सरस तथा हृदय-ग्राहिणी है और प्रासादादि गुणों से युक्त है। आपके उपलब्ध काव्य-ग्रन्थोंका रसास्वादन करने और "न्याय-विनिश्चय-विवरण" नामकी टीकाकी भली भांति अवलोकन करने से आपकी विद्वत्ता का यथेष्ट परिचय मिल जाता है; साथ ही, आपकी चमत्कारिणी बुद्धि और सर्वतोमुखी प्रतिभा का भी दिग्दर्शन हो जाता है। और इसीलिये आपकी षट्तर्क-षण्मुख, स्याद्वादविद्यापति और जगदेकमल्लवादि आदि अनेक उपाधियाँ थीं जैसा कि निम्न शिलावाक्यसे प्रकट है :—

"षट्तर्कषण्मुखकः स्याद्वादविद्यापतिर्गलु जगदेकमल्लवादि-
गलं पनिसिद श्रीवादिराज देवरुम।"

(Vide No. 39 Nagar Taluq Mr. Rice.

वादिराज सूरि सभामें बोलनेके लिये अकलंकदेवके समान हैं और कीर्तिमें न्यायबिन्दु आदि प्रसिद्ध तार्किक ग्रन्थोंके कर्ता बौद्ध विद्वान धर्मकीर्तिके समान हैं। वचनोंमें बृहस्पति (चार्वाक)के समान हैं और न्यायवादमें अक्षपाद (गौतम)के समान है। इस तरहसे वादिराज इन भिन्न-भिन्न धर्म-गुरुओंके एकीभूत प्रतिनिधित्वके समान शोभित होते हैं *।

इसके सिवाय, वादिराजसूरिकी विद्वत्ता आदिके विषयमें श्रवणबेल्गोलकी 'मल्लिषेण-

* सदसि यदकलंकः कीर्तने धर्मकीर्ति —
वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।
इतिसमयगुरूणामेकतः संगतानां
प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः॥

(Vide, Ins. N. 39, Nagar Taluq by Mr. Rice)

प्रशस्ति' नामक शिलालेखमें, जो शक संवत् १०५० और वि० सं० ११८५ में उत्कीर्ण हुआ है, लिखे हुए प्रशंसात्मक पद्योंसे स्पष्ट जाना जाता है कि वादिराज अपने समयके एक प्रसिद्ध तार्किक और वादविजेता विद्वान् थे—उनके सामने प्रवादियोंका गर्व चूर हो जाता था—राजा जयसिंहकी राजधानी सिंहपुरमें उनका विशेष प्रभाव एवं महत्त्व विद्यमान था। और वे उस समयके प्रायः सभी विद्वानोंमें शिरोमणि गिने जाते थे। 'मल्लिषेणप्रशस्ति'के उन प्रशंसात्मक पद्योंको लेखवृद्धिके भयसे छोड़ा जाता है। उनमेंसे सिर्फ एक पद्य यहां नमूनेके तौरपर दिया जाता है और वह इस प्रकार है :—

आकृष्टाम्बरमिन्दुबिम्ब-रचितौत्सुक्यं सदा यद्यश—
श्छत्रं वाक्चमरीजराजि-रुचयोऽभ्यर्णं च यत्कर्णयोः।
यत्पादः सिंहसमर्च्य-पीठ-विभवः सर्व-प्रवादि-प्रजा
दत्तोच्चैर्जयकार-सार-महिमा श्रीवादिराजो विदाम् ॥

अर्थात् जिनका यशो-रूपी छत्र आकाशमें व्याप्त था और जिसने चन्द्रमाको उत्सुकता उत्पन्न कर दी थी—अर्थात् उनका यश चन्द्रमासे भी अधिक समुज्ज्वल था। स्मृतिवाक्यरूपी चमरसमूहकी किरणें जिनके कानोंके समीप पड़ती थीं। तथा जयसिंह नरेशसे जिनका सिंहासन पूजित था और सर्व प्रवादि-प्रजा उच्चस्वरसे जिनका जय-जय कार गाया करती थी ऐसे आचार्य वादिराज विद्वानों के द्वारा सेवनीय हैं।

एकीभावस्तोत्रके अन्तमें किसी कविके द्वारा बनाया हुआ एक पद्य वादिराजकी प्रशंसामें निम्न प्रकार से पाया गया है :—

वादिराजमनुशाब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंहः।
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनुभव्यसहायः ॥

अर्थात् जितने वैयाकरण हैं, जितने नैयायिक हैं, जितने कवि हैं और जितने भव्य सहायक हैं वे सब वादिराजसे पीछे हैं अर्थात् वादिराजके समान वैयाकरण, नैयायिक और कवि नहीं हैं।

आचार्य वादिराज नन्दिसंघके आचार्य थे। उनके अन्वयका नाम अरुंगल था*। परन्तु यह नंदिसंघ वह नंदिसंघ नहीं है जिसकी गणना चार संघोंमें की गई है, अपि तु यह द्रमिल अथवा द्राविड संघका एक भेद है जिसकी स्थापना आचार्य पूज्यपाद या देवनन्दीके

* श्रीमद्द्रमिलसंघे प्रस्मिन्नन्दिसंघे प्रसन्नकृतः।
अन्वयो भाति योऽशेषशास्त्रवारांशिपारगः ॥

(Vide, Ins. N. 39 Nagar Taluq.)

शिष्य वज्रनन्दीने की थी और जिसकी गणना इन्द्रनंदीके कथनानुसार पांच जैनाभासोंमें§ की जाती है।‖ जान पड़ता है कि द्राविड़ देशमें होनेके कारण ही उसका नाम 'द्राविड-संघ' पड़ा है।

आचार्य वादिराजकी जन्मभूमि, पितृकुल और जीवन-संबंधी घटनाओं आदिका कोई भी परिचय उपलब्ध नहीं होता जिससे उनके जीवन-संबंधमें यथेष्ट प्रकाश डाला जा सके। परन्तु फिर भी 'पार्श्वनाथचरित' आदिकी प्रशस्तिसे इतना तो निश्चित ही है कि आचार्य वादिराज सिंहपुरके निवासी त्रैविद्येश्वर श्रीपालदेवके प्रशिष्य और मतिसागर मुनिके शिष्य तथा सुप्रसिद्ध 'रूपसिद्धि'¶ नामक ग्रन्थके कर्ता दयापाल मुनिके सब्रह्मचारी‖ या सहाध्यायी थे+।

'पंचवस्ति' के तृतीय शिलालेखमें जो कि 1147 A. D. और विक्रम सं० १२०४ का खुदा हुआ है वादिराजको गंगवंशीय राचमल्ल चतुर्थ, सत्यवाक्यका भी गुरु लिखा है जो 977 A. D. या वि० सं० १०३४ में गद्दीपर बैठा था और समर-केशरी चामुण्डराय जैन जिसका सेनापति था।×

आचार्य वादिराज का समय प्रायः विक्रमकी ११वीं शताब्दी सुनिश्चित है क्योंकि वादिराजने स्वयं अपने 'पार्श्वनाथचरित'की प्रशस्तिमें ग्रन्थ-निर्माणका समय शक संवत् ९४७ (विक्रम सं० १०८२) दिया है। जिससे उनका समय ११ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध ही मालूम होता है। वह प्रशस्ति निम्न प्रकार है:—

श्रीजैनसारस्वतपुण्यतीर्थनित्यावगाहामलबुद्धिसत्वैः।
प्रसिद्धभागो मुनिपुंगवेन्द्रैः श्रीनन्दिसंघोऽस्ति निवर्हितांहाः॥ १॥

---

§ बाबू हीरालालजी एम० ए० के मत से यह संघ इन 'जैनाभासों' से भिन्न नन्दिसंघके ही अंतर्भुक्त है। देखो 'जैनशिलालेख-संग्रह' भू० पृष्ठ ६४८। —के० बी० शास्त्री

‖ गोपुच्छकः श्वेतवासो द्राविडो यापनीयकः।
निःपिच्छकश्चेति पंचेति जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥
(नीतिसार इंद्रनंदी)

¶ हितैषिणो यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हितरूपसिद्धिः।
वन्द्यो दयापालमुनिः स वाचा सिद्धः सतां मूर्धनि यः प्रभावैः॥

‖ 'एकब्रह्मव्रताचारा मिथः सब्रह्मचारिणः। अमरकोशः—ब्रह्मवर्ग, श्लोक नं० ११।

+ यस्य श्रीमतिसागरो गुरुरसौ चन्द्रप्रभश्चन्द्रमूः
श्रीमान्यस्य स वादिराजगणभृत्सब्रह्मचारी विभोः।
एकोऽतीव कृती स एव हि दयापालव्रती यन्मन—
स्यास्तामन्यपरिग्रहग्रहकथा स्वे विग्रहे विग्रहः॥
देखो, श्रवणबेल्गोल-मल्लिषेण-प्रशस्ति।

× देखो, मिडियावल जैनिज्म, पृष्ठ ४७।

तस्मिन्नभूदुद्यतसंयमश्रीस्त्रैविद्यविद्याधरगीतकीर्तिः ।
सूरिः स्वयंसिंहपुरैकमुख्यः श्रीपालदेवो नयवर्त्मशाली ॥ २ ॥
तस्याभवद्भव्यपयोरुहाणां तमोपहो नित्यमहोदयश्रीः ।
निषेधदुर्मार्गनयप्रभावः शिष्योत्तमः श्रीमतिसागरस्य ॥ ३ ॥
तत्पादपद्मभ्रमरेण भूम्ना निःश्रेयसः श्रीरतिलोलुपेन ।
श्रीवादिराजेन कथा निबद्धा जैनी स्वबुद्ध्येयमनिर्दयापि ॥ ४ ॥
शाकाब्दे नगवार्धिरंध्रगणने संवत्सरे क्रोधने
मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने ।
सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनी कथेयं मया
निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ॥ ५ ॥
लक्ष्मीवासे वसतिकटके कट्टगातीरभूमौ
कामावाप्तिप्रमदसुभगे सिंहचक्रेश्वरस्य ।
निष्पन्नोऽयं नवरससुधास्यंदसिंधुप्रबन्धो
जीयादुच्चैर्जिनपतिभवप्रक्रमैकांतपुण्यः ॥ ६ ॥

भावार्थ—श्रीजैनवाङ्मय रूपी पुण्यतीर्थमें अवगाहन करनेसे निर्मल बुद्धिरूप सत्त्व जिन्हें प्राप्त हुआ है, ऐसे मुनिश्रेष्ठोंके द्वारा यह निर्दोष नन्दिसंघ प्रसिद्ध हुआ है ।१। उस प्रसिद्ध नंदिसंघमें अद्भुत संयमरूप लक्ष्मीवाले और त्रैविद्य-विद्याधरोंके द्वारा जिनकी कीर्ति गाई गई है तथा न्यायमार्ग पर चलनेवाले, सिंहपुरमें एक अद्वितीय 'श्रीपालदेव' नामके एक प्रसिद्ध आचार्य थे ।२। उनके भव्यरूपी कमलोंके अंधकारको नष्ट करनेवाले तथा जिनकी लक्ष्मी निरन्तर ही उदयको प्राप्त है और जो कुमार्गरूपी नयके प्रभावका निषेध करनेवाले हैं ऐसे श्रीमतिसागर नामके शिष्योत्तम प्रधान शिष्य हुए ।३। उनके चरण कमलोंके भ्रमर अर्थात् शिष्य और मुक्तिरूपी लक्ष्मीके लोलुप वादिराजने इस जैनी निर्दोष कथाको स्वयं अपनी बुद्धिसे रचा है ।४। आचार्य वादिराजने इस 'पार्श्वनाथचरित'को क्रोधन संवत्सरमें शक सं० ९४० वि० सं० १०८२ में कार्तिक मासकी शुद्ध तृतीयाके दिन राजा जयसिंह नरेशकी राजधानी सिंहपुरमें उनके राज्यशासन कालमें—बना कर समाप्त किया है वह तुम्हारे कल्याणके लिये हो ।५। जिस समय राजा जयसिंहकी राजधानी कट्टगानदीके+ किनारेपर लक्ष्मीवास नामक स्थानमें धन-धान्य तथा हर्षादिसे परिपूर्ण थी, उस समय पार्श्वनाथ जिनपतिके जीवन-वृत्तान्तोंसे अद्वितीय पुण्यवर्धक और नवरसरूप अमृतके बहावसे निकला हुआ यह सिन्धु-प्रबन्ध भले प्रकार जयवंत हो ।६।

इतिहासका अवलोकन करनेसे मालूम होता है कि जयसिंह नरेश पश्चिमी चालुक्य

+ प्रयत्न करनेपर भी यह मालूम नहीं हो सका कि यह 'कट्टगा' नदी कहाँ पर है ।

वंशमें हुए हैं। यह अच्छे प्रतापी, न्यायप्रिय और शासन-व्यवस्थामें दक्ष थे। पृथिवी-वल्लभ, महाराजाधिराज परमेश्वर, चालुक्यचक्रेश्वर, परम भट्टारक और जगदेकमल्ल आदि उपाधियोंके धारक थे। इन्हें तृतीय जयसिंह कहते हैं*। इनके समयके अनेक शिलालेख और ताम्रपत्र पाये जाते हैं। परन्तु उनसे उनके राज्यारोहण आदिका कोई निश्चित समय उपलब्ध नहीं होता। उन सब शिलालेखोंमेंसे सबसे पहला लेख शक सं० ९३८ (वि० सं० १०७३) का है और सबसे पिछला शक सं० ९६४ (वि० सं० १०९९) का है जिससे इतना तो सहज ही में निश्चय हो जाता है कि राजा जयसिंह ने शक संवत् ९३८ से ९६४ तक २६ वर्ष राज्य किया है। और उसके बाद उनके राज्य का उत्तराधिकारी उनका पुत्र सोमेश्वर (आहवमल्ल) हुआ था।

राजा जयसिंह बड़ा पराक्रमी-शूरवीर और धर्मात्मा था। इसे विद्या से विशेष प्रेम था, इसी कारण 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' में जयसिंह की राजधानी को 'वाग्वधूजन्मभूमौ' पद दिया हुआ है। जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जयसिंह नरेशकी राजधानीमें विद्याकी विशेष गूंज थी, और वहाँ बड़े बड़े वाग्मी, कवि, नैयायिक एवं प्रतिभासम्पन्न वादी विद्वान रहते थे। इसके राज्यमें आचार्य वादिराजने बड़ी ख्याति प्राप्त की थी और जयसिंह नरेश-द्वारा इन्हें 'जगदेकमल्लवादि' नामका विरुद भी प्राप्त हुआ था।

शक संवत् ९४५ पौष कृष्ण दोयजके एक शिलालेखसे तो यह बात भी जानी जाती है कि राजाओंके राजा जयसिंहने—जो भोजरूपकमलके लिये चन्द्र और राजेन्द्रचोल (परकेशरीवर्मा) हाथीके लिये सिंहके समान था। मालवावालोंके सम्मिलित सैन्यका पराजय किया—उन्हें शिकस्त दी—और चेर तथा चोलवालोंके लिये भी सजा दी।*

यद्यपि यह बात निश्चित रूपसे नहीं कही जा सकती कि जयसिंह नरेश जैनी थे, परन्तु उनकी जैनधर्ममें श्रद्धा जरूर थी और वह आचार्य वादिराजकी तपस्या, विद्वत्ता और उनकी काव्य-शक्ति पर अतिशय मुग्ध थे। वे उनका उचित सम्मान करते थे। इसी कारण जैनधर्म और उनके अनुयायियोंपर उनकी विशेष कृपा-दृष्टि रही होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। वे उन्हें केवल आदरकी दृष्टिसे ही नहीं देखते थे किन्तु उनकी भक्ति भी करते थे। इसीलिये 'मल्लिषेण-प्रशस्ति'में 'सिंहसमर्च्यपीठविभवः' पद वादिराजके प्रति विशेषणरूपसे दिया हुआ है, जिससे जयसिंह नरेश-द्वारा उनके सम्मानित होनेका स्पष्ट समर्थन होता है। और यही

* देखो मिडियावल जैनिज्म, पृ० ४५।

* परन्तु कई ऐतिहासिक विद्वान इस बातसे सहमत नहीं हैं कि जयसिंह नरेशने राजा भोजको हराया था।

कारण है कि आचार्य वादिराजने प्रायः अपनी सभी ग्रन्थ-रचनाएँ जयसिंह नरेशकी राजधानीमें ही की हैं*।

आचार्य वादिराजकी इस समय तक छह कृतियोंका पता चलता है। एकीभावस्तोत्र, पार्श्वनाथचरित, काकुत्स्थचरित, यशोधरचरित, न्यायविनिश्चयविवरण और प्रमाणनिर्णय। शेष पाँचों उपलब्ध ग्रन्थोंमेंसे ४ प्रकाशित भी हो चुके हैं और एक न्यायविनिश्चयविवरण अभी मुद्रित नहीं हुआ है। और काकुत्थचरित उपलब्ध नहीं हुआ है। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

एकीभावस्तोत्र

यह एक छोटा सा संस्कृतका स्तोत्र ग्रंथ है जिसकी श्लोक-संख्या सिर्फ २५+ है, छन्द मन्दाक्रान्ता है। यह स्तोत्र सरस और भक्तिरसरूप-माधुर्यसे ओत-प्रोत है। इसको एकबार पढ़ कर फिर छोड़नेको जी नहीं चाहता। दि० जैनसमाजमें इसका विशेष आदर है। कहा जाता है कि इस स्तवनके माहात्म्यसे आचार्य वादिराजका कुष्ठरोग दूर हो गया था।

* 'न्यायविनिश्चय-विवरण' और पार्श्वनाथ बस्तिकी प्रशस्तिपरसे यह बात स्पष्ट रूपसे जानी जाती है।

+ एकीभावस्तोत्रके अन्तमें एक पद्य और भी पाया जाता है जिसमें आचार्य वादिराजकी खूब प्रशंसा की गई है। उसकी रचना आदि परसे स्पष्ट जाना जाता है कि यह श्लोक स्वयं वादिराजका बनाया हुआ नहीं है, किन्तु उनके किसी शिष्य-द्वारा बनाया हुआ जान पड़ता है; इसी लिये उसे मूल ग्रन्थ में शामिल नहीं किया गया है।

इसकी कथा संक्षिप्त रूपसे इस प्रकार है :—

सुनते हैं एक समय आचार्य वादिराजको कुष्ठ रोग हो गया था। राजा जयसिंहके दरबारमें जब इस बातकी चर्चा चली तब वहाँ बैठे हुए एक गुरुभक्त श्रावकसे पूछे जानेपर उसने गुरु निन्दाके भयसे कह दिया कि हमारे गुरु वादिराज कोढ़ी नहीं हैं। इसपर बहुत देर तक बहस एवं ज़िद हुई। अन्तमें यह स्थिर हुआ कि महाराज स्वयं चलकर वादिराजको देखेंगे। गुरुभक्त श्रावकने उस समय कह तो दिया परन्तु पीछेसे उसे बड़ी चिन्ता हुई। अतः और कोई उपाय न देखकर, गुरुजीके पास जाकर उसने अपनी सब भूल प्रकट कर दी और कहा कि अब लाज रखना आपके ही हाथ है। तब उसके चित्तकी घबड़ाहट दूर करते हुए आचार्य श्रीने कहा कि चिन्ताकी कोई बात नहीं है, धर्मके प्रसादसे सब ठीक हो जायेगा। कहते हैं कि आचार्य वादिराजने उसी समय 'एकीभावस्तोत्र' की रचना प्रारंभ कर दी, उस स्तवनके प्रभाव एवं माहात्म्यसे वादिराजका कुष्ठ रोग दूर हो गया और शरीर सुवर्ण जैसी कान्तिवाला बन गया। दूसरे दिन राजा जयसिंहने जब जाकर वादिराजको स्वयं देखा, तो उनका शरीर विकार-रहित सुवर्ण सी कान्तिवाला था, उस समय उनके शरीरमें व्याधिका कोई भी चिन्ह अवशिष्ट न था यह देखकर उन्होंने उस पुरुषकी ओर रोषभरी दृष्टिसे देखा जिसने दरबारमें उक्त बातका जिक्र किया था। मुनिराजने राजाकी इस रोषभरी दृष्टिको पहिचानकर कहा कि राजन्! उस पुरुषपर गुस्सा न कीजिये, उसने ज़रा भी असत्य नहीं कहा है,—उस समय मैं सचमुच कोढ़ी था और धर्मके प्रभावसे आज ही मेरा कुष्ठ दूर हुआ है और रोगका कुछ अंश अब भी इस कनिष्ठिका अंगुलीमें मौजूद है। राजाको यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और भक्तिपूर्वक नमस्कार कर नगरको वापिस लौट आये।

और उनका कुछ आभास 'एकीभावस्तोत्र'के चतुर्थ पद्यमें स्पष्ट जाना जाता है। वह पद्य इस प्रकार है:—

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्या-
त्पृथ्वी-चक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम्।
ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्ट-
स्तत्किं चित्रं जिनवपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि ॥४॥

अर्थ— हे भगवन्! स्वर्गलोकसे माताके गर्भमें आनेके छह महीने पहलेसे ही जब आपने इस पृथ्वी-मण्डलको सुवर्णमय कर दिया, तब ध्यानके द्वारसे मेरे सुन्दर अन्तर्गृहमें प्रवेश कर चुकने पर यदि आप मेरे शरीरको सुवर्णमय कर दें तो इसमें क्या आश्चर्य है? इसके सिवाय, एकीभावस्तोत्र* के ३ रे, ५ वें और ७ वें पद्यका भाव भी इससे बहुत कुछ मिलता जुलता है।

पार्श्वनाथ चरित†

यह एक संस्कृतका काव्य-ग्रन्थ है। इसमें १२ सर्ग हैं। इस ग्रन्थमें वादिराजने अपनेसे पूर्व होनेवाले कुछ—ग्रन्थकर्ताओंका, उनकी कृतियों आदिके साथ स्मरण किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र, अकलंक, वादिसिंह, सन्मति, जिनसेन, अनंतकीर्ति, पाल्यकीर्ति, धनंजय, अनंतवीर्य, विद्यानंद और वीरनंदी। यह ग्रन्थ काव्यकी दृष्टिसे बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें भगवान पार्श्वनाथ और कमठके जीवन-वृत्तान्तके साथ-साथ, कमठके द्वारा होनेवाले उपसर्गोंको जीत कर परमात्मपद-प्राप्तिका कितना ही सुन्दर एवं सरस वर्णन है। यद्यपि मेरी इच्छा थी कि पार्श्वनाथचरितके कुछ चुने हुए सुन्दर पद्योंका पाठकोंको रसास्वादन कराऊँ, परन्तु लेख-वृद्धिके भय और अनवकाशके कारण ऐसा नहीं कर सका। पाठकोंसे अनुरोध है कि वे उक्त ग्रन्थका अभ्यास कर उसकी विशेषताएँ मालूम करें।

काकुत्स्थचरित

यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। परन्तु नामसे मालूम होता है कि इस ग्रन्थमें संभवतः रामचन्द्रजीका चरित वर्णित होगा; क्योंकि 'काकुत्स्थ' शब्द रामचन्द्र और रघुवंशके लिये भी आता है। ग्रन्थकारने स्वयं इसके बनानेका उल्लेख 'यशोधरचरित'के प्रथम सर्गके छठवें श्लोक में किया है—

---

* यह स्तोत्र संस्कृत-हिन्दी टीका के साथ शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

† यह ग्रन्थ 'माणिकचंद्र ग्रंथमाला' में नं० ४ पर प्रकाशित हो चुका है।

श्रीपार्श्वनाथकाकुत्स्थचरितं येन कीर्तितम् ।
तेन श्रीवादिराजेन दृब्धा यशोधरी कथा ॥

इसमें बताया है कि जिसने पार्श्वनाथपति और काकुत्स्थचरित की रचना की, उसी वादिराजने यह यशोधर चरित बनाया है। परन्तु न मालूम यह ग्रन्थ किस भाण्डारकी कालकोठरीमें दीमक कीटकादिका भक्ष्य बना होगा। अस्तु, जिनवाणीके प्रेमियोंका कर्तव्य है कि वे इसकी खोज-कर प्रकाशमें लाएँ, जिससे इस विषयका निर्णय हो जाय।

यशोधरचरित

उक्त दोनों काव्य-ग्रन्थोंका निर्माण होनेके बाद इस ग्रन्थकी रचना की गई है और इस बातको इस काव्यमें स्वयं ग्रन्थकारने सूचित किया है। यशोधरचरित संस्कृतका एक छोटा सा चतुःसर्गात्मक काव्य-ग्रन्थ है। इसमें महाराज यशोधरका चरित बड़ी ही खूबीके साथ वर्णित है। ग्रन्थकी भाषा सरल और सुपाठ्य है। रचना-सौन्दर्य देखते ही बनता है। कथनशैली रोचक और हृदयस्पर्शिनी है।

न्यायविनिश्चय-विवरण

सातवीं शताब्दीके सुप्रसिद्ध आचार्य अकलंकदेवका 'न्यायविनिश्चय' नामका ग्रन्थ बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथपर आचार्य वादिराजने एक विस्तृत टीका लिखी है, जिसका नाम न्यायविनिश्चयविवरण अथवा 'तात्पर्यविद्योतनी व्याख्यानरत्नमाला'* है। यह टीका बहुत ही अच्छी और विषयको स्पष्ट करनेवाली है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण, उपयोगी और प्रमेय-बहुल है। परन्तु इसकी महत्ता और उपादेयताको वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने जैनदर्शनका, स्याद्वाद और अनेकान्त-वादके रहस्यका अच्छी तरहसे परिशीलन या अनुभव किया है।

इस ग्रन्थमें कितने ही मतोंका—विद्वानों और उनकी मान्यताओंका, सयुक्तिक खण्डन किया गया है। और जैनदर्शनकी मान्यताओंका बड़ी खूबीके साथ—अनेकान्त पद्धतिसे तथा विवेचनात्मक रूपसे मंडन किया गया है। न्यायविनिश्चयविवरणमें—बौद्धविद्वान धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, उद्योतक, शबर, विश्वरूप, सुमतिदेव, वेदमस्तक, व्योमशिव, भासर्वज्ञ, विन्ध्यावासिन, मण्डनमिश्र, कुमारिल, आत्रेय, धर्मोत्तर और शान्तभद्र आदि विद्वानोंकी मान्यताओंका निरसन किया गया है। खासकर, धर्मकीर्तिके 'प्रमाणवार्तिकालंकार' और प्रज्ञाकरके वार्तिकालंकारके भिन्न-भिन्न श्लोकोंका आनुपूर्वीसे खण्डन किया गया है। साथ ही, 'हेतुबिन्दु' और अर्चटकी

* न्यायविनिश्चयविवरण-प्रशस्तिमें इसी नामका द्योतक पद्य इस प्रकार है—
व्याख्यानरत्नमालेयं स्फुरन्नयदीधिति । (?)
क्रियतां हृदि विद्वद्भिस्तुदती मानसं तमः ॥

टीकाका भी यत्र-तत्र निरसन पाया जाता है। इसके सिवाय, समन्तभद्र आदि जैनाचार्योंकी युक्तियोंको प्रमाणरूपमें उद्धृत किया गया है।

इस ग्रन्थमें 'स्याद्वादमहार्णव' नामके एक न्यायग्रन्थका एक श्लोक उद्धृत किया गया है—

यथोक्तं स्याद्वादमहार्णवे—

सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
प्रत्यक्षियानुमेया स्याद्यनाकान्तासमागमे ॥

परन्तु प्रयत्न करने पर भी मुझे यह मालूम न हो सका कि यह ग्रंथ कहां है, किस आचार्यका बनाया हुआ है और उनका परिचय क्या है? यद्यपि यह पद्य अष्टसहस्रीमें भी पाया जाता है, परन्तु उससे ग्रन्थ व ग्रंथकर्ता आदिका कोई पता नहीं चलता है। फिर भी, यह न्यायका कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अवश्य मालूम होता है। इस ग्रन्थके विषयमें अन्वेषण होना चाहिये, जिससे उक्त ग्रन्थ कालकोठरियोंसे बचकर प्रकाशमें आजाय। आशा है, धर्मप्रेमी और जिनवाणी-भक्त सज्जन इसकी खोज करनेका प्रयत्न करेंगे। इस ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिके निम्न पद्योंसे भी यह बात निश्चित हो जाती है कि इस टीकाकी रचना भी राजा जयसिंहकी राजधानीमें ही हुई है। यथा:—

श्रीमत्सिंहमहीपतेः परिषदि प्रख्यातवादाग्रणी—
स्तर्कन्यायनयोपहोदयगिरिः सारस्वतः श्रीनिधिः।
शिष्यः श्रीविजयस्य विदुषां पर्युस्तपक्षश्रीभृतां,
भातः सिंहपुरेश्वरो विजयते स्याद्वादविद्यापतिः ॥१॥

प्रमाणनिर्णय

आपका छठा ग्रन्थ 'प्रमाणनिर्णय' है। यह न्याय-विषयका एक स्वतंत्र ग्रन्थ है, इसमें प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष और आगम नामके चार परिच्छेद हैं। इस ग्रन्थके प्रत्येक परिच्छेदके अन्तिम श्लोकमें 'देव'के मतका संक्षिप्त दिग्दर्शन इसमें कराया गया है। इस ग्रन्थकी रचना 'न्यायविनिश्चय'की 'व्याख्यान-रत्नमाला' नामकी टीकाके बादमें हुई है; क्योंकि पृष्ठ १६ पर दिये हुए उद्धरणके साथ एक कारिकाभी उद्धृत की गई है जिससे इस बातकी पुष्टि हो जाती है। उद्धरण-सहित वह कारिका इस प्रकार है:—

'अतीतेऽर्थे परामर्शात्मकत्वं स्याद्धूमवेदमानसप्रत्यक्षस्य प्रतिपादितमलङ्कारे'

इदमित्यादिप्रज्ञानमभ्यासात्पुरतः स्थिते।
साक्षात्कारणन्तत्र प्रत्यक्षं मानसं मतम् ॥

यह ग्रन्थ न्याय-शास्त्रके जिज्ञासुओं के लिये बहुत उपयोगी हैं। आशा है कि पाठक-गण आचार्य वादिराजके ग्रन्थोंका परिशीलन करेंगे।

इसके सिवाय पं० नाथूरामजी प्रेमी पार्श्वनाथचरितकी भूमिकामें लिखते है कि एक सूचीपत्रमें वादिराजके चार और ग्रन्थोंके नाम मिलते है। उनके नाम इस प्रकार हैं— रुक्मणियशोविजय, वादमंजरी, धर्मरत्नाकर और अकलंकाष्टक-टीका, परन्तु ये ग्रन्थ अभीतक मेरे देखने में नहीं आये। इसलिये, ये ग्रन्थ जबतक सामने न हों, तब तक इनके देखे बिना कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि इनके कर्त्ता यही वादिराज हैं या अन्य कोई दूसरे वादिराज नामके विद्वान् हैं। क्योंकि वादिराज नामके कई विद्वान् हो गये हैं।

१ एक वादिराज पोमराजके पुत्र हुए हैं—जिन्होंने 'ज्ञानलोचन' नामका स्तवन बनाया है।

२ एक वादिराज 'अध्यात्माष्टक' और 'वाग्भटालंकार टीका'के कर्त्ता हुए हैं।

३ एक वादिराज 'यशोधरचरित' कर्नाटकके कर्त्ता हुए हैं।* संभव है उन ग्रन्थोंके कर्त्ता इनमेंसे कोई एक वादिराज हो और यह भी संभव है कि शायद उन ग्रन्थोंके कर्त्ता भी यही वादिराज हों। अस्तु उन ग्रन्थोंका परिशीलन किये विना निश्चय रूपमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

वीरसेवामंदिर, सरसावा
ता० २०-८-१९३९

* कन्नड 'यशोधरचरित' के कर्त्ता वादिराजका पता नहीं लगता है। —के० बी० शास्त्री

विविध-विषय

(१)

'नयविवरण' के सम्बन्ध में

'भास्कर' भाग ६, किरण १ में, "नयविवरण का कर्ता कौन है ?" शीर्षक का पं० सुमेरचन्द्र जी दिवाकर का एक छोटा सा निबन्ध प्रकाशित हुआ है। दिवाकर जी ने प्रथमगुच्छक में 'नयविवरण' के नाम से मुद्रित कारिकाओं का तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक की कुछ कारिकाओं से मिलान कर के यह निष्कर्ष निकाला है कि नयविवरण विद्यानन्दिस्वामी की ही अमूल्य रचना है। जहां तक मुझे स्मरण है, 'जैनहितैषी' की किसी फाइल में 'नयविवरण' के संबंध में एक लेख मेरे दृष्टिगोचर हुआ था, और संभवतः उसके लेखक पं० जुगल किशोर जी मुख्तार थे। उसमें भी संभवतः यही निष्कर्ष निकाला गया था। वास्तव में तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के 'प्रमाणनयैरधिगमः' और 'नैगमसंग्रह' इत्यादि सूत्र की वार्तिकों के साथ 'नयविवरण' की वार्तिकों का मिलान करने पर इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि किसी विद्वान् ने उक्त सूत्रों की वार्तिकों को अपनी समझ के अनुसार सङ्कलित कर के, उनमें प्रतिपादित विषय के अनुरूप उसका 'नयविवरण' नाम रख दिया है, जो सर्वथा अनुरूप है।

'नयविवरण' में मुद्रित नं० ५ की जो कारिका मुद्रित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में नहीं पाई जाती, हमारे विद्यालय के अकलंक-सरस्वती-भवन की लिखित प्रति में मौजूद है जिसका क्रम निम्न प्रकार है—

"स्वार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणं नय इत्यसत्।
स्वार्थैकदेशनिर्णीतलक्षणो हि नयः स्मृतः ॥

'नयः प्रमाणमेव स्वार्थव्यवसायकत्वादिष्टप्रमाणवत्, विपर्ययो वा, ततो न प्रमाणनयोर्भेदोऽस्ति, येनाभ्यर्हितेतरता चिन्त्या', इति कश्चित्, तदसत्, नयस्य स्वार्थैकदेशलक्षणत्वेन स्वार्थनिश्चायकत्वासिद्धेः।

स्वार्थांशस्यापि वस्तुत्वे तत्परिच्छेदको नयः।
प्रमाणमन्यथा मिथ्याज्ञानं प्राप्तः स इत्यसत् ॥

स्वार्थैकदेशोऽपि यदि वस्तु तदा तत्परिच्छेदी नयः प्रमाणमेव, वस्तुपरिच्छेदलक्षणत्वात् प्रमाणस्य। स न चेद्वस्तु, तद्विषयो मिथ्याज्ञानमेव स्यात्, तस्यावस्तुविषयत्वलक्षणत्वात् इति चोद्यमसदेव, कुतः।"

इस प्रकार नं० ५ की कारिका की समस्या सुलझ जाती है। 'नयविवरण' के अन्त में

एक पद्य और मुद्रित है, जो तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में नहीं पाया जाता। श्रीयुत पं० के० भुजबली जी शास्त्री इसे संग्रहकर्ता का समझते हैं।* किन्तु वह पद्य प्रातःस्मरणीय श्रीभगवद् भट्टाकलंक के 'न्यायविनिश्चय' नामक प्रकरण का प्रथम परिच्छेद का दूसरा पद्य है। न्याय-कुमुदचन्द्र की भूमिका* में मैंने उसे उद्धृत भी किया है। प्रकरणों के अन्त में प्रायः इस प्रकार के पद्य देने की पुरानी रीति है। संग्रहकार ने 'नयविवरण' को एक प्रकरण बनाने में जो कुछ कमी थी, उसे भट्टाकलंक के उक्त पद्य को उद्धृत कर के पूरा कर दिया जान पड़ता है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि 'नयविवरण' संग्रह है। अतः अब वही बात जानना शेष रह जाती है कि इसके संग्रह करने का श्रेय किसे प्राप्त है? विभिन्न शास्त्र-भाण्डारों की खोज करने पर यदि नयविवरण की कुछ प्रतियाँ मिल सकें तो सम्भवतः उनसे उसके संग्रहकर्ता के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला जा सकता है।

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

---

(२)

हिन्दी के दो 'हरिवंश पुराण'

श्रीशांतिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर अलीगंज के शास्त्रभाण्डार में श्रीजिनसेनाचार्य्यकृत 'हरिवंशपुराण' की भाषा वचनिका के अतिरिक्त उसकी दो छन्दोबद्ध रचनायें भी हमें देखने को मिली हैं। एक रचना का नाम 'हरिवंशपुराण चौपई' है, जिसे गृहस्थाचार्य श्रीशालि-वाहन ने रचा है। यथानाम इस ग्रन्थ में ओतप्रोत प्रायः चौपई छंद का ही प्रयोग किया गया है। इसकी यह हस्तलिखित प्रति १२६ पत्रों में पूर्ण हुई है, जो १२ इञ्च लम्बे और ५॥ इञ्च चौड़े हैं तथा प्रत्येक पत्र में प्रायः ११-१२ पंक्तियाँ हैं। इस रचना का आरंभ निम्न लिखित पद्यों से होता है:—

"प्रथम वंदि श्रीरिषभजिणंद, जा सुमरंतहि होय आनंद
वंदू गणधर सरस्वती माय, जा प्रसाद बहु बुधि पसाय ॥१॥"

सालिवाहन जी ने मूल संस्कृत ग्रन्थ में वर्णित भाव का अनुसरण कर के यह रचना रची है—उनकी अपनी चीज़ इसमें प्रायः कुछ नहीं है। यों इसे संस्कृत ग्रन्थ का हिन्दी पद्यानुवाद कहना चाहिये। अन्त में कवि ने इस रचना का प्रसंग और अपना परिचय यों

---

* यह तो मेरा अनुमानमात्र था। और, प्रसन्नता की बात है कि शास्त्रीजी ने इस उलझन को सुलझा दिया है।

—के० बी० शास्त्री

* पृ० २९।

बतलाया है—

"संवत सोरहि सै तहां भये, तापरि अधिक पचानवे गये।
माघमास किसन पक्ष जानि, सोमवार सुभवार बषानि ॥५५॥
हस्त नक्षत्र जोग सुभ ठाम, जिनसेनु पुरानु सुनो मैं नाम।
ताकी छाया लै चौपई करी, अतिसै सहित जगत विस्तरी ॥५६॥
भट्टारक जगभूषण देव, गनधर सादृस वाकि सु एह।
छंद कवित कावि जो करै, सुनि कै पंडित मन मै धरै ॥५७॥
देवगिरा भाषे सम कोय, कवयनु ताकौ सेवग होय।
नगर आगिरौ उतिम थानु, साहिजहां तप दूजो भानु ॥५८॥
षंड-षंड में ताकी आन, चोर चवार न सुनीयें कान।
तिहि पुर बहुत पंडतवासु, रावत वाहन तिनकौ दास ॥५९॥
ग्यारहि गोत बसै अधिकाय, पूजा दानु धरम अधिकाय॥

संवत् १६९५ में सालिवाहन जी ने यह रचना रची और उसे शायद अपने गुरु भ० जगद्भूषणदेव को बताया। यह भट्टारक जी विशेष विद्वान थे। कविजनों द्वारा मान्य थे। सालिवाहन जी ने आगरे का उल्लेख किया है कि वह एक उत्तम स्थान है—उनके समय में शाहजहां का सुखमय राज्य था। लोगों में देवनागरी भाषा बोलने का रिवाज था – आगरे में तब बहुत-से पण्डित रहा करते थे। सालिवाहनजी को उनकी सत्संगति सुलभ थी। जैनियों में वहां ११ गोत्र के लोग सर्वथा धर्मकर्म में रत रहा करते थे। संभवतः गोत्र से कवि का भाव जैनियों की उपजातियों से है। आगे कवि ने लिखा है :—

"दूजो देश भदावर जानि, कंचनपुरु दीसै सुभथानु ॥६०॥
हरिसिंघ सेव (देव) राजु तहां करै, ताकै साह तीनि संचरै।
चेतू भागमलु दुर्गादास, उदित दानु बहुत परगास ॥६१॥
तिनके गेह सिलावती नारि, तिन ए पुत्र तीनों अवधारि।
लक्ष्मी सभौ धरम-निधान, रामचंद जैनी परधान ॥६२॥
संकर जादौ जगजीवन जानि, बिनैसिंघ कौ कहौं प्रमानि।
उग्रसेन अजित अतिनाम, रूपवंत दिनकरि सुतताम ॥६३॥
और कुटुंब बरन जो करौं, बाढ़े कथा बेद अनुसरौं।
रावत परगसेन तिहि थान, ईसुर त्रिया परधान (?) ॥६४॥
तीन पुत्र ताके प्रवीन, भीमसेन हीरामनि धरमलीन।
वाहन करी चौपई बंधु, हीन बुध मेरी मति अंधु ॥६५॥

और बहुत लंबेचू रहैं, पूजा दान धरम रुचि रहै।
तिनकी संगति उद्यम भयो, नौ नाटक रस इन मैं ठयो ॥६७॥
लालचंद जैनी भव्य जानि, तिन उपदेस कहौ कछु आनि।
सुन कै भव सुर्ग सुष गहै, पायकालु मुक्तिकौं लहै ॥६८॥

भदावर देश के कंचनपुर नामक नगर में हरिसिंहदेव नामक राजा राज्य करते थे। उन के तीन राजसेठ साहु चेतू, भागमल और दुर्गादास थे। यह वहां के जैनियों का एक खास वंश था। वहीं पर रावत खरगसेन भी रहते थे, जिनके तीन पुत्र (१) भीमसेन (२) हीरामनि और (३) सालिवाहन थे। वह सब लंबेचू जैनी थे। इन्हीं सालिवाहन ने यह 'हरिवंशपुराण चौपई' रचा।

अन्त में लिपिकार ने लिखा है, "संवत् १८०६ वर्ष वैशाष सुदी अष्टमी ८ शनिवासरे लिखितं ॥ श्री मंडलाचार्य काष्ठासंघ श्रीदीपकीर्तिजी तस्य शिष्य पांडे कान्हां पठनार्थं ॥ धर्मे मतिर्न भवति किं बहुन श्रुतं वा। जीव दया न भवति किं बहुधा प्रदानैः ॥ शांतिर्मनिः न भवति किं बहुभिस्तपोभिः। आरोग्यमस्तुविभवो न चलेन किं वा ॥१॥ शुभं भवतु सदा ॥"

दूसरी रचना 'हरिवंशपुराण भाषा' कवि खुशालचंद-कृत है। इसकी प्रति में कुल १७६ पन्ने हैं, जो १३ इञ्च लम्बे और ६॥ इञ्च चौड़े हैं। इसके प्रत्येक पत्र में ११ या १२ पंक्तियां हैं। इसका प्रारंभ निम्नलिखित पद्यों से हुआ है :—

"महावीर वंदू जिनदेव, इन्द्रादि करिहै तिनसेव।
तीनलोक में मंगलरूप, ते वंदू जिनराज अनूप ॥१॥
नेमीसुर वंदू चितलाइ, तिहुं जगकरि पूज्य अपाय।
पाप विनाशन है जिननाम, सब जिनवर वंदू गुणधाम ॥२॥ इत्यादि"

कवि ने इसकी रचना में अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है और कविता भी सुंदर तथा ललित है। प्रशस्ति में कवि ने लिखा है :—

"तहां श्रीजिनदास जू, ग्रन्थ रच्यो इह सार।
सो अनुसार खुस्याल ले, कह्यो भविक सुषकार ॥३५॥"

इस पद से प्रतीत होता है कि कवि खुशाल ने ब्रह्म जिनदास-रचित "हरिवंशपुराण' के अनुसार अपना यह ग्रन्थ रचा है—श्रीजिनसेनाचार्य के 'हरिवंश' का पद्यानुवाद यह नहीं है। आगे कवि ने लिखा है :—

"देश ढुंढाहड आनौ सार, तामें धर्मतनो विस्तार ॥
विसनसिंह सुत जैसिंह राय, राजकरै सबको सुखदाय ॥१॥

देशतणी महिमा अति घणी, जिनगेहा करि अति ही बनी।
जिनमंदिर भवि पूजा करै, केई इक वृत लै कै इक धरै ॥२॥
जिनमंदिर करवावै नया, स्वर्ग विमान थकी वरकवा ॥
रथ जात्रादि होत बहु जहाँ, पुन्यउ पावै भवगण तहां ॥३॥
इत्यादिक महिमा जुत देश, कहि न सकौं मैं और असेस।
जामैं पुर शांगावति जानि, धर्म उपावन को वरथान ॥४॥
जाको शोभा है अधिकार, कब लौं भाषा भवि विस्तार।
जा मधि श्रीमूलनायक थान, सोभै भवन कौं सुषथानि ॥५॥
संघ मूलसंघ जाँनि गछ सारदा वषाँनि, गण जु बलात्कार जाणौं मन लायकै।
कुंदकुंद मुनी की आमनाय सोहि भए देव, इन्द्रकीरत सुपट्टसार पाय कै ॥६॥
पंडित सु भए तहाँ नाम लछिमी सुदास, चतुर विवेको श्रुतज्ञान कौं उपाय कै।
तिन थकी मैं भी कछू अभ्यास सुज्ञानलयौ, फेरि मैं बस्यौ जिहानाबाद मध्य आयकै ॥७॥

कवि के समय में ढूंढाहड देश में जिसे हम आजकल जयपुर राज्य कह सकते है, श्रीजयसिंह राजा राज्य कर रहे थे। उनके राज्य में प्रजा अति प्रसन्न थी। जैनी अपने धर्म का खूब पालन करते थे—नये जिन-मन्दिर बनवाने और रथयात्रादि करवाने के लिए वह पूर्ण-स्वाधीन थे। उसी देश में सांगावति (सांगानेर) नामके नगर में मूलसंघी, पण्डित लक्ष्मीदास रहते थे। कवि खुशालके वह विद्या-गुरु थे। उनके पाद-मूल में सद्ज्ञान प्राप्त करके खुशाल जी जहानाबाद चले आए और वहीं रहने लगे। वहां का वर्णन कवि निम्नलिखित पद्यों में करते हैं :—

'शहर जिहानाबाद में जैसिंह पुरौ सुथान।
मैं बसियौ सुषतैं सदा जिन सेऊं चित आँनि ॥८॥
महम्मद शा पातिशाह राज करिहै सु चकत्थौ!
नीतिवंत बलवान न्याय विनि लै न अरत्थौ ॥
ताके राज-मझार ग्रन्थ आरंभिह कीनौं।
पर को भय दुष शोक कभू हम कोइ न लीनौं ॥
इह विचारि राजातणौ इतनू ही उपकार है।
कोऊ दुष्ट पुरुष दंडि न सकै जिनमत को विस्तार है ॥९॥
शहर मध्य इक वणिकवर, साह सुषानंद जाँनि।
ताके गेह विषै रहैं, गोकुलचंद सुजान ॥१०॥

जिन ढिग मैं जाऊं सदा, पढौं सुशास्त्र सुभाय।
तिनको वर उपदेश लै, मै भाषा बनवाय ॥११॥

× × ×

काला जाति खुश्याल सुजान, भाषा रची परम सुखदान ॥१२॥
संवत् सतरा सै अरु असी, सुदि बैसाषी तीजावर लसी ॥१३॥
सुक्रवार अति ही शुभ जोग, सार नषत्तर को संजोग ॥१४॥

× × × ×

श्रीहरिवंशमच्छास्त्रं|तस्य भाषा विनिर्म्मित
नाम्ना षुश्यालु चंद्रेण भव्यनापुशालुसर्मदा ॥१८॥"
लिपि सं० १८४४ लिखितं जवाहर विप्रेण।

जहानाबाद उस दिल्ली का नाम था जिसे बादशाह शाहजहां ने बसाया था—उस समय दिल्ली इसी नाम से प्रसिद्ध हो गई थी। * कवि खुश्याल ने इसीलिए उसका प्राचीन नाम नहीं लिखा है। वह एक बड़ा शहर था—वहीं के जैसिंहपुरा महल्ले में वह जाकर बसे थे। मालूम होता है कि उस महल्ले में जैनियों की अच्छी आबादी थी और वहां जिन-मंदिर भी था—जहाँ कवि जिनेन्द्र की पूजा किया करते थे। वहां उस समय कवि बतलाते हैं कि महमदशा पातिशाह शान्तिपूर्वक शासन करते थे, जो चकत्थावंश के थे। इतिहास से पता चलता है कि अन्तिम मुगल बादशाह महमदशाह नामक थे, जिन्होंने सन १७१९ से १७४९ ई० तक राज्य किया था। कवि ने अपना यह 'हरिवंश पुराण भाषा' संवत १७८० अर्थात् सन १७२३ ई० में समाप्त किया था। अतः कवि ने जिन महमदशाह का उल्लेख किया है वह मुगल बादशाह ही प्रतीत होते हैं। कवि रायमल्ल जी ने 'जम्बूस्वामीचरित्र' में सम्राट् अकबर को भी चकत्ता वंश का बताया है और कवि खुशाल भी महमदशाह को चकत्था लिखते हैं। इसलिए यह ठीक है कि उन्होंने मुगल बादशाह महमदशाह के प्रारंभिक शासन-काल में अपना ग्रन्थ रचा था। उस समय दिल्ली में सुशासन का दौर-दौरा बतलाना उचित है। तब वहां सेठ सुखानंद के पुत्र सेठ गोकुल चंद रहते थे। कवि ने उन्हीं के उपदेश से यह ग्रन्थ रचा था। इस प्रकार हिन्दी के इन दो 'हरिवंश पुराणों' का सामान्य परिचय है।

—का० प्र०

* फ्रेञ्च यात्री बरनियर ने जहानाबाद का वर्णन इस प्रकार लिखा है :—

"It is about forty years ago that *Chah-Jehan*, father of the present *Great Mogul Aureng-Zebe*, conceived the design of immortalising his name by the erection of a city near the site of the ancient *Delhi*. This new capital he called after his own name, *Chah-Jehan-Abad* or for brevity, *Jehan-Abad*; *i.e.* the colony of *Chah-Jehan*. .....in the *Indies* they scarce speak any more of *Delhi*, but only of *Jehan-Abad*." —Bernier, Travels in the Mogul Empire, p. 241.

(३)

शहर मुड़ासा कहाँ था ?

अधिकांश दि० जैन मन्दिरों में विराजमान प्रतिमाओं पर अङ्कित लेखों का अवलोकन करने से पता चलता है कि सं० १५४८ में साह जीवराज पापड़ीवाल-द्वारा प्रतिष्ठा करवाई हुई प्रतिमाओं में शहर मुड़ासा और रावल शिव सिंह का उल्लेख हुआ मिलता है। श्री दि० जैन मन्दिर कटरा मैंनपुरी में विराजमान श्रीआदिनाथ की श्वेत पाषाणमूर्ति पर निम्न लिखित लेख इसी बात का द्योतक है —[1]

"सं० १५४८ वरषे वैसाष सुदी ३ श्रीमूलसंघ भट्टारक जी श्रीभानुचन्द्रदेव साह जीवराज पापड़ीवाल नित्यं प्रणमति सहर मुड़ासा श्रीराजा सवसिंघ।"

इसी प्रकार नयामंदिर कलकत्ता में विराजमान कई प्रतिमाओं पर निम्नलिखित लेख अंकित हैं—[2]

१ संवत १५४८ वर्षे वैशाख सुदी ३ श्रीमूलसंघे भट्टारक श्रीजिनचंद्रदेवाः साह जीवराज पापड़ीवाल शहर मुड़ासा।"

२ "संवत् १५४८ वर्षे वैशाख सुदी ३ श्रीमूलसंघे भट्टारक जी श्रीजिनचन्द्रदेव साह जीवराज पापड़ीवाल नित्यं प्रणमति राजा श्यामसिंह रावल शहर मुड़ासा।"

किन्तु इन उल्लेखों से यह स्पष्ट नहीं है कि शहर मुड़ासा कहां पर स्थित था। श्री बाबू छोटेलाल जी ने इस विषय में लिखा था कि "यह मुड़ासा सम्भवतः राजपुताने में होना चाहिये। रावल की उपाधि भी राजस्थान-वासी क्षत्रिय राजाओं की ही प्रायः हुआ करती है। इन साह जीवराज ने सं० १५३३ में भ० अजयकीर्त्ति-द्वारा तथा सं० १५४८ में भ० जिनचन्द्र-द्वारा अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठित करवाई है।"[3] अवश्य ही इनकी प्रतिष्ठा करवाई हुई जिन प्रतिमायें गुजरात, राजपूताना, संयुक्त प्रान्त, बंगाल, मद्रास इत्यादि भारत के सब ही प्रदेशों में मिलती हैं। निश्चय ही साह जीवराज और शहर मुड़ासा धन्य थे कि जिनके अनुग्रह से जिन-पूजा उस काल में सर्वत्र सुलभ हुई थी। इस टिप्पणी में साह जीवराज जी के पुण्यमय निवास-स्थान का परिचय कराकर हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने का लोभ संवरण नहीं कर सके हैं। इस विषय में बाबू छोटेलाल जी का अनुमान गलत नहीं है। राजस्थान की पश्चिमी सीमा के पर अहमदाबाद से उत्तर पूर्व दिशा में पचास मील की दूरी पर मोड़ासा (Modasa) नामक स्थान होने का उल्लेख मिलता है[4]। कहा जाता है कि जब सन् १४१३

१ जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० २, कि० २, पृष्ठ १४।

२ जैन प्रतिमा-यंत्र लेख संग्रह पृष्ठ १

३ पूर्व० प्रस्तावना पृ० 'ठ'।

४ 'Modasa, north latitude 23°29', east longitude 73°21' fifty miles north-east of Ahmedabad. The Bombay Gazetteer, Vol. I, Pt. I, p. 237, F. N.

में अहमदशाह ने अहमदाबाद बसा कर के अपना शासन आरंभ किया तब कुछ मुसलमान सरदार ईडर के हिन्दू राजा से मिलकर उसके ख़िलाफ बागी हो गये। अहमदशाह के सेनापति फतह खां ने उनको लड़ाई में हरा दिया और ईडर से उन्हें मार भगाया। उस समय मोड़ासा में रुकन खां नामक मुसलमान सरदार शासक था। वह भी बागी हुआ था। ईडर के राजा रनमल भागकर वहां जा रहे। उन्होंने मोड़ासा के क़िले को मज़बूत बनाया और उसके चारों ओर खाई खुदवाई। फतह खां मोड़ासा पर चढ़ गया और घेरा डाल दिया। परिणामतः मोड़ासा का क़िला गिर गया और बागी लोग इधर-उधर भाग गये। ईडर के रावल रनमल ने अहमदशाह से सन्धि कर ली और वह ईडर में रहकर आसपास के नगर-ग्रामों पर शासन करने लगे। ईडर से मोड़ासा क़रीब ५-६ मील की दूरी पर था। अहमद शाह भी वहां कुछ दिनों तक रहा था। इस सब साक्षी से स्पष्ट है कि मोड़ासा नगर ईडर के रावल राजाओं के आधीन था। उपर्युक्त प्रतिमा-लेखों में भी मुड़ासा नगर के शासक को रावल शिव सिंह लिखा है। ईडर के रावलों में शिव सिंह नाम के राजा भी हुये हैं। अतः ईडर के निकट स्थित उपर्युक्त मोड़ासा नगर ही साह जीवराज जी का पवित्र निवास-स्थान प्रतीत होता है, जहाँ पर संवत् १५४८ में अगणित जिन प्रतिमायें प्रतिष्ठित कराकर सारे भारत में वितरण कर दी गईं। क्या ही अच्छा हो, यदि ईडर के कोई महानुभाव अथवा और कोई सज्जन मुड़ासा नगर के ध्वंसावशेषों में जैन कीर्तियों का परिचय प्राप्त करके 'भास्कर' में प्रकट करें। —का० प्र०

(४)

श्रीमाल नगर का एक शिलालेख

वर्तमान जैनियों में श्रीमाल उपजाति के जैनी भी मिलते हैं। कहते हैं कि श्रीमाल नगर की अपेक्षा यह उपजाति इस नाम से प्रसिद्ध हुई थी। वर्तमान में बम्बई प्रान्त में जो भीनमाल नामक ग्राम (north latitude 24°42 East longitude 72°4') है वही प्राचीन श्रीमाल है। ईस्वी छठा शताब्दी से नवीं शताब्दी तक श्रीमाल को गुजरात के गुर्जर राजाओं की राजधानी होने का गौरव प्राप्त रहा था। वर्तमान आबू पर्वत से पश्चिम की ओर भीनमाल (श्रीमाल) पचास मील पर अवस्थित है। वहां पर अब भी कितनी ही पुरानी इमारतें मिलती हैं। श्रीपार्श्वनाथ का चार शिखरवाला मंदिर भी एक पुरानी इमारत है। इसी नगर में जयकोष नामक एक तालाब है। उसके उत्तरी किनारे पर एक गिरा हुआ स्तम्भ पड़ा हुआ मिला था, जिस पर संवत १३३३ (सन १२७६) का निम्नलिखित लेख अङ्कित था —

१ यः पुरात्र महास्थाने श्रीमाले सुसमागतः। स देवः श्री

२ महावीर·····भयत्राता (?) प्रज्ञा

३ यं शरणं गताः । तस्य वीरजिनेंद्रस्य प्रजार्थं शासनं नवं ॥२॥
—पा—
४ —रापद्ध महागच्छे पुण्य-पुण्य स्वभाविना (?) श्रीपूर्णचन्द्र सूरि-
५ —णा प्रसादात् लिख्यते यथा ॥ स्वस्ति सं० १३३३ वर्षे ॥
६ —अश्विन शुदि १४ सोमे ॥ अद्य ह श्री श्रीमाले महाराजकुल
७ —श्री च (?) चिग देव-कल्याण-विजय राज्ये तन्नियुक्त महा-
८ —प्रभृति पंचकुल-प्रतिपत्ताउ श्री श्रीमाल-देश वहिकाधिकृतेन
९ —नैगमान्वय-कायस्थ-महत्तस-सुभटेन तथा (वे ?) चेटक कर्मसीहे —
१० —न स्वारयसे अश्विनमासीय यात्रा महोत्सवे अश्विन सुदि १४ च-
११ —तुर्दशी-दिने श्रीमहावीरदेवाय प्रतिवर्ष पंचोपचार—पूजानिमि-
१२ —त्तम् श्रीकरणीय पंचकुलं सेलहथ-डासी-नरपाल-वरक्ति-पूर्व-संवो-
१३ —ध्य-तलप-देहल-सहठी-पद-म·····रल-सहठी
१४ —द ५ सत्यविशोपकोपे पंचद्रम्मा समा सेलहथा-भावये आठ
१५ —द्रम्म द्र० ८ अष्टौ द्रम्मः ॥ उभयं सप्तविसोपकोपेन त्रयोदशद्र-
१६ —म्मा अचंद्रार्क्कं देवदाये कारापिताः ॥ वर्तमान पंच कुलेन व—
१७ —र्तमान सेलहायेन देवदाये कृतं इदं स्वश्रेयसे पालनीयं ॥
१८ यस्मान् पंचकुलो सर्वो मन्तव्यं इति सर्वदा । तस्य तस्य तदा श्रेयो
१९ यस्य यस्य यदा पदं ॥ ॥श्री सत्य-रत्न-पुर-लाट-ह्रदाधिकारी श्री
२० —माल-देश-वहिकाधिकृतो धुरीणः । व्यासेन चन्डहरिणा विदुषा व-
२१ —रेण योध्यापित. स विदधे सुभटः प्रशस्ति ॥ठ॥
इयं गोगानुजाते—
२२ (-न) सूत्रधारेण धीमता । उत्कीर्णा भीमसीहेन शासनाक्षरमालिका
२३ ·····सन इदं मठपति महेन्द्रगोष्ठिक आचंद्र पतिपत्तो ॥ठ॥
२४ ·····वससमय·····(लि)खितं तेन धीमता । यो वाचयति पुण्या-
२५ ·····शत————ती ॥ठ॥ म ( ) गल सदाश्रीः ॥शिवमस्तु सम्य० ।"

भावार्थ—श्रीमहावीर देव महान नगर श्रीमाल में पधारे थे, जिनकी शरण भयभीत विद्वज्जन लेते हैं—उन वीर जिनेन्द्र के अनुग्रह से यह नया शासन पुण्यात्मा पूर्णचंद्र-सूरि द्वारा प्रजा के लिये लिखा गया। स्वस्ति सं० १३३३ अश्विन सुदी १४ सोमवार को इस पुण्यमयी श्रीमाल में श्रीमहारावल श्रीचचिग के विजय राज्य में उनके द्वारा नियुक्त महा गज-सिंह आदि पंचों में से नैगमवंश के प्रमुख कायस्थ महत्तर सुभट ने, जो श्रीमालदेश के वाहिकों पर शासनाधिकारी थे और कर्मसीह चेटक ने अपनी आत्मा के हित के लिये अश्विन

सुदी १४ के महान् यात्रा उत्सव श्रीमहावीर प्रभु की पंचप्रकारी पूजा के वास्ते (कुछ दान किया)। पंच और सेलहथ इस दान की व्यवस्था रक्खें। सुभट श्रीसत्यपुर, रत्नपुर और लाटहीर का अधिकारी तथा श्रीमाल के वाहिकों पर शासनाधिकारी था। उसे चंडहरि पौराणिक ने शिक्षा दी थी और वह विद्वानों में श्रेष्ठ था—उसी ने यह प्रशस्ति रची है। गोगा के पुत्र भीमसीह सूत्रधार (बढ़ई) ने अक्षरों को उत्कीर्ण किया है।

इस लेख से भीनमाल में तेरहवीं शताब्दी में जैनधर्म के उत्कर्ष का पता चलता है। राज-कर्मचारी भी जैनधर्मानुयायी थे। श्रीमाल में आश्विनी चतुर्दशी को जिनेन्द्र की रथयात्रा निकला करती थी—वहां पर पारापद्ध संघ के आचार्यों का प्राबल्य था। राज्य की ओर से दान की व्यवस्था के लिये अधिकारी और पंच नियुक्त थे। जनता में उनकी प्रतिष्ठा थी। शासन-लेखक श्रीसुभट एक विद्वान् कायस्थ सज्जन थे—उन्होंने जिनेन्द्रपूजा के लिये दान किया था—उनका एक चेटक (नौकर) भी इस दान में शामिल था। जैनसंघ में सब ही जातियों के लोग शामिल थे, यह उस समय के जैनाचार्यों की विद्वत्ता का सुपरिणाम था। आज भी जैनसंघ का द्वार प्राणिमात्र के लिये खुला रहना चाहिये।

—का० प्र०

(५)

"जैन एण्टीक्वेरी" का सार

(भाग ४, किरण ४)

पृष्ठ १०१—१०८ प्रो० चक्रवर्ती ने अपनी तामिल-साहित्य-विषयक लेखमाला के इस अंश में तामिल के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुरल' के विषय में लिखा है कि आन्तरिक एवं बाह्य साक्षी से यह स्पष्ट है कि वह वैष्णव सम्प्रदाय का ग्रंथ न होकर जैनियों का ग्रंथ है। जैन टीकाकार नीलकेशी 'कुरल' को अपना (जैन) आगम-ग्रंथ बताते हैं। साथ ही तामिल में एक अजैन कवि-कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक ग्रंथ है—उसमें भी एक जैन संन्यासी अपने धर्म की व्याख्या में 'कुरल' का वह पद्य कहता बताया गया है जिसमें अहिंसा का विधान है। इससे स्पष्ट है कि कुरल की रचना जैनधर्म के अहिंसा-सिद्धान्त का प्रचार करने के लिये ईस्वी पहली शताब्दी में की गई थी। नच्चिनार्किनियर-कृत कुरल की टीका जैनमतानुसार है। उसको ढूंढ़ कर प्रकाशित करने का प्रयत्न हो रहा है।

तामिल का दूसरा प्रसिद्ध काव्यग्रन्थ 'नालडियार' भी जैनियों की रचना है। संभव है कि यह भद्रबाहु स्वामी के संघवर्ती मुनियों द्वारा रची गई हो। इसमें कुल ४०० पद्य हैं। इस ग्रन्थ में वर्णित सुभाषित वाक्यों को प्रत्येक सम्प्रदायवर्ती तामिलु सहर्ष स्वीकार करता है।

इसके अतिरिक्त 'अरनेरिचारम'—'पलमोलि'—'तिनैमालै'—'नान्मणिक्कडिगै' और 'ईलाति' नामक उल्लेखनीय तामिल ग्रन्थ भी जैनों की रचनायें हैं; जिनका परिचय प्रो० सा० ने कराया है।

पृष्ठ १०५—१२३ डॉ० विमलचरण लॉहा ने 'विविधतीर्थकल्प' के आधार से कपर्दियक्ष, शुद्धदन्ति के पार्श्वनाथ, अवन्ती के अभिनन्दन देव, प्रतिष्ठानपुर, चम्पापुरी, पाटलिपुत्र नगर, श्रावस्तीनगरी, वाराणसी नगरी, श्रीमहावीर गणधर, कोटिशिलातीर्थ आदि का परिचय कराया है।

पृष्ठ १२५—१२७ श्रीगोविन्द पै ने प्रकट किया है कि श्रीवर्द्धदेव और तुम्बलूराचार्य संभवत एक व्यक्ति थे। तुम्बलूराचार्य ने अपनी 'चूडामणि' टीका दशवीं शताब्दी से पहले रची थी।

—कामता प्रसाद जैन

(६)

अपनी बात

गत किरण में "जैन रामायण का रावण" शीर्षक मेरा एक लेख प्रकाशित हुआ है। उस लेख में मैंने जिन-जिन कृतियों से उद्धरण आदि लिये थे उन सबों का यथास्थान उल्लेख कर दिया है। फिर भी जैन रामायण-सम्बन्धी कथा आदि लिखने में जिन दो कृतियों से मैंने अधिक सहायता ली थी उन कृतियों एवं मान्य लेखकों का उल्लेख भूल से छपने में रह गया है। यह ऐसा हुआ—जब प्रेसवाले लेख का पेज बांधने लगे तब मैटर दो फर्मे से कुछ बढ़ गया। साथ ही साथ वे दो फर्मे से अधिक मैटर रख भी नहीं सकते थे; क्योंकि आगे का मैटर पहले ही छप चुका था। अतः उन्हें विवश हो दूसरे फर्मे का कुछ मैटर जहाँ तहाँ का निकालना पड़ा। फलतः निकाले हुए मैटर के साथ आवश्यक एवं अभीष्ट वह उल्लेख भी निकल गया, जिसका पता शीघ्रता में मुझे भी नहीं लगा।

अस्तु, मैं 'पंपरामायण-संग्रह' के भूमिका-लेखक श्रीयुत डी० एल० नरसिंहाचार एम० ए० एवं 'बालपद्मपुराण' के लेखक स्व० पण्डित पन्नालाल बाकलीवाल के अत्यन्त आभारी हूं।

—के० भुजबली शास्त्री

साहित्य-समालोचना

(१)

दादा श्रीजिनकुशल सूरि

लेखक—अगरचन्द नाहटा और भँवर लाल नाहटा; पृष्ठ संख्या ११४; मूल्य—चार आने; प्रकाशक—शंकरदान शुभैराज नाहटा, नं० ५६ आरमेनियन स्ट्रीट, कलकत्ता।

यह एक ऐतिहासिक ढंग पर लिखा हुआ जीवनचरित्र है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि चरित्र-नायक जिनकुशल सूरि एक उत्तम सदाचार-सम्पन्न प्रभावशाली साधु थे। अन्यथा खरतरगच्छानुयायियों में आपके प्रति ऐसी प्रगाढ़ श्रद्धा नहीं हो सकती थी। मारवाड़, मेवाड़, मालवा, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिन्ध, एवं देहली आदि अन्यान्य स्थानों में श्रद्धालु भक्तों के द्वारा निर्मापित इनके १०८ स्तूप ही इस बात के लिये समुज्ज्वल निदर्शन हैं। भक्त जनता की इन स्तूपों की उपासना से अभीष्ट सिद्धि होती है यह किम्वदन्ती भी प्रचलित है। चारित्रबल के साथ-साथ सूरि जी का ज्ञानबल भी उच्चकोटि का रहा। इसके लिये इनकी भिन्न-भिन्न साहित्यिक कृतियाँ ही साक्षी हैं। दादा जी कई भाषाओं के ज्ञाता ही नहीं बल्कि उनके विशेष मर्मज्ञ भी थे। हाँ, आचार्य के प्रभाव के महत्त्व को बतलाने के लिये लेखकों ने कुछ चमत्कारिक घटनाओं का जो उल्लेख किया है, उन पर संभव है कि सर्व साधारण विश्वास न करें।

अस्तु, इतिहास प्रेमी नाहटा बन्धुओं का परिश्रम प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है। उत्साही लेखकों को प्रस्तुत रचना में आये हुए निम्नलिखित शब्द द्वितीय संस्करण में शुद्ध कर देने चाहिये:—भागवती, भ्रातृ, गाड़े, तलहट्टिका, मूर्तिएं, भंडार, मुहूर्त, पृष्ठरक्षक, प्रवृत्तियें आदि।

—के० भुजबली शास्त्री

(२)

जैनइतिहास (तीसरा भाग)

लेखक—पं० मूलचन्द जैन 'वत्सल' विद्यारत्न, दमोह; प्रकाशक मूलचन्द किसनदास कापड़िया चन्दाबाडी सूरत; पृष्ठ-संख्या—१२६; मूल्य—बारह आने; कागज, मुद्रण आदि साधारण।

यह 'सौ० सविता बाई मूलचन्द कापडिया स्मारक ग्रन्थमाला' की आठवीं कृति है। इसकी कुछ प्रतियाँ "दिगम्बर जैन" के ३१ वें वर्ष के ग्राहकों को भेंटरूप में भी दी गयी। यह प्रस्तुत इतिहास प्रकाशक के ही कथनानुसार सामान्य पढ़े लिखे हर कोई भाई या

बहन को उपयोगी हो इस बात का लक्ष्य करके ही तैयार कराया गया है। इसमें २९ पाठ दिये गये हैं। इनमें से अन्त के ५ पाठ श्रीयुत बाबू कामता प्रसादजी के हैं जो कि पहले से प्रकाशित हैं और अवशिष्ट खुद लेखक की ही रचनायें हैं। इन पाठों में पौराणिक एवं ऐतिहासिक दोनों प्रकार की जीवनियाँ संकलित की गयी हैं। ये जीवनियाँ यदि दो भागों में विभक्त कर दी जातीं तो और अच्छा होता। इतिहास के नाते खास कर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर एवं भद्रबाहु जैसे ऐतिहासिक व्यक्तियों की जीवनी भी ऐतिहासिक पद्धति से न लिख कर पौराणिक ढंग से लिखी गयी हैं—यह खटकता है। हाँ, बाबू कामता प्रसाद जी के द्वारा लिखी गयी अन्तिम ५ जीवनियाँ इतिहास-सूत्र के आधार पर ही हैं अवश्य, पर उनमें भी कुछ ऐसी बातें हैं जो कि प्रकृत इतिहासवेत्ता इन्हें प्रायः इतिहास-संगत मानने में आनाकानी करेंगे। इसमें सन्देह नहीं है कि कामता प्रसादजी की अविरत साहित्यसेवा वास्तव में प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है। पुस्तक सरल एवं सर्वोपयोगी है।

—के० भुजबली शास्त्री

(३)

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

टीकाकार—पं० पन्नालाल जी 'बसंत' साहित्याचार्य : प्रकाशक—सरल जैन ग्रन्थमाला, जबलपुर : मूल्य—साधारण संस्करण पांच आने, विशिष्ट का सात आने: पृ० १२० ।

प्रारंभ में ग्रन्थकार का जीवन-चरित और रत्नत्रय वृत्त, युगपरिवर्तन, चारों गतियों और लोकालोकाकाश के काल्पनिक चित्र हैं और उनका परिचय भी। प्रत्येक श्लोक का अन्वय, अर्थ, कठिन शब्दार्थ और भावार्थ यथास्थान लिखे हैं। आवश्यक स्थलों पर टिप्पणी भी दी है। स्थल-स्थल पर गूढार्थों का प्रकाश भी है। प्रत्येक परिच्छेद का प्रश्न-संग्रह, श्लोकों का आकारादि क्रम से सूची, कठिन-कठिन शब्दों का करंडों में संग्रह और अन्त में सम्यग्दर्शन आदि पांच विषयों पर निबंध है। यानी पुस्तक इतनी अच्छी लिखी गयी है कि विद्यार्थियों को अधिक जरूरत अध्यापकों की नहीं रही, न अध्यापकों को दिमाग-पच्ची की। स्वाध्याय-प्रेमी भी इस नोटबुक से काम निकालेंगे। पुस्तक का यह नवीन संस्कार हुआ है। लेकिन नवीन संस्कार करते-करते प्रचलित पाठों को गौण-सा कर दिया गया है और कल्पित पाठों एवं पाठान्तरों को प्रचलित पाठों के तख्त पर बैठाया गया है जो कहीं-कहीं बहुत ही सुन्दर हुआ है। जैसे 'इदमेवेदृशमेव' की जगह 'इदमेवेदृशं चैव' दृढ़ता लाता है। 'महाकुलाः' की जगह 'माहाकुलाः' भी श्लथत्व नहीं आने देता और न छन्दोभंग होने देता है। "माहाकुलाः" पाठ होने पर ही तृतीय चरण में १२ मात्राएं होती हैं, महाकुलाः पाठ में तो ११ मात्राएँ ही रह जाती हैं। पर कहीं-कहीं सौन्दर्य बिगड़ सा जाता है। जैसे 'आप्तेनोच्छिन्न' से

आप्तेनोत्सन्न का उच्चारण क्लिष्ट हो जाता है। उच्छिन्न का अर्थ जितना सरल है "उत्सन्न" का नहीं। अब 'ज्ञान ध्यान-तपोरत्नः' का सौन्दर्य देखिये। रत्न भुलाने की चीज नहीं है: संभाल के रखना चाहिये नहीं तो गायब हो जाने का डर है। इससे रत्न की कीमत साधु जानता है, लेकिन है उससे अलग ही। जब कि—'ज्ञान-ध्याननपोरक्त' में वह ज्ञान-ध्यान-तप में रंग हो गया है। जिधर से देखो ज्ञान-ध्यान-तप का ही रंग है, वह तन्मय हो गया है। इसलिये मूलपाठ कहीं अच्छा है। फिर इस प्रसिद्ध-पद-त्याग के कारण एक गड़बड़ी होने का भय और है। अध्यापक जिन्हें कि—प्रसिद्ध पद कंठस्थ है वही मूल पाठ पढ़ावेंगे या परीक्षा-कापियों में इन पदों को गलत समझ कर काट देंगे— ऐसी भूल होनी संभव है। इसलिए इन कल्पित पाठों और पाठान्तरों को अलग ही दिखलाकर इनका गूढ़ तत्व भी लोगों को बतलाया जाता और मूलपाठ ज्यों का त्यों रखा जाता तो ये पाठ कुछ दिनों में प्रचलित भी हो जाते और लोगों को भ्रम भी न होता। दूसरे लोगों के आक्षेप का भय तो कभी का दूर हो जाता। पृष्ठ ४१ की टिप्पणी में अतिभारारोपण और अतिभार-वहन का अन्तर ठीक नहीं मालूम होता। क्योंकि 'दुःख देने की इच्छा से अधिक भार लादना' तो हिंसा ही हो जायगा। मेरे ख़याल से तो शक्ति का विचार न करके अधिक भार लाद देना (किसी दूसरे पशु या किसी आदमी के ऊपर) अतिभारारोपण है और लोभ-वश होकर अपने ऊपर ही काम का बोझ बढ़ा लेना अतिभार-वहन है। वहन के माने खुद ढोना और आरोपण के माने दूसरे पर लादना स्पष्ट ही है। ऐसे स्थलों का विचार कर शुद्धिपत्र बढ़ा देना चाहिए। प्रूफ तो सावधानी से नहीं पढ़ा गया मालूम होता है। मूल में भी इतनी अशुद्धियाँ हैं कि अलग शुद्धिपत्र की ज़रूरत है।

पुस्तक जितने परिश्रम से लिखी गयी है और जैसी बन गयी है, वैसी छपाई सफाई नहीं है। इस कोसे की पुस्तक की तो स्कूली पुस्तकों की भांति खूब साफ सुथरी और सुन्दर होनी चाहिए थी।

प्रकाशक जी एक उत्साही सज्जन हैं, इसलिए आशा है कि वे इन त्रुटियों को भविष्य में अवश्य दूर करा देंगे।

—महेन्द्रकुमार जैन, काव्यतीर्थ

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये.

णिक्कंता भवणादो गब्भे सम्मुच्छकम्मभूमीसुं।
पज्जत्ते उप्पज्जदि णरेसु तिरिएसु मिच्छभावजुदा ॥१९५॥
सम्माइट्ठी देवा णरेसु पज्जत्तिकम्मभूमीए।
गब्भे पज्जत्तेसुं सलागपुरिसाण होंति कहियाइं ॥१९६॥
[1]सेसिमणांतरजम्मे णिव्वुदिगमणं हवंति केसिं पि।
संजमदेसवदाइं गेण्हंते केइ भवभीरू ॥१९७॥

। आगमणं गदं ।

आवलिदसंखा केई णाणचरित्ते किलिट्ठभावजुदा।
भवणामरेसु आउं बंधंति हु मिच्छभावजुदा ॥१९८॥
अविणयसत्ता केई कामिणिविरहज्जरेण जज्जरिदा।
कलहपिया पाविट्ठा जायंते भवणदेवेसु ॥१९९॥
सण्णिअसण्णी जीवा मिच्छाभावेण संजुदा[2] केई।
जायंति भावणेसुं दंसणसुद्धा ण कइया वि ॥२००॥
मरणे विराधिदम्मि य केई कंदप्पकिब्बिसा देवा।
अभियोगा संमोहप्पहुदिसुरदुग्गदीसु जायंते ॥२०१॥
जे सच्चवयणहीणा हिंसं कुव्वंति बहुजणे णियमा।
कंदप्परत्तहिदया ते कंदप्पेसु जायंते ॥२०२॥
जे भूदिकम्ममत्ता भियोगकोदूहलाइसंजुत्ता।
जणवयणे पयअट्टा वाहणदेवेसु ते होंति ॥२०३॥
तित्थयरसंघमहिमाआगमगंथादिएसु पडिकूला।
दुव्विणया णिगदिल्ला जायंते किब्बिससुरेसुं ॥२०४॥
उप्पहउवएसयरा विप्पडिवण्णा जिणिंदमग्गम्मि।
मोहेणं संमोदा[3] संमोहसुरेसु[4] जायंते ॥२०५॥
जे कोहमाणमायालोहासत्ता किविट्ठचारित्ता।
वइएणुबद्धरुचिरं ते उप्पज्जंति असुरेसु ॥२०६॥
उप्पज्जंते भवणे उववादपुरे महारिहे सयणे[5]।
पावंति छपज्जत्तिं जादा अंतोमुहुत्तेण ॥२०७॥
अट्ठिसिरारुहिरवसा मुत्तपुरीसाणि केसलोमाइं।
चम्महमंसप्पहुदी ण होइ देवाण संघडणे ॥२०८॥

1 तेसिमणंतर (?); 2 संजुदा or सुजुदा (?); 3 संमूढा (?); 4 B S संमोहसुरे; 5 S सयणो।

वण्णरसगंधफासे अइसयवेकुव्वदिव्वखंदो हि ।
गेण्हसु रोयवादिं उवविदि[1]कम्माणुभावेण (?) ॥२०९॥
उप्पण्णसुरविमाणे पुव्वमणुघाडिदं कवाडजुगं ।
उग्घडदि तम्मि समए पसरदि आणंदभेरिरवं ॥२१०॥
आयण्णिय भेरिरवं ताणं पासम्मि कयजयंकारा ।
पंति परिवारदेवदेवीउ पमोदभरिदाओ ॥२११॥
वायंता जयघंटापडहपडा किंब्बिसा य गायंति ।
संगीयणट्टमागधदेवा पदाण देवीओ ॥२१२॥
देवीदेवसमूहं दट्ठूणं तस्स विम्हओ होदि ।
तक्काले उप्पज्जदि विभंगं थोवपच्चक्खं ॥२१३॥
मणुस्सतेरिच्छभवम्हि पुव्वे लद्धो ण सम्मत्तमणं पुरुवं ।
तिलप्पमाणस्स सुहस्स कज्जे चत्तं मए कामविमोहिदेण ॥२१४॥
जिणोवदिट्ठागमभावणिज्जं देसव्वदं गेण्ह य सोक्खहेदं ।
मुक्कं मए दुव्विसयत्थमप्पं सोक्खाणुरत्तेण विचेदणेण ॥२१५॥
अणंतणाणाणि चउक्कहेदं णिव्वाणबीजं जिणणाहलिंगं ।
पभूदकालं धरिदूण चत्तं मए मयंधेण वधूणिमित्तं ॥२१६॥
कोहेण लोहेण भयंकरेणं मायापवंचेण समच्छरेण ।
माणेण वंदंत महाविमोहो मेल्लाविरो हं जिणणाहमग्गं ॥२१७॥
तत्तो ववसायपुरं पविसिय पूजाभिरोयजोग्गाइं ।
गहिदूणं दव्वाइं देवादेवेहि संजुत्ता ॥२१८॥
णव्वि[3]दविचित्तकीडणमालावरचमरछत्तसाहिल्ला ।
णिब्भरभत्तिपसण्णा वच्चंते कुडजिणभवणं ॥२१९॥
पाविय जिणपासादं [4]चरमंगलतोरणं रइदहलबोला ।
देवा देवीसहिदा कुव्वंति पदाहिणं णमिदा ॥२२०॥
सिंहासणछत्तत्तयभामंडलचामरादिचारुगिभा ।
दट्ठूणं जिणप्पडिमा जयजयसद्दा पकुव्वंति ॥२२१॥
पडुपडहसंखमद्दलजयघंटाकलह[5]गीयसंजुत्ता ।
वाइज्जंतेहि सुरा जिणिंदपूजा; पकुव्वंति ॥२२२॥

1 B उवठिदि (?)। 2 बंधंत or वद्धंत (?); 3 णविद (?); 4 वर (?), 5 S कलद, कहल (?)।

भिंगारकलसदप्पणछत्तसयचमरपहुदिदव्वेहिं ।
पूजंति फलिहदंडोवमाणधरवारिधारेहिं ॥२२३॥
गोसीरमलयचंदणकुंकुमपंकेहिं परिमलिल्लेहिं ।
मुत्ताहलपुंजेहिं सालीए तंदुलेहिं सयलेहिं ॥२२४॥
वरविविहकुसुममालासएहिं धूवंगरंगगंधेहिं ।
अमयादो मुहुरेहिं णाणाविहदिव्वभक्खेहिं ॥२२५॥
धूवेहिं सुगंधेहिं रयणपईवेहिं [1]दत्तकिरणेहिं ।
पक्केहिं फणसकदलीदाडिमदक्खादियफलेहिं ॥२२६॥
पूजाए अवसाणे कुव्वंते णाडयाइं विविहाइं ।
पवरच्छरापजुत्तावहुरसभावाभिणेयाइं ॥२२७॥
णिस्सेसकम्मक्खवणंकहेदुं मण्णंतया तत्थ जिणिंदपूजं ।
सम्मत्तविरयं कुव्वंति णिच्चं देवा महाणंतविसोहिपुव्वं ॥२२८॥
कुलाइदेवा इव मण्णमाणा पुराणदेवाण पबोधणेण ।
मिच्छाजुदा ते य जिणिंदपूजं भत्तीए णिच्चं णियमा कुणंति ॥२२९॥
कादूण दिव्वपूजं आगच्छिय णियणियम्मि पासादे ।
सिंहासणाधिरूढा ओलग्गसालंति देवा णं ॥२३०॥
विविहरतिकरणभाविदविसुद्धबुद्धीहि दिव्वरूवेहिं ।
णाणाविकुव्वणंबहुविलाससंपत्तिजुत्ताहि ॥२३१॥
मायाचारविवज्जिदपकिदिपसण्णाहिं [2]अच्छराहिं समं ।
णियणियविभूदिजोग्गं संकप्पवसंगदं सोक्खं ॥२३२॥
पडुपडहप्पहुदीहिं सत्तसराभरणमहुरगीदेहिं ।
वरललितणच्चणेहिं देवा भुंजंति उवभोगं ॥२३३॥
ओहिं पि विजाणंतो अणणोवणुप्पण्णपेम्ममूलमणा ।
कामंधा ते सव्वे गदं पि कालं ण याणंति ॥२३४॥
वररयणकंचणाए विचित्तसयलुज्जलम्मि पासादे ।
कालागरुगंधड्ढे रागणिधाणे रमंति सुरा ॥२३५॥
सयणाणि आसणाणि मउवाणि विचित्तरूवरइदाणि ।
तणुमणवयणाणंदणजणणाणि होंति देवाणं ॥२३६॥

1 दित्त (?); 2 AB परिकदि ।

वासरसरूवचक्खूणि[1] गंधेहिं वड्ढियाणि भोजाणि।
ओवयजुत्ता देवा तित्तिं ण लहंति णिमिसं पि ॥२३७॥
दीवेसु गागिंदेसु भोगखिदीए वि णंदणवणेसु।
वरपोक्खरिणीपुलिणत्थलेसु कीडंति रायणा ॥२३८॥

। एवं सुहसरूवप्पं समत्तं ।

भवणेसु समुप्पण्णा पज्जत्ति पाविदूण छब्भेयं।
जिणमहिमदंसणेणां केई देविंददंसणादो ॥२३९॥
जादीए सुमरणेणां वरधम्मप्पबोहणावलद्धीए।
गेण्हंते सम्मत्तं दुरंतसंसारणासकरं ॥२४०॥

। सम्मत्तगहणं गदं ।

जे केइ अणाणातवेहि जुत्ता णाणाविहु[2]प्पाधिददेहदुक्खा।
धोरूण[3] सणाणातवं पि पावा डज्झंति जे दुव्विसयप्पसत्ता ॥२४१॥
विसुद्धलेस्साहि सुराउबंधं कोऊण[4] कोहादिसुघादिदाऊ।
सम्मत्तसंपत्तिविमुक्कबुद्धी जायंति एदे भवणेसु सव्वे ॥२४२॥
सणाणरयणदीओ लोयालोयप्पयासणसमत्थो।
पणमामि सुमइसामि सुमइकरं भव्वलोगस्स ॥२४३॥

एवमाइरियपरंपरागयतिलोयपण्णत्तीए भवणवासियलोय-
सरूवणिरूवणपण्णत्तो णाम तिदियो
महाहियारो सम्मत्तो ॥

इदं उवरि माणुसलोयसरूवं वण्णयामि—
लोयालोयप्पयासं पउमप्पहजिणवरं णमंसित्ता[5]।
माणुसजगपण्णत्तिं वोच्छामो आणुपुव्वीए ॥१॥
णिद्देसस्स सरूवं जंबूदीउ त्ति लवणजलही य।
धादगिसंडो दीओ कालोदसमुद्दपोक्खरद्धाइं ॥२॥
तेसुं ठिदमणुयाणं भेदा संखा य थोववहुअत्तं।
गुणठाणप्पहुदीणं संकमणं विविहभेयजुदं ॥३॥

1 B चम्मूणि; 2 विहुप्पादिद (?); 3 S धारूण, घेत्तूण (?); 4 काऊण (?); 5 णमंसित्ता (?)।

आऊ बंधणभावं जोणिपमाणं सुहं च दुक्खं च ।
सम्मत्तगहणहेदू णिव्वुदिगमणाणा[1] परिमाणं ॥४॥

एवं सोलससंखे अहियारे एत्थ [illegible] सामो ।
जिणमुहकमलविणिग्गयसारजगपण्णत्तिणामाए ॥५॥

तसणालीबहुमज्झे चित्तायखिदीय उवरिमे भागे ।
अइवट्टो मणुवजगो जोयणाण पणदाललक्खविक्खंभो ॥६॥

जोयणलक्ख ४५००००० ।

जगमज्झादो उवरिं तं बहलं जोयणाणि इगिलक्खं ।
णवचदुदुगखत्तियदुगचउक्केक्कक्कम्हि तप्परिही ॥७॥

१००००० । १४२३०२४९ ।

सुण्णणभगयणपणदुगपक्खत्तियसुण्णणवणाहासुण्णं ।
छक्केक्कजोयणा विय अंककमे मणुवलोयखेत्तफलं ॥८॥

१६००५०३०१२५००० ।

वासकदी दसगुणिदा करणीपरिहिं च मंडले खेत्ते ।
विक्खंभयचउभागं पहदा सा होदि खेत्तफलं ॥९॥

अट्ठण्णाणं सुण्णं पंचदुरिगिगयणतिगहणवसुण्णा ।
अंबरछक्केक्कोहिं अंककमे तस्स विंदफलं ॥१०॥

१६००५०३०१२५००००००० ।

। णिद्दे सो गदा[2] ।

माणुसजगबहुमज्झे विक्खादो होदि जंबुदीउ त्ति ।
एक्कजोयणलक्खंविक्खंभजुदो सरिसवट्टो ॥११॥

जगदीविण्णासाइं भरहक्खिदी तम्मि कालभेदं च ।
हिमगिरिहिमवदा महाहिमवंहरिवरिसणिसहद्दी ॥१२॥

विजयो विदेहणामो णीलगिरी रम्मवरिसरुम्मिगिरी ।
हेरण्णवदो विजओ सिहरी परावदो त्ति वरिसो य ॥१३॥

एवं सोलसभेदो जंबूदीवम्मि अंतरहियारो ।
वण्णं ताण सरूवं वोच्छामो आणुपुव्वीए ॥१४॥

1 गमणाणि (?); 2 गदो (?)।

वेढेवि तस्स जगदी अट्ठं चिय जोयणाणि उत्तुंगा ।
दीवं तं मणियत्तं सरिसं होदूण वडयगिहा ॥१५॥—

जो ८।

मूले बारस मज्झे अट्ठ चिय जोयणाणि णिद्दिट्ठा ।
सिहरे चत्तारि पुढं जगदीमंदस्स परिमाणं ॥१६॥

१२ । ८ । ४ ।

दो कोसा अवगाढा तेत्तियमेत्ता हुवेदि वज्जमयं ।
मज्झे बहुरयणमवो सिहरे वेरुलियपरिपुण्णा ॥१७॥

कोस २ ।

तीए मूलपएसे पुव्वावरदो य सत्त सत्त गुहा ।
वरतोरणा य रामा अणाइणिधणा विचित्तयरा ॥१८॥
जगदीउवरिमभाए बहुमज्झे कणयवेदिया दिव्वा ।
वे कोसा उत्तुंगा वित्थिण्णा पंचसयदंडा ॥१९॥

को २ । दंड ५०० ।

जगदीउवरिमरुंदो वेदीरुंदं खु सोधिअद्धकदो ।
जं अद्धमेक्कपासे तं विक्खंभस्स परिमाणं ॥२०॥
पण्णारससहस्साणिं सत्तसया दंडधणूणि पणणासा ।
अब्भंतरविक्खंभा बाहिरवासोधितंमेत्ता[1] ॥२१॥

१५७५० ।

वेदीदो पासेसुं उववणसंडो[2] हवंति रमणिज्जा ।
वरवावीसंजुत्ता विचित्तमुणिआरपरिपुण्णा ॥२२॥
जेट्ठा दोसयदंडो विक्खंभजुदा हवेदि मज्झिमया ।
पण्णासं चहियसयं जघण्णवावी वि सयमेक्कं ॥२३॥

दं २०० । १५० । १०० ।

तिविहाउ वावीउ णिय[3]मंदरसंसमेत्तमवगाढा ।
कइआरकमलकुवलयकुमुदो[4]मोदेहिं परिपुण्णा ॥२४॥

२० । २५ । १० ।

पायारपरिमदाइं वरगोउरदारतोरणाइं पि ।
अब्भंतरम्मि भागे महोरगाणं च चेट्ठंति ॥२५॥

1 वासो हि तंमेत्ता (?); 2 संडा (?) 3 णियमहोदस-(?), 4 कुमुदामोदेहिं (?)।

पाठान्तरम्—

णयरेसु रमणिज्जा[1] पासादा होंति विविहविण्णासा ।
अब्भंतरचेत्तरया णाणावररयणणियरमया ॥२६॥

दीप्पंतरयणदीवा समंतदो विविहधूवघडजुत्ता ।
पणुहत्तरि चावाणिं उत्तुंगा सयधणूणि दीहजुदा ।
पणणासदंडरुंदा होंति जहण्णम्मि पासादा ॥२८॥

७५ । १०० । ५० ।

पासादवारेसुं बारस चावाणि होंति उच्छेहो ।
पत्तेक्कं छण्णाहं अवगाढं तं पि चत्तारि ॥२९॥

१२ । ६ । ४ ।

पणुवीसं दोण्णि सया उच्छेहो होदि जिट्ठपासादा ।
दीहं तिसयधणूणं पत्तेक्कं सद्धविक्खंभो ॥३०॥

२२५ । ३०० । १५० ।

ताण दुवारुच्छेहो दंडा छत्तीस होदि पत्तेक्कं ।
अट्ठारस विक्खंभो बारस णियमेण अवगाढं ॥३१॥

दं ३६ । १८ । १२ ।

मज्झिमपासादाणं हुवेदि उदओ दिवड्ढसयदंडा ।
दोण्णि सया दीहत्तं पत्तेक्कं एकसयरुंदं ॥३२॥

१५० । २०० । १०० ।

चउवीसं चावाणिं ताण दुवारेसु होदि उच्छेहो ।
बारस अट्ठ कमेणं दंडा वित्थारअवगाढा ॥३३॥

२४ । १२ । ८ ।

सामण्णचित्तकदलीगब्भलदाणादआसणगिहाउ ।
गेहा होंति विचित्ता वंतरणयरेसु रमयारा ॥३४॥

मेहुणमंडणउलंगवंदणअभिसेयणच्चणाणं पि ।
णाणाविहसालाओ वररयणविणिम्मिदा होंति ॥३५॥

करिहरिसुकमोराणं मयरपवालाण गरुडहंसाणं ।
सारिच्छाइं तेसुं रम्मेसुं आसणाणि चेट्ठंते ॥३६॥

वररयणविरइदाणि विचित्तसयणाणि मउव्वपासाइं ।
रेहंति मंदिरेसुं दोपासठिदोवधाणाणि ॥३७॥

1 B रमणिज्ज ।

कणय व्व णिरुवलेहा णिम्मलकंतीसुगंधणिस्सासा ।
वरविविहभूसणयरा रविमंडलसरिसमंडसिरा ॥३८॥
रोगजरापरिहीणा पत्तेक्कं दसधणूणि उत्तुंगा ।
वेंतरदेवा तेसुं सुहेण कीडंति सच्छंदा ॥३९॥
जीमंदर(?)जुत्ताइं विचित्तविण्णासभवणपुण्णाइं ।
सदृदं अकिट्टिमाइं वेंतरणयराणि रेहंति ॥४०॥
विजयंतवेजयंतं[1] जयंतअपराजयंतणामेहिं ।
चत्तारिदुवाराइं जंबूदीवे चउदिसासुं ॥४१॥
पुव्वदिसाए विजयं दक्खिणआसाए वइजयंतं हि ।
अवरदिसाए जयंतं अवराजिदमुत्तरासाए ॥४२॥
एदाणं दाराणं पत्तेक्कं अट्ठ जोयणा उदओ ।
उच्छेहमट्ठ रुंदं होदि पवेसो वि वाससमं ॥४५॥

८ । ४ । ४ ।

वरवज्जकवाडजुदा णाणाविहरयणदामरमणिज्जा ।
णिच्चं रक्खिज्जंते वेंतरदेवेहिं चउदारा ॥४४॥
दारोवरिमपएसे पत्तेक्कं होदि दारपासादा ।
सत्तारहभूमिजुदा णाणावरवत्तवारणया ॥४५॥
दिप्पंतरयणदीवा विचित्तवरसालभंजिअद्धंहा[2] ।
दुब्भंत[3]धयवडाया विविहालोच्चेहिं रमणिज्जा ॥४६॥
अब्भंतरयणसाणुसमंतादो विविहरूवपुढजुत्तो[4] ।
दोवच्छराहिं भविदा पट्टंसुयपहुदिकयसोहा ॥४७॥
उच्छेहउसपहदीसु दारभवणाण जेत्तिया संखा ।
तप्परिमाणपरूवणउवएसो संपहि पणट्ठो ॥४८॥
सीहासणछत्तत्तयभामंडलचामरादिरमणिज्जा ।
रयणमया जिणपडिमा गोउरदारेसु सोहंति ॥४९॥
तस्सिं दीवे परिही लक्खाणिं तिण्णि सोलससहस्सा ।
जोयणसयाणि दोण्णि य सत्तावीसादिरित्ताणि ॥५०॥

३ १ ६ २ २ ७ ।

1 B वैजयंतं ; 2 S अट्ठंहा ; 3 उज्झंत (?) ; 4 जुत्ता (?) ।

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री

(२य) ये चारों विद्यानन्द के 'सूनु' या 'तनय' कहे गये हैं। मालूम नहीं होता है कि उक्त ये विद्वान् विद्यानन्द के आत्मज और शिष्य दोनों थे या केवल शिष्य। शिष्य के लिये भी सूनु, तनय आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है अवश्य; फिर भी इन चारों विद्वानों के परिचय में आये हुए खास कर 'सूनु' 'तनय' इन शब्दों को देख कर इन्हें आत्मज और शिष्य दोनों अनुमान करना युक्ति-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। इन चारों का संक्षिप्त उल्लेख आगे कर दिया है। इस 'दशभक्त्यादिशास्त्र' में स्मरण किये गये देवराय*, कृष्णराय, अच्चुतराय, मल्लिराय रामराय, रंगराय नृसिंह, संगिराय, सदाशिव, पद्माम्बा और भैरवाम्बा आदि ये सभी व्यक्ति विजयनगर-राज-घराने के हैं।

डा० सालेतोर का कहना है कि साल्व मल्लिराय, देवराज, कृष्णराज और संगिराय ये चारों तौळव देशान्तर्गत संगीतपुर अर्थात् हाडुहळिळ के साल्व या सालुव-वंश के हैं। संगीतपुर, वेणुपुर एवं गेरुसोप्पे इन तीनों स्थानों में इनकी राजधानियां थीं। पर यह निश्चित-रूप से कहना कठिन है कि अमुक व्यक्ति अमुक स्थान में राज्य करता था। हाँ, संगिराय का लड़का इंद्रगरस संगीतपुर में ही राज्य करता था। नगरी राज्य का भी गेरुसोप्पे से सम्बन्ध था। देवराज और कृष्णराज से विद्यानन्द का साक्षात् सम्बन्ध था। पद्माम्बा देवराज की बहन तथा कृष्णराज की मां थी। उस समय गेरुसोप्पे एवं संगीतपुर में भी तौळव देशके समान अळि कट्टु अर्थात् भगिना के मामा का उत्तराधिकारी होना यह प्रथा जारी थी। इसी से कृष्णराज को मामा देवराज का राज्य मिला था। भैरवाम्बा का विवाह पाण्ड्यराज से हुआ था। डा० सालेतोर विद्यानन्द का अस्तित्व ई० सन् १५०२ से १५३३ मानते हैं। परन्तु मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि विद्यानन्द का स्वर्गवास शक १४६३ ई० सन् १५४१ में हुआ था।

ऊपर अन्यान्य परिचयात्मक एवं प्रशंसापरक पद्यों में ग्रन्थकर्ता के द्वारा स्मरण किये गये देवराय (ई० सन् १४२९—१४५१) से प्रणुत धर्मभूषण, विद्यानन्द के 'सूनुवर्य', व्रतीन्द्र, महादानी, निष्कलङ्क चारित्र के आराधक, कर्णाटक का ही राजसभाओं में नहीं, दिल्ली के सुलतान महमूद† के राजदरबार में भी बौद्धों को हरानेवाले एवं नाट्यशास्त्र के मर्मज्ञ भट्टारक

* राय और राज ये दोनों शब्द समानार्थक हैं, इसीलिये कोई 'राय' लिखता है और कोई 'राज'।

† यह दिल्ली के सुल्तान महमूद या मुहम्मद तुगलक होना चाहिये। मुसलमान बाद-शाहों में यह बहुत ही विद्वान और योग्य शासक था। उसे हिन्दुओं की धर्म-मान्यताओं के प्रति भी सम्मान-भाव था। यह इस्लाम और अरस्तू के सिद्धान्तों का अच्छा जानकार था। उसे तत्त्ववेत्ताओं से वाद करने का भी व्यसन था। इसकी तर्कशक्ति देख कर अच्छे अच्छे तार्किक विद्वान् भी आश्चर्यित हो जाते थे। अतः इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं, यदि सिंहकीर्त्ति

सिंहकीर्त्ति, वादीन्द्र, परमागमकोविद, महातपस्वी, सिकन्दर सुल्तान*-द्वारा सम्मानप्राप्त भट्टारक विशालकीर्ति, अपने ज्ञानबल से विद्यानगर (विजयनगर) के स्वामी विरूपाक्षराय (ई० सन् १४६५—१४७९) की सभा में वादियों को जीतकर विजय-पत्र को प्राप्त करनेवाले, अरगनगर के दण्डनाथ (वायसराय) देवप्प† के दरबार में जैनधर्म के महत्त्व को प्रकट

जी ने सुल्तान मुहम्मद तुग़लक़ के दरबार में प्रसिद्धि प्राप्त की हो। दिल्ली के सुयोग्य सुल्तान के द्वारा निमन्त्रित किये गये तत्त्ववेत्ताओं में यह भी एक होंगे और इन्होंने सन १३२६ एवं १३३७ ई० के मध्य सम्मान प्राप्त किया था यह अनुमान करना निर्मूल नहीं कहा जा सकता। (देखें—'भास्कर' भाग ४, किरण ४, में प्रकाशित डा० सालेतोर का "दिल्ली के सुलतान और कर्नाटक के जैनगुरु" शीर्षक लेख) पर एक बात है कि डा० सालेतोर 'पद्मावती-वस्ति' के शिलालेख-गत पाठ को इस ग्रन्थगत पाठ के समक्ष रख कर इस पर फिर एक बार विचार करने का कष्ट उठायें। क्योंकि सिंहकीर्त्ति के परिचय को व्यक्त करनेवाले इस पद्य में कुछ शब्द ऐसे हैं जिन पर विचार करना अवशिष्ट है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पद्य में महम्मद सुरित्राण' शब्द स्पष्ट मिल रहा है जो कि उक्त शिलालेख में डा० साहब के कथनानुसार केवल 'मृद-सुरित्राण' पाया जाता है। साथ ही साथ शिलालेख में जहाँ 'बंगाल्य-देशावृत' पाठ है यहाँ 'गंगाह्वयदेशावृत' है। इसके अतिरिक्त भी दोनों पाठों में और भी अन्तर है। उसका पाठ यों है—"बाभाति अश्वपतेर्दिने ततनयो बंगाल्यदेशावृतश्रीमद्दिल्लीपुरे·····मृदसुरि-त्राणस्य मागाकृतेः निर्जित्याशु सभावनम जिनगुरुर् बौद्धादिवादिव्रजं श्रीभट्टारकसिंहकीर्त्ति मुनि रा·····र्य क-विद्यां-गुरुः" (पद्मावती-वस्ति का शिलालेख)

"बाभात्यश्वपतेर्दिनेशतनयो गंगाह्वयदेशावृतः
श्रीमद्दिल्लिपुरे महम्मदसुरित्राणस्य मागाकृतेः।
निर्जित्याशु सभावनी जिनगुरु (जिनगुरुर्वौ) बौद्धादिवादिव्रजम
श्रीभट्टारकसिंहकीर्त्तिमुनिराट् नाम्नैव कविशागुरुः॥" (दशभक्त्यादिशास्त्र)

* यह सिकन्दर दिल्ली के सुल्तान सिकन्दर सूर होना चाहिये। साथ ही साथ यह भी निश्चित है कि सन १५५४ में जब सुल्तान सिकन्दर सूर दिल्ली का शासक हुआ, संभव है कि इसी साल में विशालकीर्त्ति जी इसके दरबार में आये हों और सुल्तान ने इनका सत्कार किया हो। सिकन्दर का समय १४६८—१५५४ ई० है। विशेष बात जो जानना चाहें वे देखें—डा० सालेतोरके 'भास्कर' भाग ४, किरण ४ में प्रकाशित "दिल्ली के सुल्तान और कर्नाटक के जैनगुरु"।

† विजयनगर का वायसराय (दण्डनायक) गिरिनाथ का पुत्र देवप्प दण्डनाथ था। यह अरग का शासक था। देवप्प मल्लिकार्जुन या इम्मडि देवराय एवं विजयनगर के दूसरे सम्राट् विरूपाक्ष के राज्यकाल में अरग का शासन करता था। (देखें भास्कर भा० ४, किरण ४)

करनेवाले एवं तत्रस्थ ब्राह्मणों से पूजित, अच्चुतराय (ई० सन् १५३०—१५४२) तथा मल्लिराय (ई० सन् १४५१—१४६५) से सम्मानित, आगमत्रयसर्वज्ञ, महाकवि, विविधोपन्यासविचक्षण, कार्कळ के पाण्ड्यराज के द्वारा समर्चित तथा विद्यानन्द के पुत्र भट्टारक देवेन्द्रकीर्त्ति, विद्यानन्द स्वामी के सधर्मा, पोम्बुच्च में पार्श्वनाथमन्दिर को बनवा कर बड़े समारोह से प्रतिष्ठा करानेवाले नेमिचन्द्र, विद्वद्वन्द्य, सभी शास्त्रों के ज्ञाता और महावादी, विद्यानन्द के पुत्र विशालकीर्त्ति,* विशालकीर्त्ति के सधर्मा अनेक गुणभूषित अमरकीर्त्ति, शास्त्रधुरन्धर, विद्यानन्द के पुत्र विद्यानन्दमुनीश्वर, बंकापुर में नृप मादन एल्लप के मदोन्मत्त प्रधान गजेन्द्र को अपने तपोबल से शान्त करनेवाले, स्याद्वादमर्मज्ञ एवं राजशिरोमणि देवराय (ई० सन् १४२०—१४५१) से वन्द्य अकलङ्क, इनके सधर्मा तर्कव्याकरणादि शास्त्रों के पारगामी चन्द्रप्रभदेव, सर्वगुणालंकृत जयकीर्त्ति, जनता के लिये कल्पवृक्ष-तुल्य अकलंक-तनय विजयकीर्त्ति, अनेक धर्मप्रभावना-सम्बन्धी कार्य करनेवाले, अकलंक के शिष्य विमलकीर्त्ति, महातपस्वी एवं अकलंकपद-प्रिय पाल्यकीर्त्ति, विदुषी समुज्ज्वलगुणसम्पन्ना, चारित्रवती आर्यिका चन्द्रमती, संगीतपुर हाडुहलिळ में अनन्तनाथ स्वामी का सुरम्य एवं भव्य चैत्यालय को बनवा कर शास्त्रीय विधि से प्रतिष्ठा करानेवाले, अन्यान्य राजाओं से पूजित, देशीयगण के योगिराज एवं चन्द्रप्रभतनुज नेमिचन्द्र, श्रीरंगपट्टण में बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों से अलंकृत राजसभा में अपनी धारावाही एवं अजेय वाणी के द्वारा वादि-वृन्द को जीतनेवाले, महातपस्वी, देशीयगण के नायक एवं कवि-शिरोमणि विजयकीर्त्ति होयसल-राज्य-संस्थापक तथा इस राज-वंश को व्रत और विद्या प्रदान करनेवाले वर्द्धमान, मालवपति-वन्द्य† आशाधर, काशीपतिनत कमलभद्र, पेनगोंडे के नरसिंहराय से सम्मानित लक्ष्मीसेन, मालवेन्द्र की सभा में बौद्धों को पराजित करनेवाले और पेगुद्वीपादि-वन्द्य मतिसागर‡, सालवराज-द्वारा पूजित, जैवियचक्रेश्वर श्रुतकीर्त्ति, मन्त्रवादीश्वर एवं बल्लालराय-सम्मानित चारुकीर्त्ति, राजा जयकेशरी के मदोन्मत्त हाथी को शान्त करनेवाले माधवचन्द्र कागूरगण के प्रधान, जावालिपुर के राजा से सम्मानित रामचन्द्र, चन्द्रगुप्तिपुर के शासक, चन्द्रगुप्त के द्वारा अर्चित× महर्द्धिक मुनिचन्द्र, करलाधीश-सम्मानित देवकीर्त्ति,

* दिल्ली के बादशाह के दरबार में जाकर शास्त्रार्थ-द्वारा विजय प्राप्त करनेवाले उल्लिखित विशालकीर्त्ति से यह भिन्न हैं या वही है, विचारणीय है। क्योंकि वर्द्धमानजी ने कई व्यक्तियों के नाम अनेक बार स्मरण किये हैं।

† यह मालवपति परमारवंश के प्रतापी राजा विन्ध्यवर्म थे।

‡ यह प्रायः वादिराज के गुरु हों।

× पता नहीं लगता कि यह कौन सा चन्द्रगुप्तिपुर है।

मालवेन्द्र से सेवित माणिक्यनन्दी, मन्त्रवादिपितामह गण्डविमुक्त, अनेक राजाओं से अर्चित अभयचन्द्र, देवप्पार्य के पुत्र, अभयचन्द्र सूरि के शिष्य एवं विजयनगर के देवराय-सम्मानित नेमिचन्द्र, विजयनगर के देवराय के ख्याति-प्राप्त आस्थान-कवि भेम्मडि भट्ट, नरसिंहनृपति-द्वारा प्रशंसित पण्डितार्य, कल्याणनाथ के पुत्र, साल्व महाराज के आस्थान-विद्वान् अभयचन्द्र सूरि, मल्लिराय के हृदयरूपी कमल को विकसित करनेवाले आदिनाथ, वेणुपुर के भव्यों के द्वारा अर्चित, तौळवाधीश-वन्द्य समन्तभद्र, अनेक गुणालंकृत, साल्व-मल्लिराय के शास्त्र-विद्यागुरु देवरस सूरि, इनके पुत्र अनेक गुणभूषित साल्वदेवराय के आस्थान-रत्न एवं विद्यानन्द के शिष्य बोम्मरस आदि आचार्य, कवि, विद्वान् तथा विदुषियाँ; देवराय, कृष्णराय, रामराय, कृष्णराय के भाई, रंगराय के पुत्र एवं नृसिंह के नाती सदाशिव, पाण्ड्यराज की महिषी जिनभक्ता भैरवाम्बा, संगिराय की भगिनी पद्माम्बा, मावुनायक के पुत्र और संगीतनगर (हाडुहळिळ) में व्रह्मि श्रेष्ठी के द्वारा निर्मापित जिनालय को ताम्रपत्र से आच्छादित करनेवाले साल्व नायक, जिन-मन्दिर-निर्माता कामराग और देवरस, महान् वीर एवं गुणगणालंकृत होन्नय नायक, सम्यक्त्वचूडामणि, साल्व कृष्णदेव राय से सम्पत्ति को पानेवाले तथा नीति-निपुण देवण नायक, विद्वानों के लिये कल्पतरु-तुल्य और कृष्णदेवराय के दक्षिण हस्त तिम्म नायक, वेलगावे के शासक, महाप्रभु लुम्मण आदि राजा, महाराज, सामन्त एवं राज-महिषियाँ; विद्यानन्द के निकट दर्शनशास्त्र को अध्ययन करनेवाले, संगीतपुर के साल्वेन्द्र भूपाल के आस्थान-भूषण, वैयाकरण और महावादी मंत्री चेतरस, प्रधानतिलक, देवराय के दुर्गपति से सम्मानित सुकवि तथा श्रुत-कीर्त्ति के शिष्य मंत्री जैतरस, सौजन्यरत्नाकर, मन्त्रितिलक नागरस, बिरुगण्य शासक के द्वारा रक्षित, मंत्री देवरस, मल्लिकार्जुन राय के महामन्त्री मल्लय नायक, सत्यवादी, साल्व मल्लिराय के मन्त्रिप्रवर एवं वीर नृसिंहराय के द्वारा प्राप्त भाग्यवैभव सङ्गरस, चेन्नराय-पट्टण-सम्बन्धी राजलक्ष्मी के सम्बन्ध के तथा मन्त्रिश्रेष्ठ नेमिचन्द्र, अमत्यवादिपत्तन (?) मुकुन्द, महान् वीर, अमात्यश्रेष्ठ गुम्मय, राजसभाओं में सम्मानित, बोम्मरस के लघुभ्राता, सोमभूपाल के मंत्रितिलक देवरस, आयुर्वेद-विशारद, वीरपृथ्वीश-सचिव धरणि पण्डित, मन्त्रिशेखर पद्मराग श्रेष्ठी, रामराज के अमात्य मराणमरि नायक, देवि श्रेष्ठी के पुत्र, चेन्ना देवी के भक्त एवं महापराक्रम; मन्त्रीश तिम्मि श्रेष्ठी, कीर्त्तिशाली, लोकविख्यात एवं धरणीश-प्रदत्त सौभाग्य दण्डनाथ वैश्य, करणिक-तिलक आदिनाथ आदि मन्त्री, महामन्त्री, दण्डनायक, करणिक; विजयनगर एवं तौळवशासकों के द्वारा सम्मानित, वीरसेन और मुनि विद्यानन्द के चरणसेवक, विद्वत्सेव्य एवं विद्वानों के आश्रयदाता, चतुरंग-दत्त, साहित्य-कोविद एवं टकसाला के अध्यक्ष बोम्मि श्रेष्ठी, देवराय की सभा में श्रेष्ठि-पद को सुशोभित

करनेवाले, विख्यात दानी और धर्मभूषण के शिष्य सङ्कप्प, विजयकीर्त्ति के पादाराधक, कुबेरसदृश अतुल ऐश्वर्यशाली तथा अनेक सुपात्रों के पोषक पायप्प श्रेष्ठी, नेमिचन्द्र को व्रतगुरु एवं विद्यानन्द को शिक्षागुरु माननेवाले नागप्प श्रेष्ठी और इनके पिता तम्मराण श्रेष्ठी, आयुर्वेद-मर्मज्ञ, देवेन्द्र के अनुज, नंजराय नृप से अतुल ऐश्वर्य को पानेवाले, पण्डित देवरस के पुत्र एवं गोविन्दराज-प्रशंसित विजयप्प, चेन्न श्रेष्ठी की दौहित्री, नेमिनाथ चैत्यालय के सामने लोहमानस्तम्भ बनवानेवाली देवरसी, वणिक्प्रवर, महादानी, दुग्गुरु में जिनमन्दिर बनवाने वाले बोम्मण श्रेष्ठी, पायि श्रेष्ठी के पुत्र वेश्यातटाक (?) एवं पोम्बुच्च में पंचवस्ति निर्माण करानेवाले पायराण, सालुव मल्लिराय के शास्त्र-विद्यागुरु, साहित्य-विद्याधर देवरस तथा विजया के पुत्र, सालुव देवराय के आस्थान-कवि और विद्यानन्दि-शिष्य बोम्मरस आदि विख्यात श्रेष्ठी एवं श्रेष्ठि-महिलायें विशेष उल्लेखनीय हैं।

---

(३६) ग्रन्थ नं० $\frac{२५५}{ख}$

सारसंग्रह

कर्त्ता—विजयराण उपाध्याय

विषय—वैद्यक

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १२ इंच चौड़ाई ६।।। इंच पत्रसंख्या २३८

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमच्चातुर्निकायामरखचरवरं नृत्यसंगीतकीर्तिम्
-व्याप्ता.....शालं सुरपटहादिसत्प्रातीहार्यम
नत्वा श्रीवीरनाथं भुवि सकलजनारोग्यसिद्ध्यै समस्तै-
रायुर्वेदोक्तसारैरिहममल(?) महासंग्रहं संलिखामि ॥

× × ×

मध्य भाग—

अथातः संप्रवक्ष्यामि तिथीशबलमुत्तमम् ।
प्रथमायां तिथौ व्याधिरुत्पन्नश्चेत्तदाहृतः ॥

अग्निस्तु देवता तत्र तण्डुलेन बलिं हरेत् ।
आग्नेय्यां दिशि मध्याह्ने रोगनाशो भविष्यति ॥
द्वितीयायां तिथौ व्याधिर्वर्तते दशरात्रकः ।
गन्धमाल्यबलिं दद्यादेव वैद्यस्तु देवते (?) ॥

× × ×

अन्तिम भाग—

प्रमेहविंशतिप्रदरामयघ्नं पित्तान्तकं कामिलपाण्डुनाशम् ।
श्वेष्यानुकूले (?) तदसेव्यपथ्यं श्रीपूज्यपादप्रभुभाषितञ्च ॥

यह ग्रन्थ राजकीय प्राच्य पुस्तकागार मैसूर से लिपिबद्ध कराया गया है। वहाँ की मुद्रित ग्रन्थ तालिका में ग्रन्थ का नाम 'अकलंक-संहिता' और कर्त्ता का नाम अकलंक भट्ट लिखा मिलता है। अतः लेखक ने भी भवन की प्रति में अकलंक-संहिता एवं अकलंक भट्ट ही क्रमशः लिख छोड़ा है। पर इसका कोई आधार नज़र नहीं आता। "नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने। कल्याणकारको ग्रन्थः पूज्यपादेन भाषितः॥ सर्व लोकोपकारार्थं कथ्यते सारसंग्रहः॥" "श्रीमद्वाग्भटसुश्रुतादिविमलश्रीवैद्यशास्त्रार्णवे भास्वत्.....सुसारसंग्रहमहावामान्विते संग्रहे। संक्षेप रुपलाल्य सद्विजयणापाध्याय सन्निर्मिते ग्रन्थेऽस्मिन्मधुराकसारनिचये पूर्णो भवेन्मङ्गलम् ॥" बल्कि ग्रन्थगत इन पद्यों से ज्ञात होता है कि इसका नाम सारसंग्रह है। आयुर्वेदाचार्य श्रीयुत पं० विमलकुमार जैन का भी कहना है कि बुन्देलखण्ड में भी इसकी एक-दो प्रतियाँ मुझे दृष्टिगोचर हुई हैं और उन प्रतियों में इसका नाम सारसंग्रह ही मिलता है। बल्कि उन्होंने इस ग्रन्थ को आद्योपान्त देखकर बतलाया है कि इसमें पृष्ठ १ से ५ तक समन्तभद्र के रसप्रकरण सम्बन्धी कुछ पद्य, पृष्ठ ६ से ३२ तक पूज्यपादोक्त रस, चूर्ण, गुटिकादि कुछ उपयोगी प्रयोग एवं पृष्ठ ३३ से श्रीगोम्मटदेव के मेरुदण्डतन्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ की नाड़ी परीक्षा एवं ज्वर-निदानादि कुछ भाग है। इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रकरण में सुश्रुत, वाग्भट, हरीतमुनि एवं रुद्रदेव आदि वैद्याचार्यों के भी मत मिलते हैं। पृष्ठ ३ के ऊपर उद्धृत प्रथम श्लोक का पूर्वार्द्ध आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्ड-श्रावकाचार-सम्बन्धी मंगलाचरण के पद्य का ही पूर्वार्द्ध है। केवल उत्तरार्ध इस ग्रन्थ के संग्रहकर्त्ता विजयणा का है।

यह भवन की प्रस्तुत प्रति बड़ी ही अशुद्ध है। इस की शुद्ध प्रति खोज कर प्रकाश में लाने की ज़रूरत है। साथ ही साथ समन्तभद्र, पूज्यपाद एवं गोम्मटदेव के मौलिक वैद्यक ग्रन्थों का अन्वेषण करने की परमावश्यकता है। बल्कि कम से कम यत्र-तत्र प्राप्त होनेवाले इन आचार्यत्रयी के पद्यों को संगृहीत कर अनुवाद के साथ शुद्ध

एवं सुन्दर रूप में प्रकाशित करने की ओर जैन वैद्यों का ध्यान अवश्य आकृष्ट होना चाहिये। भवन की प्रति इस समय मेरे सामने नहीं है। भवन की यह प्रति भवन की ओर से 'भास्कर' में क्रमशः प्रकाशित 'वैद्यसार' में इस ग्रन्थगत पूज्यपाद के प्रयोगों को संकलित कर देने के लिये उक्त वैद्यसार-संग्रह के सम्पादक के पास भेज दी गयी है। इसी से इस पर विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सका।

---

(४०) ग्रन्थ नं० $\frac{२५६}{ख}$

हरिवंशपुराण

कर्ता—श्रुतकीर्ति

विषय—पुराण

भाषा—अपभ्रंश

लम्बाई १२ । इञ्च चौड़ाई ८ । इञ्च पत्रसंख्या ३१५

पारम्भिक भाग

सम्मिइणवोमसइं ते हरिवंसइं पावतिमिरहा विमलयरि गुणगणजसभूसिय तुरयअइ सिया सुव्वयणेमिय हलिय हरि ॥छ॥ सुरवइतिरीडरयणकिरणवुयपवाहसित्तणहचलणं पणविवि तं परमजिणं हरिवंसकयत्तणं वुच्छे। हरिवंसु पयोरुहु अइरवणु इह भरहखित्तसरवरउवणु, तह णालुसुकुलगिवणियरत्तंगु तं ठियउ मणोहरु भाइ चंगु, तहकणियसउणायणिवदसार कुसुमसरपमुहकेसरिकुमार, पंडवजायवभोजयणरेसा ते पत्तमणोहरणिरव सेसा, जरसिद्ध दुवणु तहु णिसिसमाणु कोवग्गिहेमु जंमरइमाणु, तं णेमिहलीहरिकिरउज्जोय, सोविलयपत्त इहमव्वलोय, परमंताविरु पुणु अवरुजाइ धरयट्ठियरावणयमुहराइ, हरिवंसु कमलु वियसिउ विसेसा तहु किलिसुरहिअलिमहिणरेसा, दुक्किय सोहइ सेविज्जमाणु णिसि सामिउं जं उडगणसमाणु, तहु किलण महु उल्लसइ चित्तु संकमिदायारहुरुछविल्लु, पारंभमि जइ हरिवंसु अज्ज णिद्धण कह हुंति अभिट्ठकज्ज, जइ महु पसियंतु तिलोयणाह रिसहाइथीरु असरणसरणाह ॥ घत्ता ॥ ठियणंतचउट्ठहु महुमइ भट्ठहु देहु सुमइ पहु णित्थरमि सरसइं सुपसायइं मणि अणुरायइं जिमि हरिवंसु पवित्थरमि ॥

× × × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ १०२ पंक्ति ५)—

जिणवर चउवीसइं पणमिय सीसइं चउदिसु णियजसु वित्थरए जिम कंसु उवरणउं णिउ अभणुगरउं उग्गसेणवंधणुकरए ॥ रायधम्मबहुमच्छहु लक्खणु पयडइ तह वसुपउ वियक्खणु. असिवरधणुहवाणगुणभेयइं मुग्गलछुरिकाचक्कअणेयइं, हयगयरहिवर जं वाहिज्जहि वागराग कसअंकुसदिज्जहि, अवरवयरिरणजिप्पणहेयइं पुंछिउ उवएसइ इयभेयइं, जे गिरथह खंड कम्म मणुगणइं तं उवएसु करइ अणुगाइं. पडिम पयदहं सावयधम्मइं दंसणपमुहउ देसइ रम्मइं, धम्मझाणइ य कालु गमंतउ पुरपरियण पिय मणु रंजंतउ पत्थंतरि तह कंसु परायउ चलण णवेइ चित्तअणुरायउ. सामिय तव भिच्चत्तणु ईहमि आउहु विज्ज सिसत्तु समोहमि. ता वसुपव उत्तु अक्खिज्जइ विणदिण विज्जाभासु करिज्जइ. धणुगुणवाणविहाण अणेयइं ते वसुपव कहिय बहुभेयइं असिवरमुसलकुंतविहाणइं मालजुझ पाइकविणाणइं ॥ घत्ता ॥

× × × ×

अन्तिम भाग—

जह कमेण सुयणाणि उक्खिण्णाइं अंगअंगदेसइं घरभाणइं पंचमकालचलणपाढमिल्लइं तह उवण आयरियमहल्लइं कुंदकुंदगणिणाअणुकम्मइं जायइं मुणिगणविविहसहम्मइं गणवालतवाणं सरिणाइं गंदिसंघमणहरमइसुक्खइं पहाचंदगणिणा सुरपुणाइं पोमणंदि तह पट्टउवणाइं पुणु सुभचंददेवकमजायइं गणि जिणचंद तहयविकवायइं विज्जाणंदि कमेण उवणाइं सीलवंतबहुगुणसंपुणाइं पोमणंदिमिसकमिण ति जायइं जे मंडलायरिय विक्खायइं मालवदेस धम्मसुपयासणु मुणिदेविंदकित्ति मिउभासणु तह सिस्सु अमियवाणि गुण णारउ तिहुवणकित्तिपवोहणसारउ तह सिस्सु सुहकित्ति गुरभत्तउ जहि हरिवंसपुराणु पउत्तउ मक्खरउक्खिउवुद्धिविहीणउ पुव्वयिरिहि वयणपयलीणउ अप्पवुद्धिवुहदोसुप लिव्वउ जं असुद्धु तं सुद्धुकरिव्वउ पयडु सयलगंथ सुपमाणहु तेरसदहसहस्सइं वुह जाणहु । संवतु विक्कमसे णगारसहं सहसुपंचसयबावणसेसहं मंडवगडुवर मालवदेसइं साहिगयासु पयाव अमेसइं णयरजेरहवजिणहरु चंगउ गोमिणाहजिणाबिंबु अभंगउ गंथुसउगणु तत्थ इहु जायहुउ चउविहु संसुणि सुणि अणुरायउ माघकिण्हपंचमिसमिवारइं हत्थणखत्तसमत्तगुणालइं गंथु सउणु जाउ सुपवित्तउ कम्मरकयणिमित्तजउत्तउ पढहि सुणहि जे भावण भावहि पयडअक्खरहु णिसुणावहि तह सम्मत्तरयणावरलाहइं समापवमाअचलसुह साहहि ॥ घत्ता ॥ हरिवंसपुराणहु तिजयपहाणहु भाउ करिवि जेसहहहि सियपुत्तकलत्तइं लाहमहंतइं समापयमाइं पुणु लहहि ॥१८॥ दुवइं ॥ वीरजिणंदचलणा पणावेपिणु जिणसासण महंतहो दिसउ समाहिसंतिभव्वयणाहं धम्मणुराय-रत्तहो ।

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. V SEPT. 1939 No. II.

Edited by

Dr. B. A. SALETORE, M. A., Ph. D.

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.

Babu KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSHANA.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,

ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription :

INLAND RS. 4. FOREIGN RS. 4-8 SINGLE COPY RS. 1-4.

CONTENTS.

PAGES.

1. JAINA LITERATURE IN TAMIL By Prof. A. Chakravarti M.A., I.E.S. ... ... 35—42

2. SOME ICONOGRAPHIC TERMS FROM JAINA INSCRIPTIONS By Mr. V. S Agarwala M.A. ... . 43—47

3. A JAINA GANESA OF BRASS By H. D. Sankalia, M.A., LL.B., Ph D (Lond) ... ... 49—52

4. ASOKA AND JAINISM By Kamta Prasad Jain M.R.A.S. ... 53—60

5. THE JAINA CHRONOLOGY By Kamta Prasad Jain M.R.A.S. 61—64

6. SELECT CONTENTS OF ORIENTAL JOURNALS 65

7. JAINA BIBLIOGRAPHY 66

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. V. No. II | ARRAH (INDIA) | Sep. 1939.

JAINA LITERATURE IN TAMIL.

By Prof. A. Chakravarti, M.A., I.E.S.

Continued from Vol. V, No. I, page 8.

The Chera prince is complimented by his Brāhmaṇa friend Māḍalan as one who introduced the purer form of 'Pooppali' in temple worship. Incidentally we may mention another interesting fact. There are two terms in early Tamil literature 'Andaṇan' and 'Pārppān' each with a story behind. It is generally assumed that these two are synonyms. In several places they are probably used as synonyms. When in the same work these two terms are used in a slightly different connotations, they must be taken as different. In this epic of anklet the term 'Andaṇan' is interpreted by the commentator to mean 'Śrāvaka' the householder among the Jainas. This is very interesting piece of information. These two terms again occur in the famous Kural where the term 'Pārppān' is interpreted to mean one who makes Veda Adhyayana; where the term 'Andaṇan' is defined in a different manner as "as one who is all love and mercy to all the living creatures." Evidently the term 'Andaṇan' was conventionally used by early Tamil authors to describe the followers of Ahiṁsā doctrine irrespective of birth, while the term 'Pārppān' was reserved by them to designate the social

caste af the Brāhmaṇas. This suggestion is worth investigating by scholars interested in the social reconstruction of the early Tamils.

Jīvaka Cintāmaṇi.—This work, the greatest of the five Mahākāvyas, is undoubtedly 'the greatest existing Tamil literary monument.' In grandeur of conception, in elegance of literary diction and in beauty of description of nature it remains unrivalled in Tamil literature. For the later Tamil authors it has been not only a model to follow but an ideal to aspire to. The story that is told of Kamban, the author of the great Tamil Rāmāyaṇa, that when he introduced his Rāmāyaṇa before the academy of scholars, when some of the scholars remarked that they discerned traces of Cintāmaṇi there, Kamban, characteristic of intellectual courage and honesty, acknowledged his debt with the following words :—

"Yes, I have sipped a spoonful of the nectar from Cintāmaṇi." This indicates with what veneration the classic was held by the Tamil scholars. 'This great romantic epic which is at once the Iliad and the Odyssey of the Tamil language' is said to have been composed in the early youth of the poet named Tiruttakkadēva. Nothing is known about the author except his name and that he was born in Mylapore, a suburb of Madras, where the author of Kuraḷ also lived. The youthful poet together with his master migrated to Madura the great capital of the Pāṇḍyan kingdom and the centre of religious activities. With the permission of the teacher the young ascetic poet got introduced to the members of the Tamil Academy or Saṅgam at Madura. While in social conversation with some of the fellow members of the academy he was reproached by them for the incapacity of producing erotic work in Tamil language. To this he replied that few Jainas cared to write poetry in Śṛṅgāra Rasa. They could very well do it as well as the others, but the fact that they did not indulge in such literary compositions was merely the result of their dislike of such sensual subjects and not due to literary incapacity. But when his friends taunted whether he could produce one, he accepted the challenge. Returning to his Āśrama he reported the matter to his master. While himself and his master were seated together there ran a jackal in front of them which was pointed out

by the master to his disciple who was asked to compose a few verses relating to the jackal. Immediately Tiruttakkadēva, the disciple, composed verses relating to the jackal, hence called Nari viruttam, illustrating the instability of the body, ephemeral nature of the wealth and such other topics. The master was pleased with the extraordinary poetic ability of his disciple and gave him permission to compose a classic describing the life history of Jīvaka. It contained all the various aspects of love and beauty. To mark his consent the master composed an invocatory verse to be used by the disciple as his first verse of his would-be work. Then his disciple Tiruttakkaddēva started composing another verse in adoration of Siddha which was accepted by his Guru as much more beautiful than his own and instructed him to keep this as his first verse while his own was assigned a second place. Thus the verses containing Siddhanamaskāra starting with the words 'Moovāmudalā' is the first verse in Jīvaka Cintāmaṇi while 'Arhan Namaskāra' composed by the Guru beginning with the words 'Śemponvaraimēl' is assigned the second place in the work. Thus as the result of the challenge from his friendly poet of Madura Saṅgam, the Cintāmaṇi was composed by Tiruttakkadeva to prove that a Jaina author also could produce a work containing Śṛṅgāra Rasa. It was admitted on all sides that he had succeeded wonderfully well. When the work was produced before the academy, the tradition says, that the author was asked by his friends how he, from his childhood pledged to perfect purity and celibacy, could compose a poem exhibiting such unequalled familiarity with sensual pleasures. In order to clear up this doubt it is said he took up a red-hot ball of iron with these words "Let this burn me, if I am not pure"; and it is said he came out of the ordeal unscathed, and his friends had apologised to him for casting doubt on his purity of conduct.

Unlike the previous work Śilappadikāram which is supposed to deal with the historical events which took place during the life-time of the author, this classic deals with the Purāṇic story of Jīvaka. The story of Jīvaka is found in Sanskrit literature in plenty. The continuation work of Mahāpurāṇam by Jinasena composed by his disciple Guṇabhadra

contains the story of Jīvaka in a chapter of Mahāpurāṇa. The story is again found in Śrī Purāṇam which is a prose in Maṇipravāḷa style, probably a rendering of this Mahāpurāṇam. In Kṣatracuḍāmaṇi, in Gadyacintāmaṇi and Jīvandhara Campū we have the same story worked out. Whether the author of the Tamil work had any of these Sanskrit works as the basis for his composition we cannot assert with any definiteness.

Of all these Sanskrit works, Mahāpurāṇa is certainly the oldest and we have definite information that it belongs to the 8th century A.D., since it was composed by Jinasena the spiritual teacher of Amoghavarṣa of the Rāṣṭrakūṭa dynasty. But Jinasena himself speaks of several previous works on which he bases his own composition. Anyhow it is generally agreed by scholars that this Tamil classic Jīvakacintāmaṇi is probably later than the 8th century A.D. We may accept this verdict for the present. The work is divided into 30 Ilambakas or chapters, the first beginning with the birth and education of the hero and the last ending with his Nirvāṇa.

1. Nāmagal Ilambagam—The story begins with the description of the country Hemāṅgada in Bharata Khaṇḍa. Rājamāpuram is the capital of Hemāṅgada. The ruler was Sachchandan of the Kuru dynasty. This Sachchandan married his maternal uncle's Śrīdattan's daughter named Vijayā. This Śrīdattan was ruling over the country of Videha. Since the king Sachchandan was so much in love with his wife who was extremely beautiful, he spent most of his time in her apartment without attending to his state affairs. He delegated to one of his ministers Kaṭṭiyaṅgāran the royal privileges to be exercised. This Kaṭṭiyaṅgāran, when once he tasted the power and privilege of royalty, desired to usurp the the same. The king, ignorant of such a Machievallian policy of his minister, to whom he foolishly entrusted the state affairs, discovered the mistake a little too late. In the meanwhile, the Queen had three dreams of rather an unpleasant nature. When she wanted the interpretation from the king, he somehow consoled her not to worry about the dreams. Anticipating troubles from his

ungrateful minister, it is said that he had constructed for him a sort of aerial vehicle like the modern aeroplane in the form of a peacock. This peacock machine was secretly constructed within the palace in order to carry two persons in the air, and he instructed his Queen to manipulate this machine. When the queen was in the state of advanced pregnancy, the ungrateful Kaṭṭiyaṅgāran wanted to realise his wish to usurp the kingdom and thus besieged the palace. Since the peacock machine was constructed to carry the weight of two persons alone and since the queen was in advanced state of pregnancy, the king thought it advisable to place the machine at her disposal and himself stayed behind. When the machine started up with the queen on it, the king with the drawn sword in his hand came out to meet the usurper. In the melee of the fight the king lost his life and the wicked Kaṭṭiyaṅgāran proclaimed himself the king of Rājamāpuram. The queen, who by that time reached the outskirts of the city, heard this royal proclamation resulting from the death of her royal husband and lost control of the machine which descended and landed on the cremation ground in the outskirts of this city. In the darkness of night she gave birth to a son in those pitiable surroundings. The queen had nobody to help her and the child was crying helpless in the pitch-dark night on the cremation ground. It is said that one of the Devatās taking pity on the queen, assumed the form of one of her attendants in the palace and did service to her. Just then one of the merchants of that city carrying his dead child to be buried came there. There he met the beautiful child Jīvaka which was left alone by his mother at the advice of the Devatā. The merchant by name Kandukkaḍan was very much pleased at the sight of the royal baby which he recognised as such from the ring in the child's finger and took the live baby, the royal child, back to his house and gave it back to his wife, saying that her child was not dead. His wife gladly accepted this gift from her husband and brought him up thinking it her own. This child was Jīvaka, the hero of our story.

The queen Vijayā accompanied by the Devatā went to Daṇḍakāraṇya where she assumed the form of a female ascetic and stayed in a Tāpasa Āśrama. Jīvaka was brought up in the merchant's

house with a number of his cousins. As a youth he was educated by one Accaṇandi Ācārya and also learnt archery and other arts requisite for a prince. The Guru who was attracted by the ability of his student one day narrated to him the tragic story of his royal family and took a promise from the youthful prince that he should not rush to revenge and recover his state till the expiry of one complete year. After getting this promise from the youthful disciple the Guru blessed the prince that he would recover his kingdom after that period and discovered to him his own identity Afterwards the Guru left him and went his own way to perform Tapas and attain Nirvāṇa after worshipping at the feet of the 24th Tīrthaṅkara Mahāvīra. Thus ends the first chapter devoted to the education of the prince Jīvaka, hence called Nāmagal Ilambagan, Nāmagal meaning Sarasvatī the Goddess of tongue or speech.

2. Govindaiyār Ilambagam—While the prince was spending his time with his chetty cousins in the family of Kandukkkadan, the hill tribes from the borders carried away the cattle belonging to the king. The shepherds in charge of the cows being unable to prevent this, ran to the king for help. The king immediately ordered his 100 sons to go and fight the hunters and recover the cattle. But they were all defeated by the hill tribes. The king did not know what to do next. But the chief of the shepherds had it published in the city that he would give away in marriage his daughter Govindā to any one who could successfully recover and bring back the king's cows. Jīvaka heard this proclamation, went in pursuit of these 'Vēḍars', and recovered all the cows. Since it would not be proper for a Kṣatriya to marry a shepherd maid, he with the consent of the Nandakōn the shepherd chief had Govindā married to his friend and associate Padumuhan. Thus ends the second chapter dealing with the marriage of Govindā

3. Gāndharvadattāiyār Ilambagam—Gāndharvadattā was the daughter of a Vidyādhara king named Kaluṣavega. Learning from an astrologer that his daughter would marry someone in Rājamahāpura, he wanted to send his daughter to that city. When he was waiting for an opportunity for this, a merchant from that city Rājamahāpura by name Śrīdatta was returning home with ship-loads of gold as a

result of his sea-borne trade. Just like the magic ship-wreck effected by Prospero in Shakespeare's Tempest, this Vidyādhara king did create a magic ship-wreck and managed to bring the merchant Śrīdatta to his court. There he was intimated why he was brought to the Vidyādhara capital; and he was instructed to take with him the princess Gandarvadattā to be given in marriage to anybody who would defeat her in a Viṇā contest. Returning to his capital with this Vidyādhara princess, Śrīdatta proclaimed to the citizens the conditions of Viṇā Svayaṁvara and offered the Vidyādhara princess to one who would succeed in this contest. This contest was arranged with the permission of Kaṭṭiyaṅgāran the then ruling king. Members belonging to the first three Varṇas were invited for the contest. Every one got defeated by this princess Gandharvadattā. Thus elapsed six days On the seventh day the prince Jīvaka, who was taken by the citizens for merely a merchant's son, wanted to try his chance in this music contest. When Jīvaka exhibited his musical skill in this contest, the Vidyādhara princess acknowledged him to be victorious and accepted him as her husband. Several princes who were assembled there, out of jealousy, wanted to fight Jīvaka but all these were defeated and finally Jīvaka took Gāndharvadattā home where he celebrated the regular formal marriage. Thus ends the third chapter of the marriage of Gāndharvadattā.

4. Guṇamālaiyār Ilambagam—On another day during Vasanta festival the youth of the city went to the adjoining Park for play and enjoyment. Among these were two young ladies Suramañjarī and Guṇamālā. Between them there arose a discussion as to the quality of the fragrant powder used for the purpose of bathing. Each claimed that her powder was superior. The matter was referred to the wise youth Jīvaka, who gave a verdict in favour of Guṇamālā. Hearing the decision Suramañjari was sorrow-struck and decided to shut herself up in Kaṇyāmāḍa with a vow that she would never see male's face, till this very Jīvaka would come begging for her hand in marriage. While Suramañjari desisted from taking part in the Vasanta festival Guṇamālā encouraged by the verdict in her favour went out to enjoy the festival. Jīvaka himself on his way observed a dog beaten to death by some Brāhmaṇas whose food was

touched by this poor dog. When he saw the dying dog, he tried to help the poor creature and whispered to him the Pañcanamaskāra with the hope that it would help the creature to have a better future. Accordingly the animal was born in Devaloka as a Deva called Sudañjaṇa. This Sudañjaṇa Deva immediately appeared before Jīvaka to express his sense of gratitude and was willing to serve him. But Jīvaka sent him back with the instruction that he would send for him whenever he was in need. While he thus dismissed the Deva, he witnessed a terrible scene. The king's elephant escaped from its place and immediately ran towards the Udyāna in front of the people returning home after the festival. Just then he saw Guṇamālā with her attendants returning home. They were all frightened at the sight of the mad elephant Jīvaka rushed to their rescue, subdued the king's elephant and made it return home quietly; and thus made the way clear for Guṇamālā and her friends. While Guṇamālā saw the beautiful prince, she immediately fell in love with him. This was reported to her parents who arranged for the marriage of Guṇamāla with Jīvaka, which was accordingly celebrated. But the king Kaṭṭiyangāran came to know of the chastisement of his royal elephant and sent his sons and brother-in-law Madanan to bring this Chetty boy Jīvaka They with a number of soldiers came and surrounded Kandukkaḍan's house. Though Jīvaka wanted to fight against them, he remembered his promise to his Guru to keep quiet for one full year and therefore was not in a position to defend himself. Thus in difficulty he remembered his friend Sudañjaṇa Deva who immediately brought about a cyclone and rain thus created confusion among his enemie. In this confusion Jīvaka was lifted and carried away by his friend Sudañjaṇa Deva to his own place. The king's officers, in their confusion, were not able to find out Jīvaka; they killed some one else; and reported the matter to the king that they could not bring Jīvaka alive and therefore they had to kill him in the confusion created by the cyclone. The king was very much pleased with this result and rewarded them all amply.

Contd.

Some Iconographic Terms from Jaina Inscriptions.

BY

Mr. V. S. Agarwala, M.A.

The late B. Puran Chand Nahar, famous Jaina scholar of Calcutta, published in three volumes about 2,500 Jaina inscriptions which he had after great patient labour compiled from numerous temples and images. While going through the volumes I noticed some technical words used in the inscriptions themselves, and which considering their importance for the sake of Jaina iconographic terminology I collected, and am now presenting below. I have supplemented the same from the Kushana Brahmi Inscriptions found from the Kankali Tila, Mathura, so that the inscriptions all together present a range of about two thousand years. Where reference to Kankali Tila is not specifically mentioned, the terms are mostly those from the medieval period.

An image is generally called मूर्ति ; more often it is also styled as बिम्ब or जिन बिम्ब, if the image represents a Tirthamkara. A temple is rightly named जिनालय The cella of the temple is called गर्भगृह.

Images of Supārsva and Pārsvanatha had a hood of serpent-heads, and the name for such images was सफण मूर्ति. From the Kankali Tila we have found several four-fold steles, representing four standing Jinas One of these images is always a सफण मूर्ति, and I believe was intended to represent the Tirthankara Supārsva, in whose memory a stupa was built at the Kankali Tila site, as stated in the Mathura Kalpa of the *Vividha-tirtha-kalpa*.

The four-fold Mathura images are technically named in the Brahmi inscriptions as प्रतिमा सर्वतोभद्रिका [*Ep. Ind.*, Vol. I, Ins. 2] dedicated to the Lord (भगवता), or अरहन्त प्रतिमा सर्वतोभद्रिका (Ep. Ind., Vol. II, Ins. XVI), or in its Prakritised form as शवदोभद्रिक [E.I., II, Ins. no. XXXVII]. In the medieval period this name

appears to have been supplanted by another word, *viz.*, चतुर्बिम्ब, used in a Kankali Tila epigraph of the Vikrama year 1080. [E.I., Vol. II, Ins. XLI]. The modern name चौमुखी is almost a derivation from चतुर्बिम्ब.

Among the medieval Jaina images there is a class in which around the figure of a central Jina, twenty-three other Jinas are also carved, so that the complete slab honours the memory of all the 24 Tirthankaras. Such images are now known as चौबीसी मूर्ति. In the medieval period inscriptions they are called चतुर्विंशतिपट्ट [Nahar Vols. Ins. no. 2407]. The चतुर्विंशति पट्ट derived its specific name from the name of the central Jina figure. For example we find mention of the following Jina slabs :—

1. आदिनाथ चतुर्विंशतिक [Ins. 2457].
2. शान्तिनाथ चतुर्विंशति पट्ट [Ins. 2553].
3. विमलनाथ चतुर्विंशति पट्ट [Ins. 2554].
4. श्री कुन्थुनाथ सपरिकर चतुर्विंशति पट्ट: [Ins. 1695]
5. श्री सुविधिनाथ चतुर्विंशति पट्ट [Ins. 1329].
6. श्री संभवादितीर्थकृच्चतुर्विंशति पट्ट [Ins. 1733].

In the last inscription the name of the Central Jina is given as Sambhava, but the other twenty-three are also implied in the phrase संभवादि, i.e., Sambhava and others. We are indebted to Inscription No. 1731 for the technical name of the principal Jina represented on the चतुर्विंशति slabs : he was designated as मूलनायक. The particular slab is inscribed as ..श्री शान्तिनाथ मूलनायक — चतुर्विंशति पट्ट :—

The word for a standing Jina image is कायोत्सर्ग मूर्ति. In Ins. 2146 we read कायोत्सर्गस्थिता श्री सुपार्श्व प्रतिमा which description is justified by its सकग feature. In Ins. 2402 we read on a colossal standing image of Bāhubali : श्री बाहुबलि मूर्ति : कायोत्सर्गस्था कारिता ।

In connection with the carving of the 24 Jina images on one slab, it may be noted that sometimes the mothers of the 24 Jinas also were represented on a single slab. One such example depeincting 24 female figures we find in Ins. no. 2432 describing the same as श्री चतुर्विंशति तीर्थंकर मातृपट्टिका,

In fact the fondness of the Jainas for carving religious slabs or tablets was responsible for a variety of them having come into existence. In the earliest inscriptions of about the 1st century B. C. from the Kankali Tila we read of आयागपट s Ep. Ind. Vol. II, Ins. V,XXX,XXXII] Dr. Bühler rendered it as a 'Tablet of Homage' and connected it with the Sanskrit from आर्यागप्रपट्ट. We have several perfect examples of Ayagapatas from Kankali Tila, now preserved in the LKo museum, and it can be asserted that for perfect grouping, symmetry of composition and for the wealth of contents, there is nothing else in Mathura art that can compare with the Jaina Āyāgapaṭas from the Kankali Tila. They were established in honour of a Jina or one of the sacred symbols which occupied the centre of the picture, and symbolically they could be said to represent the Jaina conception of Time and Space as making up the Cosmos and the Spirit that presides over it. Āyāgapaṭṭa no. 82 in the Mathura Museum depicts the stupa with gateways and railing that actually stood at the site of Kankali Tila.

The custom of establishing Ayagapatta of the Kankali Tila type seems to have been discontinued after the Kushana period. In the medieval period records we come across other kinds of *paṭṭas* :—

1. पट्टावली पट्टक [Ins. no. 2574]. This is one of the most important inscriptions published in his volumes by Sri P. C. Nahar. It gives the genealogy of the Jaina pontiffs from Mahavira to Devardhigani, covering a period of 980 years. This slab is illustrated in the beginning of Vol. III of Jaina Inscriptions by Nahar.

2. तपपट्टिका [Ins. No. 2144 Illustrated on p. 22 of Vol. III by P. C. Nahar. It gives the dates of the Five Great Events (पंचकल्याणक) of the 24 Jinas, but its particular name is derived from the fact that it gives charts of the six kinds of *tapas* and also illus-illustrates graphically the two kinds of penances known as यवमध्य and वज्रमध्य. The six kinds of penances given there are the following:—

(*a*) महाभद्र तप, lasting for 196 days, punctuated by 49 *pāraṇās* or eatings.

(*b*) सर्वतोभद्र तप, 392 days, 49 *pāraṇās.*

(*c*) भद्रतप—75 days, 25 ,,

(*d*) भद्रोत्तर तप—175 days, 25 ,,

(*e*) श्रीधर्म चतुथ तप.

(*f*) श्री कर्म चतुथ तप.

The वज्रमध्य तप is performed in the dark half of the month regulating the morsels according to the waning phases of the moon, and the यवमध्य variety is followed in the bright half as a चान्द्रायण व्रत.

3. कल्याणकपट्ट [Ins. on p. 35 of introduction, to Vol. III, and the illustration also facing it] The Jainas believe that there were five great events in the life of each Tirthankara, *viz.*, चवण (= च्यवन, Descent or Conception), जंम (= जन्म, Birth), दिक्खा (= दीक्षा, Initiation), नाण (= ज्ञान, Enlightenment) and मोक्को (=मोक्ष, Passing Away). The slabs which give the dates *viz.* the month and day of these auspicious events were known as पंचकल्याणक पट्ट. In the तपपट्ट given above, the पंचकल्याणक details are also incorporated.

4. समोसरण पट्ट. [Ins. 2409] depicting the समवसरण congregations.

5. पादुकापट्ट depicting foot-prints.

Cognizance or symbols—The distinguishing symbols of the 24 Jinas are well-known. What I wish to emphasize here is the fact that the *lāñchhanas* appeared at a later date in Jaina iconography. Of all the images from Kankali Tila I have not come across a single image with a cognizanee to mark it out as the statue of a particular Tirthamkara. The *lāñchhanas* in fact do not exist, so far as art is concerned, up to the end of the Kushāṇa period. The dedicatory inscriptions only help us in knowing the name of the Jina represented. For example we have from Kankali Tila अरिष्टनेमि E.I., II, Ins. 14), णन्दिआवर्त (E. I. II, Ins. 20), वर्द्धमान (E. I., II, Ins. 23), उसभ (E.I., II, Ins. 28), पार्श्व (E. I. Vol. II, Ins. 29) etc.

A temple in the early Brāhmi inscriptions was called पासाद [E. I., II, Ins. 4] and a gateway or architrave as पासाद तोरन [E. I., II,

Ins. I]. In one inscription the pillar is referred to as सिलथंभ (E I., I., Ins. II).

The word for a sculptor is सिलावटा [Ins. 2501 ; also 2503, 2505 etc., Nahar].

Its variation is शिलावट [Ins. 2504]. In fact this title for a sculptor is still in vogue in Rajputana and in some parts of North India where it has not been replaced by the Persian *sang-tarash*. In one inscription the engraver is referred to as सूत्रधार, [Ins. 2512]. It may be added that in a Brāhmī inscription of the Kushāṇa period engraved on the pedestal of a seated Bodhisattva statue of Mathura red sandstone, discovered at Śrāvastī, the epithet to denote the sculptor is *Śaila-rūpakāra* (Arch. Survey Report, 1908-9, p. 135.)

A Jaina [illegible] at Ilaya
By Courtesy of Indian Historical Research Institute [illegible]

A JAINA GAṆESA OF BRASS

BY

H. D. SANKALIA, M.A., LL.B., Ph. D. (Lond.)

The image of Gaṇeśa [1] which is here discussed and illustrated is now exhibited in the collection of "Bronzes" in the Museum of the Indian Historical Research Institute, St. Xavier's College, Bombay.

The image is cast in brass and is 6·5" in height and 4·5" in breadth (the entire cast). Gaṇeśa is represented as sitting in the crose-legged posture for meditation (*padmāsana*), on a lotus-seat (*padma-āsana*), which is resting on a rectangular stand. Behind, on the stand, is a "toraṇa" [2] surmounted by a *kalaśa* [3]. Over this was held an umbrella as is indicated by a loop affixed at at the back. He has 18 arms the additional 16 springing up from the two main arms), and has his trunk towards the right. The point where it is again turned to the left is joined up with the main part of the trunk to form a circular receptacle (perhaps to hold some object?). Gaṇeśa wears a *karaṇḍamukuṭa*, *hāra*, *sarpopavīta* (sacred thread in the shape of a serpent), which also covers the

1. See Plate. A photograph of it is published here with the kind permission of Rev. H. Heras, S. J.

2. After Comaraswamy, *Catalogue of the Indian Collections in the Museum of Fine Arts*, Boston (1923), pp. 105 and 108, though usually it is called a *prabhāvali*.

3. Coomaraswamy *Ibid.*, calls this ornament, which appears on the images published by him (mainly from Gujarāt) a *caitya* and doubts if it is a vestige of Buddhist or Jaina influence. This name for the ornament seems to be improper. It is undoubtedly *kalaśa*, and is usually found on the images in Jaina temples from Gujarāt. Most probably this *kalaśa*—type ornament is a result of the evolution of the triple umbrella marks found on Jaina sculptures, which getting mixed up with the architectural ornament—*kalaśa*—took this shape. *Caitya*, however, would be a proper name for this ornament in Buddhist sculptures as explained by Bhattacharyya, *Buddhist Iconography*, p. 191.

belly, and a lower garment. In his left lap is seated his *Śakti*, Lakṣmidevī, who is represented with two arms only; her right hand carries a flower *nīlotpala* (?) and the left a *cāmara*. Just near the left leg of the lotus-stool is a small rat eating a sweet ball, *modaka*.

This image is remarkable for a number of reasons.

First, for the number of arms. Gaṇeśa in his representations as Vīra-Vighneśa or as Mahā-Gaṇapati is, at the most, endowed with 16 or 10 arms respectively [1] but not more. Neither has a figure with more arms been published so far.[2] This figure of Gaṇeśa has 18 arms and the emblems held by the hands are not in accordance with those prescribed in the case of a multi-handed Gaṇeśa [3]. Here we have (beginning with the right hands from the top), a pointed object held in the fist—perhaps a *śūla* (dagger, now broken); 2 *paraśu* (axe); 3 radish [4]; 4 *muśala* (pestle) or *bāṇa* (arrow); 5 *gadā* (mace) or is it a kind of flower? 6 palm stretched out on the side (is it *daṇḍahasta* [5] or *abhaya mudrā*?); 7 palm similarly stretched out but holds *akṣamālā* (rosary); 8 *triśūla* (tridenta)? 9 *vajra* (thunderbolt). The left hands have: 1 *abhaya mudrā* [6]; 2 *dhanur* (bow); 3 *kalaśa* (water-vessel); 4 pomegranate (?), 5 *aṅkuśa* (elephant-goad) or *pāśa* (noose); 6 book (?); 7 *aṅkuśa* again (?); 8 broken tooth (?); 9 *bijorakam* or *cigom* fruit (citon) [7].

Secondly for the pose. The usual sitting pose for Gaṇeśa figures is *mahārājalīlā*; less frequently the *ardhapadmāsana* pose prescribed by canonical texts [8]. But this figure is seated in a full

1. Cf. Gopinath Rao, *Elements of Hindu Iconography*, Vol. I, pp. 52 and 55.

2. See *Ibid.*, and Getty, *Ganeśa*; also Coomaraswamy, *op. cit.*, and *Catalogue of the Collections in the Colombo Museum*; Ramachandran, *South Indian Hindu Metal Images in the Madras Museum*; Bhattasali, *Iconography of Buddhist and Brahmanical Sculptures in the Dacca Museum*.

3. See Gopinath Rao, *op. cit.*, Vol. I, pp. 52 and 55.

4. See Getty, *op. cit.*, pp. 18 and 32.

5. This should properly be shown by the left hand.

6. Usually this is shown by one of the right hands.

7. See Getty, *op. cit.*, unnumbered page after the Introduction.

8. See Gopinath Rao, *op. cit.*, Vol. I, p. 49 and pl. x, fig. 1.

padmāsana Till now no sculpture either in stone or in "bronze" seated in this pose is published from Indian collections.[1]

Thirdly, for its trunk. It is turned to the right. This is, however, not an absolutely unusual feature for figures with trunks similarly treated are found.[2]

Fourthly, for the *kalaśa*-like ornament on the *torana* of the stand. This suggests Jaina influence, as an identical ornament is found on the images of the Jaina Tirthankaras in the collection of the Museum. It is not improbable that the image belonged originally to the *grabha-grha* (shrine-chamber) of some Jaina temple where it was worshipped along with other brass images, because Gaṇeśa is worshipped as a lord of auspicious events and remover of obstacles even by the Jainas, and the ritual of establishing (*pratiṣṭhāpaṇavidhi*) his image is described at length in a Jaina work called *Āchāradinakara*.[3] According to this work an image of Gaṇeśa may be of several kinds—*prāsādastha, pūjanīya, dhāraṇīya*, and *vidyāgaṇeśa* : may be made of any metal *including brass* (*riti* or *rirī*) *but not of any other mixed metal, may have* 18 or even 108 hands and *may be seated in a padmāsana*[4]. Our image, it will be seen, has many of these features —*viz.*, it is made of brass and has 18 hands. Further, (to cite archaeological evidence), an image of Gaṇeśa is usually placed either on the entrance gateway or on that of the shrine in a Jaina temple[5].

1. Even from outside India, Gaṇeśa figure in full *paryaṅkāsana* published so far is only one a Four-headed Gaṇeśa from Indo-China. (See Getty, *op. cit.*, pl. 27 and pls. 25 28 respectively), though a number of figures in partial *paryaṅkāsana* are known.

2. *Ibid.*, pls. II b, IV b Xb, XXb, XXXVIa, cf. Rao, *op. cit.*, p. 48; (however he has not published a single image of this nature).

3. Published in two parts in the *Kharatara Granthamālā*, No. 2 (A.D. 1922), p. 210. I am thankful to my friend, Mr. S. C. Upadhyaya for drawing my attention to this work.

4. *Ibid.* p. 210.

5. For instance, on the doorway of the *[illegible]* on the left of the principal entrance of the *[illegible]* of the Jaina temple at Sarotrā, N. Gujarat. See Burgess, *Archaeological Survey Western India*, Vol. IX, p. 100.

It may be pointed out here incidentally that this point—the place of Gaṇeśa in Jainism (literature [1] and sculpture) has not been touched upon by Getty in her otherwise exhaustive work on Gaṇeśa.

Two other points may be noted. First, that though the Śakti of Gaṇeśa is seated on his left lap as is the case with Śakti Gaṇapatis she sits unsupported.

Second, this is one of the very rare cases in which the figure of Gaṇeśa is so well proportioned as this one. Artistically it does not look ugly but looks well modelled just because the belly is made proportionate to suit the *padmāsana*-pose of the figure.

It is not known whence the figure came The *kalaśa*-type ornament and other features point towards Gujarāt as its provenance where it was probably worshipped in a Jaina temple or home as a *dhārṇīyamūrti* (portable image) and place it in about the 15th century A. D.

1. Hemachandra's works, for instance, do not begin with an invocation to Gaṇeśa. Still Gaṇeśa is mentioned by him in his *Abhidhānak*(*cintāmaṇi*, ed. by Boehtlingk and Rieu (Petersburg 1847), p. 35 as Heramba, Vighneśa, Paraśupāṇi, Vināyaka, etc.; see also *Abhidhānasamgraha*, Vol. II, p. 12.

Asoka and Jainism.

BY

Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.

Introductory.

At the beginning of the Indian researches the inscriptions of the Mauryan Emperor Asoka were a sealed book for the European Scholars; but it was also through their laudable efforts that these records on stone were deciphered by the help of Cylonese Buddhist texts. Prof. T. W. Rhys Davids remarked that "It is not too much to say that without the help of the Ceylon books the striking identification of the king Piyādasi of the inscriptions with the king Asoka of history would never have been made."[1] Henceforth it became an easy task for the scholars to study the inscriptions more successfully; but in doing so they could not keep clear their vision of the latter monkish evidence and were mostly swayed by the accounts of the poetical and sectarian books of the Cylonese Buddhists.[2]

The Buddhist legends are not pure history.

It seems that the accounts of the Buddhist legends are not pure history to rely upon. Mr. Vincent Smith admitted that these chronicles are full of 'silly fictions' and hence are 'of no historical value.' They should be 'treated simply edifying romances.'[2] Prof. D. R. Bhandarkar supports him when he says that Buddhist traditions expressed in these chronicles contain 'such downright absurdities and inconsistencies' and 'disclose so much of dogmatical and sectarian tendency that very little that is contained in these traditions may be accepted as historical truth.'[3] Moreover in the words of Prof. R. K. Mookerjee, 'these legends are themselves at

1. American Lectures, p. 46.
2. Smith, Asoka, pp. 19—23.
3. Bhandarkar, Asoka, p. 96.

conflict with one another in many places and thus betray themselves all the more.'[4] Prof. T. W. Rhys Davids' following remarks also seem to hold good :—

"Now that we have the contemporary records in all their simplicity and redolent of the time, the picturesque accounts, written six centuries or more afterwards by well meaning members of the Buddhist Order, who were thinking the while not of historical criticism, but of religious edification, seem of poor account" Buddhist India, p. 274).

"It is therefore," says Dr. Kern,[5] "unsafe to draw inferences from such narrations." Yet there are a few scholars like Dr. Hultszch who have faith in these legends. But the recent remarks of Rev. Fr. H. Heras, S. J. may be taken as a last word on the point. He writes[6] :—

"The Buddhist chronicles of the 4th, 5th and 6th centuries have deceived many a scholar. To count so great a monarch as Asoka among the disciples of Gautama was unquestionably a distinct advantage to the declining Buddhist monachism. Hence their statement is not reliable at all."

Dharma of the Predecessors of Asoka.

Therefore the only reliable evidence on the subject are Asoka's inscriptions themselves and we should see from them that what was the *Dharma* of Asoka. But we find Asoka stating in his 7th pillar edict that his predecessors endeavoured to propogate and diffuse the spirit of Dharma among the people, though they were not successful.[7] Now let us see, who were these predecessors of Asoka and what was their Dharma? Asoka ruled over India from Magadha and no doubt he was the king of Magadha. Therefore his predecessors

4. Mookerjee, Asoka, p. 2.

5. Manual of Indian Buddhism, p. 115.

6. Quarterly Journal of the Mythic Society, Vol. XVII p. 255. The present writer is indebted to Rev. Fr. H. Heras for deriving help from his learned collaboration, *loc. cit.*

7. Mookerjee, Asoka, p. 186 (P. E. VII).

can only be the kings of Magadha. In the Indian history the first historical king of Magadha known is Śreṇika Bimbaśara.[8] He and his successors Ajātaśatru and Udayin were followers of Jainism [9] and we know from the Jaina records that they strived and worked for the cause of the religion of *Jinas*.[10] Nandas upset these *Saisunāgas* and it is evident from the Hāthigumphā inscription [11] and from the literary evidence as well,[12] that the earlier Nandas were likewise the adherents of Jainism. Some of the latter Nandas of course seem to have been of Brahmanical pursuasion. These were a bit remote predecessors of Asoka, though Jainism mostly had a great claim on them. But the immediate predecessors of Asoka were his own parents. These too, were attracted by Jainism and seem to have actually professed it.

It is evident from the Jaina accounts that Mahāvira, the last Jaina Tīrthaṅkara was successful in preaching his religion among the Moriyas, who were the kinsmen of Chandragupta. One of the chief apostles of Mahāvira was a Moriyaputta and there were also many other Moriyaputtas[13] who became his followers.[14] Thus Jainism predominated amongst the Moriyas [15] and it was but natural for Chandragupta, the grandfather of Asoka, who of course had connections with the Moriyas and lived with them,[16] to get into its influence from the very boyhood. The Jaina tradition make him a Jaina king from the very beginning of his reign.[17] He

8. Early History of India, p. 33.

9. " " p. 33 and Cambridge History of India, I. p. 161.

10. My 'Saṁkṣipta Jaina Itihāsa, vol. II pt. I pp. 14—28.

11. Journal of the Behar & Orissa Res. Soc., Vol. XIII p. 245.

12. Early History of India, pp. 45—46 ; Parisiṣṭa-Parva ; Yogaśāstra etc., and Saṁk : Jaina Itihāsa II, pt. I. p. 29 ff.

13. Saṁkṣipta Jaina Itihāsa, Vol. II, pt. I. p. 122.

14. Bhagavatī-Sutta (Hyderabad ed.) page 427. 'तामकी नाम मोरियपुत्तेगाहावइ होत्था।' etc.

15. Saṁkṣipta Jaina Itihāsa, Vol. II, pt. I, p. 237.

16. Some Kṣatriya Clans of Ancient India, p. 205 and Saṁkṣ. Jain Itihāsa II, i.

17. Bhadrabāhu-Charitra, Ch. II & Tiloyapaṇṇati, Praśasti.

has been styled as a Jaina king along with Himasitala, in a geneological list of Hindu Rājās as well.[18] In fact, the available Jaina evidence is reliable enough to impress the scholars with its authenticity.[19] Hence Chandragupta has been regarded as a disciple of the great Jaina monk Śrutakevali Bhadrabāhu, who abdicated in favour of his son on hearing about a 12 years' famine in North India from his venerable precept and retired with him and the Saṃgha to South India, where he served his preceptor till his death at Śravaṇabelagola and glorified Jainism by his illustrious religious deeds.[20]

After Chandragupta, Vindusāra sat on the throne of Magadha. Buddhistic legends state that he followed the religion of Brahmanas; but they are not unanimous on the point, for we find in one of them stated that Vindusāra and his queen, the mother of Aśoka, honoured the Ājivika Saints.[21] On the other hand, the Jaina literature styles him as a Jaina and names him as 'Siṃhasena' also.[22] It is stated therein that some Vedic Brāhmaṇas once influenced the

18. Mackenzie Mss. Book No. 20, JASB., VII p. 4 f.

19. Early history of India, p. 154 & Cambridge History of India, I, pp 164 165.

20. Narasimhachariar, Śravaṇabelagola pp. 25—40.

The Jaina tradition describes Chāṇakya, the minister of Chandragupta, also as a Jaina and states that he too, retired and became a Jaina monk like his master. However Prof. S. R. Sharma's following remarks are notable in this respect. "The Jainas believe that Chāṇakya was also a Jain, favoured Jain teachers, and in his old age tried to strive himself to death like a true Jain saint" (Jolly, Arthaśāstra, Intro. p. 10) Tradition represents the 'wicked minister' as having repented and retired to 'Shookal Tirtha' on the banks of the Narbada, where he died and Chandragupta is also supposed to have accompanied him. 'Shookal Tirtha' is the exact Sanskrit equivalent of 'Belgola' which in Kanarese means 'White pond.' In the inscriptions it is also called *dhavalasaraṃ* which also means 'White lake'. This co-incidence, if it were merely accidental, is certainly significant. Apart from minor details, this confirms the opinion of Rhys Davids that "the linguistic and epigraphical evidence so far available confirms in many respects the general reliability of the tradition current among the Jains." (Buddhist India, pp. 164 270).

21. Mookerjee, Asoka pp 3 and 64 f.

22. Pariśiṣṭaparva and Rajavalikathe—Prof. Hiralal, Jain Silālekha Saṃgraha, Introduction pp. 61 ff.

the king and pursuaded him to celebrate the bloody sacrifice; but the Jaina Brahmaṇas vanquished them in debate and the king was glad to follow their instructions.[23] If we can give credit to this latter evidence which we should, since the Buddhists themselves describe him to have honoured the Ājivika saints, who were almost akin to Nirgrantha (Jain) asceties,[24] it may be justified to regard Vindusāra also a Jaina.[25] His father being a zealous member of the Jaina Church, it would be a wonder if he would not have at all come into the touch of Jainism. At any rate it seems a fact that he was not an staunch member of the Brahmanical pursuasion, otherwise he would never have sent for Ājivika saints on the auspicious occasions in his family.

Under the circumstances it is clear that the father and grandfather of Aśoka had never followed either Brahmanical or Buddhistic religion; rather Jainism direct or in disguise of Ājivikism had a great influence over them and they tried to glorify it; as their Saisunāga and Nanda predecessors had done. Therefore the *Dharma*, to which Aśoka refers in his edict, was Jainism; which they endeavoured to preach. Thus it is but natural that the Dharma of Aśoka can hardly be alien to it, for Aśoka makes no distinction between his and his predecessors' Dharma. Moreover we shall try to see below that the Dharma preached by Aśoka was emphatically based on Jaina tenets and it betrays the Jaina belief of the Mauryan King.

Some objections answered.

But the current opinion is mostly against the idea that Asoka was ever a Jaina. Scholars regard Asoka a Buddhist and they say that he never took 'greater interest in the welfare of the Jainas, Jaina scriptures do not support that Asoka was ever a keen member

23. Jaina Sidhanta Bhāśakara, Vol. I, pt. I p. 12.

24. Saṁkṣipta Jaina Itihāsa, Vol II, pt I pp. 62 –74.

25. Mr. Thomas passed Vindusāra as a Jain. (JRAS. IX. 170ff) and likewise Mr. N. N. Vasu, the author of Hindi "Encyclopaedia Indica" has regarded him a Jain. (Viśwakośa, Vol. VII. p. 157).

of their order Samgha).[26] But it is a bit too bold to make such a declaration, since we find the narration of the grandson of Chandragupta in the latter Jaina books,[27] The 'Rājāvalikathe' perhaps following the historical data of two Asokas of the Cylonese Buddhists with their claim for him, left out that name altogether; but as he was sure that according to the Jaina tradition the son and the grandson of Chandragupta were Jaina and built Jaina monuments when they came to visit the *Samādhi-sthala* of Bhadrabāhu and their illustrious ancestor Chandragupta at Śravaṇabelgola, he expressed clearly that grandson of Chandragupta was a devout Jaina. Asokan edict of Brahmagiri is also remarkably characteristic since in it the king exhorts people to respect and serve their preceptors and parents.[28]

But even if we do not take into consideration and give credit to the latter Jaina literary evidence, our position is not a bit altered, since we find that Jaina literature is altogether silent about such a great Jaina monarch as Khāravela.

It is also objected in certain quarters that Asoka being not an strict vegetarian from the very beginning of his life cannot be a Jain. But here too I may be allowed to say that the truth in fact lies otherwise. Asoka mentions indeed that a certain animal used to be killed in his royal kitchen [29]; but it is not clear from it that they were killed for his personal diet. Most probably these meat dishes were used to be prepared for and served to those members and relations of the Royal family who were not Vegetarians.[30] Besides it, we may also note that in Jaina ethics a believer only *i.e.*, an *avirtasamyagdraṣṭi* is not required to give up the habit of causing injury to movable and immovable (Trasa & Sthāvara) beings and

26. Cambridge History of India, Vol. I. p. 166.

27. Pariśiṣṭapava, Yogaśāstra and Rājāvalikathe.

28. Mookerjee, Asoka p. 116. 29. *Ibid* p. 130.

30. In the Jaina literature we find that Jain hosts entertained non-vegetarian guests in their own fashion. *e.g.* Jñātadharma (Hyderabad ed.) p. 619 and Harivaṃśa purāna (Sarga 55, Sl. 86. 87.)

sensual indulgence all atonce.[31] As he advances in his spiritual belief he gets disgusted with his that condemnable habit and gives it up altogether in no time. Moreover in the Buddhist period it was only Jainism that gave a full stress on Ahiṃsa and condemned meat dishes. Brahmaṇas, Buddhists and others freely partake of them.[32] Hence the statement of Asoka that in end he abolished *hinsā* in the shape of killing animals for his royal kitchen altogether betrays the influence of Jainism on him. Rice,[33] Thomas [34] and others [35] admitted that Asoka was a Jaina at an early stage of his life.

Buddhist literature also seems to support our this view indirectly, for we find mentioned in the 'Mahāvaṃsa' (V) that "Asoka fed religious mendicants of different sects to test their conduct," and it is said clearly in the 'Samantāpāsādikā' (I, 44-45) that "Asoka followed the doctrine of the heretics for three years.[36]" The heretics (Titthyas) of Buddhists are mostly Jainas [37]. Thus we may be justified to regard that Asoka followed Jainism openly at a time in his life.

Asoka's Dharma was not Buddhism

It is not a new idea that the Dharma of Asoka was not Buddhistic. Fleet,[38] Wilson,[39] Thomas,[40] Macphail,[41] Monahan [42] and other scholars [43] have affirmed this prior to us. Rev. Fr. Heras also

31. Gommatasārā 28. 'णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥२९॥
—गोम्मटसार ।

32. See my Hindi treatise entitled "Bhagawāna Mahavira Kī Ahiṃsā" (Delhi), pp. 12—37.
33. Mysore and Coorg from the Inscriptions, pp. 12—13.
34. JRAS. IX 181 ff. 35. Hindi Viśwakoṣa, Vol. VII, p 150.
36. Buddhistic Studies, pp. 205 206.
37. JBBRAS., Vol. IV Jany 1855, p 401 ff.
38. JRAS. 1908. pp. 491 492. 39. *Ibid*, p. 238.
40. JRAS. IX. 181 ff. 41. ASOKA p 48.
42. Early History of Bengal p. 214
43. Journal of the Mythic Society, XVII. 271—273 and Hindi Viśwakoṣa, VII.

remarks that " Even Dr. Kern says that 'inscriptions, with a few exceptions, contain nothing particularly Buddhistic.'* Senart after having said that in the Dharma 'there is nothing exclusively Buddhist† ; makes the following statement : 'In my opinion our monuments (Asoka's inscrip's) are witnesses of a stage of Buddhism sensibly different from that which is developed in later times.'‡ This is only a guess without any foundation. The same contradiction is also made by Hultzsch. He says that all his moral proclamations 'do not characterize him as Buddhist reformer,' but he adds 'if we turn to an examination of what he tells us about the nature of his Dharma, it appears that the latter is in thorough agreement with the picture of Buddhist morality which is preserved in the beautiful authology entitled 'Dhammapada.'§ Both the statements of Senart and Hultzsch seem to have been elicited in compliance with the statement of those who style Asoka the great Buddhist missionary." [44]

Prof. Radhakumud Mookerjee also do not find pure Buddhism in the Dharma preached by Asoka, but he tries to uphold the view that Asoka professed Buddhism by pointing out that his private or personal religion was different than that of his edicts.[45] But it seems hardly tenable since human psychology teaches us that man cannot inspire and work against the ideal which is very near and dear to his heart. Hence the following statement of Rev. H. Heras, S. J. is characteristic on the point :—

> " But if we examine carefully, without bias and with an open mind, Asoka's moral precepts and dogmatic tenets .. we immediately realise that his Dharma is common to all Indian religions, though specially influenced by Jaina doctrines as regards sacredness of inviolability of life." (JMS., xvii. 271).

Contd.

* Manual of Indian Buddhism, p. 112.

† Indian Antiquary, XX, p. 260. ‡ *Ibid* pp. 264—265.

§ Hultzsch, C. I. I., I., p. xlix.

44. Journal of the Mythic Society (JMS.) XVII, p. 271.

45. Mookerjee, Asoka, pp. 60—68.

The Jaina Chronology.

By Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.

Continued from Vol. V No. I, page 32.

EVENTS OF THE ANCIENT HISTORICAL PERIOD

No.	Period & Date.	Events.
27	.....	Jaratakumāra of the Yādava-vaṃśa and cousin of Śrī Kṛasṇa went to Kalinga and ruled over that country. In his line the following kings appeared who were followers of the Jaina faith and rulers of Kalinga :— Vasudhwaja, Suvasu, Bhīmvarmā, Kapiṣṭha, Ajātśatrū, Śatrusena, Jitāri and Jitaśatru. Jitaśatru was related to the father of Tīrthankara Mahāvīra. (Ref. Hari s. 66).
28	Pauṣa Kṛṣaṇa Ekādasī 895 B. C. or 877 B. C.	After 83750 years since the nirvāna of Tīrthankara, Aristā-Nemi, Pārśvanāthā, the last but one Tīrthankara born at Benares. His father was King Aśva or Viśvasena of Ugravaṃsa and his mother was Queen Vāmādevī.
29	.....	Prince Pārśvanātha while on a stroll, met Tāpasa Mahipāla, who was practising false asceticism, *viz.*, Panchāgani-tapā, Haṭhayoga etc., and pointed to him its uselessness and harm. But the cenceited tāpasa became enraged at his thus publicly denouncing the mode of selftorture as a

No.	Period & Date.	Events.
		means to salvation and he showed a half-burnt pair of snake to the beguiled Tāpasa. This incident is significant of the great reforming spirit, deep thoughtfulness and clear sight of Prince Pārśva.
30	.....	According to the Digambara belief Pārśvanātha enjoyed worldly life as a bachelor Crown Prince for thirty years He was not married and observed the house-holder's vows from his very boyhood. But the Śvetāmbaras differ from this view. It is related in Śvetāmbara canonical books that king Aśvasena sent Prince Pārśva for the help of king Prasenjit of Kuśasthala, who was attacked and beseiged by the army of the Mlechchas. Pārśva fought bravely against the Mlechchas and drove them away. King Prasenjit's daughter Prabhāvati was charmed with the Pārśva's valour and bravery and she was ultimately married to Pārśva; who passed several years of happy conjugal life with her. In another Śwetāmbara legend the name of the father of Prabhāvatī is given as Naravāhana. Digambaras do not believe in this legend and style Pārśva as a Bālabrahmachāri along with four other Tirthankaras.
31	Pauṣa Kṛṣṇā Ekādasi 865 B.C. or 847 B. C.	King of Ayodhyā sent an embassy to Benares with valuable presents for Prince Pārśva; who received it joyfully and enquired of him about the history of Ayodhyā and its kings. When Pārśva came to know about the

No.	Period & Date.	Events.
		greatness and pious deed of Śrī Ṛṣabhadeva and other kings of Ayodhyā from the narration of ambassador, his spirit of renunciation was awakened. He renounced the world and became a naked ascetic.
32	Pauṣa Kṛṣṇā Chaturdasi 865 B. C. or 847 B. C.	Pārśvanātha after attaining to *manahparyaya-jñāna* at *Aśvatthavana* retired to the town named Gulmakhetapura, where he was entertained as a pious ascetic by king Dhanya.
33	Ditto to Chaitra Kṛṣṇā 13th.	Śramaṇa Pārśva returned to some quiet peaceful forest and set himself to observe deep contemplation and severe asceticism. His manly valour and bravery then manifested in the shape of perfect spirit of forbearance, endurance and sacrifice He suffered much at the hands of men and gods, but he never lost his temper. For full four months continuously he remained absorbed in concentrating his mind and atlast travelling about he reached again in the *Aśvatthavana* in the vicinity of Benares; where when he was standing lost in undisturbed meditation, a celestial being namely *Saṃvara*, who bore enemity against him since last nine incarnations of worldly life, appeared on the scene and began to harass the great ascetic in many ways. At this moment the Nāga king Dharanendra and his consort Padmāvati came of their own accord to do homage and show their gratitude since they were the snake-pair in their previous life whom Pārśvanātha saved half-burnt. They made Saṃvara to run away.

No.	Period & Date.	Events.
34	Chaitra Kṛaṣṇā 14th 865 B. C. or 847 B. C.	As a result of this struggle Pārśvanātha succeeded to crush all the four *Ghātiā Karmas* and attained true perception. He became an omniscient teacher and came out to world to preach his great gospel of Truth and Ahiṃsā. Jacobi and other oriental scholars regard Pārśvanātha as an historical personage and the founder of Jainism, but in fact he was only the last but one of the Tīrthankaras. The real founder of Jainism in this cycle of time was Ṛṣabha, the first Tīrthankara. Dr. Jacobi himself remarked once that, " there is nothing to prove that Pārśva was the founder of Jainism. Jaina tradition is unanimous in making Rishabha, the first Tīrthankara (as its founder)... ...there may be something historical in the tradition which makes him the first Tīrthankara." (IA. IX-163 .
35	Śrāvana Śukla Saptamī 795 B. C. or 777 B. C.	Pārśva attains Nirvāṇa from Svarṇabhadra—Kūṭa summit of the Sammeda-Sikhara hill in the province of Bihar—the same has since been known by the name of Pārasnāth-Hill.
36	Do.	Suyambhū—gaṇadhara succeeded Pārśva and became the head of the Jaina Saṁgha. [Refer. Uttarapurāṇa, S-73 ; Bhagawāna Pārśvanātha (Hindi) Surat 2455 A.V. ; Life stories of Pārcvanātha ; etc] *To be Continued.*

Select Contents of Oriental Journals.

1. *Indian Historical Quarterly, Vol XV, June 1939* :—

   pp. 175—182.—*Magic and Miracle in Jaina Literature* by Prof. Kalipada Mitra, M A , B.L.

   pp. 208—229.—*The Silk Trade of Patna* by Prof. J. N. Sarkar.

2. *Ditto.*, Vol. XV. March, 1939 :—

   pp. 75—89.—*Crime & Punishment in Jaina Literature,* by Kalipada Mitra, M A., B.L.

3. *New Indian Antiquary* Vol. I, March 1939.
   Inscriptions of Kathiawad by D B. Diskalkar.

4. *Journal of the Royal Asiatic Society, April 1939* :—

   pp. 217—240.—*Demetrias in Sind* ? by E. H. Johnson.

   pp. 264—265. *Date of the word Urdu* by T. G. Bailey (" the word Urdu *used alone* for the language, as far back as 26th May, 1782.)

5. *Epigraphia Indica*,—Vol. XXIII, Pt. VII, July, 1936 :—

   " *Four Ganga Copper-Plate grants* " ed. by S. N. Chakravarti.

6. *Quarterly Journal of the Mythic Society*—Vol. XXIX, January 1939.

   pp. 259—269—*A leaf from the Early Chalukya Chronology* by K. S. Vaidyanathan, B. A..

   pp. 310—315.—*Poligars of Mysore* by P. B. Ram Chandra Rao.

Jaina Bibliography.

Sanskrit, Prākrata etc. :—

Varānga carit of Jaṭāsiṃhanandyācārya in Sanskrit, edited with notes and Introduction etc, by Prof. A. N. Upadhya 500 pages. Māṇikcand Jain Granthamala, Hirabagh Girgaon, Bombay (1939) Rs. 3/-

Atmāuśasana of Guṇabhadrācārya in Sanskrit, edited with English translation by Pt. Ajita Prasad M.A., Ll. B. in the Sacred Books of the Jainas Series, Central Jain Publishing House, Ajitasarma, Lucknow

Ullāsakallolini by T. R V N. Sudarsanāchārya, pp. 52 (Madras 1936).

Sanskrta-Prācina-stavana Saṃdoha by Muni Viśālavijaiji, Vijayadharma Suri Granthamala, Sarāfa, Ujjain (1939).

English :—

Sayings of Lord Mahāvīra by K P. Jain (S. L. Jain Gift Series, I) Jain Litreature Society, Jaswantnagar (Etawah). 1939.

Hindi, Marathi, Gujrāthi etc :—

Jain Itihāsa Ki Purva Pīthika (Hindi) by Prof. Hiralal Jain, M.A., Hindi Grantha Ratnākara Office, Girgaon, Bombay (1939).

Prāchina Jaina Itihasa (Hindi) Pt. III by Pt. Moolchand Vatsal. Digambara Jaina Office, Chandawadi, Surat (1939).

Saral Jain Dharma (Hindi) in four parts by Pt. Bhuvanendra Saral-Jain Granthamālā, Jawaharganj, Jubbelpore (1939).

"INDIAN CULTURE."

(JOURNAL OF THE INDIAN RESEARCH INSTITUTE)

A high class research quarterly in English on Indology, conducted. under the distinguished editorship of Drs. D. R. Bhandirkar, B. M. Barua, B. C. Law, with a strong Advisory Committee, consisting of such eminent orientalists as Sir, Brajendra Nath Seal, Sir D. B Jayatilaka, Drs. S. N. Das Gupta, Laksman Sarup, Radhakumud Mukerjee P. K. Acharya, MMs. Kuppuswami Sastri, Gananath Sen, and others, each of whom represents a particular section of Indian Culture.

It deals with all the branches of Indian Culture-Vedas, Philosophy, Buddhism, Jainism, Zoroastrianism, Ancient Indian Politics and Sociology, Indian Positive Sciences, History, Archaeology, Dravidian Culture, etc. Among the contributors are the best orientalists of India and foreign lands including Drs. Sir B. N. Seal, Sir, A. B. Keith, Drs. Winternitz, Otto Schrader, Otto Stein, R. C. Mazumdar, P. K Acharya, etc.

Indispensable for every lover of Indology. A most attractive get up and printing. Each issue contains about 200 pages. Price very moderately fixed Rs. 6 or Sh. 10 per annum (including postage)

Among the other publications of the Institute, which aims at wide propagation of Ancient Indian Culture and Wisdom by publication of the best products of Ancient Literature under various Series-Vedic, Buddhistic, Jain, etc., are :

(1) An encyclopaedic edition of the Rigveda with texts, commentaries and translations with elaborate research note in English, Bengali and Hindi.

(2) Gaya and Buddha Gaya, 2 Vols. Rs. 12.

(3) Barhut, 3 Vols. Rs. 18.

(4) Upavana Vinoda (a Sanskrit treatise on Arbori Horticulture), etc., etc., Rs. 2-8.

(5) Vangiya Mahakosa (each part), As. 8.

(6) Books of the Buddhistic Series.

For further particulars, please apply to :

The Hony. General Secretary,
The Indian Research Institute.
170 Maniktala Street.
Calcutta, (India.)

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*, in June, September, December and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including 'Jain Siddhanta Bhaskara') and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0.

3. Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jaina Siddhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., typewritten, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

DR. B. A SALETORE M. A., Ph. D.
PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २।)
(मू० कम कर दिया गया है)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह ... ... ।।)

(४) जैन-सिद्धान्त-भास्कर, १म भाग की १म, २य तथा ३य किरणें ... २।)

(५) " २य भाग ... ४)

(६) " ३य " ... ४)

(७) " ४र्थ " ... ४)

(८) " ५म " ... ४)

(९) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ... ।।)
(यह अर्ध मूल्य है)

(१०) भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ।।।)

प्राप्ति-स्थान—
जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ६ किरण ३

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. V. NO. III

Edited by

Dr. B. A. Saletore. M. A., Ph. D.
Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

DECEMBER, 1939.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर; और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक-व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'भास्कर' आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ६ मार्गशीर्ष किरण ३

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९६

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग

पृष्ठ

१ द्रौपदी के पञ्चपतित्व पर विचार—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री विद्याभूषण ... १३७
२ क्या पावागढ़ दिगम्बर तीर्थ है ? —[श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर ... १४७
३ अणुव्रत-रत्न-प्रदीप—[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल० एल० बी० ... १५५
४ श्रीनिर्वाणक्षेत्र गिरिनार—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० १७८
५ सार 'जैन एण्टीक्वेरी'—[.. .. .. १९७
६ साहित्य-समालोचना—(१) समाधितन्त्र —[श्रीयुत हीरालाल जैन, एम० ए० ... १९८
(२) सर्वार्थसिद्धि—[श्रीयुत कैलाशचन्द्र शास्त्री ... १९९
(३) ग्रन्थराज श्रीधवलसिद्धान्त का प्रकाशन—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... २००

ग्रन्थमाला-विभाग

१ तिलोयपण्णत्ती [श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... १ से १०४ तक
२ प्रशस्ति-संग्रह [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... १५३ से १६० तक

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ६ | दिसम्बर १९३९। मार्गशीर्ष वीर नि० सं० २४६६ | किरण ३

द्रौपदी के पञ्चपतित्व पर विचार

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

भारतीय प्राचीन धर्मों में हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म प्रमुख हैं। इनमें बौद्ध धर्म को छोड़कर हिन्दू एवं जैन धर्म में द्रुपद-पुत्री द्रौपदी को उच्च स्थान प्राप्त है। साथ ही साथ भारतवासी प्राचीन सतियों में द्रौपदी का भी नाम बड़ी श्रद्धा से लेते हैं। इतना होते हुए भी द्रौपदी के पतित्व के सम्बन्ध में उक्त धर्मों में जो मत-भेद चला आ रहा है उस पर कुछ प्रकाश डालना ही प्रस्तुत लेख का ध्येय है। सम्पूर्ण महाभारत का तुलनात्मक विवेचन करना इस लेख का लक्ष्य नहीं है। इस गुरुतर कार्य का निर्वाह इस छोटे से लेख में हो भी नहीं सकता। यह तो अगाध परिश्रम एवं विपुल अवकाश की अपेक्षा रखता है। अस्तु, इस प्रस्तुत विषय का क्रमशः पुस्तकीय प्रमाण, इतिहास, तर्क एवं भिन्न-भिन्न प्रामाणिक तथा मान्य विद्वानों की सम्मति-द्वारा विवेचन किया जायगा।

हिन्दू धर्म—द्रौपदी राजा द्रुपद की पुत्री तथा धृष्टद्युम्न की बहन थी। राजा द्रुपद द्रौपदी का विवाह शूरवीर अर्जुन के साथ ही करना चाहता था। किन्तु वन-वास होने के कारण अर्जुन का पता लगाना भी सुलभ नहीं था। इसलिये द्रुपद ने एक ऐसा मत्स्यबेधी लक्ष्य बनवाया जिसको अर्जुन के अतिरिक्त दूसरा कोई धनुर्धर बेध ही नहीं सकता था। इस कार्य की पूर्ति के लिये इन्हें एक स्वयम्वर की आयोजना करनी पड़ी। क्योंकि द्रुपद को पक्का विश्वास रहा कि वीरता-द्योतक स्वयम्वर की यह ललकार सुन कर अर्जुन इसमें विना सम्मिलित हुए नहीं मानेगा। बात भी ऐसी ही हुई। अर्जुन उस लक्ष्य को बेध कर द्रौपदी से विवाह करने में सक्षम हुआ। अर्जुन अपने भाइयों के साथ द्रौपदी को अपनी मा के पास लिवा ले जाकर दूर ही से कहा कि मा! आज एक रमणीय भिक्षा लाया हूं। कुन्ती घर के भीतर ही से बोली कि सभी भाई मिलकर बाँटकर खालो। अपनी पूज्य माता के इस आदेश से विवश हो पाँचो भाइयों (पाण्डवों) ने सम्मिलित रूप से द्रौपदी के साथ विवाह कर लिया। (महाभारत)

जैन धर्म—द्रौपदी राजा द्रुपद की पुत्री थी। द्रुपद माकन्दीपुर का शासक था। जब द्रौपदी बाल्यावस्था को पार कर यौवनावस्था में पदार्पण करने लगी तब पिता द्रुपद को इसकी विवाह की चिन्ता हुई। इस बीच में खगाचल पर्वत पर रहने वाले सुरेन्द्रवर्धन नामक एक विद्याधर ने आ राजा द्रुपद को एक धनुष और कन्या सौंप कर कहा कि मुझे एक दैवज्ञ से ज्ञात हुआ है कि मेरी इस कन्या का वर वही होगा जो आप की कन्या द्रौपदी को वरेगा। किन्तु शर्त यह है कि इस गाण्डीव धनुष को चढ़ाना उस वर के लिये अनिवार्य होगा। इस कार्य की पूर्ति के लिये शुभ मुहूर्त में स्वयम्वर-समारोह रचा गया और देश-विदेश के सभी राजकुमार निमन्त्रित किये गये। इस अवसर पर पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डव भी छिप कर ब्राह्मण-वेश में आकर सम्मिलित हुए। गाण्डीव धनुष चढ़ाने में सभी राजकुमारों के विफल होने पर अपने बड़े भाई युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर वीरवर अर्जुन ने इस धनुष को बड़ी आसानी से चढ़ा दिया। द्रौपदी ने पूर्व निश्चयानुसार अर्जुन के गले में जयमाला पहनाई। पर दैववशात् वह माला वायु के अतिवेग से टूट गई, जिससे वहीं पास में बैठे हुए चार पाण्डवों की गोद में भी उसके मोती जा पड़े। इसीलिये लोगों की दन्तकथा चल पड़ी कि इसने पांचों ही पाण्डवों को वरा है।

(शुभचन्द्रकृत पाण्डवपुराण, अध्याय १६)

हां, श्वेताम्बर जैन भाइयों की मान्यता इससे भिन्न है। द्रौपदी पांचाल के शासक द्रुपद की पुत्री थी। द्रौपदी का विवाह 'राधा-बेध' के विजयी से ही होना निश्चित हुआ। इसके लिये भी स्वयम्वर रचा गया और इस प्रतियोगिता में धनुर्धर अर्जुन ही विजयी हुआ।

अतः द्रौपदी ने उन्हीं के गले में वर-माला डाल दी। परन्तु वह माला केवल अर्जुन ही के कण्ठ में नहीं पड़ी, पास-पास बैठे हुए सभी भाइयों के गले में पड़ गयी। इस कौतुक को देखकर सभी आश्चर्यित हो गये। यह जटिल प्रश्न अब उठ खड़ा हुआ कि द्रौपदी के पति पाँचो पाण्डव होंगे या अर्जुन ही? इस बीच में एक चारण मुनि वहाँ पर आ पहुंचे। इनके समक्ष यह विषम समस्या उपस्थित की गयी। चारण मुनि ने कहा कि यह आप की कन्या पूर्व भव में सागरदत्त नामक एक वैश्य की पुत्री थी। वहाँ इसका नाम सुकुमारिका था। उस समय इसके साथ विवाह करना किसी ने भी स्वीकार नहीं किया। फलतः यह उदासीन हो दीक्षा-ग्रहण कर एक साध्वी के निकट रहने लगी। एक दिन सुकुमारिका कुटी के पास बैठी हुई उद्यान की प्राकृतिक शोभा देख रही थी। उसी समय इसने देखा कि एक वेश्या के साथ पाँच नवयुवक चले जा रहे हैं और उस तरुणी पर वे मुग्ध हो रहे हैं। वेश्या भी बहुत प्रसन्न थी। उस दृश्य को देख कर सुकुमारिका के हृदय पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। वह सोचने लगी कि भाग्य भी एक अलौकिक वस्तु है। एक मैं युवती हूं कि जिसे कोई पुरुष नहीं चाहता और एक यह वेश्या है कि जिसे पाँच-पाँच युवक तन-मन-धन अर्पण कर सेवक बने हुए हैं। यों विचार कर कामान्ध सुकुमारिका ने अपने चित्त में यह दृढ़ भावना की कि मेरे तपोबल के अमित प्रभाव से आगामी जन्म में मुझे पाँच पति प्राप्त हों। अपने पूर्व भव के संकल्पानुसार यह आप की कन्या द्रौपदी पाँच पतियों की गृहिणी हुई है। मुनि के वचन पर राजा द्रुपद को विश्वास हुआ। यथासमय राजा ने सहर्ष द्रौपदी का विवाह पाँचो पांडवों के साथ कर दिया।

द्रौपदी के पूर्व भव-सम्बन्धी यह कथा कुछ ही हेर-फेर के साथ दिगम्बरीय शुभचन्द्र-कृत पाण्डव पुराण* (वि० सं० १६८०) में भी मिलती है। वहाँ पर बताया गया है कि वसन्त-

* इस पाण्डवपुराण के अतिरिक्त पाण्डववरित्रप्रतिपादक निम्नलिखित जैनग्रन्थ भी हैं :—

दिगम्बरीय

(१) संस्कृत में—द्रौपदी-प्रबन्ध— जिनसेन (२) पाण्डवपुराण—वादिचन्द्र सूरि (वि० सं १६८३) (३) पाण्डवपुराण—पण्डित श्रीदत्त। प्राकृत में—(१) पाण्डवपुराण—देवप्रभ (२) पाण्डवपुराण—यशःकीर्त्ति। हिन्दी में—(१) पाण्डवपुराण—पन्नालाल चौधरी (२) पाण्डवपुराण छन्दोबद्ध—बुलाकीदास।

(देखें— 'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ')

कन्नड में—(१) साल्व भारत—साल्व (ई० सन् लगभग १५५०) (२) जिन भारत—ब्रह्मणांक (ई० सन् लगभग १८००) (देखें—कन्नडकविचरिते) इनके अलावा हरिवंशपुराण (संस्कृत) नेमिजिनेशर्यगति (कन्नड) आदि ग्रन्थों में भी पाण्डवों का चरित्र उपलब्ध होता है।

श्वेताम्बरीय

(१) ज्ञातासूत्र (२) वसुदेव हिंडी (३) त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र (तेरहवीं शताब्दी) (४) पाण्डववरित्र—

सेना नाम की वेश्या को देख कर इसने जो निदान (आगामी भवसम्बन्धी सुखलिप्सा) किया था; यह उसका प्रभाव है कि सारे संसार में इसकी यह अपकीर्ति उड़ी कि द्रौपदी के पाँच पति हैं।

बौद्धधर्म—बौद्ध धर्मान्तर्गत द्रौपदी की कथा के सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ भी न लिख कर मेरे पत्र के उत्तर में सारनाथ से श्रीयुत भिक्षु आनन्द कौसल्यायनजी का जो पत्र आया है उसी का अंश सधन्यवाद यथावत् यहाँ उद्धृत किये देता हूँ:—

द्रौपदी अथवा कण्हा (कृष्णा) स्वयंवर में अपने रागाधिक्य के कारण एक नहीं पाँच पतियों (अज्जुनो, नकुलो, भीमसेनो, युधिष्ठिलो, सहदेवो, पाण्डुराज-पुत्ता) का वरण करती है। उनकी अनुपस्थिति में अपने एक कुबड़े परिचारक के साथ भी सहवास करती है। सब को धोखे में रखती है। सब यही समझते हैं कि उनमें से प्रत्येक को वह व्यक्तिगत रूप से औरों से अधिक प्यार करती है। लेकिन आखिर में भेद खुल जाता है। अर्जुन आदि पाँचो भाइयों को स्त्री से वैराग्य होता है और वे हिमालयको चले जाते हैं वहाँ योगाभ्यास कर आयु के समाप्त होने पर अपनी गति को प्राप्त होते हैं। (जातक-कथा में कुनालजातक)

उपर्युक्त हिन्दू एवं बौद्ध धर्मोंके उल्लेखों से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि द्रौपदी अथवा कृष्णा ने पाँचों पाण्डवों से विवाह किया था। अब रहा जैन धर्म। जैन धर्म में भी सिर्फ दिगम्बर साहित्य इस बात से असहमत है। यह तो इसे खुले रूप में खण्डन करता है। हाँ, श्वेताम्बर-ग्रन्थ—प्राचीनतम आगम-ग्रन्थ ज्ञातासूत्र से लेकर सभी—पाँचो पाण्डवों के साथ द्रौपदी के विवाह की बात स्पष्ट स्वीकार करते हैं। अब हमें यह देखना है कि दिगम्बरीय साहित्य में एतत्सम्बन्धी सबसे प्राचीन उल्लेख कहाँ पर मिलता है। दिगम्बर-जैन-साहित्यमें जिनसेन-कृत हरिवंशपुराण एक प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रन्थ है। उपलब्ध संस्कृत-पुराण ग्रन्थों में रविषेणाचार्य-कृत पद्मपुराण के बाद समयकी दृष्टि से यही दूसरा ग्रन्थ है। यह हरिवंशपुराण शक सम्वत ७०५ विक्रम सम्वत ८४० में रचा गया था। इस में द्रौपदी के पञ्च-पतित्व के खण्डन में निम्नलिखित उल्लेख उपलब्ध होता है:—

द्रौपदी च द्रुतं मालां कन्धरेऽभ्येत्य बन्धुरे।
अकरोत्करपद्माभ्यामर्जुनस्य वरेच्छया ॥१३५॥
विप्रकीर्णा तदा माला सहसा सहवर्तिनाम्।
पञ्चानामपि गात्रेषु चपलेन नभस्वता ॥१३६॥

देव विजय (वि० सं० १६६२) (४) द्रौपदी-स्वयम्वर नाटक—विजयपाल (वि० सं० सत्रहवीं शताब्दी) (६) द्रौपदी चौपई—समय सुन्दर (वि० सं० १७००) (७) द्रौपदी चौपई—जिनचन्द्र सूरि (सत्रहवीं शताब्दी) (८) द्रौपदी चौपई—कनककीर्ति (वि० सं० १६९३) (९) पांडव चौपई—लाभवर्द्धन (वि० सं० १७३७) (१०) भरतेश्वर बाहुबलि-वृत्ति आदि (यह श्वेताम्बरीय तालिका बा० अगरचन्द जी नाहटा से प्राप्त हुई)

ततश्चपललोकस्य तत्त्वमूढस्य कस्यचित् ।
वाचोद्वितोरुदित्युच्चैर्वृताः पञ्चानयेऽपि ॥१३७॥
सद्गन्धस्य सुवृत्तस्य तुंगस्य फलितस्य सा ।
पुष्पितेव लताभासीदर्जुनस्यांगमाश्रिता ॥१३८॥
द्रौपदी दीपिकेवासौ स्नेहसम्भारपूरिता ।
पाणिग्रहणयोगेन त्रिदीपेऽर्जुनधारिता ॥१४६॥
विवाहमंगलं दृष्ट्वा द्रौपद्यर्जुनयोर्नृपाः ।
आयाताः पाण्डवैर्युक्ताः स्थानं दुर्योधनोऽप्यगात् ॥१४७॥
स्नुषाबुद्धिरभूत्तस्यां ज्येष्ठयोरर्जुनस्त्रियाम् ।
द्रौपद्यां यमलस्यापि मातरीवानुवर्तनम् ॥१५०॥

(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला—खण्ड २, पृष्ठ ५५३-५५४)

उल्लिखित पद्यों से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि द्रौपदी का विवाह अर्जुन से ही हुआ था। दैववशात् वरमाला के टूट कर पास ही में बैठे हुए अन्य भाइयों की गोदी में बिखर जाने से ही यह पंचपतित्व का अपवाद लोक में फैल गया। बल्कि १५० वाले पद्य में यह बात साफ-साफ लिखी हुई है कि द्रौपदी पर अर्जुन के बड़े भाइयों का भाव पुत्र-वधूवत् एवं छोटे भाइयों का मातृवत् रहा। संभव है कि इस हरिवंशपुराण के अतिरिक्त इससे भी प्राचीन किसी अन्य दिगंबर ग्रन्थ में भी इस बात का उल्लेख मिलता हो। परन्तु अभी तक वह मेरे दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। अब हमें देखना है कि महाभारत जो कि भारतवर्ष में प्राचीन इतिहास का एक प्रधान ग्रन्थ माना गया है, इसमें इस बात का आभास मिलता है कि नहीं। हिन्दू जनता तो इसे अपना धर्मग्रन्थ ही मानती है और इसकी इतनी प्रतिष्ठा है कि यह पञ्चम वेद ही माना जाता है। पाश्चात्यों ने भी इसको इतिहास, आख्यान और पुराणों का प्राचीनतम प्रधान निदर्शक माना है। नीचे इसी महाभारतान्तर्गत द्रौपदी स्वयंवर-संबन्धी कथा के विषय में कुछ विवेचन किया जाता है।

माता का आदेश सुन कर अर्जुन ने जब युधिष्ठिर के समक्ष पांचो भाई मिल कर द्रौपदी से विवाह करने का प्रस्ताव रक्खा तब युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि तुमने द्रौपदी को जीता है। तुम्हें ही यह राज-कुमारी शोभा देगी। विधिपूर्वक इसका पाणिग्रहण तुम्हीं करो*। हां, आश्चर्य की बात है कि आगे चल कर इस विवाह के संबन्ध में सत्य एवं धर्मनिष्ठ युधिष्ठिर की नियत भी बिगड़ जाती है। धृष्टद्युम्न के द्वारा छोटे भाई की

* "त्वया जिता फाल्गुन याज्ञसेनी त्वयैव शोभिष्यति राजपुत्री ।
प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह गृहाण पाणिं विधिवत्त्वमस्याः" ॥७॥ (आदिपर्व, अध्याय २०६)

पत्नी को बड़ा भाई किस प्रकार ग्रहण कर सकता है'—यों व्यासजी से पूछने पर युधिष्ठिर स्वयं बीचमें कह बैठते हैं कि मैं ने कभी असत्य भाषण नहीं किया है और न अधर्म की ओर चित्त लगाया है। मेरे मन में यह विचार होता है कि इसमें—द्रौपदी के बहु-पतित्व में—कोई अधर्म नहीं है[२]। एकचक्रा में इन्होंने केवल अर्जुन से ही विवाह करने का अनुरोध किया था। परन्तु पाञ्चाल की राजधानी में आते ही उनका वह पूर्व विचार विलीन हो गया। संभव है कि इसका कारण द्रौपदी का अलौकिक सौन्दर्य ही हो[३]। पीछे व्यासजीने भी द्रौपदी के पूर्व-भव-सम्बन्धी दो कथाओं को सुना कर इस विवाह को वैध बतलाया। पर श्रीयुत लक्ष्मीनारायणजी सुधांशु काशी ने इन कथाओं को तथ्यहीन बता कर इन्हें ज़ोरदार शब्दों में खण्डन किया है[४]। महाभारत में आगे एक और पद्य उपलब्ध होता है। उसमें लिखा है द्रौपदी ने अर्जुन के साथ विवाह किया है यह जान कर राजा दुर्योधन अश्वत्थामा, शकुनि, कर्ण, कृपाचार्य एवं भाइयों के साथ उदास हो कर लौटे[५]। इससे स्पष्ट है कि द्रौपदी ने अर्जुन के साथ ही विवाह किया था न कि पाँचो पाण्डवों के साथ। और एक घटना देखें। जब अर्जुन सुभद्रा-सहित इन्द्रप्रस्थ को पहुंचे तब सुभद्रा को देख कर द्रौपदी ने मात्सर्य से अर्जुन से यों कहा कि वहीं जावो जहाँ यादवपुत्री सुभद्रा है। संसार का यह नियम है कि पहले का बन्धन नये बन्धन से ढीला पड़ जाता है[६]।

द्रौपदी के इस कथन से सपत्नी-भाव प्रकट होता है। उसे यह भय हुआ कि सुभद्रा के आने से प्रायः अर्जुन का वह प्रेम अब उसे नहीं मिल सकेगा। क्योंकि युधिष्ठिर, भीम

१ "यवीयसः कथं भार्यां ज्येष्ठो भ्राता द्विजर्षभ।
ब्रह्मन्समभिवर्तेत सदृवृत्तः संस्तपोधन ॥१०॥ (आदिपर्व, अध्याय २१२)

२—न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः।
वर्तते हि मनो मेऽत्र नैषोऽधर्मः कथञ्चन" ॥१३॥
(आदिपर्व, अध्याय २१२

३—"तां द्रौपदीं प्रेक्ष्य तदाऽस्म सर्वे कन्दर्पबाणाभिहता बभूवुः।"

४—देखें—"नागरी प्रचारिणी पत्रिका" भाग १२, अंक २।

५—"अथ दुर्योधनो राजा विमना भ्रातृभिः सह।
अश्वत्थाम्ना मातुलेन कर्णेन च कृपेण च ॥ २ ॥
विनिवृत्तो वृतं दृष्ट्वा द्रौपद्या श्वेतवाहनम्।
तं तु दुःशासनोऽव्रीडो मन्दं मन्दमिवाब्रवीत" ॥ ३ ॥
(आदिपर्व, अध्याय २१९)

६—"तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा।
सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते ॥"

आदि की पत्नियों को देख कर द्रौपदी ने कभी ऐसा भाव प्रकट नहीं किया है। महाभारत के भिन्न-भिन्न उल्लेखों से भी पता चलता है कि द्रौपदी अर्जुन को अधिक प्यार करती थी। विलाप करती हुई देख कर सुभद्रा ने भी उन्हें प्रणाम कर कहा था कि मैं तुम्हारी दासी हूं *। सुभद्रा ने भी ऐसा व्यवहार और किसी जेठानी या देवरानी से किया हो यह ज्ञात नहीं होता। इन सब बातों को देख कर ही विद्वानों का कहना है कि महाभारत में भिन्न-भिन्न प्रकार की शैलियाँ ही स्पष्ट बतलाती हैं कि यह ग्रन्थ एक समय में नहीं बना है और इसके प्रणेता भी एक नहीं हैं। साथ ही साथ द्रौपदी का पंचपतित्व भी काल्पनिक एवं क्षेपक है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर भी यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि प्राचीन भारत में बहुपतित्व की प्रथा सर्वमान्य रूप से प्रचलित नहीं थी। बहुपतित्व की प्रथा का उल्लेख तो हमें महाभारत को छोड़ कर अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। अन्यान्य मान्य हिन्दू-स्मृतियों एवं अन्य गृह्य-सूत्रों में भी द्रौपदी के विवाह जैसी प्रथा का वर्णन या विधान देखने में नहीं आता है। इससे यह बात आसानी से जानी जा सकती है कि वास्तव में भारतवर्ष में द्रौपदी के विवाह जैसी प्रथा का प्रचार कभी नहीं था।

रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल० बी० महाभारत के विशेष मर्मज्ञ विद्वान हैं। इन्हों ने मराठी भाषा में महाभारत का एक आलोचनात्मक विस्तृत निबन्ध लिखा है। इसमें लिखा है – "अनेक स्त्रियों से एक पुरुष के विवाह करने की रीति वैदिक काल से महाभारत के समय-पर्यन्त, न्यूनाधिक परिमाण में, प्रचलित थी, परन्तु एक स्त्री के अनेक पति करने की प्रथा आरंभ में उन चन्द्र वंशी आर्यों में थी, जो हिमालय से नये-नये आये थे। द्रौपदीके उदाहरण से यह बात माननी पड़ती है। इसमें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये अनेक पति विभिन्न कुटुम्बों के नहीं, सम्मिलित कुटुम्ब के सगे भाई होते थे। आज कल की हिमालय की तरफ पहाड़ी लोगों में, कुछ स्थानों में यह प्रथा प्रचलित है। वहां भी यही बात है। विवाहित स्त्री को किसी प्रकार के कष्ट से आशंका नहीं रहती। भारतीय आर्यों में पहले से ही इस प्रथा के विषय में प्रतिकूल मत था। कुछ चन्द्रवंशीय आर्यों द्वारा लायी गई यह प्रथा भारतवर्ष में प्रचलित नहीं हुई। महाभारत के समय में आर्यों में यह प्रथा बिल्कुल नहीं थी। महाभारतकार के लिये एक द्रौपदी का पाँच पाण्डवों की पत्नी होना एक पहेली ही था, और इसका निराकरण करने के लिये सौति ने महाभारत में दो-तीन कथायें मिला दी हैं। विशेषतः कुन्ती का बिना देखे भाले यह कह देना कि जो भिक्षा लाये हो उसे बाँट लो, और तदनुसार पाँचों भाइयों का एक ही स्त्री को अपनी-अपनी पत्नी बना लेना, बहुत ही विचित्र है। युधिष्ठिर के कथनानुसार मानना

* "ववन्दे द्रौपदीं भद्रा प्रं प्याहमिति चाब्रवीत"।

चाहिये कि पूर्व समय में यह प्रथा कुछ लोगों में थी, किन्तु ऊपर सौति ने जो प्रयत्न किया है उससे भली भाँति सिद्ध है कि महाभारत के समय भरत-खण्ड से वह प्रथा उठ गयी थी।"

इनके इस मत के सम्बन्ध में लक्ष्मीनारायणजी सुधांशु का यह अभिप्राय है—"वैद्य महाशय के कथन का मूल्य है। वह भी इस प्रथा को आर्य-साहित्य में विस्मयपूर्ण दृष्टि से ही देखते हैं। उन्होंने अपने गवेषणामय 'उपसंहार' में जो कुछ विवेचना-तर्कणा की है वह महाभारत की प्रत्येक कथा पर आस्था रखते हुए ही की गयी है। उनकी युक्तियाँ जटिलता को सुलझा कर भी अलग ही रही हैं, कथावस्तु में कोई विशेष व्यवधान उपस्थित नहीं हुआ है। यही कारण है कि द्रौपदी के विवाह को विचित्र और अप्रचलित मानते हुए भी, उन्होंने केवल धर्मराज युधिष्ठिर के कथनानुसार कुछ समय के लिये, पूर्वकाल में इस प्रथा के अस्तित्व को मान लिया है, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि महाभारत के समय में वह इस प्रथा को प्रचलित नहीं मानते। महाराज युधिष्ठिर के कथन का जो उल्लेख उन्होंने किया है हमारी समझ से संभवतः वह यही होगा—

"श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी। ऋषीनध्यासितवती सप्तधर्मभृताम्वरा ॥१४॥
तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः। संगताभूद्दशभ्रातॄनेकनाम्नः प्रचेतसः ॥१५॥
(आदिपर्व, अध्याय २११)

अर्थात् 'पुराण की कथा में सुनता हूं कि जटिला गौतमी का विवाह सात ऋषियों के साथ हुआ था, और वार्क्षी नामक एक ऋषि-कन्या का विवाह प्रचेता आदि दस भाइयों के साथ हुआ।' हमें इस कथन की सत्यता सन्दिग्ध मालूम होती है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि पुराणों की रचना महाभारत के पीछे हुई है, अत एव पूर्ववर्ती में परवर्त्ती वस्तु का उल्लेख किसे न खटकेगा? थोड़ी देर के लिये, दुष्टन्तोपणानुसार, इस कथन पर विश्वास रख कर हम पौराणिक अनुक्रमणिका भी देख गये, किन्तु जटिला और वार्क्षी का पता नहीं लगा। मालूम नहीं, किस पुराण में इनका वर्णन है। यदि पुराणेऽपि का अर्थ प्राचीन जनश्रुति में लगावें तो भी इनका कहीं अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता। हर्बर्टस्पेंसर की ज्ञेयमीमांसा के अनुसार, कि प्रत्येक जनश्रुति में सत्य का कुछ न कुछ आधार अवश्य रहता है, हम इस अनिश्चित किम्वदन्ती पर बौद्धिक उत्कर्ष के इस प्रगतिशील युग में, विश्वास करने में असमर्थ हैं। किसी अन्य सबल प्रमाण को हम सादर अपने सिर पर रक्खेंगे, किन्तु तर्क-हीनता कोई प्रमाण नहीं है। महाभारत में चन्द्रवंशियों के हिमालय की तरफ से आने का उल्लेख हमें कहीं नहीं मिला, और न किसी चन्द्रवंशी आर्य में इस प्रकार के विवाह का कहीं उदाहरण ही देख पड़ा। अत एव चन्द्रवंशियों में इस प्रथा का अस्तित्व कैसे माना जा सकता है? किसी देश या किसी समाज में आवश्यकता ही किसी प्रथा को जन्म देती है। भारतवर्ष में कभी स्त्री-पुरुषों की संख्या में गहरी विषमता उत्पन्न नहीं हुई, अतः अनेक पुरुष एक स्त्री को

अपनी अपनी पत्नी बनाने को किसी प्रकार बाध्य नहीं कर सकते। हिमालय के पार्श्ववर्ती तिब्बत आदि प्रान्तों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से न्यूनतर है, इसलिए वहां इस प्रकार की प्रथा अब भी प्रचलित है। भारतवर्ष में इस प्रथा के लिये कोई कारण नहीं था। हम कुछ काल तक के लिये यह मान लेते हैं कि द्रौपदी का विवाह माता कुन्ती के आज्ञानुसार हुआ, परन्तु महाभारत में इस प्रथा का जो उल्लेख है कम से कम उसके लिये तो कुछ कारण होना चाहिये। द्रौपदी का विवाह तो प्रथा के अनुसार ही हुआ था, उससे प्रथा की उत्पत्ति नहीं हुई। बहुत विचार और तर्क-वितर्क करनेके उपरान्त भी इसका कुछ कारण नहीं सूझ पड़ता। ज्ञात होता है कि धार्मिक मर्यादा में ऐक्य रखने के लिये ही पीछे से महाभारत में यह काल्पनिक कथा समाविष्ट की गई है। इससे वृहत्तर भारतवर्ष की प्रथा का भी परिचय मिल जाता है और महाभारत का मूल्य तथा महत्त्व भी, एक प्रकार से, महत्तर हो जाता है। भारत के वाममार्गी क्षेपककारों को ही इसके लिये अधिक दोष दिया जाता है।"

अब इस विषय को खुलाशा करनेके लिये तर्क का आश्रय लिया जाता है। अर्जुन ने लक्ष्य बेध कर द्रौपदी पर केवल आर्यसंगत वैवाहिक अधिकार ही प्राप्त किया था। क्रीत दासी की तरह वह अर्जुन के घर नहीं गई थी जिससे अर्जुन अपने अधिकार-बल से पत्नीत्व के निर्मल एवं पवित्र मर्य्यादा को ठुकरा कर मनमाने उसे पांचों भाइयों की पत्नी बनाता। साथ ही साथ कुन्ती का सब मिल कर खाओ यह सन्देश तकहीन जचता है। क्योंकि व्यासजी की आज्ञा से द्रौपदी के स्वयंवर को देखने के लिये ही श्रद्धेय माता कुन्ती के साथ पांचो भाई एकचक्रा नगरी में कुम्भार के घर पर टिके थे और जिस दिन पांचो भाई ब्राह्मणों के साथ एकचक्रा से द्रौपदी के स्वयम्वर में गये थे उस दिन भी कुन्ती को यह बात ज्ञात थी। बल्कि स्वयम्वर से पुत्रों को लौटने में जब विलम्ब हुआ तब माता कुन्ती को अनेक प्रकार की आपदाओं की आशंका होने लगी थी। साथ ही साथ व्यासजी की बात पर भी उन्हें अविश्वास होने लगा था। अर्जुन के गले में वरमाला पड़ते ही जब वहाँ (पांचाल में) पर आपस में लड़ाई छिड़ गई तब युधिष्ठिर ने मन में सोचा कि यदि हम पांचों भाई एक ही साथ यहां रहेंगे तो सब कोई हमें पहिचान लेंगे। अतः पांचों भाइयों की उपस्थिति यहाँ कल्याणप्रद नहीं है। इस विचारानुसार भीमसेन को अर्जुन की सहायता के लिये वहीं छोड़ कर नकुल और सहदेव के साथ युधिष्ठिर एकचक्रा को चले आये। उनके वहां पर पहुंचते क्या माता कुन्ती ने अर्जुन, भीम और स्वयम्वर-संबंधी सारी बातें नहीं पूछी होंगी? क्योंकि वह तो पहले ही से पुत्र-मिलन के लिये विह्वल हो रही थीं। पूछी होंगी अवश्य और सत्यवक्ता धर्मराज युधिष्ठिर ने भी उन्हें प्रकृत बातों से अवगत कर सन्तुष्ट कर दिया होगा। साथ ही साथ अर्जुन और भीमसेन की आवाज सुनकर तीनों भाई और कुन्ती लड़ाई का समाचार पूछने को बाहर अवश्य आये होंगे। क्योंकि स्वयम्वर-विषयक युद्ध-संबन्धी वृत्तान्त का उन्हें जिज्ञासु होना सर्वथा स्वाभाविक है। दूसरी बात यह है कि कुन्ती को यह बात

भलीभांति ज्ञात थी कि आज पाँचों पूर्ववत् भिक्षा के लिये न जाकर स्वयम्वर में सम्मिलित होने गये हैं। अर्जुन तथा भीमसेन के साथ द्रौपदी के सिवाय स्वयम्वर से लौटे हुए ब्राह्मणों का एक विशाल झुण्ड भी मौजूद था। कुंभार की इस छोटी-सी कुटिया के द्वार पर इस जन-कोलाहल एवं नवीन पुत्रवधू को देखने के लिये कुन्ती का बाहर आना सहज अनिवार्य है। क्योंकि युधिष्ठिर आदि के द्वारा स्वयम्वर की बात पहले से ज्ञात थी ही। द्रौपदी के कुमारीत्व-सम्बन्धी बात भी तथ्यहीन ही जँचती है।

अब इस विषय पर विद्वानों की क्या सम्मति है, उसे भी सुन लें। प्रोफेसर मैक्समूलर[1] प्रोफेसर एच० एच० विल्सन[2], प्रोफेसर एम० विलियम[3] आदि विद्वानों ने अपनी-अपनी कृतियों में अपना विचार साफ प्रकट कर दिया है, जिनमें कुछ विद्वानों ने इसे अनार्य-प्रथा कहते हुए भारतवर्ष में इसके अस्तित्व या प्रचलन को मानते हैं और कुछ इसे बिल्कुल ही निराधार तथा काल्पनिक समझते हैं। इसी विषय का विवेचन करते हुए श्रीयुत हॉपकिंस ने 'अमेरिकन ओरियण्टल' में लिखा है 'फिर भी इनमें से कोई भी बात यह नहीं प्रमाणित करती है कि बहुपतित्व असल में एक आर्य-रीति थी।'[4] दूसरे एक विद्वान ने इण्डियन एण्टिक्वेरी भाग ६, पृ० २६२ में लिखते हैं कि 'यह सत्य है कि पहले कुन्ती ने भूलसे ही द्रौपदी को मिल कर भोगने की आज्ञा पुत्रों को दी। पीछे उसे न्याय-संगत सिद्ध करने के लिये अलौकिक घटनायें उपस्थित की गयीं।' इसी प्रकार अन्यान्य विद्वानों ने भी इस प्रथा के प्रचलन के विरुद्ध अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं। बहुसंख्यक विद्वानों का मत है कि यह प्रथा कभी भारतवर्ष में नहीं थी। यों तो आज भी अनार्यों में इस प्रथा का प्रचलन देख कर आपटे जैसे विद्वान यह भी मानते हैं—'पांचों पाण्डवों में (द्रौपदी के) बहुपतित्व की घटना तथा अन्य अनोखी रीतियां उन्हें भारतवर्ष के अनार्य-निवासियों के साथ बहुत सम्बद्ध करती हैं'।[5] पर इसके उत्तर में श्री सुधांशुजी ने यों लिखा है—"उपर्युक्त कथन को आपटे महाशय की एकांगदर्शिता का उदाहरण ही समझना चाहिये, क्योंकि भारतवर्ष के मूल अनार्य निवासियों के विषय में लिखते हुए, उन्होंने पांण्डवों को भी उनसे सम्बद्ध कर लिया। भारतीय आर्यों में इस प्रथा की व्यावहारिकता कभी सामान्य नहीं थी, अत एव आर्या द्रौपदी के ऊपर यह लाञ्छन लगाना उचित नहीं।"

द्रौपदी के इस पञ्चपतित्व के औचित्य या अनौचित्य पर अन्यान्य अधिकारी विद्वानों को भी अपना-अपना विचार प्रकट करना चाहिये, जिससे यह विषय हल हो जाय। पाश्चात्य विद्वानों ने तो इस पर कुछ प्रकाश डाला भी है, परन्तु भारतीय विद्वानों का ध्यान इधर अभी तक बहुत ही कम आकृष्ट हुआ है। अन्त में मैं काशी के श्रीयुत लक्ष्मीनारायणजी सुधांशु को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता हूं, जिनके लेख से मुझे पर्याप्त सहायता मिली है।

१—See. Prof. Max Muller's Ancient Sanskrit Literature P. 46.
२—Prof. H. H. Wilson's Works Vol. III, P. 340.
३—Prof. M. William's Indian Epic Poetry, P. 99
४—Jour. American Oriental Sec. XIII. 345
५—" On the Original inhabitants of Bharatbarsha or India P. 517.

क्या पावागढ़ दिगम्बर-तीर्थ है ?

[लेखक—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर]

भास्कर के भाग ५ की चौथी किरण में "हमारे तीर्थक्षेत्र" शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण निबंध पं० नाथूराम जी प्रेमी एवं प्रो० हीरालाल जी जैन का प्रकाशित हुआ है। इस लेख में दि० मान्य सिद्ध क्षेत्रों की चर्चा करते हुए पावागिरि की भी चर्चा की गई है। लेखक महोदयों ने वर्त्तमान में पावागिरि रूप से मान्य दो स्थानों का परिचय दिया है, उनमें से प्रथम पावागढ़ के विषय में विचार करना ही हमारे इस लेख का विषय है। आशा है विद्वान लोग इसे निष्पक्षतया पढ़ कर अपना-अपना मत प्रकाशित करने का कष्ट उठावेंगे।

"हमारे तीर्थक्षेत्र" निबंध पढ़ने के पूर्व ही पावागढ़ और चांपानेर के विषय में कुछ ज्ञातव्य बातें हमें पं० लालचन्द भगवान दास गांधी (जैन पंडित बड़ौदा ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट) लिखित "गुजरातना वीर मंत्री तेजपालनो विजय"* नामक ग्रन्थ में पढ़ने को मिली थीं, उसी के आधार से आज हम इस सम्बन्ध में कुछ आलोचना कर रहे हैं।

तेरहवीं शताब्दी के श्वे० समाज के सुप्रसिद्ध शासनप्रभावक श्रावकरत्न मंत्रीश्वर तेजपाल से पूर्व प्रस्तुत पावागढ़ पर किसी जैन मन्दिर के होने का प्रमाण अद्यावधि अज्ञात है। अतः वर्त्तमान में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि "पावागढ़" की जैन तीर्थ के रूप से प्रसिद्धि होने का श्रेय मंत्रीश्वर तेजपाल को ही है। मंत्रीश्वर के पावागढ़ पर जैनमन्दिर बनाने का उल्लेख वस्तुपाल-चरित्र में इस प्रकार पाया जाता है:—

धोलका (गुजरात) के महाराणा वीर धवल की आज्ञा से मंत्रीश्वर तेजपाल ने गोध्रा के राजा घुघुल पर आक्रमण कर विजय प्राप्त की थी, विजय-प्राप्ति के अनंतर धोलका लौटते हुए मार्ग में मंत्री तेजपाल पावकगिरि पर पधारे। गिरिराज की नैसर्गिक शोभा को देख कर मंत्रीश्वर के मन में विचार हुआ कि "जिस प्रकार मंत्रीश्वर विमल ने आबू पासलि मंत्री ने आरासण और नृपति कुमारपाल ने तारंगादि पर जैनमन्दिर निर्माण कर उन्हें तीर्थभूत बना दिया, उसी प्रकार मैं भी इस पर्वत को जैनमन्दिर से अलंकृत कर तीर्थरूप बना दूं तभी मेरा जीवन एवं धन सफलीभूत होगा।"

ऐसे विचार कर मंत्री तेजपाल ने शीघ्र ही आश्चर्यकारी सर्वतोभद्र नामक अर्हत्-प्रासाद वहाँ बनवा दिया।

---

* प्र० अभयचन्द्र भगवानदास गांधी, हरिम रोड़ भावनगर मू० ॥)

पं० लालचन्द जी ने सर्वतोभद्रप्रासाद की फुटनोट में लिखा है कि "आश्वेताम्बर जैन-मंदिरनी मूर्तियोंने केटलाक श्वेताम्बर जैनोए कारणसर केटलांक वर्षो थी त्यांथी उपाडी लइ बडोदरा ना दादापार्श्वनाथना मंदिर मां स्थाप्य पछी पावागढ़ना उपर्युक्त श्वे० जैनमंदिर ने दिगम्बर जैनोए दि० मंदिर करी पोताने आधीन अधिकारनुं करी लीधुंहोय एम जणायछे।"

इस सर्वतोभद्र प्रासाद में मूलनायक-रूप से महावीर स्वामी की प्रतिमा थी, जिसका उल्लेख मंत्रीश्वर तेजपाल के समकालीन महेन्द्रसूरि जी ने (सं० १२२८ जन्म, १२३७ दीक्षा, १२६२ सूरिपद, १२७१ गच्छनायकपद, १३०४ स्वर्ग) अपने तीर्थमाला स्तोत्र में इस प्रकार किया है :—

पावयगिरिवरसिहरे दुह-दव-नीरं थुणे वीरं ॥

(वि० सं० १९२३ बम्बई के शा० हीरजी हंसराज प्र० रत्नसार भा० २ पृ० ३१ गाथांक ८१)

पावागढ़ की तलहटी-चांपानेर के निवासी पोरवाड सा० गुणेश और को० वाघाकारित सं० १४९० के पंचतीर्थी तथा शांतिनाथ-प्रासाद के आलेख्यपट्ट* पाटण के संघवीपाड़े के ताड़-पत्रीय ज्ञानभांडार में हैं। ये चित्र भी चांपानेर एवं पावागढ़ के श्वे० मंदिरों के ही विदित होते हैं।

पावकगिरि पर अन्य श्वे० मंदिर

पंद्रहवीं शताब्दी के शेष भाग में तपागच्छीय भुवनसुन्दरसूरि हो गये हैं। उनके रचित संभवस्तोत्र में उपर्युक्त वीर जिनालय से भिन्न संभवनाथ-मंदिर का उल्लेख मिलता है :—

"महाप्रातिहार्यश्रिया शोभमानं सुवर्णादिवप्रत्रयाकीर्यमानम्।
स्फुरत्केवलज्ञानवल्लीविसन्तं स्तुवे पावके भूधरे शम्भवं तम्॥

इसी स्तोत्र में पावागढ़ को शत्रुंजय तीर्थ के अवताररूप में कहा गया है :—

स्थितं पुण्डरीकाचलस्यावतारेऽखिलक्ष्मातलश्रीगिरिद्वारहारे।
तृतीयं जिनं कुन्ददन्तं भदन्तं स्तुवे पावके भूधरे शम्भवं तम्॥

(जैनस्तोत्र-सन्दोह भा० २, पृ० १६६-६७)

श्वे० समाज में सर्वतीर्थों में श्रेष्ठ शत्रुंजय है। उसकी उपमा पावागढ़ को दी गई है। इससे उस समय यह पावागढ़ श्वे० जैनों का कैसा मान्य तीर्थ था यह स्वतः प्रमाणित है।

१६ वीं शताब्दी में मांडवगढ़ के संघपति वेल्हाक ने उपर्युक्त पावक शैलस्थित संभवनाथ की वंदना की थी, ऐसा सं० १५४१ में रचित "गुरुगुणरत्नाकर" काव्य में उल्लेख पाया जाता है।

* उपर्युक्त उल्लेख पट्ट के फोटो 'दी इण्डियन सोसायटी, लंदन' द्वारा सन् १९३२ में प्र० 'इण्डियन आर्ट एन्ड लेटर्स' में रा० नानालाल चीमनलाल मेहता आई० सी० एस० के परिचयात्मक लेख के साथ प्रकाशित हो चुके हैं।

सं० १५२० के लगभग रचित रत्नमंदिर के उपदेशतरंगिणी में पुरुषप्रवर्त्तित तीर्थों का उल्लेख करते हुए अन्य तीर्थों के साथ साथ प्रस्तुत पावागढ़ को भी 'पावक' शब्द से सूचित किया है।

इसी समय के लगभग सोमदेव सूरि पावागढ़-चंपानेर के नृपति जयसिंह से सम्मानित हुए थे। सं० १५२७ में पावागढ़ पर एक अर्हत्-चैत्य और अर्हत्-बिम्ब की स्थापना और हुई थी यथा :—

श्रीमच्चंपकनेर-पावकगिरौ प्रोत्तुंग शृंगेऽर्हत-
श्चैत्यं तत्र च बिंबमार्हतमतिप्रौढं प्रतिष्ठां तथा।
तस्योच्चैर्मुनि दृग्गशरक्षितिमिते वर्षे सहर्षोत्सवं।
पौषस्यासितपंचमीसुदिवसे यो कारयांचक्रतुः ॥१३॥

(पाटण तपागच्छ भं० डा० ३७ प्रशस्ति)

सं० १७४१ में लक्ष्मीरत्नकृत क्षेमादेवरासणीरास से स्पष्ट है कि उस समय तक पावागढ़ पर बड़े बड़े कई श्वे० जैनमंदिर विद्यमान थे :—

"गुजर देश छे गुणनीलो, पावा नामें गढ़ बेसणो।
मोटा श्रीजिनतणा प्रासाद, सरग सराशुं मांडे वाद ।२।
वसें सहर तलेटीपास, चांपानेर नामे सुविलास।
गढ़मढ़ मंदरपोलप्रकास, सम भूमी उत्तम आवास ।३।"

(ऐ० रासमंग्रह भा० १, यशो० ग्रन्थमाला प्र०)

पावागढ़ की तलहटी में स्थित चांपानेर में श्वे० जैनों का अच्छा निवास था, चांपानेर में भी कई श्वे० जैनमन्दिर थे। इन सब बातों का विशेष विवरण पं० लालचंद्र जी गांधी लिखित 'तेजपालनो विजय' नामक ग्रंथ में ही देखना चाहिये। यहां तो केवल यही बतलाना अभीष्ट है कि पावागढ़ तीर्थ श्वेतांबर समाज का है। १८वीं शताब्दी तक के श्वे० जैनों के कई प्रौढ़ जिनालय इस गिरिराज पर विद्यमान थे एवं श्वे० समाज इसे तीर्थरूप से बहुत समय से मानता चला आया था।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि श्वेतांबरों ने इसे छोड़ा क्यों ? इसका कारण उक्त ग्रन्थ में इस प्रकार बतलाया गया है —

"ई० १७ वीं शताब्दी के प्रारंभ में यहाँ की आबहवा बिगड़ गई थी और जल भी खारा हो गया था, शहर बड़ी दुर्दशा में था।"

ई० १८०३ में पावागढ़ बृटिश गवर्नमेण्ट के कब्जे में आया, उस समय (चांपानेर) शहर

में ५०० मनुष्यों की बस्ती थी। फौज के आगमन को सुनकर बहुत सी बस्ती वहाँ से भाग निकली थी, अशक्त एवं रोगी ही रह पाये थे।

ई० १८१२ में ४०० घरों की बस्ती थी, जिनमें आधे बाहर से आकर बसे हुए थे।

ई० १८२९ में रेशमी कपड़ों के बुनकरों में कॉलेरा से कमी हो गई थी। × × मार्ग के दक्षिणस्थ डुंगरी के तलेटी के समीप घरों के ध्वंशावशेष एवं थोड़े जैनमंदिर हैं।

ई० १८५३ के ३१ जुलाई को यह स्थान पुनः बृटिश सरकार के आधीन हुआ; तब यह बहुत कुछ उजड हो गया था। बस्ती का एक ही भाग रहा था × × ×

उपर्युक्त विषम स्थिति में चांपानेर-पावागढ़ से श्वे० जैनों ने अंतिम विदा ली, अन्यत्र जाते हुए उन्होंने अपनी आराध्य कई मूर्त्तियों को भी साथ ले ली और निर्भय स्थानों में उन्हें स्थापित कर दी, अतः खाली पड़े हुए जैनमन्दिरों पर (दि०) अन्य समाजवालों ने अधिकार जमा लिया।

अब हमें यह देखना रह जाता है कि दि० जैनों का यहाँ अधिकार कब से हुआ। 'हमारे तीर्थक्षेत्र' लेखानुसार यहाँ सब से प्राचीन प्रतिमा सं० १६४२ की है। "परन्तु प्रतिमा-लेखों से अथवा और किसी प्राचीन लेख से इस स्थान का सिद्धक्षेत्र होना प्रकट नहीं होता।×× × × रविषेणाचार्य के पद्मचरित के अनुसार रामचन्द्र के पुत्र लव-कुश ने अयोध्या में ही दीक्षा ली थी, परन्तु इस बात का कोई उल्लेख नहीं कि उनका निर्वाण पावागिरि से हुआ था। अन्य किसी कथा-ग्रन्थ में भी इसका स्पष्ट निर्देश देखने में नहीं आता है" न तो यहाँ के लेखों द्वारा यह स्थान सिद्धक्षेत्र ही है और न लवकुश की निर्वाण भूमि ही। अतः इसकी तीर्थरूप से स्थापना अर्वाचीन ही प्रतीत होती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह अनुसंधान कर निर्णय करना चाहिये कि यहाँ के लेखों में पावागिरि—पावकगढ़ का नाम सब से प्राचीन कौन से संवत के लेख में आता है एवं यहाँ मन्दिर बनवानेवालों का उल्लेख कितने प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है? आशा है विद्वान लोग इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालने की शीघ्र कृपा करेंगे।

मेरा निवेदन

भाई नाहटा जी के हम कृतज्ञ हैं कि उन्होंने पावागढ़ के सम्बन्ध में बहुत-सी ऐसी नई बातें बतलाईं जिनका हमें पता नहीं था। उन्होंने अपना उपर्युक्त लेख पं० लालचन्द जी गाँधी की लिखी हुई 'गुजरातना वीर मन्त्री तेजपालनो विजय' नामक जिस गुजराती पुस्तक के आधार से लिखा है उसको भी मँगाकर हमने पढ़ा। उसमें इस प्रकार के बीसों पुष्ट प्रमाण दिये गये हैं जिनसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि कम से कम

विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के बाद से अठारहवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में पावकगढ़ बहुत ही प्रख्यात रहा है और उस पर समय-समय पर अनेक जैन मन्दिर बनते रहे हैं। उस समय के बहुत से लोगों की दृष्टि में तो वह पालीताणा या शत्रुंजय की जोड़ का तीर्थ रहा है।

सुप्रसिद्ध जैन मंत्री तेजपाल का समय वि० सं० १२७६ से १३०४ तक माना जाता है। शायद उन्होंने सब से पहले पावकगढ़ पर सर्वतोभद्र नामक विशाल जैन मन्दिर बनवाया और तभी से श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में वह तीर्थरूप से प्रख्यात हुआ। इसके पहले भी वह श्वेताम्बर तीर्थ था, इस प्रकार का कोई प्रामाणिक उल्लेख अभी तक हमारे देखने में नहीं आया है।

'हमारे तीर्थक्षेत्र' नामक लेख में यही लिखा गया है कि वहाँ के प्रतिमा-लेखों से अथवा और किसी प्राचीन लेख से पावागढ़ का सिद्धक्षेत्र होना प्रकट नहीं होता। परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के समान दिगम्बर-सम्प्रदाय वाले इसे पहले पूज्य स्थान नहीं मानते थे या उनके प्राचीन मन्दिर वहाँ न रहे होंगे।

वहाँ के दिगम्बर-मन्दिरों में वि० सं० १६४२ से १६६० तक की प्रतिष्ठित प्रतिमायें तो हैं ही, साथ ही दि० जैन डिरेक्टरी के अनुसार पाँचवें फाटक के बाद की एक भीत पर जो प्रतिमा उत्कीर्ण है वह वि० सं० ११३४ की है। इससे क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि वहाँ पर बहुत पहले से दिगम्बर जैन मन्दिर थे ? पं० लालचन्द जी ने लिखा है कि "सर्वतोभद्र मन्दिर की मूर्तियों को कारणवशात् कुछ श्वेताम्बर जैनों ने कुछ वर्ष हुए वहाँ से उठा कर बड़ौदे के दादा पार्श्वनाथ के मन्दिर में स्थापन कर दिया और उसके बाद उक्त श्वेताम्बर मन्दिर को दिगम्बर जैनों ने दिगम्बर-मन्दिर बनाकर अपने अधिकार में कर लिया।" परन्तु हमारी समझ में यह ठीक नहीं मालूम होता। पं० लालचन्द जी बड़ौदे में रहते हैं। पावागढ़ वहाँ से समीप है। परन्तु जान पड़ता है उन्होंने स्वयं वहाँ जाकर कोई जाँच-पड़ताल नहीं की और अनुमान से ही उक्त निर्णय दे दिया है।

ऐसे अनेक स्थान और तीर्थ हैं जहाँ दोनों सम्प्रदायों के मन्दिर सैकड़ों-हजारों वर्षों से चले आये हैं। तब यह क्यों न माना जावे कि पावागढ़ में दिगम्बर मन्दिर भी पहले से ही थे ?

मंत्रीवर तेजपाल का समय ऐसा नहीं था कि दिगम्बर-श्वेताम्बर एक स्थान पर प्रेमभाव से न रह सकते हों। उसके पहले और बाद में भी भी गुजरात में दिगम्बर-सम्प्रदाय रहा है और उसके धर्मस्थान रहे हैं, इसके सैकड़ों प्रमाण दिये जा सकते हैं, भले ही उसके अनुयायी श्वेताम्बरों की अपेक्षा धन-बल और जन-बल में कम रहे हों।

पावागढ़ से लगभग ४२ मील उत्तर की ओर गोधरा नामका नगर है। पूर्वकाल में

यह स्थान बहुत विशाल और समृद्ध था। वहाँ चालुक्यनरेश कृष्ण के राज्य-काल में माथुरसंघ के आचार्य अमरकीर्ति ने वि० सं० १२७४ में 'छक्कम्मोवएस' (षट्कर्मोपदेश) नामक अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ की[1] रचना की थी। इस ग्रन्थ में वहाँ के ऋषभ जिनेश के विशाल जैन मन्दिर का उल्लेख है—

रिसहो जिणेसहो तहि चेईहरु, तुंगु सहासोहिउ णं ससहरु।
दंसणेण जसु दुरिउ विलिज्जइ, पुण्णहेउ जं जणि मणिज्जइ।

अर्थात् वहाँ ऋषभ जिनेश का ऊँचा, सभा से शोभित और चन्द्रमा जैसा 'चैत्यगृह' था जिसके दर्शन से पाप विलीयमान हो जाते हैं और जिसे लोग पुण्य का हेतु मानते हैं।

गोधरा के जिस राजा घुघुल को तेजपाल मंत्री ने पराजित किया था, वह संभवतः अमरकीर्ति-लिखित चौलुक्य कृष्णराज का ही उत्तराधिकारी था। इस विजय के बाद ही तेजपाल ने गोधरा में अजितनाथ का मन्दिर निर्माण कराया था और फिर उसके बाद पावागढ़ जाकर सर्वतोभद्र। जिस समय मंत्री तेजपाल ने गोधरा में श्वेताम्बर मन्दिर निर्माण कराया उस समय जिस तरह वहाँ ऋषभजिनेश का दिगम्बर मन्दिर मौजूद था उसी तरह क्या यह असंभव है कि पावागढ़ में भी सर्वतोभद्र जिनालय के पहले कोई दिगम्बर-मन्दिर रहा हो? खास कर के पाँचवें फाटक के बाद की उस भीत में उत्कीर्ण सं० ११३४ की प्रतिमा का खयाल रखते हुए।

पावागढ़ की तलैटीका विशाल नगर चाँपानेर जब बरबाद हो गया, अनेक राजनीतिक उथल-पुथल होने के कारण जब वहाँ कोई न रहा, तब यह स्वाभाविक है कि वहाँ के मन्दिर खण्डहरों में परिणत हो जायँ और कुछ लोग प्रतिमाओं को भी अपने साथ ले जायँ। श्वेतांबरों समान दिगम्बरों ने भी यही किया होगा। गरज यह कि पावागढ़ को उस समय दोनों ने ही छोड़ दिया होगा और मन्दिर दोनों के पड़े रहे होंगे।

इसके बाद ऐसा जान पड़ता है कि श्वेताम्बर भाइयों ने तो उक्त स्थान को बिल्कुल भुला दिया, परन्तु दिगम्बर नहीं भूले और वि० सं० १५३७ में भट्टारक कनककीर्ति की दृष्टि इस ओर गई और उनके उपदेश से दिगम्बर-मन्दिरों के उद्धार का प्रारंभ हो गया। बहुत कर के कनककीर्ति जी ईडर की गद्दी के भट्टारक थे।

अब से लगभग २७ वर्ष पहले सन १९१२ के मार्च महीने के अन्त में मैंने पावागढ़ की यात्रा की थी। उस समय मैंने अपनी यात्रा का विवरण जैनहितैषी (भाग ९, अंक १२)

[1] इस ग्रन्थ का परिचय प्राप्त करने के लिए जैन सिद्धान्त भास्कर भाग २ अंक ३ में प्रो० हीरालाल जी जैन का 'अमरकीर्तिगणि और उनका षट्कर्मोपदेश' शीर्षक विस्तृत लेख पढ़िये।

में प्रकाशित किया था। उसके नीचे लिखे अंश को पढ़कर पाठक देख सकते हैं कि उस समय भी मुझे यह भास हुआ था कि उक्त स्थान पर पहले श्वेताम्बर मन्दिर रहे होंगे और इस बात को मैंने छुपाया नहीं था।

"छाशिया तालाब के मार्ग में दाहिनी ओर एक जैन मन्दिर है—इसकी नये सिरे से मरम्मत की गई है। इसमें जो मुख्य प्रतिमा है वह जीर्णोद्धार करानेवाले ने सं० १९६७ में स्थापित की है। शेष दो प्रतिमायें पुरानी हैं। एक तो संवत् १६४२ माघ सुदी ७ सोमवार को वादिभूषण गुरु के उपदेश से प्रतिष्ठित हुई है और दूसरी सं० १५४८ की प्रसिद्ध प्रतिमा प्रचारक जीवराज पापड़ीवाल की प्रतिष्ठा कराई हुई है। दूसरा एक मन्दिर और भी पास में है। उसकी मरम्मत की गई है। उसमें एक काले पाषाण की प्रतिमा है। वह सम्वत् १६६२ की है। वादिभूषण भट्टारक ने उसकी भी प्रतिष्ठा कराई थी। प्रतिष्ठा करानेवाले अहमदाबाद के एक हूमड़ श्रावक थे पर्वतपर सब मिलाकर १० जीर्ण मन्दिर हैं, इनमें से तीन का तो जीर्णोद्धार हो गया है और एक की मरम्मत की गई है—शिखर बाकी है। तीसरा या चौथा मन्दिर दाहिनी तरफ धराशायी हो रहा है। इसे हमने भीतर घुस कर देखा तो मालूम हुआ कि गर्भालय की दो चौखटों पर तो गणेश की मूर्तियां हैं और उत्तर तरफ की बाहरी दीवाल पर जो तीन मूर्तियां हैं वे श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की हैं। उनकी भुजाओं में बाजूबन्द और हाथोंमें कंकण हैं। आसन में हाथी का चित्र है। इसके आगे एक विराट् मन्दिर धाराशायी हो रहा है इसमें नन्दीश्वर द्वीप के समान चारों ओर ५२ जिनालय थे। इसी जगह सेठ चुन्नीलाल हेमचन्द जरीवाले ने मन्दिर बनवा कर वीरनि० सं० २४३७ में प्रतिष्ठा कराई है। आगे बड़े मन्दिर के सामने एक छोटी सी देहरी है यह अभी हाल ही बनी है। इसमें जो चरण हैं उनकी स्थापना सं० १९६५ में हुई है। इस देहरी की पीठ पर कहीं का एक पुराना पड़ा हुआ पत्थर जड़ दिया गया है जिसमें ऋद्धि-सिद्धि-युक्त गणेशजी की मूर्ति है।...बड़े मन्दिर में बड़ी प्रतिमा और कई छोटी-छोटी प्रतिमायें परंढा (शोलापुर) निवासी सेठ गणेश गिरिधर की है और तीन जो पुरानी हैं वे क्रम से १६४५, १६६५ और १६६९ की हैं। यह मन्दिर बहुत विस्तार में था और प्राचीन मालूम होता है। मरम्मत केवल बीचके भाग की करली गई है। इसके पास ही दो मन्दिर और थे जिनमें से एक का तो मकान-सा बना लिया गया है—इस समय उसमें पर्वत के मन्दिरों की पूजा करनेवाले पुजारी रहते है और एक बिल्कुल नाम शेष है—दालान यों ही पड़ी है। मन्दिर के पास ही तालाब है।

"यहाँ से कालिका की टोंक पर चढ़ना होता है। ...इसकी सीढ़ियों में जो पत्थर लगाया गया है वह पहाड़ पर से ही संग्रह किया गया है। यह देख कर हमें खेद हुआ कि इन

सीढ़ियों में मामूली पत्थर समझ कर छह-सात जैन मूर्तियाँ लगा दी गई हैं। ये मूर्तियाँ बहुत करके श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की हैं, क्योंकि उनमें लंगोट का चिह्न दिखाई देता है।

"यद्यपि इस समय पर्वत पर कोई श्वेताम्बर मन्दिर नहीं है और श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के यात्री भी यहाँ नहीं आते हैं तो भी मालूम होता है कि यहाँ पर पहले श्वेताम्बर मन्दिर अवश्य रहे होंगे और ये प्रतिमायें उन्हीं मन्दिरों की होंगी। पावागिरि को श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में मालूम नहीं कि सिद्धक्षेत्र माना है या नहीं।"

इतने समय के बाद श्री नाहटाजी और पं० लालचन्दजी गाँधी की कृपा से यह मालूम हुआ कि पावागढ़ सिद्धक्षेत्र न होने पर भी श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का बहुत विख्यात तीर्थ रहा है और अब काल-महात्म्य से बिल्कुल नाम शेष हो चुका है।

खण्डहरों की दुर्दशा का पार नहीं रहता। वहाँ के कीमती से कीमती शिल्प-कला-पूर्ण पाषाणों का उपयोग लोग ऐसी बेदर्दी के साथ करते हैं कि देख कर जी रो उठता है। पावागढ़ के मन्दिरों के अवशेष का जिस तरह सीढ़ियों में उपयोग हुआ है उसी तरह और न जाने किन-किन कामों में हुआ होगा। उपयोग करनेवालों की नजर में तो वे एक मामूली पत्थर से ज्यादा महत्त्व नहीं रखते।

ऐसा मालूम होता है कि दिगंबर श्वेतांबर मन्दिरों के साथ-साथ पावागढ़ पर हिन्दू-मन्दिर रहे होंगे जिनमें की गणेश की मूर्तियों का उपयोग जैन-मन्दिरों का जीर्णोद्धार करानेवालों ने भी किया है।

यह संभव है कि दिगंबर जैन-मन्दिरों का जीर्णोद्धार करनेवालों ने श्वेतांबर मन्दिर के पत्थरों का भी उपयोग किया हो, परन्तु यह निश्चय है कि श्वेतांबर-प्रतिमाओं का उपयोग न किया होगा, क्योंकि श्वेतांबर-प्रतिमा सहज में ही दिगंबर नहीं बनाई जा सकती।

—नाथूराम प्रेमी

लक्ष्मण कवि-कृत

अणुव्रत-रत्न-प्रदीप

(तेरहवीं शताब्दि की एक अपभ्रंश रचना)

[लेखक—श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम०ए०, एल०एल०बी०]

१. पोथी-परिचय

'अणुव्वय-रयण-पईव' (अणुव्रत-रत्न-प्रदीप) की जो प्रति मुझे प्राप्त हुई है वह ११" × ५" आकार के ११० कागज के पत्रों पर समाप्त हुई है। नीचे ऊपर, दांये बांये १ इञ्च का हांसिया छोड़कर प्रत्येक पृष्ठ पर कहीं १० और कहीं ११ पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्ति में लगभग ४२ अक्षर हैं। पत्रों के बीच में, पुरानी रीति के अनुसार, कुछ स्थान छूटा हुआ है। कागज पुराना होने से कहीं-कहीं पत्र बीच-बीच में फट गये हैं जिससे कितने ही अक्षर नष्ट हो गये हैं। मूल प्रति १०९ में पत्र पर समाप्त हो गई है। उसका अन्तिम वाक्य है 'संवत् १५७५ वर्षे श्रावण शुदि ३ शनौ'। यह स्पष्टतः प्रति के लिखे जाने का समय है। ११० वां पत्र पीछे से जोड़ा हुआ है और वह दूसरे हाथ का लिखा हुआ है। उसमें कहा गया है कि यह शास्त्र मेडता शुभस्थान पर, परमानंदेव राठौड़ के राज्य में, खंडेलवालान्वय के पाटणी-गोत्र के एक सज्जन हेमराज ने संवत् १५९५ वैशाख शु० ३, सोमवार को लिखाकर, मूलसंघ, सरस्वती गच्छ, बलात्कार गण, कुन्दकुन्दान्वय के मुनि पुण्यकीर्ति को पठनार्थ प्रदान किया*।

* संवत १५९५ वर्षे वइसाख सु० ३ इहज सोमवासरे श्रीमूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनंदि देवा। तत्पटे भट्टारक श्री शुभचन्द्रदेवा। तत्पटे भट्टारक श्री जिणचंद्रदेवा। मुनि मंडलाचार्य श्रीखकीर्तिदेवा। ततसिन्न मुनि मंडलाचार्य श्री हेमचंद्रदेवा। द्वितीय सिन्न मुनि मंडलाचार्य श्री भुवनकीर्तिदेवा। तत्सिन्न मुनि पुण्यकीर्ति। मेडता शुभस्थानात। राजश्री मालदे राठउड राजे। खंडेलवालान्वये, पाटणी गोत्रे। संघभारधुरिधरान् साह दोदा। तस्य भार्या शीलतरंगिणी धवसिरि। तत्पुत्र प्रथपुत्र साह तोकउ प्रथ भार्या तिहुण श्री तत्पुत्र पंच। प्रथम पुत्र सोहा भार्या श्रीयादे। तत्पुत्र सोना भार्या महणश्री। द्वितीय पुत्र लाला। त्रितीय पुत्र थिरपाल। चतुर्थ पुत्र धर्मदास। सा० साहा द्वितीय स्त्री सिंगारदे। दुतीय पुत्र साह दमू। भार्या दशरदे। तत्पुत्र ठाकुर। तित्रीय पुत्र दान् भार्या दाडिमदे पुत्र नानिग। चतुर्थ पुत्र दूलह भार्या दूलहदे पुत्र करमसी। पंचमपुत्र मेघराज भार्या मेघश्री सा० तोकउ द्वतीय भार्या लाछि तत्पुत्र हेमराज। इदं शास्त्रं अणोव्रत रत्न-प्रदीपक लिखापितं कर्म्म क्षय-निमित्तं।

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधि भेषजा भवेत॥
तेलं रत्नं जलं रत्नं रत्नं सिद्धल-बंधनं।
मूर्ख हस्ते न दातव्य येवं वदति पुस्तक॥

मुनि पुणकीर्तिस्य दातव्यं पठनार्थं लेपक पाठुक शुभं भवत॥छ॥

(यह प्रशस्ति यहां मूल से बिना किसी संशोधन के दी गई है। विद्वान् पाठक सहज ही भावार्थ और त्रुटियों को समझ सकते हैं।)

इस अन्वय की गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है—

भट्टा० पद्मनन्दि
|
" शुभचन्द्र
|
" जिनचन्द्र
|
मुनि मंडलाचार्य रत्नकीर्ति
|
मुनि मं० हेमचन्द्रदेव
|
मु० मं० भुवनकीर्तिदेव
|
मुनि पुण्यकीर्ति (सं० १५९५)

हेमचन्द्रदेव और भुवनकीर्तिदेव दोनों रत्नकीर्तिजी के शिष्य, अतः परस्पर गुरु भाई थे जो एक दूसरे के पश्चात पट्टाधीश हुए होंगे। प्रशस्ति में ग्रन्थ-दाता हेमराज के कुटुम्ब के अनेक स्त्री-पुरुषों का नामोल्लेख है।

२. ग्रन्थ-रचना का विवरण

ग्रंथ की उत्थानिका में कवि ने ग्रंथरचना का विवरण इस प्रकार दिया है :—

जमुना नदी के उत्तर तट पर 'रायवहिय' नाम की महानगरी थी। वहां 'आहवमल्लदेव' नाम के राजा राज्य करते थे। वे चौहान वंश के भूषण थे। उन्होंने 'हम्मीर वीर' के मन के शूल को नष्ट किया था। उनकी महामनी और महारूपवती पट्टरानी का नाम 'ईसरदे' था।

उसी नगर में 'कविकुल-मण्डन' सुप्रसिद्ध कवि 'लक्खण' भी रहते थे। एक दिन रात्रि को वे प्रसन्नचित होकर शय्या पर लेटे थे, कि उनके हृदय में विचार उठा कि मुझ में उत्तम कवित्व-शक्ति है, विद्याविलास है, पर सब व्यर्थ जा रहा है, न उसे कोई जानता न सुनता। अशुभ कर्मों में मेरी परिणति लगी रहती है जिसके फलस्वरूप आगे मुझे दुःख भोगना पड़ेगा। इधर मेरी कवित्व-शक्ति नित्य क्षीण हो रही है। अब कोई ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे कुछ धर्मार्जन होवे। ऐसा विचार करते-करते बहुत रात्रि व्यतीत होने पर कवि को गाढ़ी निद्रा आ गई। तब स्वप्न में उन्हें शासन-देवता ने दर्शन दिया और कहा 'हे शुद्ध-स्वभाव, कवि-कुल-तिलक, जिन-धर्म-रसाय-पान-तृप्त, तुम धन्य हो जो तुम्हारी ऐसी चित्तवृत्ति हुई। अब तुम्हें जो चिन्ताक्लेश व्याप रहा है उसे छोड़ दो और मन में दृढ़ संकल्प कर लो। आहवमल्ल राजा के जो प्रधान महामन्त्री 'कण्हड' हैं वे बड़े गुणग्राही, धर्मिष्ठ, सम्यक्त्वी आसन्नभव्य हैं, श्रावकों के व्रतों को पालते हैं और गर्वरहित हैं,

वे तुम्हारे मन के संशय (चिन्ता) को दूर करेंगे और तुम्हारे कवित्व को प्रकाशित करेंगे। अब तुम मन में आलस न लाओ और इस कार्य में मन्दता मत दिखाओ। उनके नाम से श्रावक-व्रतों का विस्तार से वर्णन करनेवाला एक काव्य रचो।'

ऐसा कह कर और कवि के मन की बड़ी भारी चिन्ता को दूर कर के अंबादेवी चली गई। प्रातःकाल उठ कर जिन-वन्दना के पश्चात् कवि के मन में वही रात्रि के स्वप्न की बात झूलने लगी। उन्होंने देवी की प्रेरणा के अनुसार काव्य रचने का निश्चय कर लिया और मन में विचारा 'इस महीतल पर धन्य है वह जिसके नाम पर अब मैं काव्य रचना करता हूं।'

एक दिन महामन्त्री 'कण्ह' किसी पश्चात्ताप से जिन-मन्दिर में बैठे थे। उसी समय 'लक्खण' कवि भी वहां जा पहुंचे और उनसे अपना रात्रि का स्वप्न कहा। तब 'कण्ह' ने बड़ी भक्ति-सहित उनसे सागारधर्म पूछा। उत्तर में कवि ने विस्तार से उन्हें श्रावकधर्म सुनाया जो कि शेष ग्रन्थ का विषय है।

३ राजवंश व कवि के आश्रयदाता

कवि ने अपने समय के राजवंश का भी उल्लेख किया है। ऊपर कह आये हैं कि कवि, रायवद्दिय नामक एक महानगरी के निवासी थे। यह नगरी जमुना नदी के उत्तर तट पर स्थित थी। यहां कवि के समय अर्थात् वि० सं० १३१३ (ई० स० १२५७) में चौहानवंशी राजा आहवमल्ल राज्य करते थे। उनकी पट्टरानी का नाम 'ईसरदे' था। आहवमल्ल ने म्लेच्छों अर्थात् मुसलमानों से भी टक्कर ली और विजय पाई तथा किसी 'हम्मीर वीर' की कुछ सहायता भी की थी। संभव है ये 'हम्मीर वीर' संस्कृत के हम्मीर काव्य तथा हिन्दी के हम्मीर रासो आदि ग्रंथों के नायक 'रणथंभोर' के राजा हम्मीरदेव ही हों। अलाउद्दीन खिलजी द्वारा रणथंभोर की चढ़ाई का समय सन १२९९ ई० माना जाता है। इसी युद्ध में 'हम्मीरदेव' मारे गये थे। वर्तमान उल्लेख और इस लड़ाई के बीच ४२ वर्ष का अन्तर पड़ता है। यह अन्तर एक ही व्यक्ति के जीवनकाल के लिये कुछ असम्भव नहीं है।

आहवमल्ल की वंश-परम्परा कवि ने जमनातट के 'चंदवाड' नगर से बतलाई है। वहाँ पहले चौहानवंशी राजा भरतपाल हुए, उनके पुत्र अभयपाल, उनके जाहड, उनके श्रीबल्लाल और उनके आहवमल्ल। अनुमान होता है कि आहवमल्ल के समय में या उनसे पूर्व राजधानी 'रामवद्दिय' हो गई थी। या यहां 'चंदवाड' वंश की एक शाखा स्थापित हुई होगी। दोनों नगर जमना तट पर ही थे और पास-पास ही रहे होंगे। प्रस्तुत समय में देश के इस विभाग पर चौहानवंशियों का राज्य था यह सुविख्यात है। पर प्रकाशित वंशावलियों में उक्त राजाओं के नाम नहीं पाये जाते। यह कोई शाखावंश रहा होगा।

उक्त राजवंश के साथ-साथ ही कवि के आश्रयदाता 'कण्ह' के वंश का परिचय कराया गया है। यह वणिक्-वंश था और इसका राजवंश से बहुत घनिष्ठ संबंध था। उसी 'चंदवाड' नगर में लंबकंचुक अर्थात् लंबेचू-कुल में 'हल्लण' नगरसेठ हुए जो बड़े राजप्रिय और लोकप्रिय थे। उनके पुत्र अमृतपाल (अमयवाल) हुए। वे भी राजमान्य और अभयपाल राजा के प्रधान मन्त्री थे। उन्होंने एक बड़ा विशाल और भव्य जिनमन्दिर बनवाया जिसपर सुवर्ण कलश चढ़ाया। उनके पुत्र 'सोदु' साहु हुए जो 'जाहड' नरेन्द्र और उनके पश्चात् फिर 'श्रीवल्लाल' के मंत्री बने। 'सोदु' साहु के दो पुत्र हुए—प्रथम रत्नपाल, और दूसरे 'कण्हड' जिनकी माता का नाम 'मल्हा' (मल्हादे) था। ये बड़े धर्मिष्ठ और सदाचारी थे। रत्नपाल बड़ी स्वतन्त्र और निरर्गल प्रकृति के थे, पर उनके पुत्र 'शिवदेव' बड़े कलावान, विद्यावान और कुशल हुए। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात नगरसेठ के पद पर वे ही विराजमान हुए और आहवमल्ल राजा ने अपने हाथ से उनका तिलक किया। उनके काका 'कण्हड' आहवमल्ल राजा के मंत्री हुए। उनकी धर्मपत्नी 'सल्लक्खणा' बड़ी रूपवती, धर्मवती और गुणवती थीं। उनके दो पुत्र हुए 'हरिदेव' और 'द्विजराज'। पूर्व कथनानुसार 'कण्हड' की प्रार्थना से ही कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ उन्हीं को समर्पित किया गया है। प्रत्येक सन्धि की पुष्पिका में कवि ने इसे 'कण्हाइच्च णामांकिय' अर्थात 'कृष्णादित्य-नामाङ्कित' कहा है, जिससे यह भी ज्ञात होता है कि 'कण्ह' या कण्हड' का पूरा और शुद्ध नाम 'कृष्णादित्य' था।

उक्त विवरण पर से जमुना-तटवर्ती 'चंदवाड' नगर के चौहान राजवंश व तत्स्थानीय एक लंबेचू कुल का परम्परागत सम्बन्ध इस प्रकार स्पष्ट होता है—

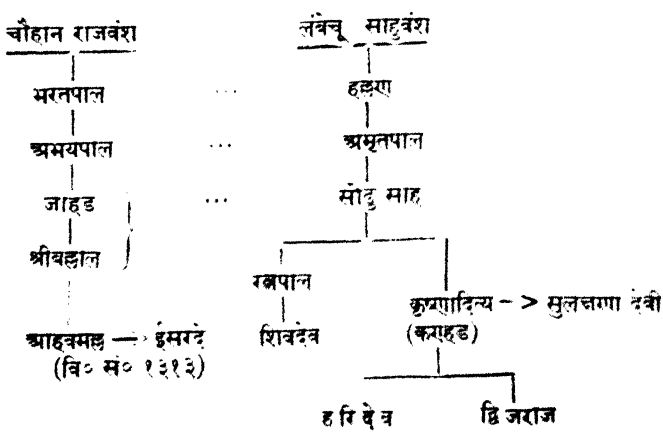

४ रायवहिय और चन्दवाड नगर

ऊपर कह आये हैं कि कवि लक्ष्मण रायवहिय नगर के निवासी थे जहाँ चौहान वंशी राजा का राज्य था। सामान्य खोज से मालूम हुआ है कि आगरा फोर्ट से बांदीकुई जानेवाली रेलवे पर एक रायभा (Raibha) नाम का स्टेशन है। यह जमना के उत्तर तट पर ही है। इसी का प्राचीन नाम संभवतः रायभद्र या रायभद्री होगा जो रायवहिय में परिवर्तित होकर अब रायभा हो गया है।

चंदवाड के सम्बन्ध में मेरे सुहृदवर पं० नाथूरामजी प्रेमी ने सूचित किया कि गुजराती में पं जयविजय कृत संमेत-शिखर-तीर्थमाला नाम की एक पुस्तक है जो प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, प्रथम भाग में छपी हुई है। इसमें 'चंदवाडि' का उल्लेख आया है जो फीरोजाबाद (जिला आगरा) के समीप बतलाया गया है और कहा गया है कि वहां से सौरीपुर क्षेत्र तीन कोस पर है। यह पुस्तक सं० १६६४ की बनी हुई कही गई है। इसी तीर्थमाला-संग्रह में सौभाग्यविजय-कृत 'तीर्थमाला' संवत १७५० की बनी हुई छपी है, उसकी पहली ढाल में लिखा है—

देहरा सरना देव जुहारी। फीरोजाबाद आया सुखकारी।
तिहां थी दक्षिण दिशि सुविचारी। गाउ एक भूमि सुखकारी।
चंदवाडि मांहि सुखदाता। चन्द्रप्रभु वन्दो विख्याता।
स्फटिक रतन नी मूरति सोहें। भविजनना दीठां मन मोहें।
ते वन्दी फीरोजाबाद आव्या जाणी मन आल्हाद।

फिर उसी की बारहवीं ढाल में कहा है—

सौरीपुर रलियामणो जनम्या नेमि जिणंद।
यमुना तटिनी ने तटे पूज्यां होई अणंद॥
सौरीपुर उत्तर दिसें जमुना तटिनी पार।
चन्दनवाडी नाम कहे तिहां प्रतिमा छे अपार॥

इससे स्पष्ट है कि चंदवाड नाम का एक प्राचीन जैन तीर्थक्षेत्र जमना के तट पर फीरोजाबाद के निकट रहा है। जब मैं इसी की और भी जांच खोज कर रहा था तभी २२ सितम्बर, १९३८ के जैन सन्देश में मैंने पढ़ा—

चन्दवार (फीरोजाबाद) का मेला

....."यह चन्दवार क्षेत्र बहुत प्राचीन है। यहां पर ५१ प्रतिष्ठाएँ हो चुकी हैं।

इस प्राचीन क्षेत्र का अभी जीर्णोद्धार हो रहा है। फीरोजाबाद के श्री १००८ चन्द्रप्रभु जी की अतिशय मूर्ति इसी क्षेत्र की जमुना नदी से निकली है। और भी प्रतिमायें समय-समय पर निकलती रहती हैं।"

इससे स्पष्ट हो गया कि उक्त उल्लेखों की चंदवाडी यही चन्द्रवार है, और निस्सन्देह यही प्रस्तुत ग्रन्थ का चंदवाड नगर है।

५. कवि तथा काव्य-परिचय व रचना-काल

ऊपर ग्रन्थ-रचना-विवरण में कह आये हैं कि इस ग्रन्थ के कर्ता 'लक्खण' (लक्ष्मण) कवि हैं, और वे जमुना नदी के तटवर्ती 'रायवद्दिय' नगर के निवासी थे। सन्धि पुष्पिकाओं तथा अन्तिम प्रशस्ति में उन्होंने अपने पिता का नाम 'साहुल' और माता का 'जइता' प्रकट किया है और यह भी कहा है कि उनका कुल 'जायस' था, अर्थात उनके पूर्वज जायस नगर से आये थे और इस लिये वे जायसवाल या जैसवाल थे।

अन्तिम प्रशस्ति में कवि ने अपनी रचना का प्रमाण आदि भी स्पष्टतः बतला दिया है। इस काव्य में भिन्न-भिन्न प्रकार के २०६ पद्धडिया छंद हैं जिनकी ३२ अक्षरी कुल ग्रन्थ-संख्या ३४०० है, तथा बड़े बड़े आठ सर्ग हैं। इसकी रचना में कवि को क्रम-क्रम से नौ मास लगे, और ग्रन्थ विक्रम संवत १३१३ कार्तिक कृष्ण ७, दिन गुरुवार को, अष्टम अर्थात पुष्य नक्षत्र और 'साहिज्ज' योग में समाप्त हुआ। इस प्रकार यह ईस्वी सन १२५७ की रचना है।

ग्रंथ का विषय अणुव्रतों अर्थात् गृहस्थ धर्म का वर्णन है जिसका पूर्ण परिचय अगले लेख में कराया जायगा।

ऊपर के समस्त वृत्तान्त के आधारभूत अवतरण अनुवाद-सहित परिशिष्टों में देखिये।

परिशिष्ट १

अणुवय-रयण-पईव

प्रारम्भ—

णमूण जिणे सिद्ध आयरिए पाढए य पव्वइदे ।
अणुवय-रयण-पईवं सत्थं वुच्छे णिसामेह ॥

× × ×

इह जउणा-णइ-उत्तर-तडत्थ महु णयरि रायवड्ढिअ पसत्थ ।
धण-कण-कंचण-वण-सरि-समिद्ध दाणुग्गणयकर-जण-रिद्धिरिद्ध ।
किम्मीर-कम्म-णिम्मिय रवण्ण सट्टल्ल सतोरण विविह-वण्ण ।
पंडुर-पायारुण्णइ समेय जहि सहहि णिरंतर सिरिनिकेय ।
चउहट्ट चच्चरुद्दाम जत्थ मग्गण-गण-कोलाहल-समत्थ ।
जहि विवणे विवणे घण कुप्पभंड जहि कसिअहि णिच्च पिसंडि खंड ।
णिच्चिच्च-दाण-संमाण-सोह जहि वसहि महायण सुद्धबोह ।
ववहार चार सिरि सुद्ध लोय विहरहि पसण्ण चउवण्ण लोय ।
जहि कणयचूड-मंडण-विसेस सिंगार-सार-कय-निरवसेस ।
सोहग्ग-लग्ग-जिण-धम्म-सील माणिणि-णिय-पइ-वय-वहण-लील ।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार करके अणुव्रत-रत्न-प्रदीप शास्त्र की व्याख्या करता हूं, सुनो।

× × ×

यहां जमुना नदी के उत्तर तट पर स्थित एक 'राजवड्ढी' नाम की प्रशस्त महानगरी है। वह धन, कन, कांचन, वन, सरित् से समृद्ध है, दान में ऊँचा हाथ करनेवाले जनों की ऋद्धि से सम्पन्न है, पत्थरों काम से रची हुई, रमणीक, अट्टालिकाओं और तोरणों सहित विविध-वर्ण है, सफेद और ऊँचे उसके प्राकार हैं, वहाँ निरंतर श्रीनिकेत शोभायमान हैं। बड़े बड़े चौहट्ट और चौराहे वहां याचक-गणों के कोलाहल से भरे हैं, जहां दूकान-दूकान में बहुत से काँसे पीतल आदि के भांड हैं, जहाँ नित्य सुवर्ण-खण्ड कसे जाते हैं। जहाँ नित्य इच्छादान सम्मान से सुशोभित समझदार महाजन बसते हैं। व्यवहार, में आचार में शुद्ध दृष्टि रखने वाले चारों वर्णों के लोग जहां प्रसन्नता से विहार करते हैं, जहां सुवर्ण के खूब चूड़ा अलंकार पहने, पूरा-पूरा शृङ्गार किये, सौभाग्य में लीन, जिन-धर्म के अनुसार शील पालने-वाली महिलायें अपने पतिव्रत-धर्म को आनन्द से धारण करती हैं।

जहि पराण-पऊरिय-पराण-साल णायर-णरेहि भूसिय विसाल ।
थिय जण (जिण) बिंबुज्जल जणिय-सम्म कूडग्ग-धयावलि-रुद्ध-घम्म ।
चउसालुण्णय-तोरण-सहार जहि सहहि सेय सोहण विहार ।
जहि दविणंगण बहि-पेम-त्तित्त लावण्ण-पुराण-धण-लोल-चित्त ।
जहि चरड चाड कुसुमाल भेड दुज्जण सखुद्द खल पिसुण पड ।
ण वियंभहि कहि मि न धणविहीण दविणड्ढ णिहिल णर धम्मलीण ।
पेम्माणुरत्त परिगलिय-गव्व जहि वसहि वियक्खण मणुव सव्व ।
वावार सव्व जहि सहहि णिच्च कणयंबर-भूसिय राय-भिच्च ।
तंबोल-रंग-रंगिय-धरग्ग जहि रेहहि सारुण सयल मग्ग ।
तहि णरवइ आहवमल्ल पउ दारिद्द-समुद्द रण-सेउ ।

घत्ता—उव्वासिय-पर मंडलु दंसिय-मंडलु कास-कुसुम-संकास-जसु ।
छल-कुल-बल-सामत्थें णीइ-णयत्थें कवणु राउ उवमियइ तसु ॥ २ ॥

णिय-कुल-कइरव-वण-सिय-पयंगु गुण रयणाहरण-विहूसियंगु ।
अवराह-वलाहय-पलय-पवणु महु-माग-गण-पडिदिण्ण-तवणु ।

जहाँ प्राज्ञ पुरुषों से भरी हुई विशाल पुण्यशाला नागरिक नरों से विभूषित है, वहाँ जिन-बिम्बों से उज्ज्वल, सुख उत्पन्न करनेवाले, मन्दिरों के शिखर स्थित थे जो अपनी ध्वजावलि से सूर्य के आतप को रोक रहे हैं। जहाँ ऊँची चतुःशालायें तोरण और हारों से संयुक्त हैं और श्वेत रमणीक विहार शोभायमान हो रहे हैं। जहाँ लावण्यपूर्ण, धन-लोलचित्त द्रविणांगनाएँ (वारांगनाएँ) बाहिरी प्रेम में लिप्त हैं। जहाँ लम्पट, कपटी, चोर, भीरु, दुर्जन, क्षुद्र, खल, पिशुन, भांड कहीं दिखाई नहीं देते, न कोई धन-विहीन है, सब लोग धनी और धर्म में लीन हैं। जहाँ सब मनुष्य प्रेम में अनुरक्त, गर्वरहित और विचक्षण बसते हैं। जहाँ राजा के नौकर नित्य सोने के जरीदार कपड़ों से भूषित सब कारबार करते हैं। जहाँ धराग्र ताम्बूल-रंग से रंगे होने के कारण सब मार्ग लाल वर्ण के शोभायमान हो रहे हैं। वहाँ के राजा आहवमल्लदेव हैं जो दारिद्र्यरूपी समुद्र से तारने के लिये सेतु-समान हैं, जो शत्रु-मण्डल को वीरान करनेवाले और अपने मण्डल को प्रकट करनेवाले हैं, जिनका यश काश के फूल सदृश धवल है। छल, कुल, बल और सामर्थ्य में, नीति और नय के अर्थ में कौन राजा से उसकी उपमा हो सकती है? अपने कुलरूपी कुमुदिनी-वन के लिये चन्द्रमा के समान हैं, गुणरूपी रत्नों के आभरणों से उनका अंग विभूषित है, अपराधरूपी मेघों के लिये वे प्रलय-पवन हैं, बड़े बड़े मागध-गणों को जिन्होंने तपनीय अर्थात् सुवर्ण का दान दिया है,

दुव्वसण-सोस-णासण-पवीणु किउ अखलिय-सजस मयंकु सीणु ।
पंचंग-मंत-वियरण-पवीणु —
माणिणि-मण-मोहणु मयरकेउ णिरुवम-अविरल-गुण-मणि-णिकेउ ।
रिउ-राय-उरत्थल-दिण्ण-हीरु विसुमुरणाय-समरे भिडंत वीरु ।
खग्गग्गि डहिय-पर-चक्क-वंसु विवरीय-बोह-माया-विहंसु ।
अतुलिय-बल खल-कुल-पलय-कालु पहु-पट्टालंकिय विउल-भालु ।
सत्तंग-रज्ज-धुर-दिण्णखंधु संमाण-दाण-पोसिय-सबन्धु ।
णिय-परियण-मण-मीमत्सण-दच्छु परिवसिय-पयासिय-केर कच्छु ।
करवाल-पट्टि-विप्फुरिय-जीहु रिउ-दंड-चंड-सुंडाल-सीहु ।
अइ-विसम-साहसुद्दाम-धामु चउसायरंत-पायडिय-णामु ।
णाणा-लक्खणा-लक्खिवय-सरीरु सोमुज्जव (ल) सामुद्दय-गहीरु ।
दुप्पिच्छ-मिच्छ-रण-रंग-मल्लु हम्मीर-वीर-मण-नट्ट-सल्लु ।
चउहाण-वंस-तामरस-भाणु मुणियइं न जासु भुय-बल-पमाणु ।
चुलसीदि-खंड-विण्णाण-कोसु छत्तीसाउह (प) यडण-समोसु ।

वे दुर्व्यसनरूपी रोग को नाश करने में प्रवीण हैं। उन्होंने अपने अस्खलित यश से चन्द्रमा को हीन कर दिया है। वे पंचांग मंत्र के विचार में प्रवीण हैं, मानिनी स्त्रियों के मन को मोहने में कामदेव ही हैं, और निरुपम, अविरल गुणरूपी मणियों के निकेत हैं। उन्होंने रिपु राजाओं के उरस्थल में चोट दी है। वे बड़े विषम समर में भिड़ने वाले वीर हैं। अपने खड्ग के अग्रभाग से उन्होंने शत्रु के चक्र (राजमण्डल) और वंश को ढा दिया है। वे विपरीत बोध (मिथ्यात्व) और माया के विध्वंसक हैं। वे अतुलित बलशाली हैं, खलों के कुल के प्रलयकाल हैं, उनका विपुल भाल राजपट्ट से अलंकृत है। सप्तांग राज्य के धुरे को सम्हालने में उन्होंने अपना कंधा दिया है, और सम्मान दान से अपने बंधुओं का पोषण किया है। अपने परिजनों के मन को मीमांसा करने (समझने) में वे दक्ष हैं। पड़ोसियों तथा प्रत्याश्रितों के कक्ष अर्थात् आश्रयदाता हैं। उनकी चौड़ी तलवार जीभ सी लपलपाती है, वे रिपु की सेना-रूपी प्रचंड सूंडवाले मत्त हाथी को सिंह के समान हैं। वे बहुत विकट साहस के उद्दाम स्तम्भ हैं। उनका नाम चारों समुद्रों के अन्त तक प्रकट है। उनका शरीर नाना लक्षणों से संयुक्त है। वे चन्द्रमा के समान ऋजु (उज्ज्वल) और समुद्र के समान गंभीर हैं। दुष्प्रेक्ष्य से युद्ध करने में वे मल्ल हैं, उन्होंने हम्मीर वीर के मन के शूल को नष्ट किया है। चौहान-वंशरूपी कमल के वे सूर्य हैं, जिनके भुजबल का प्रमाण जाना नहीं जाता। वे चौरासी खंड विज्ञान (कलाओं) के भाण्डार और छत्तीस आयुध चलाने में कुशल हैं।

साहण-समुद्दु बहु रिद्धि-रिद्धु अरि-राय-विसहं संकरु-पसिद्धु ।
घत्ता—पालिय-खत्तिय-सासणु परबल-तासणु ताण मंडल-उव्वासणु ।
महु-जस-पसर-पयासणु णव-जलहरसणु दुण्णय-वित्ति-पवासणु ॥३॥

तहो पट्ट-महादेवी पसिद्ध ईसरदे पणयणि पणय-विद्ध ।
णिहिलंतेउर-मज्झप पहाण णिय-पइ-मण-पेसण-सावहाण ।
सज्जण-मण-कप्प-महीय-साह कंकण-केऊरंकिय-सुबाह ।
छण-ससि-परिसर-संपुण्ण-वयण मुक्क-मल कमल-दल-सरल-णयण ।
आसा-संधुर-गइ-गमण-लील बंदियण-मणासा-दाण-सील ।
परिवार-भार-धुर-धरण-सत्त मोयइ अंतरदल-ललिय-गत्त ।
छह दंसण-चित्तासा-विसाम चउ-सायरंत-विक्खाय-णाम ।
अहमल्ल-राय-पय-भत्ति-जुत्त अवगमिय-णिहिल-विण्णाण-सुत्त ।
णिय-णंदणाहं चिंतामणीव णिय-धवलगिह-सरहंसिणीव ।
परियाणिय-करण-विलास-कज्ज रूवेण जित्त-सुत्ताम-भज्ज ।
गंगा-तरंग-कल्लोल-माल समकित्ति-भरिय-ककहंतराल ।

साधनों (अस्त्र-शास्त्रादि) के समुद्र और बहुत ऋद्धि से समृद्ध वे शत्रुराजा-रूपी वृषभों के शंकर हैं, अथवा विषों को पी जानेवाले शंकर प्रसिद्ध हैं। वे क्षत्रिय-शासन को पालनेवाले, शत्रु-बल को त्रास देनेवाले और उनके मंडल को उजाड़ करनेवाले, महान यश के फैलाने वाले, नवीन जल के समान हर्षकारी और दुर्नीति वृत्ति को दूर करनेवाले हैं।

उनकी पट्ट महादेवी 'ईसरदे' प्रसिद्ध है जो उनकी स्नेहमयी प्रणयिनी हैं। वे समस्त अंतःपुर में प्रधान और अपने पति को प्रसन्न रखने में सावधान हैं। वे सज्जनों के मन के लिये कल्पवृक्ष हैं। वे अपनी सुन्दर भुजाओं को कंकण और केयूरों से सजाये रहती हैं। उनका प्रफुल्ल मुख पूर्णिमा के चंद्रबिंब के समान है और नयन निर्मल कमलदल के सदृश सरल हैं। दिग्गज हाथियों के समान उनकी सुन्दर गति है। बंदीजनों के मन की आशा को पूरी करने में वे दानशील हैं, वे अपने परिवार के कार्यभार को सम्हालने में आसक्त रहती हैं यद्यपि उनका शरीर केले के भीतरी दल के समान सुकोमल है। वे छहों दर्शनों के अनुयायियों की मनोकामना पूर्ण करती थीं। चारों सागरों के अन्त तक उनका नाम विख्यात है। वे आहवमल्ल राजा के चरणों की भक्ति में लवलीन हैं। उन्होंने समस्त विज्ञान के सूत्रों का अध्ययन किया है। वे अपने पुत्रों के लिये चिंतामणि के समान और अपने धवलगृहरूपी सरोवर में हंसिनी के समान हैं। वे इन्द्रियसुख के कार्य (कामकला) को भी अच्छी तरह जानती हैं। रूप में उन्होंने इन्द्राणी को भी जीत लिया है। गंगा की तरंगों की कल्लोल-माला के समान अपनी कीर्ति से उन्होंने समस्त दिशाओं को भर दिया है।

कलयंठि-कंठ-कल-महुर-वाणि गुण-गरुव-रयण-उप्पत्ति-खाणि ।
अरिराय-विसह संकरहो सिट्ठ सोहग्ग-लग्ग गोरि व्व दिट्ठ ।

घत्ता—तहिं पुरे कइ-कुल-मंडणु दुण्णय-खंडणु मिच्छत्तत्ति ण जित्तउ ।
सुपसिद्धउ कइ लक्खणु बोह-वियक्खणु परमय-राय ण छित्तउ ॥४॥

पक्खहि दिणे सुकइ पसण्ण-चित्तु णिसि सेज्जायले झायइ सइत्तु ।
महु बोह-रयणु घडगरुय-सरिसु बुहयण-भव्वयणहं जणिय-हरिसु ।
कर कंठ-कण्णे पहिरणु असक्कु णर-हर-मइ तेण सजोरु थक्कु ।
महु सुकइत्तणु विज्जा-विलासु बुहयण-मुह-मंडणु साहिलासु ।
आणंद-लयाहरु अमियरोइ ण वि याणइ सुणइ ण इत्थ को वि ।
मइं असुह-कम्म परिणइ सहाउ उग्गमिउ सहिव्वउ दुह-विहाउ ।
एमेव कइत्तण-गुण-विसेसु परिफलइ णिच्च महु णिरवसेसु ।
केणुवाएं अज्जियइ धम्मु किज्जइ उवाउ इह भुवणे रम्मु ।
पाइयइ जम्म-माणिक्कु जेण सहसा संपइ सुद्धें मणेण ।
धम्मेण रहिउ नर-जम्मु वंझु इय चिंताउलु कइ-चित्तु रंझु ।

उनकी वाणी कोकिला के कंठ के समान मीठी है। अच्छे गुणरूपी रत्नों की तो वे खानि ही हैं। वे शत्रु राजाओं को असह्य शंकर की गौरी के समान श्रेष्ठ और सौभाग्यशील दिखाई देती हैं।

उसी नगर में सुप्रसिद्ध कवि लक्ष्मण भी हैं जो कवि-कुल के मण्डन और दुर्नय-खण्डन हैं, मिथ्यात्व से जीते नहीं गये, ज्ञान में विचक्षण और जिन्हें पर-मत के राग ने छुआ भी नहीं है।

एक दिन वे सुकवि प्रसन्नचित्त से शय्या पर लेटे हुए विचार करने लगे—मेरा ज्ञान-रत्न बड़े घड़े के सदृश भारी तथा विद्वानों और भव्यजनों को हर्ष उत्पन्न करनेवाला है। वह हस्त कंठ व कर्ण में पहना नहीं जा सकता। उसकी जोड़ में नर और हर की मति स्तब्ध रह जाती है।(?) मेरा सुकवित्व और विद्या-विलास बुधजनों के मुख के मण्डन होने की अभिलाषा रखता है, वह आनन्द का लतागृह और अमित कान्तिवाला है। पर उसे अभी यहां कोई जानता सुनता नहीं है। मैंने अशुभ कर्मों में अपनी स्वभाव-परिणति लगा रखी है जिसके उदय से मुझे दुःखविभाव सहना पड़ेगा। इस तरह मेरा यह विशेष कवित्वगुण नित्य सब वहा जा रहा है। किस उपाय से धर्मार्जन किया जाय? इस भुवन में कोई सुन्दर उपाय करना चाहिये, जिससे अब जल्दी शुद्ध मन से, धर्मरूपी माणिक्य प्राप्त हो। धर्म से रहित नरजन्म निष्फल है।" इस प्रकार कवि अपने चित्त में चिन्ताकुल हुए।

किं कुणमि पत्थ पयडमि उवाउ जें लब्भइ पुण्ण-पहाव-राउ ।
मणे झाइ झाणु सुह-वेल्लि-कंदु तहि दल-णिसाए णिद्दलिवि वंदु ।
अइ-णिब्भर-णिद्दाणंद-भुत्तु संवेइय-मणु जा सिज्ज सुत्तु ।
ता सुइणंतरि सुसमइ पसत्त जिण-सासण-जक्खिणि तम्मि पत्त ।
वाहरिउ ताइं हे सुह-सहाव कइ-कुल-तिलयामल गलिय-गाव ।
जिण-धम्म-रसायण-पाण-तित्तु तुहुं धण्णाउ परिसु जासु चित्तु ।
चिंता-किलेसु जं तुम्ह वप्प तं तज्जिवि सज्जहि मण-वियप्प ।
अहमल्ल-राय-महमंति सुद्ध जिण-सासण-परिणइ गुण-पवद्धु ।
कण्हडु कुल-कइरव-सेय-भाणु पहुणा समज्ज सव्वहं पहाणु ।
सम्मत्तवंतु आसण्ण-भव्वु सावय-वय-पालणु गलिय-गव्वु ।
घत्ता—सो तुम्हहं मण-संसउ जाणिय-दुहंसउ णिण्णासिहइ समुच्चउ ।
सुपयासिहइ कइत्तणु तुम्ह पहुत्तणु जिण-धम्मुज्जलु उच्चउ ॥३॥
इउ मुणेवि मणासि णिद्दलहि तंदु इह कज्जे म सज्जण होहि मंदु ।
तहो णामें विरयहि पयडु भव्वु सावय-वय-विहि-वित्थरण-कव्वु ।
इउ पभणेवि भंजिवि मण-महत्ति गय अंबादेवी णियय थत्ति ।
परिगलिय-विहावरि णिसि बुद्धु कइ लक्खवणु संजम-सिरि-विसुद्धु ।

"क्या करूँ, यहाँ कौन सा उपाय प्रकट करूँ जिससे पुण्य-प्रभाव-राग का लाभ हो।" ऐसा सुखरूपी वल्ली की जड़-समान मन में ध्यान ध्याते हुए रात्रि के पश्चिम भाग में निर्द्वन्द्व होकर अपनी शय्या पर जब वे गहरी नींद में सो गये, तब स्वप्न में सद्धर्म में प्रसक्त रहनेवाली जिन-शासन यक्षिणी वहां आई और उन्होंने कहा—'हे, सुख-स्वभाव, कवि-कुल के निर्मल तिलक, गर्व-रहित, जिन-धर्म-रसायण के पान से तृप्त, तुम धन्य हो जिनका ऐसा चित्त हुआ। तुम्हें जो चिन्ता-क्लेश हुआ है, उसको त्यागकर मन में संकल्प कर लो। आहवमल्ल राजा के महामंत्री शुद्ध जिन-शासन में परिणति रखनेवाले, गुणों से भरपूर, कण्हड, अपने कुल-रूपी कैरव के चन्द्रमा, जिन्हें राजा ने सब में प्रधान बनाया है, जो सम्यक्त्ववान, आसन्न-भव्य, श्रावक के व्रतों को पालनेवाले और गर्वरहित हैं, वे तुम्हारे इस दुविधाजनक मन के संशय को सर्वथा नाश करेंगे और तुम्हारे जैन धर्मोज्ज्वल, उच्च कविता के प्रभाव को अच्छी तरह प्रकाशित करेंगे। यह जानकर तुम मन की तन्द्रा को दूर करो। हे सज्जन, इस कार्य में अब मन्द मत होओ। उनके नाम से श्रावक-विधि का विस्तार बतलानेवाला एक उत्तम भव्य काव्य रचो।' ऐसा कहकर और उनके मन की चिन्ता को मिटा कर अंबादेवी अपने स्थान को गई। रात्रि बीतने पर संयम-रूपी लक्ष्मी से विशुद्ध कवि लक्ष्मण जागे।

जिणु वंदिवि अज्जिवि धम्म-रयणु णिज्झायइ मणे सालसिय-णयणु ।
मुहु मुहु भावइ जं रयणि वित्तु अंबादेविए पभणिउ पवित्तु ।
तमलीउ ण हवइ कयावि सुण्णु मह मण-चिंतासा-धवणु पुण्णु ।
गंजोल्लिय-मणु लक्खणु वहूउ सोयरिउ कव्व-करणाणरूउ ।
णिय-घरे पत्तउ वण-गन्ध-हत्थि मयमत्तु फुरिय-मुहरुह-गभत्थि ।
वसि हुयउ स-सर दसदिसि भरंतु भणु को ण पडिच्छइ तहो तुरंतु ।
सुपसण्ण-राउ घरइं तवेइ भणु कवणु दुवार-कवाड देइ ।
अवमिय वयणालिंगा चातुरंग धण-कण-कंचण-संपुण्ण चंग ।
घर समुह एंत पेच्छिवि सवारु भणु कवणु वप्प झंपइ दुवारु ।
चिंतामणि-हाडय-निवड-जडिउ पज्जहइ कवणु सइं हत्थ-चडिउ ।
घर-रंगुप्पण्णउ कप्पकप्पु जले कवणु न सिंचइ जणिय-सुक्खु ।
सयमेव पत्त घरु कामधेणु पज्जहइ कवणु कय-सोक्खसेणु ।
चारण-मुणि तेरं जित्त-भवइ गयणाउ पत्त किर को ण णवइ ।
पेऊस-पिंड करे पत्तु भव्वु को मुयइ निवे (इय)-जीवियव्वु ।

वे जिनदेव की वंदना और धर्मरत्न का अर्जन करके, शिथिल नयन होकर, मन में ध्यान करने लगे। रात्रि में जो वृत्तान्त हुआ था, उसकी बार-बार भावना करने लगे—'अंबादेवी ने जो पवित्र बात कही है वह कदापि असत्य व शून्य नहीं हो सकती, वह मेरी चित्त की आशा को पूरी करनेवाली पुण्य बात है।' लक्ष्मण मन में बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने काव्य-रचना करने की ठान ली। यदि मदमत्त, वन का गंध हाथी, अपने दांतों की किरणों से चमकता हुआ और अपनी चिक्कार से दसों दिशाओं को भर देनेवाला वश में हो जाय और अपने घर आवे तो कहो उसे कौन तुरंत नहीं चाहेगा? सुप्रसन्न अनुराग से यदि वह तुम्हारे घर आवे तो कहो कौन द्वार के कपाट लगा देगा। जिसने अपने बाणों की वर्षा से चतुरंग सेना को घायल किया है, जो धन, कन, कांचन से सम्पूर्ण और चंगा है ऐसे सवार को अपने घर के सामने आते देख, कहो भला कौन द्वार बंद कर देगा? सोने में अच्छी तरह जड़ा हुआ चिन्तामणि यदि हाथ चढ़ जाय तो कौन उसे छोड़ देगा? घर के आंगन में यदि कल्पवृक्ष उत्पन्न हो जाय तो उस सुख देनेवाले वृक्ष को कौन जल से नहीं सींचेगा? स्वयमेव घर आई हुई, सुख की सेना को उत्पन्न करनेवाली कामधेनु को कौन छोड़ देगा? अपने तेज से भापति (सूर्य) को भी जीतनेवाले चारणमुनि यदि आकाश से आ जायं तो उन्हें कौन नमस्कार नहीं करेगा? जीवनदान देनेवाला भव्य पीयूष-पिंड हाथ आ जाय तो उसे कौन छोड़ेगा?

महबिज्जक्खर-गुण-मणि-णिहाणु पवयण-वयणामय-पय-पहाणु ।
घर-धम्मिय-णर-मण-(बो) हणत्थु घरकइणा विरइउ परमु सत्थु ।
एमेव लद्धु मह-पुण्ण-भवणु अवगण्णइ णरु धीमंतु कवणु ।
घत्ता—इह महियले सो धण्णउ, पुण्ण-पउण्णउ, जसु णामें सुपसाहमि ।
चिंतिउ लक्खण-कइणा, सोहण-मइणा, कव्व-रयणु णिव्वाहमि ॥ ५ ॥

इह चंदवाडु जमुणा-तडत्थु दंसिय-विसेस गुण-विविह-वत्थु ।
चउहट्ट-हट्ट-घर-सिरि-समिद्धु चउवण्णासिय-जण-रिद्धि-रिद्धु ।
भूवालु तत्थ सिरि भरहवालु णिय-देस-गाम-णर-रक्खवालु ।
तहिं-लंबकंचु-कुल-गयण-भाणु हल्लणु पुरवइ सव्वह पहाणु ।
नरनाह-सहा-मंडणु जणिट्ठु जिण-सासण-परिणइ पुण्ण-सिट्ठु ।
तहो अमयवालु तणुरुहव हूउ वणि-पट्ट किय-भालयल-रूउ ।
णरवइ-समज्ज-सर रायहंसु महमंत-धविय-चउहाण-वंसु ।
सो अमयवाल-णरणाह-रज्जे सुपहाणु राय-वावार-कज्जे ।
जिण-भवणु करायउ तें समेउ केयावलि-झंपिय-तरणि-तेउ ।
कूडावीडमाइण्ण वोमु-कलहोय कलस-कलविल्लि-सोमु ।

इसी प्रकार उत्तम कवि ने महाबीजाक्षर-रूपी गुणों के मणियों का निधान शास्त्र वचनामृत के पदों में प्रधान, गृहस्थ धर्मवाले मनुष्यों के सम्बोधनार्थ यह परम शास्त्र रचा। इस प्रकार महापुण्य भाव का जो लाभ हुआ उसकी कौन बुद्धिमान अवगणना करेगा ?

इस महीतल पर वह पुण्यवान धन्य है जिसके नाम से मैं इसे सुप्रसिद्ध करता हूं, और शुभमति कवि लक्ष्मण-द्वारा सोचे हुए इस काव्य-रत्न को निबाहता हूं ॥५॥

यहां जमना के तट पर स्थित 'चंदवाड' है, जहां उत्तम प्रकार की विविध वस्तुएं दिखाई देती हैं। वह चौहट्टों, हाटों और घरों की शोभा से समृद्ध है, तथा चारों वर्णों के आश्रित जनों की ऋद्धि से समृद्ध है। वहां के भूपाल श्री 'भरतपाल' हैं जो अपने देश और ग्राम के निवासियों के रक्षक हैं। वहां 'लंबकंचु' कुल-रूपी आकाश के भानु पुरपति 'हल्लणु' सब में प्रधान हुए। वे नरनाथ की सभा के मंडन, लोगों को प्यारे और जिन-शासन में परिणति के पुण्य से शिष्ट थे। उनके पुत्र 'अमृतपाल' हुए जिनका भालतल वणिक् पट्ट से विभूषित हुआ। वे नरपति के समाजरूपी सरोवर के राजहंस थे और उन्होंने महामंत्रित्व-द्वारा चौहान वंश को उज्ज्वल किया था। वे 'अभयपाल' राजा के राज्य में राज-व्यापार-कार्य में प्रधान थे। उन्होंने एक जैन मन्दिर भक्तिसहित निर्माण कराया जिसने अपनी ध्वजावली से सूर्य के तेज को ढक दिया। वह अपने कूट शिखर के अग्रभाग से आकाश को छूता था, और सुवर्ण के कलश से बड़ा सुन्दर और सौम्य था।

चउसालउ तोरणु सिरि जणंतु पड-मंडय-किंकिणि-रणा-रणंतु ।
देहरुहु तासु सिरि साहु सोढ जाहड-णरिंद-महमंत-पोढु ।
घत्ता—संभूयउ तहो रायहो, लच्छि सहायहो, पढमु जण-मणाणंदणु ।
सिरि बल्लालु णरेसरु, रूवं जिय-सरु सुद्धासउ महणंदणु ॥७॥
जो साहु सोढु तहि पुर-पहाणु जण-मण-पोसणु गुण-मणि-णिहाणु ।
तहो पढमु पुत्तु सिरि रयणपालु बीयउ कण्हडु अद्धिंदु-भालु ।
सो सुपसिद्धउ मल्हा-तणूउ तस्साणुमणा ज्जिउ सुद्धरूउ ।(?)
उद्धरिय जिणालय-धम्म-भारु जिण-सासण-परिणय-चरिय-चारु ।
गंधोवएण दिणे दिणे पवित्तु मिच्छत्त-वसण-वासण-विरत्तु
अरिराय-गाइ-गोवाल-रज्ज बल्लालएव-णरवइं समज्ज ।
सव्वहं सव्वेसरु रयण-साहु थावरइं णिरग्गलु चित्त-गाहु ।
सिवदेउ तासु हुउ पढमु सूणु सिरि दाण-(वंतु) णं गंध-थूणु ।
परियाणइ णिहिल कला-कलाउ विण्णाण-विसेसुज्जल-सहाउ ।
महु-पंडा-पंडिउ वि(उ)-सियासु अवगमिय-णिहिल-विज्जा-विलासु ।
पट्टाहियारि संपुण्ण-गत्तु वियसिय-सरोय-संकास-वत्तु ।

उसके चतुःशाल और तोरण की बड़ी शोभा थी, वह पट-मंडव की घंटरियों से झन-झनाता था। उनके पुत्र श्रीसाहु 'सोढ' हुए जो 'जाहड' नरेन्द्र के प्रधान मंत्री हुए। इस लक्ष्मीवान राजा का प्रथम नन्दन लोगों के मन को आनन्द देनेवाला श्रीबल्लाल नरेश्वर हुआ जिसने अपने रूप से कामदेव को भी जीत लिया, जो शुद्धाशय थे।

जो साहु 'सोढ' वहां पुर-प्रधान, जन-मन-पोषण और गुण-मणि-निधान थे उनके प्रथम पुत्र श्री 'रत्नपाल' हुए और दूसरे 'कण्हड' जिनका भाल अर्धचन्द्र के समान था। ये (कण्हड) 'मल्हा' के पुत्र खूब प्रसिद्ध हुए। × × × ×
उन्होंने जिनालयों के उद्धार का धर्मभार धारण किया। उनका चारित्र सुन्दर और जिन-शासन के अनुसार था। वे प्रतिदिन गन्धोदक से अपने को पवित्र करते थे और मिथ्यात्व तथा व्यसन की वासना से विरक्त रहते थे। उन्हें बल्लालदेव नरपति ने शत्रु राजा-रूपी गौओं के गोपालराज बनाया था। रतन साहु 'सर्वेसर्वा' व्यापार में निरर्गल और गंभीर-चित्त थे। उनके प्रथम पुत्र शिवदेव हुए जो गंधहस्ती के समान दानवंत थे। वे समस्त कलाओं के जानकार थे और विशेष विज्ञान से उनका स्वभाव उज्ज्वल हो गया था। विद्वानों के बीच वे बड़े बुद्धिमान् पंडित थे और समस्त विद्या विलास उन्हें प्राप्त था। वे पदाधिकारी थे, अविकलांग थे और उनका मुख विकसित कमल के समान था।

आयु-क्खए सो सिरि रयणवालु गउ सग्गालए गुण-गण-विसालु ।
तहो पच्छए हुउ सिवएव साहु पिउ-पट्टि बइट्ठउ गलिय-गाहु ।
अहमल्ल-राय-कर-विहिय-तिलउ महयणाहं महिउ गुण-गरुव-णिलउ ।
सो साहु पइट्ठिउ जणिय-सेउ सिवदेउ साहु कुल-वंस-केउ ।
घत्ता—जो कण्हडु पुव्वुत्तउ, पुण्णा प[1]उत्तउ, महि-मंडलि विक्खायउ ।
आहवमल्ल-णरिंदहु मणसाणंदहु मंतत्तणि पइभायउ ॥८॥
पिया तस्स सलक्खणा लक्खणड्ढा गुरूणं पए भत्ति काउं वियड्ढा ।
स-भत्तार-पायार-विंदाणुगामी घरारंभ वावार-संपुण्ण-कामी ।
सुहायार चारित्त-चीरंक-जुत्ता सुचेयाण गंधोदएणं पवित्ता ।
स-पासाय-कासार-सारा मराली किवा-दाण-संतोसिया वंदिणाली
पसण्णा सुवाया[2] अचंचेल-चित्ता रमा राम रम्मा मए बाल णित्ता ।(?)
खलाणं मुहंभोय-संपुण्ण-जुण्हा पुरंधी महासाहु सोढस्स सुण्हा ।
दया-वल्लरी-मेह-मुक्कंबुधारा सइत्तत्तणे सुद्ध सीयावयारा ।
जहा चंद-चूडाणुगामी भवाणी जहा सव्ववेइहि सव्वंग-वाणी ।
जहा गोत्त-णिद्दारिणो रंभ रामा रमा दाणवारिस्स संपुण्ण-कामा ।

आयु के क्षय होने पर वे रत्नपाल, गुण-गण-विशाल, स्वर्गालय को सिधारे। उनके पश्चात् शिवदेव साहु पिता के पद पर आग्रह-रहित होकर बैठे। आहवमल्ल राजा के हाथ से उनका तिलक हुआ। वे महाजनों में मान्य और महागुणों के निलय हुए। इस तरह शिवदेव साहु, अपने कुल और वंश के केतु, प्रतिष्ठित हुए और लोग उनकी सेवा करने लगे। और कण्हड, जिनका पहले उल्लेख कर आये हैं और जो पुण्य-द्वारा पवित्र और मही-मंडल में विख्यात थे, आहवमल्ल नरेन्द्र-द्वारा, मन में आनन्द-सहित, मन्त्रिपद पर प्रतिष्ठित किये गये ॥८॥

उनकी प्रिया सुलक्षणा, बड़ी लक्षणवती थीं, गुरुओं के चरणों की भक्ति करने में कुशल थीं, अपने पति के पादारविंद की अनुगामिनी और घर गृहस्थी के कार्य में पूरा मन लगानेवाली, सदाचारिणी, चारित्ररूपी वस्त्रधारण करनेवाली और चैत्यों (मूर्तियों) के गन्धोदक से पवित्र थीं। वे अपने राजमहलरूपी सरोवर की हंसिनी थीं, कृपा और दान-द्वारा वंदीजनों को संतुष्ट करती थीं। वे प्रसन्न, मधुरभाषणी, अचंचलचित्त, ...खलों के मुखरूपी कमलों के लिये पूर्ण चांदनी थीं। नगर-सेठ महासाहु सोढ की पुत्रवधू ऐसी थीं। वे दयारूपी बेल के लिये मेघ की जलवृष्टि के समान थीं और सतीत्व में शुद्ध सीता की अवतार थीं। जैसे चन्द्रचूड (शिव) की अनुगामिनी भवानी हैं, जैसे सर्वज्ञ की सर्वाङ्ग (द्वादशांग) वाणी, जैसे गोत्रभिद् (इन्द्र) की स्त्री रम्भा, दानवारि (विष्णु) की कामना पूर्ण करनेवाली रमा,

१ मूल में यउत्तउ पाठ है। २ मूल में 'सवाया' पाठ है।

जहा रोहिणी ओसहीसस्स सरणा महड्ढी सपुण्णस्स सरस्स रवणा ।
जहा सूरिणो मुत्तिवेई मणीसा किसाणस्स साहा जहा रूवमीसा ।?
जहा जाणई कोसलेसस्स सारा उज्झुणीणस्स मंदाइणी तेयतारा ।
रप कंतुणो(?) दाणिणो सुद्धकित्ती जहासण्ण-भव्वस्स सम्मत्त-वित्ती ।
घत्ता—तासु सुलक्खणा विहिय कुलक्कम अणुगामिणि तह जणमहिय ।
तहि हुव वे णंदण णयणाणंदण हरिदेउ जि दिउराउ हिया ॥ ९ ॥

सो कण्हु मयण-मुद्दावयारु अहिणाणिय-भव-भायण-वियारु ।
जिण-धम्म-रम्म-धुर-दिण्ण-खंधु पायडिय-पणय-भव्वयण-बंधु ।
अणु-गुण-सिक्खावय-रयण-कोसु उवसंतासउ परिहरिय-रोसु ।
दुव्वसण-विसय-वासण-विरत्तु णिव-मंति-विणिज्झाइय-परत्तु ।
केण वि पच्छाएं सो जि कण्हु जिण-मंदिरम्मि ठिउ चत्त-तण्हु ।
सो लक्खउ कविणा लक्खणेण जिण-समय-वियार-वियक्खणेण ।
तं कहिउ णिहिट्ठु जं रयणि* दिट्ठ सुविणंतरि अंबाएवि सिट्ठ ।
तं सुणेवि कण्हु रोमंच-कंचु संजाउ दुत्ति-रय-हिय-पवंचु ।
बहु-भत्तिए लक्खणु तेण रम्मु पुच्छियउ कण्हें सायारु धम्मु ।

जैसे औषधीश (चन्द्र) की रोहिणी नामधारिणी, पुण्यवान् की महद्धि, कामदेव की रति, सूरि की मोक्षाकांक्षिणी बुद्धि, जैसे कृशानु (अग्नि) की शाखा (ज्वाला), जैसे कोशलेश (राम) की जानकी और धुनीश (समुद्र) की उज्ज्वल मंदाकिनी, ... जैसे दानी की शुद्धकीर्ति और आसन्न-भव्य की सम्यक्त्ववृत्ति, उसी प्रकार उनकी कुलक्रम की रक्षा करनेवाली, लोक-पूज्य सुलक्षणा अनुगामिनी थी। उसके नयनों को आनन्द देनेवाले हितकारी, दो पुत्र उत्पन्न हुए—हरिदेव और द्विजराज ॥९॥

वे कण्ह मदन के रूप के अवतार और संसार के चलाने वाले विकारों के जानकार थे। उन्होंने जैनधर्म के रमणीक धुरे में अपना कंधा दिया था और वे प्रेम प्रकट करनेवाले भव्य-जनों के बंधु थे। वे अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत-रूपी रत्नों के कोश थे, उपशान्त आश्रव और रोष के त्यागी थे। वे दुर्व्यसनों और विषयों की वासना से विरक्त थे। ये राजमन्त्री परत्र (परलोक) का ध्यान रखते थे। वे कण्ह किसी पश्चात्ताप से, तृष्णा को त्याग, जिनमन्दिर में बैठे थे। वहाँ जैनधर्म के विचार में विचक्षण कवि लक्ष्मण उनसे बोले और रात्रि को स्वप्न में जो कुछ देखा था व अंबादेवी ने जो कुछ उपदेश दिया था वह सब कहा। उसे सुनकर कण्ह रोमाञ्चित हो उठे और दो तीन शब्दों में ही उनका प्रपंच (मनोमालिन्य) दूर हो गया। बहुत भक्ति से कण्ह ने लक्ष्मण कवि से रमणीय सागराधर्म पूछा।

* मूल में 'रयणु' पाठ है।

सम्मत्त-गुणट्ठ-कला-निबंध[1] तोडहि असुहासव-कम्म-बंध[2] ।
तं सुणेवि भणिउ-साहुल-सुएण जिण-चरणच्चण-पसारिय-भुएण ।
भो लंबकंचु-कुल-कमल-सूर कुल-माणव-चित्तासा-पऊर ।
जिण-समय-सत्थ-वित्थरण-दच्छ गुण-मणहारं किय-वियड-वच्छ ।
सम्मत्ताहरण-विहूसियंग सुहियण-कइरव-वण-सिय-पयंग ।
णिम्मलयर-सरयायास-साम दीवंतु-वासि णर-थुणिय-णाम ।
पवयण-वयणामय-पाण-तित्त सव्वहं भव्वयणहं धम्म-मित्त ।
मिच्छत्त-जरंहिव-ससण-मित्त णाणिय-णरिंद सहनियनिमित्त । (?)
अवराह-वलाहय-विसम-वाय वियसिय-जीवणरुह-वयण छाय ।
भय-भरियाणय-जण-रक्खवाल छण-ससि-परिसर-दल-विउल-भाल ।
संसार-सरणि-परिभमण-भीय गुरु-चरण-कुसेसय-चंचरीय ।
पोसिय-धम्माणिय-विवुह-वग्ग णाणिय-णिरुवम-णिव-णीइ-मग्ग ।
जस-पसर-भरिय-वंभंड-खंड मिच्छत्त-महीहर-कुलिस-दंड ।
तज्जिय-माया-मय-माण-डंभ महमइ-करेणु-आलाण-थंभ ।
समयाणुवेइ गुरुयण-विणीय दुत्थिय-णर-णिव्वाणावणीय ।

"हे सम्यक्त्व के आठ गुणों की कला के निबन्ध, मेरे अशुभ आश्रव कर्मों के बन्धनों को तोड़िये।" यह सुन कर, जिनचरणों की पूजा में हाथ फैलानेवाले साहुल पुत्र बोले "हे लंबकंचुक-कुल-रूपी कमल के सूर्य, अपने कुल और अन्य मनुष्यों के मन की आशा को पूरी करनेवाले, जैनधर्म और शास्त्र के विस्तार में दक्ष, गुणरूपी मणियों के हार से अपने विशाल वक्षस्थल को शोभित करनेवाले, सम्यक्त्व के आभरण से विभूषितांग, सुहृद्जन-रूपी कुमुदवन के चन्द्र, स्वच्छ निर्मल शरत्कालीन आकाश के समान श्याम, अन्य द्वीपों के वासी नरों द्वारा जिनके नाम की स्तुति की जाती है, प्रवचन (शास्त्रोपदेश) के वचनामृत के पान से तृप्त सब भव्यजनों के धर्म-मित्र, मिथ्यात्व-रूपी जीर्ण वृक्ष के लिये अग्नि, ज्ञानी राजा के सहज मित्र(?), अपराध रूपी मेघों को प्रचण्ड वायु, विकसित कमल के समान मुखकांति के धारक, भय से भरे हुए आनेवाले जनों के रक्षपाल, पूर्ण चन्द्रमण्डल के अर्धभाग समान भालयुक्त, संसार-सरणी में परिभ्रमण से भीत, गुरु के चरणकमलों के चंचरीक, धर्म के आश्रित हुए समझदार लोगों का पोषण करनेवाले, निरुपम राजनीति मार्ग के ज्ञाता यश के प्रसार से ब्रह्माण्ड-खण्ड को भर देनेवाले, मिथ्यात्व-रूपी पर्वत के वज्रदण्ड, माया, मद, मान और दम्भ के त्यागी, महामति-रूपी हस्तिनी को बांधने के स्तम्भ, समयानुवेदी, गुरुजन-विनीत, और दुःस्थित नरों के कल्पवृक्ष,

१ मूल में उकारान्त पाठ है। २ मूल में 'दीवन्तु' पाठ है।

घत्ता—तुहुं कइ-यण-मण-रंजणु, पाव-विहंजणु, गुण-गण-मणि-रयणायरु।
उछाहट्ठि अवट्ठिउ सुपयो मट्ठिउ(?) णिहिल-कला-मल-णायरु ॥ १० ॥

तुहुं धण्णु जासु परिसिउ चित्तु तिपयत्थरसुज्जलु मइ-पवित्तु।
सयणासण तंबेरम तुरंग धय छत्त चमर बाला वरंग।
धण कण कंचण घण-दविण-कोस जंपाण जाण भूसण संतोस।
घर पुर णयरायर देस गाम पट्टोल्लंबर पट्टण-समाण।
संसार-सारु पयवत्थु भावु जं जं दीसइ णाणा सहाउ।
तं तं सुहेण पावियइ सव्वु लहियइ ण कव्व माणिक्कु भव्वु।
इह दीसहि बहु बुहयण सपयण दीसहि न सुकइ जिण-समय-तण्ण।
सुण कहमि वियक्खण अइविचित्तु अइविसमु पुणब्भव-भमण-वित्तु ॥

× × × × ×

अन्तिम प्रशस्ति

सिरि लंबकंचु-कुल-कुमुय-चंदु करुणावल्ली-वण-धवण-कंदु।
जस-पसर-पऊरिय-वोम-खंडु अहियहि-विभदण-कुलिस दंडु।
अवराह-वलाहय-पलय पवणु भव्व-यण-वयण-सिरि-सयण-तवणु।
उम्मूलिय-मिच्छत्तावणीउ जिण चरणच्चण-विरयण विणीउ।

तुम कविजनों के मनोरंजन, पाप विहंजन, गुण-गण रूपी मणियों के रत्नाकर .... और समस्त कलाओं के शुद्ध ज्ञाता हो ॥१०॥ तुम धन्य हो जिनका ऐसा चित्त हुआ जो तीन पदार्थों (धर्म, अर्थ, काम) के रस से उज्ज्वल और पवित्र मति है। शयन, आसन, तंबेरम (हाथी), घोड़े, ध्वजा छत्र, चमर वरांगिणी बाला, धन, कण, कांचन, घना द्रविण-कोश, पालकी, यान, यथेच्छ भूषण, घर पुर, नगर देश, ग्राम, नगर के समान बड़े बड़े तम्बू आदि संसार में सार-रूप नाना प्रकार की जो जो वस्तुएं दीखती हैं, वे सब सुलभता से प्राप्त हो सकती हैं, पर काव्यरूपी भव्य-माणिक्य सुलभ नहीं है। यहां बहुत से प्रज्ञावान बुधजन दिखाई देते हैं, पर जैनशास्त्र का तद्ज्ञ (ज्ञाता) सुकवि दिखाई नहीं देता। हे विचक्षण, सुनो, मैं तुम से पुनर्भव में भ्रमण करने का अति विचित्र और अति विषम वृत्तान्त कहता हूं।"

श्रीलंबकंचुक-कुल-रूपी कुमुद के चन्द्र, करुणारूपी वल्ली के वन का पोषण करने वाले कंद, यश के प्रसार से आकाशखंड को प्रपूरित करनेवाले, शत्रुरूपी पर्वत के विमर्दन के लिये वज्र-दण्ड, अपराध रूपी मेघों के लिये प्रलय-पवन, भव्यजनों के मुख-रूपी कमलों के लिये सूर्य, मिथ्यात्वरूपी वृक्ष को उन्मूलित करने वाले, जिन-चरणों की पूजन करने में विनीत,

दंसण-मणि-भूसण-भूसियंगु तज्जिय-पर-सीमंतिणि-पसंगु ।
पवयण-विहाण-पयडण-समोसु णिरुवम-गुण-गण-माणिक्क-कोसु ।
सपयडि-परपयडि-सया-अणिंदु धण-दाण-धविय-वंदियण-विंदु ।
संसाराडइ-परिभमण-भीरु जिण-कव्वामय-पोसिय-सरीरु ।
गुरु-देव-पाय-पंडरिय-भत्तु विणयालंकिय-वय-सील-जुत्तु ।
महसइ लक्खण तहु पाणणाहु पुर-परिहायार-पलंब-बाहु ।
कण्हहु वणिवइ जण-सुप्पसिद्धु अहमल्ल-राय-महमंति रिद्धु ।
तहो पणय-वसेण वियक्खणेण महमइणा कइणा लक्खणेण ।
साहुलहो घरिणि जइता-सुएण सुकइत्तण गुण-विज्जाजुएण ।
जायस-कुल-गयण-दिवायरेण भणसंजमीहिं विहियायरेण ।
इह अणुवय-रयण-पईउ कव्वु विरयउ समत्ति परिहरिवि गव्वु ।

घत्ता—जिण-समय-पसिद्धहं धम्म-समिद्धहं वोहणत्थु महु सावयहं ।
इयरह महलोयहं पयडिय-मोयहं परिसेसिय-हिंसावयहं ॥१॥

मइं अमुणंते अक्खर-विसेसु न मुणमि पबंधु न छंद-लेसु ।
सद्दावसद्दु ण विहत्ति अत्थु थिट्टत्तणेण मइ रइउ सत्थु ।
दुज्जणु सज्जणु वि सहावरो वि महु मुक्खहो दोसु म लेउ को वि

सम्यग्दर्शन-रूपी मणियों के भूषणों से भूषितांग, परस्त्री-प्रसंग के त्यागी, प्रवचन (शास्त्रोपदेश) विधान के प्रकाशनार्थ समवशरण, निरुपम गुणरूपी माणिक्यों के कोश, संसार-रूपी अटवी के परिभ्रमण से भयभीत, जैन काव्यों के अमृत से जिनका शरीर पुष्ट होता था, गुरु और देव के चरण कमलों के भक्त, विनय से अलंकृत, व्रत और शीलयुक्त, महासती लक्षणा के प्राणनाथ, नगर की परिखा के आकार-सदृश लम्बी भुजाओं वाले, लोक में सुप्रसिद्ध, आहवमल्ल राजा के समृद्धिशाली महामन्त्री वणिक्पति कण्हहु के प्रेमवश, विचक्षण महामति कवि लक्ष्मण, 'साहुल' की गृहिणी 'जइता' के पुत्र, सुकवित्व-गुण और विद्या-युक्त जायस-कुल-रूपी आकाश के दिवाकर, अणुव्रती श्रावकों का आदर करने वाले ने गर्वरहित होकर अपनी शक्ति अनुसार यह 'अणुव्रतरत्नप्रदीप' काव्य की रचना की, जैनधर्म में प्रसिद्ध, धर्मसमृद्ध, महाश्रावकों तथा मोद प्रकट करनेवाले व हिंसा के त्यागी अन्य महालोगों के बोधनार्थ ॥ १ ॥

अक्षर विशेष (शब्दशास्त्र) न जानते हुए तथा प्रबंध व छन्द का तथा शब्द, अपशब्द व विभक्ति व अर्थ का ज्ञान न रखते हुए धृष्टता मात्र से मैंने इस शास्त्र की रचना की। दुर्जन, सज्जन व अन्य कोई मुझ मूर्ख को कोई दोष न देना ।

पद्धडिया-बंधं सुप्पसण्णु अवगमउ अत्थु भव्वयणु तण्णु ।
हीणक्खरु मुणेवि इयरु तत्थु संथवउ अण्णु वज्जेवि अणत्थु ।
जं अहियक्खरु मत्ता-विहाउ तं पुसउ मुणिवि जणियाणुराउ ।
सय दुणिण छ उत्तर अत्थसार पद्धडिय-छंद णाणा-पयार ।
बुझहु तिसहस सय चारि गंथ बत्तीसक्खर णिरु तिमिर-गंथ ।
चदु-दुहय सग्ग पिहु पिहु पमाण सावय-मण-बोहण सुद्ध-ठाण ।
तेरह सय तेरह उत्तराले परिगलिय विक्कमाइच्च काले ।
संवेयरइह सव्वहं समक्ख कत्तिय-मासम्मि असेय-पक्खे ।
सत्तमि दिणे गुरुवारे समोए अट्ठमि रिक्खे साहिज्ज-जोए ।
नव मास ग्यते पायडत्थु सम्मत्तउ कमे कमे एहु सत्थु ।

घत्ता—तित्थंकर वयणुब्भव. विहुणिय-दुब्भव जण-वल्लह परमेसरि ।
कव्व-करण मइ पावण. सुह सरिदावण, महु उवणउ वाएसरि ॥२॥

× × × × ×

पद्धडिया बंध से सुप्रसन्न होकर तद्ज्ञ भव्यजन इसका अर्थ समझ लें। जो कुछ इसमें हीनाक्षर व अन्य दोष हो उसे अनर्थ बचा कर ठीक कर लें। जो कुछ अधिकाक्षर व मात्रा-विघात हो उसे जानकर अनुराग से ठीक कर लें। इसमें दो सौ छह अर्थसार और नाना प्रकार के पद्धडिया छन्द तथा तिमिर (अज्ञान के अन्धकार) को दूर करनेवाले बत्तीस अक्षरी तीन हजार चार सौ ग्रन्थ इसमें जानो और बड़े बड़े प्रमाण के, श्रावकों के मन का संबोध करवाले शुद्ध स्थान आठ सर्ग। विक्रमादित्य काल के तेरह सौ तेरह वर्ष बीत जाने पर संवेग (विषय सुख-विरक्ति) में रत सब के सम्मुख, कार्तिक मास कृष्णपक्ष की सप्तमी के दिन गुरुवार को प्रातःकाल अष्टम नक्षत्र व साहिज्जयोग में नव मास तक क्रम क्रम की रचना के पश्चात् प्रकटार्थ यह शास्त्र मैंने समाप्त किया।

तीर्थंकर के वचनों से समुद्भूत, दुर्भव को दूर करनेवाली, जन-वल्लभा परमेश्वरी, काव्य करने में मति को पवित्र करनेवाली, सुख और कल्याण की दात्री वागेश्वरी मुझे प्राप्त हो।

परिशिष्ट २

कण्हड की कीर्तिवाचक संधियों के आदि के कुछ पद्य

संधि २

वाणी जस्य परोवयार-परमा चिंता सुदत्थे सया
काया सव्वविदंहि-पूय-णिरदा कित्ती जयाच्छाइणी।
वित्तं जस्स विहाइ णिच्च सदद्दं पत्ताण दाणुज्जमे
सो णंदादवणीयले सुभजुवो कण्हो विसुद्धासओ ॥१॥

संधि ३

णीहल्लो णिच्च-चाई सुकइ-जण-मणाणंद-कंदुड्डचंदो
भत्तो सूरीण पाए समय-विहि-रसुल्लास-लीला-निकेओ।
वंदो कुंदावदातामल-सजस-छुहा-छोहियासो गहंतो
धम्म पाणीहि णिच्चं कह ण इह जए कण्हडो संसणिज्जो ॥२॥

संधि ८

भो कण्ह तुम्ह महि-मंडलम्मि सच्छंद-चारिणी कित्ती।
धवलंति भमइ भुवणं विहुलमसेसं सलीलाए ॥३॥
कुंदावदा (त)-रुचि-कीरमाण ककुहंतरंत-दीवंतं।
तीए ताविच्छ-छवि खल-वयणं कयं इ तं चित्तं ॥४॥

जिनकी वाणी परोपकार परायण है, जिन्हें चिंता सदा श्रुतार्थ की है, जिनकी काया सर्वज्ञ के चरणों की पूजा में निरत है, कीर्ति जगदाच्छादिनी है और संपत्ति नित्य और सतत पात्रदानोद्यम में शोभायमान होती है वे श्रुतयुक्त, विशुद्धाशय कण्ह भूतल पर आनन्द करें ॥१॥

नीतियुक्त, नित्य-त्यागी, सुकविजनों के मनानंद रूपी कंद को ऊर्ध्वचंद्र, आचार्यों के चरणों के भक्त, धर्मविधि के रसोल्लास की लीला के निकेत, वंदनीय, कुंदवत निर्मल यशोरूपी सुधा से आकाश को सुशोभित करने वाले और धर्मरूपी जल से नित्य स्नान करनेवाले कण्हड इस जगत् में कैसे प्रशंसनीय नहीं है ? ॥२॥

हे कण्ह, महीमण्डल पर स्वच्छंदचारिणी तुम्हारी कीर्ति समस्त विशाल भुवन को धवल करती हुई सलील भ्रमण कर रही है ॥३॥

यह कीर्ति समस्त दिशाओं और द्वीपान्तरों को तो कुंद के समान धवल बना कर रही है पर खलों के मुख को तापिच्छ (तमाल) के सदृश काला कर रही है, यह बड़ी विचित्रता है ॥४॥

परिशिष्ट ३

संध्यंत पुष्पिकायें

१ इय अणुवय-रयण-पईव-सत्थे परमोवास-पाग-तेवरण-किरिया-पयडण-पसत्थे सुगुण सिरि-साहुल-सुव-लक्खण-विरइए भव्वसिरि-कण्हाइच्च-णामंकिए दंसण-गुण-परिभाव-वण्णणो णाम पढमो परिच्छेउ सम्मत्तो ॥१॥

२ इय अणुवय रयण-पईव-सत्थे परम-सावयार-विहि-विहाण-विरयण-समत्थे सगुण-सिरि-साहुल-सुव-लक्खण-विरइए महामंति-कण्हाइच्च-णामंकिए णिस्संक-गुण-पढम-कहा-पयडणो णाम दुइउ परिच्छेउ सम्मत्तो ॥२॥

३ इय अणुवय-रयण-पईव-सत्थे महासावयाण सुपसण्ण परम-तेवरण-किरिय-पयडण-समत्थे सगुण-साहुल-सुव-लक्खण-विरइए भव्व सिरि-कण्हाइच्च-णामंकिए पंच कहंतर-सम्मत्त-गुण-वित्थरणो णाम तइओ परिच्छेउ सम्मत्तो ॥३॥

४ इय अणुवय-रयण-पईव सत्थे महासावयाण सुपसण्ण परम-तेवरण-किरिय-पयडण-समत्थे सगुण-सिरि-साहुलसुव-लक्खण-विरइए भव्वसिरि-कण्हाइच्च-णामंकिए सेणिय-महाराय-सम्मत्त-कहट्ठया वण्णणो णाम चउत्थो परिच्छेउ सम्मत्तो ॥४॥

५ इय अणुवय-रयण-पईव-सत्थे महसावयाण सुपसण्ण परम-तेवण्ण-किरिया-पयडण-समत्थे सगुणसिरि-साहुल-सुव-लक्खण-विरइए भव्व-सिरि-कण्हाइच्च-णामंकिए सत्त-वसण-परिहरण-सम्मत्त-वित्थरणो णाम पंचमो परिच्छेउ सम्मत्तो ॥५॥

६ (ऊपर के समान)-कण्हाइच्च-णामंकिए दाण-पहाव-फल-संपत्ति-वण्णणो णाम छट्ठो परिच्छेउ समत्तो ॥६॥

७ ....महामंति-कण्हाइच्च-णामंकिए सत्त-पडिम-विछित्ति-वण्णणो णाम सत्तमो परिच्छेउ समत्तो ॥७॥

८ .....भव्व सिरि ....किए सावयार-विहि-सम्मत्तणो णाम अट्ठमो परिच्छेउ समत्तो ॥८॥

श्रीनिर्वाणक्षेत्र गिरिनार

[लेखक—श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, एम०आर०ए०एस०]

काठियावाड़-गुजरात के प्रमुख जैन तीर्थों में गिरिनार मुख्य है। पालीताना स्टेट में शत्रुंजय और जूनागढ़ की रियासत में गिरिनार अपना खास स्थान रखता है। शत्रुंजय पर्वत समुद्रतल से क़रीब दो हज़ार फीट ऊँचा है, परंतु गिरिनार की ऊँचाई उससे अधिक है—वह ३६६६ फीट ऊंचा है। जूनागढ़ नगर से पूर्वदिशा में ठीक उसके ऊपर गिरिनार पर्वत की चोटियाँ आकाश से बातें करती हैं।[1] पर्वत की उच्चता और विशालता पृथ्वी का दिल दहलानेवाली है। किन्तु गिरिनार का महान् रूप उसकी पवित्रता में गर्भित है—वह जैनियों का पवित्र तीर्थ—मंगलक्षेत्र है।[2] लाखों जैनी गिरिराज की यात्रा करके अपना नरजन्म सफल करते हैं। वैष्णव आदि हिंदू गिरिनार की बंदना करने पर ही तीर्थयात्रा को सफल मानते हैं।[3] और मुसलमान भी इस मनोरम पर्वत की इबादत करने आते हैं।[4] कैसा जीता-जागता प्रभाव है इस तीर्थराज का कि लोग अपने साम्प्रदायिक पक्षपात को भूल जाते और उसकी भक्ति अपने-अपने रूप में करते हैं! धन्य है गिरिनार!

प्राचीन नाम—तीर्थरूप में गिरिनार की मान्यता सम्राट् अशोक से पहले की है।[5] जैन-ग्रन्थ और हिन्दू-पुराण गिरिनार की प्राचीनता उनसे भी बहुत पहले निर्धारित करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि गिरिनार-सदृश विशाल और मनोरम पर्वत की ओर आर्य पुरुषों का ध्यान सभ्यता के अरुणोदय में ही हुआ था। उन्होंने उस पर्वत की तलहटी में सुन्दर गिरिनगर बसाया,[6] जो आज का जूनागढ़ है और पर्वत पर दिव्य देवालय, ऋषि-गुफायें और

---

१ तारीखे सोरठ, पृष्ठ २७।

२ 'तिलोयपण्णत्ति' में क्षेत्रमंगल के उदाहरण में गिरिनार का उल्लेख 'उज्जयंत' के नाम से है:—"एदस्स उदाहरणं पावाणयरुज्जयंतचम्पादी।" 'गोम्मटसार' जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका में भी यही उल्लेख है:—"क्षेत्रमंगलमूर्जयंतादिकमर्हदादीनां निःक्रमण केवलज्ञानादिगुणोत्पत्तिस्थान।"

३ 'गिरिनारमाहात्म्य'—Burgess, Report on the Antiquities of Kathiawad & Kacchha, p. 155.

४ मुसलमान इसे शाह मदार की ज़ियारगाह मान कर पूजते हैं। —तारीखे सोरठ, पृ० ६

५ "Girnar, the ancient Raivata or Ujjayanta doubtless a place of pilgrimage even before the days of Asoka."—James Burgess, 'The Report on the Antiqnities of Kathiawada and Kacchha' (1874—75), page 154.

६ 'आदिपुराण' में ऋषभदेव जी के समय में गिरिनगर व गिरिनार का अस्तित्व बताया गया है। पश्चिम दिशा की दिग्विजय में भरतचक्रवर्ती गिरिनार भी पहुंचे थे। (इन्दौर की प्रति, पृ० १११५)

दुर्ग एवं कोट भी निर्मित किये। किन्तु कालचक्र ने जिस प्रकार गिरिनार और गिरिनगर के रूप-रंग को बदला है उसी प्रकार गिरिनार के नाम भी समयानुसार बदलते रहे हैं। लोगों ने कभी उसे 'ऊर्जयन्त' कह कर पुकारा है तो कभी उसे 'रैवतक पर्वत' कहा है। 'नेमिदूत-काव्य' के टीकाकार उसे 'रामगिरि' कह कर सम्बोधन करते हैं।[1] ब्राह्मणों ने उसके प्यारे नाम 'रैवत' 'प्रभासपर्वत' और 'वस्त्राचल तीर्थ' भी रक्खे हैं।[2] मानव हृदय की भक्ति गिरिनार के प्यारे नाम पर खूब ही बही है!

प्राचीनता—उपर्युक्त पंक्तियों में सम्राट् अशोक के पहले से गिरिनार का महात्म्य उल्लिखित है। जैन-शास्त्र गिरिनार का अस्तित्व प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के समय से प्रकट करते हैं।[3] तब से अब तक वह अपना अद्वितीय स्थान भारत के इतिहास में लिये हुए हैं। जब मथुरा से हट कर यादव-क्षत्रिय द्वारिका में आ रहे—तब गिरिनार उनकी लीलाभूमि रहा! श्रीकृष्ण और उनके पुत्र एवं भ० अरिष्टनेमि और अन्य यादव यहां पर रंगरेलियां करते थे और उनके देवालय भी गिरिनार पर थे।[4] भ० अरिष्टनेमि के समय से जैन इतिहास में गिरिनार विशेष महत्त्वशाली हो गया—भ० नेमि ने उसी पर से निर्वाणलाभ किया था। उनकी तपोभूमि, केवलज्ञानोत्पत्ति-स्थान और धर्मचक्र-प्रवर्तन-क्षेत्र भी गिरिनार था। शंबु-प्रद्युम्न-वरदत्तादि मुनीश्वर भी यहीं से मोक्ष गये थे।[5] गर्ज़ यह कि जैनधर्म का गढ़ उस समय गिरिनार पर्वत था।

ब्राह्मण-शास्त्रों में भी गिरिनार की प्राचीनता काफी दरसाई गई है। 'महाभारत' से वहाँ पर कृष्ण-बलराम के लीलापूर्वक कार्यों का पता चलता है।[5] 'स्कंधपुराण-प्रभासखंड' गिरिनार माहात्म्य का प्रकरण गिरिनार की पवित्रता स्थापित करता है। उसमें लिखा है कि एक दिन शिव और पार्वती कैलाश पर बैठे थे। पार्वती जी ने शिवजी से पूछा कि आप किस पुण्यकर्म के करने से प्रसन्न होते हैं। शिव बोले 'मैं उन लोगों से प्रसन्न होता हूं जो प्राणियों पर दया करते हैं, सदा सत्य बोलते हैं, कुशील-सेवन कभी नहीं करते और रणक्षेत्र में सब से

१ नेमिदूतकाव्य—दिगम्बर जैन डायरेक्टरी, पृ० ७६०।

२ स्कंधपुराण प्रभासखण्ड—'सुराष्ट्रदेशो विख्यातो गिरी रैवतको महान्॥' 'उज्जयंतगिरेर्मूर्ध्नि' इत्यादि

३ आदिपुराण देखो। ४ हरिवंशपुराण देखो।

५ महाभारत—आदिपर्व अध्याय २१८—२२२।

अर्जुन तीर्थों की यात्रा कर के उपरान्त आए और प्रभास पर्वत पर गए। प्रभास से वह कृष्ण के साथ रैवतक आए। वहां पर गान-नृत्य से कृष्ण ने उनका आदर-सत्कार किया। गिरिनार से वे द्वारिका गए। सुभद्रा गिरिनार पर पूजा करने आई—तभी अर्जुन उसे ले भागे थे। यादवों के उत्सव की स्मृति-रूप में ही शायद आजकल भी गिरिनार पर माघ महीने में मेला भरता है! (बम्बई गजेटियर भा० १, ख० १, पृ० ६)

आगे रहते हैं।' इसी समय ब्रह्मा आदि अनेक देवता वहाँ पहुँच गये। विष्णु ने शिव से दैत्यों पर कृपालु होने की शिकायत की। शिव जी बोले—'भई, मुझे प्रसन्न होते देर नहीं लगती—जानते हो, मेरा यह स्वभाव है। यदि तुम्हें यह नागवार है तो लो मैं यह चला।' यह कह कर शिव उठ कर चल दिये। पार्वती ने देवताओं से कहा—'शिव के बिना बताइये मैं कैसे रहूं ?' इस पर सब देवता शिवजी को ढूंढ़ने चले। उधर शिवजी वस्त्रापथक्षेत्र (गिरिनार) पहुंचे और वहाँ पर उन्होंने सब कपड़े उतार डाले। वह शरीर से मुक्त होकर वहाँ पर अन्तर्हित हो रहने लगे। विष्णु-पार्वती आदि वहाँ ढूंढ़ते हुए पहुंचे। गिरिनार पर बैठ कर पार्वती ने शिवभक्ति के गीत गाये, जिससे प्रसन्न होकर शिवजी ने उन्हें दर्शन दिये। देवताओं ने उनसे कैलाश चलने के लिए कहा। शिव जी इस शर्त पर चलने को राज़ी हुए कि सब देवता गिरिनार पर रहें—वह और पार्वती कैलाश जाँय। सब ने यह शर्त मंजूर की। रैवतक पर विष्णु रहने लगे और उज्जयन्त पर पार्वती (अम्बारूप में) रहती थीं। गिरिनार पर शिवजी ने वस्त्र उतारे थे इसलिये उसका नाम वस्त्रापथ हुआ।[1] इस कथा का सादृश्य भ० अरिष्टनेमि के जीवन-चरित्र से है। इन बाईसवें तीर्थङ्कर ने गिरिनार पर आकर ही वस्त्राभूषण त्याग कर दिगम्बर-दीक्षा धारण की थी। उनकी भावी पत्नी राजमती जी ने यहीं आकर उनसे घर चलने की प्रार्थना की थी। आखिर वहीं से नेमिप्रभु शरीर से मुक्त हुए थे। उन्होंने अहिंसा-सत्य-शीलादि धर्मों का उपदेश दिया था। उपर्युक्त कथा में शिवजी के विषय में भी यह सब बातें कही गई हैं। अतः यह जी को खटकता है कि हिंदू ग्रन्थकार कहीं शिव के रूप में जिनेन्द्र नेमि का वर्णन तो नहीं करते हैं ? और जब हम उनके लिखे हुए निम्नलिखित श्लोकों को पढ़ते हैं तो यह अनुमान ठीक उतरता है—

'वामनोपि ततश्चक्रे तत्र तीर्थावगाहनम्।
यादृग्रूपः शिवो दृष्टः सूर्यबिम्बे दिगम्बरः ॥९४॥
पद्मासनस्थितः सौम्यस्तथातं तत्र संस्मरन्।
प्रतिष्ठाप्य महामूर्तिं पूजयामास वामनम् ॥ ९५ ॥
मनोऽभीष्टार्थसिद्ध्यर्थं ततः सिद्धिमवाप्तवान्।
नेमिनाथशिवेत्येवं नाम चक्रे स वामनः ॥ ९६ ॥

भावार्थ—'वामन ने सूर्य के प्रतिबिम्ब में पद्मासनस्थित सौम्य और दिगम्बर शिव जी का रूप देख कर उस महामूर्ति की प्रतिष्ठा करके पूजन की और अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिये 'नेमिनाथ शिव' इस मंत्र की जाप की'।[2] दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यही है कि प्रकरण-

१ Burgess, Report of the Antiquities of Knthiawad etc. pp. 155-56.

२ 'स्कंधपुराण प्रभासखंड' अ० १६ पृ० २२१—('वेद-पुराणादि ग्रन्थों में जैनधर्म का अस्तित्व' पृ० ३४-३५)

गत शिव से लेखक का अभिप्राय नेमिनाथ (जैनतीर्थङ्कर) से है। भ० नेमि की मूर्ति दिगम्बर पद्मासन मुद्रा में होती है। किस उदारता से ब्राह्मणग्रंथकार ने जैनमान्यता को अपनाया है और जिनेन्द्र नेमिनाथ की भक्ति का प्रचार शैवसम्प्रदाय में किया है! जो सनातनी भाई जैनमूर्ति की दिगम्बर मुद्रा पर आक्षेप करते हैं, वह ज़रा उपर्युक्त कथा को पढ़ें! अस्तु; इस कथा से भी गिरिनार का माहात्म्य प्राचानकालीन स्थापित होता है!

ऐतिहासिक साक्षी—गिरिनार और उसके माहात्म्य की प्राचीनता की पोषक सर्व-प्राचीन साक्षी वह ताम्रपत्र है जिसे प्रो० प्राणनाथ ने निम्नलिखित शब्दार्थ में पढ़ा है:—

"रवानगर के राज्य का स्वामी, सु·····जाति का देव, नेबुशदनेज़र आया है। वह यदुराज (कृष्ण) के स्थान (द्वारिका) आया है। उसने मंदिर बनवाया, सूर्य····· देव नेमि कि जो स्वर्ग-समान रेवतपर्वत के देव हैं (उनको) हमेशा के लिये अर्पण किया।"[1]

प्रो० सा० इस लेख को ईस्वी पूर्व ६०० से ११४० तक का अनुमान करते हैं।[2] इससे रैवतपर्वत (गिरिनार) की पवित्रता और भ० नेमिनाथ का उससे सम्पर्क स्पष्ट है। उस प्राचीन काल में भी रैवतक पर्वत पर नेमिनाथ भगवान के मंदिर बन गये थे। इसके अतिरिक्त स्वयं गिरिनार के मौर्यकालीन शिलालेखों से गिरिनार का महत्त्व स्पष्ट है। काठियावाड़ (सुराष्ट्र) का वह प्रधान केन्द्र था।

जैन साहित्य में गिरिनार—जैन साहित्य गिरिनार-विषयक उल्लेखों से ओतप्रोत है। विस्तारभय से इस लेख में कतिपय प्राचीन ग्रंथों के उद्धरण ही उपस्थित किये जाते हैं। उपलब्ध दिगम्बर जैन साहित्य में 'धवला सिद्धान्तग्रन्थ' प्राचीन है। इस सिद्धांतग्रंथ की 'जीवट्ठाण टीका' में सम्यक्त्व-उपलब्धि में कारणभूत जिनबिम्बादि का उल्लेख करते हुये गिरिनार का उल्लेख 'उज्जंत' (ऊर्जयन्त) नाम से निम्न प्रकार किया है:—

"लद्धि संपण्णगारिसादंसणंपि पढम सम्मत्तुप्पत्तीए कारणं होदि। तमेत्थ पुध किण्ण भण्णदे? ण एदस्सवि जिणबिंबदंसणे अंतब्भावादो। उज्जंत-चंपापावाणयरादिदंसणंपि एदेणेव घेत्तव्वं।"[3]

'जीवट्ठाणटीका' में ही श्रुतावतार के प्रसंग में गिरिनार के पास स्थित गिरिनगर और चंद्रगुफा का उल्लेख निम्नलिखित रूप में आया है:—

"तदो सव्वेसिमंग पुव्वाणमेगदेसो आइरिय परंपराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं

१ "जैन" भावनगर, भा० ३५, अंक १, पृ० २।

२ The Times of India, 19th March, 1935, p. 9.

३ धवल सिद्धांतग्रन्थ के यह उद्धरण हमें श्रीमान् पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार से प्राप्त हुए हैं, जो उन्होंने आरा की प्रति से नोट किए थे। इस कृपा के लिए हम मुख्तार सा० के आभारी हैं।

संपत्तो। तेणवि सोरट्ठविसय-गिरिणयर पट्टण—चंदगुहाट्ठिएण अट्ठंग-महाणिमित्त पारएण गंथवोच्छेदो हो हदि त्ति जादभएण पवयण वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो।" —धवलसिद्धान्त

इस उल्लेख से गिरिनगरपट्टन के निकट चंद्रगुफा में श्रीधरसेनाचार्य जी के आवास का भी पता चलता है। वह आठ महानिमित्तों के ज्ञाता थे और उन्होंने श्रुतविच्छेद के भय से दक्षिणापथ के जैनसंघ को पत्र प्रेषित किया था। धवलग्रंथ की 'वेदनाखण्ड' टीका में भी आगे इसी प्रकरण के उल्लेख में गिरिनगर और चंद्रगुफा का ज़िक्र फिर हुआ है:—

"एवं पमाणीभूद महरिसि पणलेण आगंतूण महाकम्म पयडि पाहुडामिय जलपवाहो धरसेणभडारयं संपत्तो। तेण वि गिरिणयर चन्दगुहाए भूदबलि पुप्फदंताणं महाकम्म पयडि पाहुडं सयलं समप्पिदं।" —धवलसिद्धान्त

भूगोल-संबंधी प्राचीन जैनग्रंथ 'तिलोयपण्णत्ति' में भी गिरिनार का उल्लेख तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि के प्रकरण में मिलता है। जैन-पुराण-ग्रन्थ तो गिरिनार के वर्णन से ओतप्रोत हैं। 'हरिवंशपुराण' में उसका वर्णन उल्लेखनीय है। वहाँ लिखा है:—

"रुक्मिणी को ले कर कृष्ण गिरिनार पर्वत पर आगये और वहां रुक्मणी के साथ विवाह किया।" (पृष्ठ ४०६)

"एक समय वसंतऋतु का आगमन होने से क्रीड़ा करने के लिये चक्रवर्ती कृष्ण अपनी पटरानी, भ० नेमिनाथ, अनेक राजा, महाराजा और पुरवासियों के साथ-साथ अनेक पुष्पों से व्याप्त गिरिनार पर्वत के वन में गये ॥ ३२ ॥ उस समय नाना प्रकार के स्त्री-पुरुषों से मंडित वह गिरिनार का वन देव-देवांगनाओं से व्याप्त मेरुपर्वत के नजदीक वनों की तुलना करता था ॥ ३३ ॥ चलते-चलते जब पर्वत पास आ गया तो समस्त मनुष्य अपनी-अपनी सवारियों से उतर पड़े और उस (पर्वत) के नितंब भागों में इच्छानुसार विहार करना प्रारंभ करने लगे ॥३४॥" (पृ० ४९०)

"उस समय यद्यपि उष्णता अधिक थी तथापि गिरिनार-पर्वत पर शीतल जल के निर्झरने झरते थे, इसलिये वह (ग्रीष्म ऋतु) भी अधिक प्रिय लगने लगी जिससे कि वे कृष्णादिक वहां ही सानन्द रहने लगे ॥५०॥ यद्यपि भ० नेमिनाथ स्वभाव से ही राग उत्पन्न करने वाली चेष्टाओं से विमुख थे तथापि कृष्ण की स्त्रियां उन्हें एक दिन घेर कर शीतल जल से परिपूर्ण सरोवर पर ले आईं और नेमिनाथ के साथ जलक्रीड़ा करने लगीं ॥ ५१ ॥ (पृ० ४९२)

भ० नेमिनाथ संसार से विरक्त होकर इसी गिरिनार पर्वत पर आकर तपश्चरण-लीन हुए

थे। 'हरिवंशपुराण' में इस प्रसंग का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में है :—

"भगवान देव-सेना के साथ गिरिनार पर्वत पर आ गये ॥ ११३ ॥ उस पर्वत को हम मेरु की उपमा नहीं दे सकते क्योंकि वहां तिमिर-विनासक सूर्य-चन्द्रमा के रहने पर भी महात्माओं का दर्शन नहीं होता और यहां पर उनका सदा जाज्वल्यमान प्रकाश रहता है ॥ ११४ ॥ यह गिरिनार-पर्वत उस समय शब्दायमान गिरते हुए निर्झरनों से, पक्षियों से, अतिमिष्ट आम्र के फलों से और पुष्पों से व्याप्त जाति वृक्षों से युक्त था। वहां पर कोई किसी प्रकार का निंदित पुष्प न था, इसलिये वह अति मनोहर जान पड़ता था ॥ ११५ ॥ उसमें जगह-जगह नाना प्रकार की मणियां सुवर्ण और भांति-भांति के धातुओं के रस शोभित हो रहे थे। उसकी शिखरों पर किन्नरदेव रहते थे और वह अपनी वनभूमि से मनुष्य और देवों के मनों को हरण करता था। गिरिनार पर्वत के उपवन में जा कर निष्काम भगवान् जिनेन्द्र की आज्ञा से एक जगह इन्द्र ने उनकी पालकी रख दी और (एक शिला पर जाकर बैठ गये। एवं पंचमुष्टिलोच किया।) जहां पर भगवान् ने जीवों की रक्षा करनेवाला पवित्र तप आचरण किया था उस दिन से वहां प्रसिद्ध तीर्थ की स्थापना हुई ॥ १२४ ॥—(पृ० ४९६ ४९७)

उपरान्त भ० नेमिनाथ धर्मचक्र का प्रवर्तन करके पुनः गिरिनार पर्वत पर आ विराजे थे और मुक्त हुए थे। 'हरिवंशपुराण' में इस प्रकरण का उल्लेख निम्नांकित शब्दों में है :—

"जिस समय (भ० नेमिनाथ के) निर्वाण कल्याण का समय समीप आ गया तो अनेक देव-मनुष्यों से सेवित वे गिरिनार पर्वत पर पुनः लौट आये, जिससे कि जैसी पहिले उस पर्वत पर समवसरण की रचना हुई थी वैसी ही फिर हो गई और अपने-अपने स्थानों पर तिर्यंच, मनुष्य और देव स्थित हो गये। भगवान् ने वहां पर ..... परमधर्म का उपदेश दिया। ..... भगवान् ने एक मास पहिले योगों का निरोध कर समस्त अघातिया कर्मों को भी मूल से नष्ट कर दिया और वे अनेक मुनिराजों के साथ निर्वाणशिलापर जा विराजे। ..... गिरिनार पर्वत पर इन्द्र ने परम पावन सिद्धशिला निर्मापी और उसमें भगवान् जिनेन्द्र के समस्त लक्षण वज्र से अंकित कर दिये। ..... समुद्रविजय आदि नौ भाई, देवकी के युगलिया छः पुत्र और कृष्ण के पुत्र शंब और प्रद्युम्न आदि अन्य भी मोक्ष गये। इसलिये उस समय से गिरिनार आदि निर्वाणस्थान संसार में विख्यात हुये और तीर्थयात्रा के लिये आये हुये मनुष्यों से सर्वदा शोभित रहने लगे।"—(पृष्ठ ६१८—६१९)

'हरिवंशपुराण' के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भ० नेमिनाथ से पहले गिरिनार-पर्वत यादवों की क्रीड़ाभूमि था—उनके विवाह आदि शुभकार्य गिरिनार पर हुआ करते थे—गिरिनार शैल सुन्दर वन और मनोरम झरनों तथा गंभीर सरोवरों से शोभायमान था—उसकी

शिखिरों और गुफाओं में साधु-संत ध्यान किया करते थे। तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि ने भी गिरिनार के वन में मुनिदीक्षा ली और उसकी गगनचुम्बी शिखिर पर ध्यान माढ़ा था और वहीं से वह मुक्त हुए थे। इन्द्र ने भगवान् का निर्वाण-स्थल सिद्धपट रच कर अङ्कित कर दिया था। तब से गिरिनार तीर्थरूप में पूजा जाने लगा और सहस्रावधि यात्रिगण उसका दर्शन और पूजन करने के लिये आने लगे। श्रीनागकुमार,[1] करकंडु महाराज प्रभृति[2] अनेक महापुरुष गिरिनगर इस पर्वतराज की वंदना करने आये थे।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में जब मगधदेश में विकट दुष्काल पड़ा था तब श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी संघ-सहित दक्षिणदेश के लिये प्रस्थान कर गये थे। विदित होता है कि उस महती यात्रा के प्रसंग में श्रीभद्रबाहु स्वामी चतुर्विध संघसहित गिरिनार पर्वत पर आये थे[3] और वहाँ से दक्षिण को गये थे। उपरान्त 'श्रुतावतारकथा'—'पट्टावली' 'कथाकोष' आदि ग्रन्थों में भी गिरिनार का उल्लेख हुआ मिलता है। श्वेताम्बर जैन साहित्य में भी गिरिनार की गणना पश्चिम के मुख्य तीर्थों में की गई है। 'शत्रुंजयमाहात्म्य' 'विविधतीर्थकल्प'—आदि ग्रन्थों में गिरिनार का वर्णन है।

शिलालेखों में गिरिनार

साहित्य-ग्रंथों के अतिरिक्त गिरिनार का उल्लेख भारतीय शिलालेखों में भी मिलता है। बहुत से शिलालेख स्वयं गिरिनार पर्वत पर ही मिलते हैं और थोड़े से ऐसे शिलालेख हैं जो दक्षिणभारत में मिले हैं और उनमें गिरिनार का उल्लेख 'उज्जयन्त' नाम से है। हमें यहां पहले गिरिनार पर मिले शिलालेखों का उल्लेख करना अभीष्ट है। गिरिनार पर के शिलालेखों में सर्व-प्राचीन लेख सम्राट् अशोक के हैं, जिनमें उन्होंने पशुओं को नहीं मारने का आदेश किया है।[4] दूसरा प्राचीन लेख क्षत्रप रुद्रदामा का है, जिसमें गिरिनगर को सुदर्शन झील का वर्णन है। उसमें लिखा है कि ऊर्जयन्त पर्वत की पलासिनी (स्वर्णरेखा) आदि नदियों में बाढ़ आने के कारण सुदर्शन झील का बांध टूट गया था। उस समय इतने जोर का तूफान आया था कि उससे पर्वत की शिखरें, दीवालें, इमारतें और पेड़ आदि सभी गिर पड़े थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के साले स्यन पुष्यगुप्त ने उनको बनवाया और जीर्णोद्धार कराया।

---

१ नागकुमारचरित (कारंजा) देखो। २ करकंडुचरित्र देखो।

३ "सिरि उज्जयंतसिहरं णाणाविह मुणिवरिंद संपुण्णो चउविह संघेण जुदं। सुयसागर पारगं धीरं सिरि भद्दबाहु सामि आमिसिता गुत्तिगुत्ति मुणिणाहिं परिपुच्छियं पमत्थं अद्धं परदव्वणं जयणो॥"

—भद्रबाहु-संहिता

४ अशोक के शिलालेख (काशी)

था। उपरान्त रुद्रदामा और गुप्तराजाओं के द्वारा सुदर्शन-झील का जीर्णोद्धार किया गया था।'

एक अन्य प्राचीन शिलालेख क्षत्रप द्रुसिंह का है। डा० बुल्हर ने उसे निम्नरूप में पढ़ा था—भग्न होने के कारण वह उसे पूरा नहीं पढ़ सके थे—

"……क…… ……गा …… …… …क्षत्रप……

[स्वामि] चष्टनस्य प्र [पौ] त्रस्य राज्ञः क्षत्रपस्य स्वामि जयदाम पौत्रस्य राज्ञो महाक्ष……

(त्रै) त्र शुक्लपक्षस्य दिवसे पञ्चमे [५] इह गिरि नगरे देवासुर नाग यक्ष राक्षसेन्द्रि……

……प्रक (?) मिव प…… केवलिज्ञानसंप्राप्तानां जितजरामरणानां (।)……"

इस लेख के विषय में डा० बर्जेस का वक्तव्य द्रष्टव्य है। उन्होंने लिखा है कि "इस लेख में 'केवलिज्ञानसंप्राप्तानां' वाक्य महत्त्वपूर्ण है, जिसका प्रयोग जैनशास्त्रों में विशेषरूप से होता है। अत एव यह लेख जैनियों का है। इससे प्रकट है कि यह गुफायें सौराष्ट्र के साही राजाओं ने जैनियों के लिये ईस्वी द्वितीय शताब्दी के अंतिम पाद में खुदवाई थीं। यह भी संभव है कि गुफायें इससे प्राचीन हों। इत्यादि।" इससे स्पष्ट है कि द्वितीय शताब्दी में इन गुफाओं को जैनमुनिगण व्यवहार में लाते थे

गिरिनार के श्री नेमिनाथ-मंदिर की चहारदीवारी में भी डा० बर्जेस सा० को कुछ शिलालेख मिले थे, जिनमें से उल्लेखनीय यह है :—[3]

"५० संवत् १२१५ वर्षे चैत्र सुदि ८ रवौ अद्येह श्रीमदूर्ज्जयन्ततीर्थे जगत्यां समस्त

१ The Report on the Antiquities of Kathiawad and Kacchha by James Burgess, p. 129.

२ "The most interesting point about it, is the word 'Kevalijñān-Samprāptānam' 'of those who have obtained the knowledge of Kevalins', which occurs most frequently in the Jaina scriptures, and denotes a person who is possessed of the Kevalajñāna or true knowledge which produces final emancipation.

It would, therefore, seem that the inscription is of Jainas. From this it would appear that these caves were probably excavated for the Jainas by the Sah Kings of Surashtra about the end of the second century of the christian era. They may however, be much older and the inscription may merely commemorate their being devoted to the Jainas by the Sah Kings possibly after they had ceased to be used by the Bauddhas; or, the inscription may have been brought from some other caves now entirely destroyed."

—J. Burgess, 'The Report on the Antiquities of Kathiawad & Kachh" (1874-75), pp. 141—143.

[आगे इस पुस्तक का उल्लेख "The Report" रूप में किया जायगा]।

३ The Report, p. 167.

देवकुलिका सक्कछाजा कुवालि संविरण सर्वे ठ० सालवाहण प्रतिपत्या सू० जसहड ठ० सावदेवेन परिपूर्ण कृता तथा ठ० रुरत्तसुत ठ० परिसालिवाहणेन वागरुरिमिराया परितः कारित श्रीचंद्रारिदिवांकृत कंडकमंतिरं तद्विधात्री श्रीअंबिकादेवतिमादेवकुलिका च निष्पादिता ॥,,

भावार्थ—'सं० १२१५ में ठाकुर सावदेव और जसहड ने ठा० सालवाहण की स्मृति में श्रीऊज्जेयंत पर समस्त देवकुलिकायें परिपूर्ण कीं.....उसी वर्ष में ठा० रुरत्त के पुत्र परि.....ने.....श्रीअम्बिका देवी का छोटा-सा मंदिर निर्मापा।'

डॉ० बर्जेस ने लिखा है कि टॉड सा० को वहाँ पर कुछ ऐसे शिलालेख भी मिले थे जिनसे पुराने मंदिरों को गिरा कर नये मंदिरादि बनवाये जाना प्रकट होता था।'

१९ जनवरी सन् १८७५ को श्रीजेम्स बर्जेस सा० ने गिरिनार की यात्रा की थी। अपने विवरण में वह लिखते हैं कि जूनागढ़ से १५५० फीट की ऊँचाई पर जहाँ से सीढ़ियां आरंभ होती हैं वहाँ से कुछ ऊपर निम्नलिखित शिलालेख है :—

"स्वस्ति श्री सम्वत् १६८१ वर्षे १ कार्तिकवदि ६ सोमा श्रीगिरिनार तीर्थनी पूर्वनी पातनो चढ्यावा श्री दीवतो संघे घीएपा निमित्ते श्रीमालज्ञातीयामासिघजी मेघमाने उद्यमे कराव्यो।"

इसमें सीढ़ियों की मरम्मत की जाने का उल्लेख है। इस शिलालेख से २५० फीट ऊपर निम्नलिखित अन्य शिलालेख है :—

(१) "सं० १२१२ श्रीश्रीमालज्ञातीयमहं श्रीरागिगासूत दंड श्रीश्रीवाकेन पद्यावा (का) रिता॥"

(२) "सं० ११२३ महं० मीरागीगसुत आवाकेन पद्या कारिता।"

(३) सं० १२२२ श्रीश्रीमालज्ञातीयमहं श्रीराणिगसुत दंडश्री आवाकेन पद्या कारिता।"[२]

जैनमंदिरों के मुख्य द्वार पर गिरिनार गढ़ के शासक चूड़ासमासवंश के राजा मण्डलीक

---

[१] "By order of Sri Pandita Devasena Sangha in S. 1215 (A. D. 1158) Chaitra Suddha 8th, sunday, the old temples of the *devatas* were removed and new ones erected."

And in another:—

"In S. 1339 (A. D. 1283) Jyestha Suddha 10th Thursday, the old ruined temples being removed from their sites on the mountain of Revatachala, new ones were erected." —The Report, p. 169.

[२] J. Burgess, "Memorandum on the Antiquities at Dabhoi, Ahmedabad, Than, Junagadh Girnar and Dhank" (Bombay 1875), p. 18.

का विशद शिलालेख है, जिसका प्रारंभ इस प्रकार होता है :—

(४) "मतेः श्रेष्ठ सद्धीमानसो सबोधनापातिम्भया भूप परितागो तुरागागयः इत्या द ।"

इस शिलालेख में गिरिनार का वर्णन निम्नलिखित रूप में मिलता है—

"श्रीउज्जयंतगिरिराजमधिप्रतीते सद्धर्मकर्मकरणोद्यमिनां जनानां ।
संनिध्यमोहितमयो गुरुमेघनादा लेशधिप प्रभृतय·····शाः सृजंतु ॥५॥

भावार्थ—[1] जगदीश और वह जिनकी वाणी मेघगर्जना के तुल्य है सद्धर्म-कर्म-रत भव्य-पुरुषों के लिये श्रीगिरिराज ऊर्ज्जयन्त पर आ विराजमान हों ।"

"नानातीर्थोपवनतटिनीकानने रम्यहर्म्यैः ।
पौरंभ्रमापतिपृथुकृतात्यंतसौख्यैरसंख्यै ।
शश्वद् भूवाभृदपि विपुलो राष्ट्रवयः सुराष्ट्रः ।
राष्ट्रो दध्रे ऽनुपमगिरिराट् रैवतालंकृतिं य : ।

भावार्थ—"सुराष्ट्र के श्रेष्ठ राष्ट्र में स्थित अनुपम रवत पवत यद्यपि खूब ही समलंकृत है परंतु उसकी शोभा नाना तीर्थों, क्रीडाकुंजों, झरनों, वनों, राजाओं के सुन्दर महलों से और भी बढ़ गई है ।"

"मा गा गर्वममर्त्यपर्वत परां प्रीतिं भजन्तस्त्वया ।
भ्राम्यन्ते रविचन्द्रमःप्रभृतयः के के न मुग्धाशयाः ॥
एका रैवतभूधरो विजयतां यद्दर्शनात् प्राणिनो ।
यांति भ्रांतिविवर्जिताः किल महानंदं सुखश्रीजुषः ॥७॥

भावार्थ—"हे अमर पर्वत ! गर्व मत करो : सूर्य चन्द्र-नक्षत्र तुम्हारे प्रेम में ऐसे मुग्ध हुए हैं कि रास्ता चलना भूल गए हैं, (वह तुम्हारी ही प्रदक्षिणा देते हैं) किन्तु वही क्या ? ऐसा कौन है जो तुम पर मुग्ध न हो ! जय हो एकमात्र पवत रैवत की : जिसके दर्शन करने से लोग भ्रांति को खो कर आनंद का भोग करते और परम सुख को पाते हैं !"[1] रैवत की पवित्रता में क्या मनोहारी कल्पना है यह !

इसी शिलालेख में राजा मण्डलीक-द्वारा भ० नेमिनाथ के स्वर्णखचित मंदिर-निर्माण का उल्लेख है । (अत्राभून्नृपमंडलीननपदः श्रीमंडलीकः क्रमात । प्रासाद गुरु हेमपत्रततिभिर्यां-चीकरन्नेमिनः (?) ॥९॥)

वहीं पास में ही मंत्रिप्रवर वस्तुपाल-तेजपाल का शिलालेख है, जिसमें भी गिरिनार का

१ The Report, p. 160. भावार्थ अंग्रेजी अनुवाद के आधार से लिखा गया है ।

सुंदर उल्लेख है। एक अन्य शिलालेख इस प्रकार है:—[1]

"ॐ नमः सर्वज्ञाय संवत् १४८५ वर्षे कार्तिक सुदि पंचमि ५ बुधे श्रीगिरिनार माह तिष्ठा सा षेत सिंह निवाण श्रीमंत्रि दलीपवंशे श्रीमत् सुमायड़ गोत्रे मतिवाण ठ० अदा प्रजा ठा० लासु ततराल ठा० ———————ठा० षेत सिंह भार्या बाई चंदणगट्टी श्री नेमिनाथ चरण प्रणमति शुभ।"

श्रीनेमिनाथ मंदिर की दालान में एक पटिया पर निम्नलिखित लेख चरण-चिह्नों सहित अङ्कित है। डा० बर्जेस ने उसे अपने संग्रह में नं० २८ पर यों लिखा है:—[2]

"हर्षकीर्तिजी पादुका"

"संवत् १६९२ श्रीमूलसंघे श्रीहर्षकीर्ति श्रीपदाकीर्ति भुवनकीर्ति ब्र० अमर ग्रिभाण-मनजी पं० वीर जैयंत माइदासदयाला तेसां ९ नेमियात्रा सफलास्तु ॥ ॥"

यह शिलालेख दिगम्बर जैन मूलसंघानुयायी भ० हर्षकीर्ति एवं उनके शिष्यों की यात्रा का स्मारक है।

श्रीगिरिनारक्षेत्र पर इन शिलालेखों के अतिरिक्त मंदिरों और मूर्तियों पर अङ्कित और भी शिलालेख होंगे और उनमें भी गिरिनार का उल्लेख होना संभव है। कदाचित् पुण्य-संयोग से हमें तीर्थराज की वंदना करने का सुअवसर प्राप्त हुआ तो उन्हें भी प्रकट कर सकेंगे; अन्यथा वहां के प्रबन्धकों पर ही उनको प्रकाशित करना निर्भर है।

गिरिनार के अतिरिक्त दक्षिण भारत के उडुपि तालुका के कापु नामक स्थान से प्राप्त शिलालेख में भी गिरिनार का उल्लेख ऊर्जयन्त नाम से हुआ है। सन १५५६ में मह हेमाडे नामक जैन सरदार ने देवचंद्रदेव को भूमिदान दिया था और उस दानपत्र के अन्त में लिखा था कि जो कोई श्रावक इस दान को मेटेगा उसे बेल्गोल के गोम्मटनाथ, कोपण के चंद्रनाथ और ऊर्जयन्तगिरि के नेमीश्वर की मूर्तियों को खंडित करने का पाप लगेगा[3]। इससे स्पष्ट है कि कापु के जैनी ऊर्जयंत गिरि (गिरिनार) तीर्थ से खूब परिचित थे। यही बात गेरसोप्पे (नगरी) के जैनियों के लिये भी कही जा सकती है। सन १५२३ में वहाँ के शासक देवभूप ने शङ्ख जिन-वसि के लिये भूमिदान दिया था और दानपत्र के अन्त में लिखा था कि जो इस दान को मेटे उसे ऊर्जंतपर्वत पर ऋषिहत्या का पाप लगे[4]। इस उल्लेख से यह भी प्रकट होता है कि गेरसोप्पे के जैनियों को गिरिनार पर मुनिजनों के आवास का भी

---

१ Memorandum on the Antiquities at Dabhoi, Ahmedabad, Than Junagadh Girnar & Dhank, pp. 31-32.

२ Ibid. p. 32.

३ Madieaval Jainism, p. 360.

४ Ibid, p. 343.

विश्वास था। निस्सन्देह गिरिनार पर एक प्राचीनकाल से दिगम्बर जैन मुनिसंघ के अस्तित्व का पता श्रावकों को रहा है। केलदिय सदाशिवनायक के एक ताम्र-शासन में भी गिरिनार का उल्लेख इस प्रकार से हुआ है:— "इस (धर्म) के प्रतिकूल चलनेवाला जैनी बेल्गोलस्थ गुम्मटनाथ, कोपणस्थ चन्द्रनाथ, ऊर्जयन्तगिरिस्थ नेमिनाथ आदि जिन-प्रतिमाओं को फोड़ने के पाप-भागी होंगे[1]।" इनके अतिरिक्त खोज करने से और भी लेखों में गिरिनार का उल्लेख मिल सकता है। दक्षिण के दूरवर्ती स्थानों के लेखों में उसका नामोल्लेख गिरिनार की विशेष प्रसिद्धि का प्रमाण है! भक्त श्रावक उस महातीर्थ को भला कैसे विस्मरण करते!

इतिहास

उपर्युक्त वर्णन को देखते हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि तीर्थरूप में गिरिनार की प्रसिद्धि तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि के समय से हुई थी। तीर्थङ्कर नेमि ने वहाँ पर दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर के तप तपा, उपदेश दिया, शिवसुंदरी को वरा और उनके साथ अनेकानेक मुनिगण मुक्त हुये[2]। इसीलिये वह जैनियों का प्रधान तीर्थ है। विदित होता है कि गिरिनार पर दिगम्बर जैनियों की प्रधानता प्राचीनकाल से रही थी। वैसे तो जैन संघ में मतभेद की जड़ मौर्यकाल में ही पड़ गई थी; परन्तु दिगम्बर और श्वेताम्बर धारायें ईस्वी प्रथम शताब्दी में बिल्कुल पृथक् हो गई थीं[3]। दिगम्बराम्नायी मुनियों और मूर्तियों के दिगम्बर (यथाजात-नग्न) भेष के उपासक रहे। इसके विपरीत श्वेताम्बरों ने यथानाम श्वेत वस्त्रधारी साधुओं और वस्त्राभूषणाङ्कित प्रतिमाओं की उपासना आरम्भ की। उपर्युक्त दिगम्बर जैन एवं हिन्दूपुराण से स्पष्ट है कि तीर्थङ्कर नेमिनाथ दिगम्बर मुनि हुए थे—उन्होंने गिरिनार पर्वत पर समस्त वस्त्राभूषणों को तिलाञ्जलि दे दी थी। उन दिगम्बर मुनिराट् तीर्थङ्कर नेमि की मूर्तियां भी दिगम्बरभेष में बनना उपयुक्त है। खेद है कि गिरिनार पर की प्राचीन प्रतिमायें और मंदिर बहुत पहले ही नष्ट-भ्रष्ट किये जा चुके हैं—ऊपर पाठकगण पढ़ चुके हैं कि गिरिनार के प्राचीन स्मारकों को प्रकृति और पुरुष-दोनों का ही कोपभाजन बनना पड़ा था। किन्तु गिरिनार से सटा हुआ ढँक नामक स्थान अपनी प्राचीनता को अब भी अक्षुण्ण बनाये हुये है। वहाँ की मूर्तियाँ काठियावाड़ में सर्व-प्राचीन हैं और वे दिगम्बर जैन मूर्तियाँ हैं। वहाँ भ० नेमिनाथ की

१ Epigraphia Indica, Pt. V. (1931) p. 94 जैनसिद्धांत-भास्कर भा० ५, (प्रशस्ति-संग्रह) पृ० १२४,

२ "णेमिस्सामि पज्जण्णो सम्बकुमारो तहेव अणिरुद्धो।
बाहत्तर कोडीओ उज्जंते सलयया सिद्धा॥"—णिव्वाणकांड-गाहा।

३ संक्षिप्त जैन इतिहास भा० २, ख० १, पृष्ठ २१४-१६।

शासनदेवता अम्बिकादेवी की भी मूर्ति है। तीर्थङ्करों की कई नग्न मूर्तियाँ हैं; जिनमें भ० नेमिनाथ की मूर्ति होना भी संभव है। इन मूर्तियों के आधार से यह अनुमान किया गया है कि काठियावाड़ में ईस्वी प्रथम शताब्दी से तृतीय शताब्दी तक दिगम्बर जैन धर्म की प्रधानता रही थी[1]। बल्कि इसका अस्तित्व इससे भी प्राचीन होना उपयुक्त है। 'गर्गसंहिता' के ऐतिहासिक उल्लेख से स्पष्ट है कि मौर्यसम्राट् सालिसूक ने सौराष्ट्र में जैनधर्म का प्रचार किया था।[2] और यह पहले ही लिखा जा चुका है श्रुतकेवली भद्रबाहु जी संघसहित गिरिनार पर पधारे थे। सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ में थे। उन सम्राट् के प्रपौत्र संप्रति ने भी सौराष्ट्र में जैनधर्म का प्रचार किया था और मंदिरादि निर्माण थे; किन्तु खेद है कि आज उन प्राचीन इमारतों का पता नहीं है—उनकी जगह नई इमारतों ने ले ली है। पूर्वोल्लिखित क्षत्रप रुद्रसिंह के गुफालेख से स्पष्ट है कि उनके समय में गिरिनार की गुफाओं में जैनमुनिगण रहा करते थे। उधर 'श्रुतावतार' प्रकरण से लगभग उसी समय गिरिनगर (जूनागढ़) की चन्द्रगुफा में दिगम्बर जैनाचार्य श्रीधरसेन स्वामी का अस्तित्व प्रमाणित होता है[3]। यहीं से उन्होंने दक्षिणापथ के दि० जैन संघ को लिख कर दो मेधावी मुनिपुंगवों को श्रुतोद्धार के लिए बुलाया था और उनके द्वारा अवशेष श्रुतज्ञान की रक्षा और लिपि कराई थी। संभव है कि उपर्युक्त गुफालेख में इस घटना का उल्लेख हो, क्योंकि उसमें प्रयुक्त वाक्य से स्पष्ट है कि किन्हीं महानुभाव को 'केवलि भगवान का ज्ञान प्राप्त' हुआ था। उधर श्रुतावतारकथा से यह स्पष्ट है ही कि धरसेनाचार्य जी से श्रीभूतबलि और पुष्पदंत आचार्यों को केवली भगवान द्वारा निरूपित ज्ञान का शेषांश उपलब्ध हुआ था। जो हो, यदि वह गुफालेख पूर्ण होता तो इतिहास के लिये विशेष महत्त्वशाली था।

'दि० जैन पट्टावली' से यह भी पता चलता है कि श्रीकुंदकुंदाचार्य जी के समय में गिरिनार पर्वत की वंदना करने के अधिकार का प्रश्न जैनियों में उठ खड़ा हुआ था—दिगम्बर अपना अधिकार बताते थे और श्वेताम्बर अपना। आखिर यह ठहराव हुआ कि जो गिरिनारस्थ सरस्वती देवी की मूर्ति को वाचाल कर दे वही अधिकारी माना जाय। श्रीकुंदकुंदाचार्य जी ने उस मूर्ति के मुख से कहलवा दिया कि 'दिगम्बरमत प्राचीन है।' इसलिये पर्वत का अधिकारी वह माना गया।* मालूम नहीं यह कथन कहाँ तक ठीक है? क्योंकि

१ जैन सिद्धांतभास्कर, भा० ५, कि० ३, पृ० १६१-१६२।
२ संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २, खं० २, पृ० ७।
३ जैन सिद्धांतभास्कर भा० ३, पृ० १२६-१३३।
* "पद्मनंदिगुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी। पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती॥
ऊर्जयन्तिगिरौ तेन गच्छः सारस्वतो भवेत्। अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनंदिने॥"
(कुंदकुंदाचार्य का अपर नाम पद्मनंदी भी था। अबूरैहानुलबेरूनी नामक यात्री (९ वीं श०) भारतीय मूर्तियों के बोलने का उल्लेख करता है।—Ancient Acctts. of India & China, p. 35.

इसका समर्थन अभीतक किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ अथवा शिलालेख मे हुआ—हमारे देखने में नहीं आया है। किन्तु दिगम्बर-सम्प्रदाय की यह दृढ़ मान्यता है और इसी कथा के आधार पर उसके 'सरस्वतीगच्छ' की उत्पत्ति कही जाती है।

जो हो, उपर्युक्त पंक्तियों के पढ़ने से ईस्वी प्रारंभिक शताब्दियों में गिरिनार पर दिगम्बर जैन मुनियों का अस्तित्व एवं उनका प्राबल्य स्पष्ट है।

गुप्त राजत्व-काल एवं उसके उपरांत काल में गिरिनार का इतिहास बताना सुगम नहीं है। परन्तु इसी समय में हुए 'हरिवंशपुराण' के रचयिता श्रीजिनसेनाचार्य स्पष्ट लिखते हैं कि "गिरिनार तीर्थ की वंदना करने अनेक यात्री आते हैं।" और उपरान्त की साहित्य-साक्षी गिरिनार पर जैनों का अधिकार प्रकट करती है। उससे यह भी जाहिर है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर-सम्प्रदायों में परस्पर पर्वत के अधिकार-विषय को लेकर झगड़ा चला था। श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से वहां पहले-से दिगम्बर-सम्प्रदाय का प्राबल्य स्पष्ट है।

श्वेताम्बराचार्य श्रीरत्नमन्दरगणिकृत 'उपदेशतरंगिणी' में ऐसा उल्लेख है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि तब वह तीर्थ पचास वर्ष से दिगम्बरों के अधिकार में था। संघपति धाराक ने उस पर अधिकार करना चाहा, परन्तु गिरिनार के किलेदार खङ्गार ने उन्हें मार भगाया। धाराक ग्वालियर गये और बप्पभट्टि के शिष्य नृप अम्म को लिवा लाये; परन्तु अम्म गिरिनार पहुंचे या नहीं, यह अस्पष्ट है। वह खङ्गार से लड़े नहीं। श्वेताम्बराचार्य ने अम्बिका देवी की मूर्ति को वाचाल करके अपना अधिकार घोषित कर दिया[1]। किन्तु यह कथन श्वेताम्बरों के दूसरे ग्रन्थ 'सुकृतसागर' के वर्णन से बाधित है। उसमें लिखा है कि दिल्ली के दिगम्बर जैनी सेठ पूर्णचन्द का संघ गिरिनार की वंदना करने आया था और तीर्थ को अपना बताता था[2]। यह सेठ पूर्णचन्द्र सुलतान अल्लाउद्दीन द्वारा मान्य थे, इसलिये उनके समकालीन थे। 'रासमाला' से स्पष्ट है कि सिद्धराज के बाद हुए राजा कर्ण के शासनकाल में अलाउद्दीन ने गुजरात पर आक्रमण किया था[3]। इसका अर्थ यह होता है कि 'सुकृतसागर' में 'उपदेशतरंगिणी' के गिरिनार-प्रकरण से बाद का विवरण है और उससे भी दिगम्बरों का प्राबल्य और अधिकार उस तीर्थराज पर प्रकट होता है; क्योंकि जिन अम्मनृप का उल्लेख 'उपदेशतरंगिणी' में है वह सन ७२५ में हुए थे[4]। 'सुकृतसागर' से यह भी स्पष्ट है कि गिरिनार के प्राचीन मंदिर में मूलनायक भ० नेमिनाथ की प्रतिमा आभरणादि-

१ जैनहितैषी, भा० १५, पृ० १३३-१३४।

२ पूर्व०, पृ० १३२-१३३।

३ फार्बस, रासमाला, पृ० २१४—२१५।

४ टॉक, दी जैन बायोग्रेफिकल डिक्शनरी, पृ० ५६।

रहित नग्न (दिगंबर) थी। अतः गिरिनार तीर्थ पर दिगम्बर-सम्प्रदाय की प्रधानता स्वयं श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से सिद्ध है।

'उपदेशतरंगिणी' में श्वे० संघपति धाराक से गिरिनार के किलेदार खंगार लड़ने आये लिखा है। इससे प्रकट होता है कि यह खंगार दिग० जैनों के संरक्षक थे। जूनागढ़ पर शासन करनेवाले राजवंशों में चूड़ासमास राजवंश भी एक था। यह राजवंश यदुकुल से समुद्भूत था। चूड़ासमासवंश के राजाओं के पूर्वज दसवीं शताब्दी में सिंधु देश से आकर जूनागढ़ के अधिकारी हुये थे और अपने पूर्वज चन्द्रचूड़ के नाम से 'चूड़ासमास' कहलाते थे। इन राजाओं का किला गिरिनार पर था और इन में खंगार नाम के एक से अधिक राजा हुए हैं। उपर्युक्त किलेदार खंगार इसी वंश के राजा प्रतीत होते हैं।

चूड़ासमासवंश के राजा

इस वंश के राजाओं पर यहां पर एक सरसरी नजर डाल लेना अनुपयुक्त नहीं है। वे यों हैं:—

(१) चन्द्रचूड़, (२) मूलराज (सन ९०७), (३) विश्ववराह, (४) रा गाहर सिंह, (५) रा कवाट (९८२ ई०) जो आबू के राजा आनो से लड़े और उसे दस दफा कैद करके छोड़ा, (६) रा दयास (१००३) पाटन के राजा ने इसे मार कर राज्य छीना, (७) उपरान्त इसका पुत्र रा नौधन राजा हुआ, (८) रा खेंगार, (९) नौधन II, (१०) रा खेंगार II ने पाटन को जीता, परन्तु सिद्धराज ने उसे युद्ध में प्राणरहित किया और उसकी रानी रानिक देवी को ले गया। किन्तु रानिक देवी ने अपने प्राण देकर शीलधर्म की रक्षा की थी। सोरठ में रानिक देवी के विरह-विलाप के गीत खूब गाये जाते हैं। (११)नौधन III जो सन ११४० में स्वर्गवासी हुआ, (१२) कवाट II, (१३) जय सिंह, (१४) राय सिंह, (१५) महीपाल, (१६) जयमल, (१७) रा मेहेपरे (१२३०), (१८) रा खेंगार III (१२५३) इसके मन्त्री कल्याण सेठ थे। रा खेंगार ने एक सेठ की पत्नी से अनुचित व्यवहार करना चाहा था, परन्तु उस वीराङ्गना के हाथ से स्वयं उसे अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े थे, (१९) रा मंडलीक—यह आलघ खां से लड़े थे और यवनों को मार भगाया था। गिरिनार पर भ० नेमिनाथ का स्वर्णपत्र-खचित भव्य मन्दिर निर्माण कराया था। (२०) महीपाल III, (२१) खेंगार (१३२५), (२२) रा जय सिंह II, (२३) महीपाल IV, (२४) मुक्तासिंह २५) मंडलीक, II (२६) मेलक (२७) जयसिंह, (२८) महीपाल, (२९) मंडलीक (१४५१)—इसका मन्त्री सेठ वीसल था, जिसकी पत्नी मोहिनी को उसने बलात्कार गृहणी बनाया। वीसल सुलतान महमूद को चढ़ा लाया, जिसने सन १४७३ में आखिर उसे नष्ट किया और उसके पुत्र, (२९)

भूपति सिंह को जागीरदार बनाया (!) (३०) खेंगार, (३१) नौघन (१५२५), (३२) श्रीसिंह, (३३)खेंगार जूनागढ़ से हटकर सिलवगसर में जा रहे[1] । इसके पश्चात् मुसलमान राजाओं का अधिकार जूनागढ़ पर हो गया।

इन राजाओं में राज खेंगार प्रथम अथवा द्वितीय ही वह किलेदार खंगार प्रतीत होते है जो श्वेताम्बरीय संघपति धाराक से लड़े थे। वह स्वयं दिग० जैनधर्म के संरक्षक थे और उनके वंशज रा मंडलीक भ० नेमिनाथ के परम भक्त थे। उन्होंने नेमिनाथ भ० का मनोहारी मंदिर बनवाया था, जिसमें मूलनायक प्रतिमा पहले दिगम्बर (नग्न) थी। इनके अतिरिक्त इस वंश के और कौन से राजा जिनेन्द्रभक्त रहे, यह अन्वेषण करने का विषय है।

कुछ समय के लिये जब सोलंकी राजा जूनागढ़ के अधिकारी हुए तो उन्हों ने भी गिरिनार पर मंदिरादि बनवाये थे। सिद्धराज के दंडनायक सज्जन ने पुराने मंदिर के स्थान पर एक नया पाषाण मन्दिर निर्माया था[2] । सम्राट् कुमारपाल के समय में गिरिनार पर्वत पर सीढ़ियां बनाई गई थीं।

सारांश यह कि सोलंकियों के समय से ही श्वेताम्बर जैनों का प्राबल्य गिरिनार पर हो गया था परन्तु उस समय यह विशेषता थी कि चाहे जिस सम्प्रदाय का प्राबल्य रहा हो, वंदना करने के लिये सब स्वाधीन थे—भगवान नेमि की भक्ति करने दिगम्बर और श्वेताम्बर साथ-साथ जाते थे। राजमन्त्री वस्तुपाल-तेजपाल के संघ में श्वेताम्बरों के साथ ११०० दिगम्बर जैनी भी थे[3] । गज यह कि पहले परस्पर मैत्री भाव था और प्रत्येक जैनी एक दूसरे के उत्सव में सहयोग देता था। आज भी यह सुखद स्थिति वाञ्छनीय है!

वर्तमान रूप

गिरिनार के वर्तमान रूप का यथार्थ परिचय दर्शन करने से ही सम्बन्ध रखता है। पूर्व दर्शकों के आधार से यहां कुछ परिचय लिखना अनुपयुक्त नहीं है। कहा जाता है कि गिरिनार के पांच मुख्य शिखर हैं:— (१) अम्बामाता (२) गोरखनाथ—यह सब में ऊंचा—समुद्रतल से ३६६६ फीट ऊंचा है, (३) ओघडशिखर, (४) गुरुदत्तात्रेय और (५) काल्का, जहां अघोरी रहते हैं। चूड़ासमास राजाओं के किले के खण्डहर भी अवशेष हैं। मंदिरों के अतिरिक्त गिरिनार पर तीन प्रसिद्ध कुण्ड हैं: जो 'गोमुखी'—'हनूमानधारा' और 'कमंडलकुंड' कहलाते हैं। 'भैरवजप' नामक पाषाण एक दर्शनीय वस्तु है। पहले उस पर से कूद कर पाखण्डी लोग स्वर्ग पाने के लोभ में अपने प्राण दिया करते थे। 'रेवतीकुंड' के

१ बम्बई गेजेटियर भा० ८, पृ० ४९४—५९५।

२ प्रबन्धचिन्तामणि—बम्बई गेजेटियर, भा० १, ख० १, पृ० १७६-१७७।

३ कीर्तिकौमुदी—बम्बई गेजेटियर, भा० १, ख० १, पृ० २०२।

ऊपर ही 'रेवताचल' पर्वत है, जिसकी तलहटी में अशोक के धर्मलेख है। आगे पोलीटिकल एजेण्ट सुंदर जी को बनवाया हुआ पलासिनी नदी का सुन्दर पुल है।

तलहटी में एक श्वेताम्बरी और एक दिगम्बरी धर्मशाला है। दिगम्बरी धर्मशाला में दो और श्वेताम्बरी धर्मशाला में एक जिनमंदिर है। दिगम्बरीयों की एक धर्मशाला जूनागढ़ में भी है। गिरिनार तीर्थ का प्रबन्ध करनेवाली एक कमिटी है, जिसका प्रधान कार्यालय प्रतापगढ़ (मालवा) में है और वह "श्रीवंडीलाल जी दि० जैनकारखाना श्री गिरनार" के नाम से प्रसिद्ध है। दि० धर्मशाला से कोई सौ क़दम के फासले पर पवत पर चढ़ने का द्वार है। जूनागढ़ के भूतपूर्व दीवान बेहचरदास बिहारीलाल और डॉ० त्रिभुवनदास मोतीचंद शाह के उद्योग से 'जूनागढ़ लॉटरी' की उपज-द्वारा काले पत्थर की मजबूत सीढ़ियां गिरिनार ज पर्वत की चारों टोकों तक लगवाई गई हैं। उपर्युक्त द्वार से ही पवत पर चढ़ने की सीढ़ियाँ शुरू होती हैं। जूनागढ़-राज्य पर्वत पर चढ़ने का कर लेता है। लगभग तीन हज़ार से अधिक सीढ़ियाँ चढ़ने पर इस पर्वत की पहली टोंक मिलती है। यहां पर एक-एक धर्मशाला दिगम्बरियों और श्वेताम्बरियों की है। इस टोंक पर ही जैनियों के मुख्य मंदिर हैं—अन्य टोकों पर चरणचिह्न अथवा छोटी-छोटी देवकुलिकायें है। अधिक मंदिर श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के हैं।[1] इनमें एक प्राचीन मंदिर 'ग्रेनिट' पाषाण (granite) का है, जिसकी मरम्मत संवत् ११३२ में सेठ मानसिंह भोजराज ने कराई थी। कर्नल टॉड सा० यह मंदिर दिगम्बर जैनियों का बतलाते हैं[3]। जो हो, अब यह मंदिर श्वेताम्बर भाइयों के अधिकार में है और इसमें अब मूलनायक संभवनाथ की प्रतिमा विराजमान है। बर्जेस साहब ने श्वेताम्बरों द्वारा इसका जीर्णोद्धार होते देखा था। दूसरी टोंक नेमिनाथ स्वामी की है। इसमें भी कई मंदिर हैं, जिनमें एक मंडलीक राजा का बनवाया हुआ है। तीसरी टोंक मेरकवंशी की कहलाती है, जिसकी कारीगरी दर्शनीय है। मंदिरों का चौथा समूह सगराम सोनी की टोंक कहलाता है। संवत १८४३ के लगभग सेठ प्रेमाभाई हेमाभाई ने इन मंदिरों की मरम्मत कराई थी। इसके आगे कुमारपाल की टोंक है। श्रीअभिनन्दन जिन का मंदिर उन्हीं का बनवाया हुआ है। इस मंदिर के बाहर भीमकुंड के पूर्व में बहुत-सी प्राचीन खंडित प्रतिमायें पड़ी हैं। इसके बाद 'वस्तुपाल तेजपाल जी' की टोंक है, जिसमें तीन

१ Watson, Statistical Acctt. of Junagadh, pp 76-77.

२ दिगम्बर जैन डायरेक्टरी, पृ० ७६०—७६१।

३ "To the east of the Devakota, there are several temples, the principal being the temple of Man Singh Bhoja Raj of Kacchh—an old granite temple near the entrance gate, which Tod call a Digambara Temple of Neminatha."

—The Report p. 169.

मंदिर हैं। इन मन्दिरों में पीले रंग का और सलीका बढ़िया पत्थर काम में लाया गया है। कहते हैं यह पत्थर वस्तुपाल ने भारतवर्ष के बाहर से मंगाया था। इन तीनों मंदिरों के मूलनायक पार्श्वनाथ हैं। इसके बाद संप्रति राजा की टोंक है। यहां का मंदिर सम्प्रति राजा का कहलाता है, परंतु वर्तमान में इस बात का कोई चिह्न नहीं मिलता है। एक जगह कुछ गहराई में राजुल की गुफा है, जिसके भीतर राजमती जी की एक खड़ी मूर्ति सफेद पत्थर की है।

दिगम्बरी मन्दिरों में से एक प्रतापगढ़-निवासी श्रीबंडीलाल जी का संवत् १९१५ का बनवाया हुआ है। और दूसरा लगभग इसी समय का शोलापुरवालों का बनवाया हुआ है। पहले मंदिर में श्रीशान्तिनाथ जी की एक मूर्ति सं० १६६५ की प्रतिष्ठा की हुई है और एक सुप्रसिद्ध बिम्ब-प्रतिष्ठापक सेठ जीवराज पापड़ीवाल की सं० १४७५ की है। दिगम्बरी मन्दिरों को आगे दाहिनी ओर चौमुखी मन्दिर है। फिर रथनेमि का मन्दिर है जो श्वे० आम्नाय में मान्य है।

यहां से अंबा जी की टोंक पर जाने का रास्ता है। अम्बादेवी के मन्दिर को जैनी और वैष्णव दोनों पूजते हैं।[1] बर्जेस सा० का अनुमान है कि यह मन्दिर पहले जैनियों या बौद्धों का था।[2] अंबा जी की टोंक से आगे चलने पर तीसरी टोंक आती है, जिस पर पहले नेमिनाथ भगवान् के चरण मिलते हैं। वहीं गोरखनाथ के चरण हैं।

इस टोंक से लगभग ४००० फीट नीचे उतर कर चौथी टोंक पर जाना पड़ता है। चढ़ाई कठिन है। टोंक के ऊपर एक काले पाषाण पर नेमिनाथ जी की प्रतिमा तथा दूसरी शिला पर चरण हैं। कोई इसी टोंक पर से भ० नेमि का निर्वाण हुआ बताते हैं और कोई पांचवीं टोंक से। इसी टोंक से नीचे उतर कर पांचवीं टोंक पर सीढ़ियों से चढ़ना पड़ता है। यह शिखर सब से ऊँचा है और चारों ओर का दृश्य अत्यन्त मनोहारी है। टोंक पर एक मठिया के नीचे नेमिनाथ भगवान के चरण स्थापित हैं और एक बड़ा भारी घंटा बंधा हुआ है। बर्जेस सा० ने भ० नेमिनाथ की इस पादुका को पाषाण में उकेरा हुआ लिखा है, जिसपर एक देवकुलिका (मठिया) बनी हुई थी। एक नंगा साधु उनकी देखभाल करता था। दिगम्बर जैनी इसकी विशेष पूजा करते हैं, यह बात बर्जेस सा० ने लिखी है।[3] नेमिनाथ के इन चरणों को वैष्णव लोग भी गुरुदत्तात्रेय के चरण कह कर पूजते हैं और मुसलमान

१ दिगम्बर जैन डायरेक्टरी, पृ० ७६३-७६४।

२ The Report; p. 175.

३ ".....Neminath or Aristanemi, who gives his name to this sunnmit... is the 22nd of their deified saints..... This one is the favourite object of worship with the Digambars or naked Jains" —Burgess, The Report, pp. 175.

मदारशा पीर का तकिया कहते हैं। इस स्थान से नेमिनाथ स्वामी के प्रथम गणधर वरदत्त का निर्वाण हुआ था।[1] संभवतः गणधर वरदत्त को ही वैष्णव गुरु दत्तात्रेय कह कर पूजते है।[2]

इस टोंक से उतरने पर रेणुका शिखर मिलता है और फिर कालिका टोंक आ जाती है। इन टोंकों पर कोई जैनी नहीं जाता—इन पर जाना है भी भयंकर!

दूसरी टोंक के पास गोमुखी से दाहिनी ओर को एक सपाट रास्ता सहसावन या सेसावन को जाता है—यह सहस्राम्रवन का अपभ्रंश है। कहते हैं, यहाँ पर नेमिनाथ स्वामी ने कुछ समय तपस्या की थी। यहां पर कई गुफायें और कुंड हैं। गुफाओं में अपरकोट और बाबा प्यारा की गुफायें जैनियों की अनुमान की जाती है।

नेमिनाथ जी के मंदिर-समूह में एक तलगृह-मन्दिर में श्रीपार्श्वनाथ की प्रतिमा है। कहते हैं कि उसकी ठोड़ी से हमेशा एक बूंद पानी टपकता है। इसीलिए उसे 'अमीजरा पार्श्वनाथ' कहते हैं। बाटसन सा० ने इस प्रतिमा के कई बार दर्शन किये, परंतु पानी कम बरसने के कारण उन्हें जल की बूंद टपकती नहीं दिखाई पड़ी। यह भी कहा जाता है कि चढ़ाई में यात्रियों के विश्राम लेने के लिए छै 'परब' (Rest Houses) हैं: (१) छोटा परब (२) छोर परब (३) धोब परब (४) काली परब (५) माली परब (६) और सुवावड़ी परब।[3]

उपसंहार

गिरिनार पर्वत की इस प्रकार यह सामान्य रूपरेखा है। पाठकगण इसको पढ़ें और गिरिनार का पवित्रता का अनुभव करें, जिसने मनुष्य को प्रेम-सूत्र में बांधने का मनोरम पाठ पढ़ाया है! किन्तु आश्चर्य है कि इस पर भी हम भारतवासी परस्पर एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और साम्प्रदायिक विद्वेष में बहे जाते हैं। जैनी गिरिनार को अहिंसा के प्रतिपादक शिवरूप नेमिनाथ-द्वारा पवित्र हुआ मानते हैं—ब्राह्मण लोग भी शिवजी को अहिंसा-सत्यादि का प्रतिपादक बता कर उन्हीं के कारण गिरिनार को पूज्य मानते हैं और उनका जाप 'शिवनेमिनाथ' के नाम से देते हैं। यहां भी वही बात है। हमारे मुसलमान पड़ोसी उसी तीर्थ को पूजते हैं और ज़ियारत के वक्त अहिंसक बने रहते हैं! कैसा है प्रभाव गिरिराज गिरिनार का! निरन्तर जय हो गिरिराज की!

---

१ दिगम्बर जैन डायरेक्टरी, पृ० ७६४।

२ ब्राह्मण लोग दत्तात्रेय का यथार्थ नाम दत्त आत्रेय बताते हैं। आत्रेय उनका गोत्र था। गणधर वरदत्त का गोत्र क्या था? यह गवेषणीय है।

३ Statistical Acctt. of Junagadh, p. 77.

सार 'जैन ऐन्टीक्वेरी'

(जून १९३९)

पृ० १—८ प्रो० चक्रवर्ती ने तामिल जैन साहित्य के काव्यों का परिचय कराया है। तामिल भाषा के पांच महाकाव्यों में से तीन (१) चिन्तामणि (२) शीलप्पदिकारम् (३) और वलैयापति नामक महाकाव्य जैनियों की रचनायें हैं। चिन्तामणि सर्वोत्कृष्ट काव्य है। 'शीलप्पदिकारम' का महत्त्व विशद है। इसकी रचना चेरवंशी राजा चेरलादन के पुत्र राजकुमार इलंगोबडिगल थे, जो मुनि हो गए थे। जब वह वंजीके जिनमंदिर में थे तब किन्हीं पहाड़ी लोगों ने एक आश्चर्यमयी घटना उनसे आकर कही। उसी घटना के आधार से शील का माहात्म्य प्रकट करने के लिए यह काव्य रचा। चोलदेश का राजधानी पुहार में माशत्तुवन नामक श्रेष्ठी थे, जिनके पुत्र का नाम कोवलन था। कोवलन का व्याह कण्णकि से हुआ था। वे दोनों अलग एक घर में रहते थे। खूब दान-पुण्य करते थे। इत्तफाक़ से कोवलन का प्रेम माधवी नामक वेश्या से हो गया और वह अधिकतर उसी के साथ रहने लगा। कण्णकि को दुःख हुआ ज़रूर, परंतु पतिदेव की उसने ज़रा भी अवज्ञा नहीं की—अपना दुःख तक उन पर प्रकट नहीं किया। सारी सम्पत्ति वेश्या-सेवन में नष्ट हो गई। घटनावश कोवलन और माधवी का परस्पर सम्बन्धविच्छेद हो गया। वह घर आया। कण्णकि ने उसका ढाढ़स बंधाया और उसे अपने दो कड़े उतार देकर कहा कि इनके रुपये उठाकर व्यापार करो। पति-पत्नी पाण्ड्यदेश की राजधानी मदुरा गए जो जैनधर्म का केन्द्र था। वहां कोवलन ने एक कड़ा बेचने के लिए राजा के सुनार को दिया। उसने राजा को उल्टी-सीधी सुझा कर कोवलन को चोरी के अपराध में फांसी का दण्ड दिलाया। बेचारा कोवलन बेमौत मरा। कण्णकि ने राजा को उसकी भूल सुझाई। राजा अपनी ग़लती पर ऐसा परेशान हुआ कि उसका भी प्राणान्त हो गया। कण्णकि ने मदुरा के नष्ट होने का शाप दिया और अपनी छाती नोच कर फेंक दी और जाकर पतिमिलन की प्रतीक्षा करने लगी। कोवलन स्वर्ग में देव हुआ था—वह उससे आकर मिला। यह इस काव्य का संक्षिप्त भाव है। अन्त में चेर राजा के ऐश्वर्य का वर्णन है। यह काव्य सन् १५० ई० में रचा गया था।

पृ० ९—२० डा० जुननकर ने जैनधर्म के भविष्य पर गंभीर विचार प्रकट किये हैं, जो प्रत्येक जैनी को पढ़ना चाहिए। इस लेख का हिंदी अनुवाद प्रकट किया जाना चाहिए।

पृ० २१—२५ प्रो० हरिमोहन भट्टाचार्य ने सांख्य और मीमांसा दर्शनों में वर्णित आत्मा के ज्ञानगुण पर जैनदृष्टि से आलोचनात्मक विवेचन किया है।

पृ० २७ प्रो० दशरथ शर्म्मा ने बीकानेर के चिन्तामणि जैनमंदिर के सं० ११७६ के शिलालेख का संपादन किया है।

पृ० २९—३२। जैन-काल-गणना में जरासिंधु से लेकर महामंडलिक राजा आनन्दकुमार तक की घटनाओं का वर्णन है। —कामताप्रसाद जैन

साहित्य-समालोचना

(१)

समाधितंत्र

मूलकर्ता—पूज्यपादाचार्य; संस्कृत-टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य; हिन्दी अनुवाद—पं० परमानन्द जैन शास्त्रिकृत; सम्पादक—पं० जुगलकिशोर मुख्तार; प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर, सरसावा (सहारनपुर, यू० पी०), सन् १९३९; मूल्य—आत्मविचार; रायल आकार; २४+१०८ पृष्ठ।

यह वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला का प्रथम ग्रन्थ है। इसके प्रकाशन के लिये बाबा भागीरथ जी की प्रेरणा से ३५५) रुपया का दान प्राप्त हुआ था। ग्रन्थ बाबा जी को समर्पित किया गया है। छपाई-सफाई अधिक संतोषजनक नहीं हो सकी जिसका कारण प्रेस की गड़बड़ी थी।

ग्रन्थ के कर्त्ता पूज्यपाद का नाम जैन साहित्य में सुप्रसिद्ध है। इनका सबसे अधिक सुप्रचलित ग्रन्थ तत्वार्थसूत्र की टीका—सर्वार्थसिद्धि है। उनकी अन्य ज्ञात रचनायें हैं जैनेन्द्र-व्याकरण, इष्टोपदेश, सिद्धभक्ति। अन्य पांच छह 'भक्तियां' भी पूज्यपाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके 'वैद्यकशास्त्र', 'शब्दावतार', 'जैनाभिषेक' व 'छन्दःशास्त्र' के भी उल्लेख मिलते हैं, नहीं कहा जा सकता कि वे अब सुरक्षित हैं या नहीं? श्रीधवल सिद्धान्त में उनके एक 'सारसंग्रह' ग्रन्थ का उल्लेख भी आया है जो न्यायविषयक प्रतीत होता है। इन सब विषयों का तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के विषयादि का विद्वत्तापूर्ण विवेचन सम्पादक-द्वारा लिखी गई भूमिका में पाया जाता है। भूमिका में कर्ता के काल-निर्णय की अलग से ऊहापोह नहीं की गई। हाँ, यह यत्र-तत्र कहा गया है कि वे विक्रम की छठी शताब्दी में हो गये हैं। उनके एक शिष्य वज्रनन्दी ने विक्रम सं० ५२६ में द्राविड़संघ की स्थापना की थी, तथा वे गंगराजा दुर्विनीत के शिक्षागुरु थे, जिसका राज्यकाल ई० सन ४८२ से ५२२ तक पाया जाता है।

समाधितंत्र १०५ पद्यों का अध्यात्म-विषय-संबंधी सुन्दर काव्य है। इसमें थोड़े ही शब्दों द्वारा सूत्ररूप से अपने विषय का अच्छा प्रतिपादन किया गया है। प्रतिपादनशैली सरल, सुन्दर एवं हृदयग्राहिणी है। अनुवाद, अन्वयार्थ और भावार्थ-रूप से अच्छा विशद हुआ है।

वीरसेवा-मन्दिर से आगे सात अन्य ग्रन्थों के प्रकाशित किये जाने की प्रतिज्ञा की गई है। इनमें जैन लक्षणावली, धवलादि-श्रुतपरिचय और ऐतिहासिक जैन व्यक्ति-कोश के लिये हम विशेषरूप से उत्सुक रहेंगे। अधिष्ठाता जी से अनुरोध है कि वे, इन्हें शीघ्र प्रकाश में ला कर जैन साहित्य-सेवियों का उपकार करें।

—हीरालाल जैन एम० ए०

सर्वार्थसिद्धि

रचयिता—श्रीपूज्यपाद ; सम्पादक—पं० जिनदास शास्त्री न्यायतीर्थ ; प्रस्तावना-लेखक—मोतीचन्द्र एम०ए०; पृष्ठ-संख्या ३६+३२२ ; मूल्य २) रु० ; प्रकाशक—श्रीयुत रावजी सखाराम दोशी, शोलापुर।

शोलापुर से जैन परीक्षालय के मंत्री स्वर्गीय सेठ रावजी सखाराम दोशी ने सर्वार्थसिद्धि का एक नूतन संस्करण अभी हाल ही में प्रकाशित किया है। इसका संशोधन पं० जिनदास जी शास्त्री ने किया है और मुद्रण पं० वर्धमान जी शास्त्री ने अपने कल्याण मुद्रणालय में किया है। संस्करण का आकार वगैरह बिल्कुल पूर्व संस्करण जैसा ही है, मूल्य भी उतना ही है। किन्तु पृष्ठ-संख्या उससे बढ़ गई है। इसका कारण यह है कि संशोधक जी ने किसी-किसी स्थल पर श्रुतसागरी टीका के कुछ अंश जो उन्हें अच्छे लगे, फुटनोटों में उद्धृत कर दिये हैं। तथा प्रारम्भ में पं० गौतमचन्द मोतीचन्द्र कोठारी एम० ए० की तथोक्त महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना ने, पं० मक्खनलाल जी शास्त्री के 'श्रीवर्द्धमानाय नमः' ने (उनके वक्तव्य के शीर्षक स्थान में यही वाक्य मुद्रित है) और संशोधक जी के श्रुतसागर विषयक परिचय ने एक कम पूरे चालीस पृष्ठ रोक लिये हैं। किन्तु इस पृष्ठ-वृद्धि से इस संस्करण की कलेवर वृद्धि नहीं हो सकी है, क्योंकि प्रकाशक जी ने इसमें जो कागज लगाया है, वह संभवतः इसी अनुपात से पसन्द किया गया था, कि पृष्ठ-संख्या बढ़ने पर भी सर्वार्थसिद्धि के पूर्व संस्करण से इस संस्करण की मोटाई न बढ़ने पाये। इस पसन्दगी ने संस्करण की मोटाई को तो नहीं बढ़ने दिया, किन्तु और इस तरह से उसका बाह्य सौन्दर्य पूर्ववत् ही आकर्षक बना रहा, किन्तु इससे उसके अन्तः सौन्दर्य में कम से कम मेरी दृष्टि से तो अन्तर पड़ ही गया। कागज के पारदर्शक होने की वजह से एक ओर से दोनों ओर के अक्षर झलकते नजर आते हैं। स्याही भी कुछ-कुछ फैली हुई सी मालूम होती है। सेट-अप भी सुन्दर नहीं हुआ है। फलतः अक्षरों पर स्याही की 'कहीं धूप कहीं छाया' सी मालूम होती है। बहुत से अक्षर ठीक ठीक नहीं उचटे हैं। संयुक्त तो प्रायः रह ही गये हैं। किन्तु एक बात अच्छी कर दी गई है, उपयोगी लक्षणवाक्यों को मोटे अक्षरों में छापा गया है, जिससे परीक्षार्थियों को सहायता मिल सकेगी। किन्तु उसके बदले में एक नई कठिनाई भी पैदा कर दी है और वह यह है कि नयी अशुद्धियों की सृष्टि कर दी गई है जो संभवतः ठीक-ठीक प्रूफ-पाठ न होने का परिणाम जान पड़ती है। यथा—पृ० ९९ में 'द्विविधास्तसाः', पृ० ८, सूत्र २७ में—'रूपित्वित्यनेन पुद्गलद्रव्यसम्बन्धाश्च जीवाः।', पृ० १४४ में 'अद्धापल्यम्' के स्थान में 'उद्धारपल्यम्' और 'तेषाम्' के स्थान में 'येषाम्', पृ० १४७ में 'सामानायु, पृ० १५३ में 'भग्गव अंगि'। पुराना अशुद्धियां तो अभी मौजूद ही हैं। टिप्पणी भी कहीं-कहीं अशुद्ध छपी है। टिप्पणियां यदि ग्रन्थ के गूढ़ शब्दों को स्पष्ट करनेवाली भी होतीं तो वे छात्रों के लिये विशेष लाभप्रद हो सकती थीं। सब बातों पर दृष्टि डालते हुए हमें तो यही कहना पड़ता है कि इस संस्करण को पूर्व संस्करण से किसी भी तरह अच्छा नहीं कहा जा सकता। पाठ्यक्रम में निर्धारित ग्रन्थ शुद्धतापूर्वक संपादित होकर प्रकाशित होने चाहिये। जल्दबाजी करने से ग्रन्थ की हत्या सी हो जाती है। इसकी प्रस्तावना के बारे में यहां कुछ लिखना बेकार होगा। 'भास्कर' की मार्च की किरण में उसके बारे में एक स्वतन्त्र लेख आनेवाला है। —कैलाशचन्द्र शास्त्री

ग्रन्थराज श्रीधवलसिद्धान्त का प्रकाशन

जिनके स्वाध्याय के लिये विद्वन्मण्डली सुदीर्घकाल से लालायित थी और जिन ग्रन्थराज के दर्शनमात्र के लिये सैकड़ों रुपये व्यय करने पड़ते थे, उन परम पुनीत ग्रन्थराज का सत्प्ररूपणा-नामक प्रथम खण्ड जैनसमाज के तीव्र पुण्योदय से भेलसा-निवासी श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द शिताबराय जी के औदार्यपूर्ण दान-द्रव्य से समाज के प्रख्यात सुयोग्य विद्वान, 'भास्कर' के अन्यतम सम्पादक मित्रवर प्रोफेसर हीरालाल जी अमरावती के अविरत परिश्रम से सर्वोच्च नवीन शैली में अब प्रकाशित हो गया। प्रस्तुत ग्रन्थराज अन्तिम तीर्थङ्कर श्रीभगवान् महावीर स्वामी की द्वादशाङ्गवाणी का अवशिष्ट रूप है और आचार्य-परम्परा से प्रातःस्मरणीय परम पूज्य पुष्पदन्त और भूतबलि-द्वारा षट्खण्डागम-रूप से लिपिबद्ध हुए थे। इन्हीं ग्रन्थराज के लिपिबद्ध-काल से जैनियों में श्रुतपञ्चमी-पर्व का प्रचलन हुआ जो कि आजतक अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है। ग्रन्थराज की सम्पादन-सम्बन्धी विशेषताओं के दर्शनमात्र से हृदय प्रसन्नता से भर जाता है। इन सब बातों पर विशेष प्रकाश 'भास्कर' की किसी अन्य किरण में डाला जायगा। इस समय जैन समाज से मेरी यही प्रार्थना है कि शीघ्रातिशीघ्र प्रथम खण्ड का मूल्य १०) भेज इन्हें 'जैनसाहित्योद्धारक फंड', किंग एडवर्ड कालेज अमरावती (बरार) से अवश्य मंगा एवं स्वाध्याय कर अतुल पुण्य-पुञ्ज का संचय करें।

मैं आशा करता हूं कि जैनसमाज इस सुवर्णावसर को नहीं खोयेगा। मैं प्रत्येक संस्था के संचालक तथा मन्दिरों के प्रबन्धकों से निवेदन करूँगा कि ग्रन्थराज की एक-एक प्रति आप महानुभाव मंगाकर अपनी संस्था एवं मन्दिरों को अवश्य सुशोभित करें। मन्दिर-निर्माण, बिम्ब-प्रतिष्ठा, रथनिष्कासन आदि धर्मकार्यों से यह साहित्योद्धारक धर्मकार्य किसी अंश में कम नहीं है। बल्कि मेरी स्थूलबुद्धि में यह उन सबों से बढ़कर है। क्योंकि जैन-साहित्य की रक्षा से ही जैनधर्म जीवित रह सकता है—अन्यथा नहीं। इसी से कहा जाता है कि जिस धर्म का साहित्य जीवित है वही धर्म जीवित है। आचार्यों ने भी जिनेन्द्र और जिनवाणी में कोई अन्तर नहीं माना है। आजकल जो कोई भी धर्म उन्नति-पथारूढ़ है, वह केवल अपने साहित्य-प्रचार के बल से ही। जैनसमाज को कम से कम अब उन उन्नतिशील धर्मों से अवश्य शिक्षा लेनी चाहिये। ये दो पंक्तियाँ अपने कर्त्तव्य-पालन के लिये ही लिखी गई हैं। अन्त में इनके सम्पादक विज्ञ प्रोफेसर साहब को इसअभूतपूर्व साहित्यिक सफलता के लिये मैं हृदय से धन्यवाद देता हूं।

—के० भुजबली शास्त्री

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये.

पादूणं जोयणायं अट्ठावीसुत्तरं सयं दंडा ।
किंकूहत्था णत्थिह वेदीए कोविहं दीहं (?) ॥५१॥

३ । दं १२८ । ० । ० । १ ।
४

पादट्ठाणे सुण्णं अंगुलमेक्कं तहा जवा पंच ।
एक्को जूवो एक्को लिक्खं कम्मखिदीए छव्वालं ॥५२॥

अं १ । ज ५ । जू १ । लि १ । कहा

सुण्णं जहण्णभोगं खिदिए मज्झिल्लभोगभूमीए ।
सत्त च्चेय वालग्गा पंचुत्तमभोगच्छोणीए ॥५३॥

० । ७ । ५ ।

एक्को तह रहरेणू तसरेणू तिण्णि णत्थि तुडरेणू ।
दोत्तियमरणाम्मरणाउ मज्झणामरिणाय वि तिरिणा पुढं ॥५४॥

१ । ३ । ० । २ । ३ ।

परमाणू य अणंता संखा हुवेदि णियमेणं ।
वोच्छामि तप्पमाणं णिस्संसिदिट्ठिवादादो ॥५५॥

तेवीस सहस्साणि वेणिण सयाणि च तेरसं अंसा ।
हारो एक्कं लक्खं पंच सहस्साणि चउ सयाणि णवं ॥५६॥

२३२१३ ।
१०५४०९ ।

खखपदस्संमस्स पुढं णणगारा होदि तस्स परिमाणं ।
जाण अणंताणंता परिभासकमेण उप्पण्णा ॥५७॥

७९९०५६९४१५०।

अंबरपंचेक्कचउणवछप्पणसुण्णणवयमत्तो व ।
अंककमे जोयणया जंबूदीवस्स खेत्तफलं ॥५८॥

७९०५६९४१५०।

एक्को कोसो दंडा सहस्समेक्कं हुवेदि पंचसया ।
तेवण्णाए सहिदा किंकूहत्थेमसुण्णाइं ॥५९॥

को १ । दंड १ ५ ५ ३ । ० ० ।

एक्को होदि विहत्थी सुण्णं सोदंमि अंगुलं एक्कं ।
जव छ तियजूवा लिक्खाउ तिण्णि णादव्वा ॥६०॥

१ । ० । १ । ६ । ३ । ३ ।

कम्मक्खोणीए दुवे वालग्गा अवरभोगभूमीए ।
सत्त हुवंते मज्झिमभोगखिदीए वि तिगिण पुढं ॥६१॥

२ । ७ । ३ ।

सत्त य सण्णासण्णा भोसण्णासण्णया तहा एक्को ।
परमाणूण अणंतोणंता संखा इमा होदि ॥६२॥

७ । १ ।

अडतालसहस्साइं पणवण्णुत्तरचउस्सया अंसा ।
हारो एक्कं लक्खं पंच सहस्साणि चउ सया गावयं ॥६३॥

४८४५५
१०५४०९

खखपदसंमस्स पुढं गुणगारा होदि तस्स परिमाणं ।
एत्थ अणंताणंता परिभासकमेण उप्पण्णा ॥६४॥
सोलसजोयणहीणो जंबूदीवस्स परिधिमज्झम्मि ।
दारंतरपरिमाणं चउभजिदे होदि जं लद्धं ॥६५॥
जगदीबाहिरभागो दाराणं होदि अंतरपमाणं ।
उणसीदिसहस्साणं बावण्णा जोयणाणि अधिरेगो ॥६६॥
सत्त सहस्साणि धणू पंचसयाणि होंति बत्तीसं ।
तिगिण चिय पव्वाणि तिगिण जवा किंचिदधिरित्तो ॥६७॥

७९०५ २
ध ७५३२ । अं ३ । ज ३ ।

जगदीअब्भंतरए परिही लक्खाणि तिगिण जोयणया ।
सोलससहस्सइगिसयबावण्णा होंति किंचूणा ॥६८॥

३१६१५२ ।

जगदीअब्भंतरए दाराणं होदि अंतरपमाणं ।
उणसीदिसहस्साणं चउतीसं जोयणाणि किंचूणं ॥६९॥

७९०३४ ।

विक्खंभद्धकदीउ विगुणा वड्ढं दि संतरे दीवे ।
धम्मो पणगुणचउभजिदो होदि धणुक्करणं ॥७०॥
सत्तरिसहस्सजोयण सत्त सया दसजुदो य अदिरित्तो ।
जगदीअब्भंतरए दाराणं रिजुसमाणविच्चालं ॥७१॥

७०७१० ।

उणसीदिसहस्साणि छप्पण्णा जोयणाणि दंडाइं ।
सत्त सहस्सा पणसयबत्तीसा होंति किंचूणा ॥७२॥

७९०५६ । दं ७५३२ ।

विजयादिदुवाराणं पंचसयाजोयणाणि वित्थारो ।
पत्तेक्कं उच्छेहो सत्त सयाणि च पण्णासा ॥७३॥

जो ५०० । ७५० ।

दारोवरिमपुराणं रुंदा दो जोयणाणि पत्तेक्कं ।
उच्छेहो चत्तारि केई एवं परूवंति ॥७४॥

२ । ४ ।

पाठान्तरम् ।

एदेसिं दाराणं अहिवइदेवा हवंति चित्तरया ।
जंणामा ते दारा तंणामा ते वि रक्खवादो[1] ॥७५॥
एक्कपलिदोवमाऊ दसदंडसमाणतुंगधरदेहा ।
दिव्वामलमउडधरा महिदा देवीसहस्सेहिं ॥७६॥
दारस्स उवरिदेसे विजयस्स पुरं हवेदि रयणम्मि ।
बारससहस्सजोयणदीहत्तस्सद्धविक्खंभं ॥७७॥

१२००० । ६००० ।

चउगोउरसंजुत्ता तदवेदी तम्मि होदि कणयमई ।
चरियट्टालयचारूदारोवरि[2] जिणपुरेहिं रमयारो ॥७८॥
विजयपुरम्मि विचित्ता पासादा विविहरयणकणयमया ।
समचउरस्सा दीहा अणेयसंठाणसोहिल्ला ॥७९॥
कुंदिंदुसंखधवला मरगयवण्णा सुवण्णसंकासा ।
वरपउमरायसरिसा विचित्तवण्णंतरा पउरा ॥८०॥
पुउलंगमंतभूसणअभिसेउप्पच्छिमेहुणादीणं[3] ।
सालाउ विसालाउ रयणमईउ विराजंति ॥८१॥
ते पासादा सव्वे विचित्तवण्णसंडमंडणा रम्मा ।
दिप्पंतरयणदीवा वरधूवघडेहि संजुत्ता ॥८२॥
सत्तट्ठणवदसादियविचित्तभूमीहिं भूसिदा चिउला[4] ।
दुच्छंतरपरदाया(?) अकट्टिमा सुट्ठु सोहंति ॥८३॥

1 B रक्खादे; 2 S A चरियट्टालय; 3 उप्पेच्छ or उप्पत्ति ?); 4 विउला (?) ।

पासरसवण्णवररणिगंधेहिं(?) बहुविधेहिं कदसरिसा ।
उज्जलविचित्तबहुविधसयणासणाणिवहसंपुण्णा ॥८४॥
एदेसिं णयरवरे बहुविहपरिवारपरिभदा णिच्चं ।
देवीजुत्ता भुंजदि उवचारसुहाइं विजयपुरी ॥८५॥
एवं अवसेसाणं देवाणं पुरवराणि रम्माणि ।
दारोवरिमपवेसे णहम्मि जिणभवणजुत्ताणि ॥८६॥
जगदीए अब्भंतरभागो बे कोसवाससंजुत्ता ।
भूमितले वणसंडो वरतणुणियरा विराजंति ॥८७॥
तं उज्जाणं सीयलछायं वरसुरहिकुसुमपरिपुण्णं ।
दिव्वामोदसुगंधं सुरखेयरमिहुणमणहरणं ॥८८॥
बे कोसा उव्विद्धा उज्जाणवणस्स वेदिया दिव्वा ।
पंचसयचावरुंदा कंचणवररयणणियरमई ॥८९॥

। जगदी सम्मत्ता ।

तस्सिं जंबूदीवे सत्तविहा होंति जणपदा पवरा ।
एदाणिं विसाले कुरुकुलसेला विरायंते ॥९०॥
दक्खिणादिसाए भरहो हेमवदो हरिविदेहरम्माणि ।
हेरण्णवदेरावदवरिसा कुलपव्वदंतरिदा ॥९१॥
कप्पतरुधवलछत्ता वरउववणचामरेहिं चारुधरा ।
वरकुंडकुंडलेहिं विचित्तरूवेहिं रमणिज्जा ॥९२॥
वरवेदीकडिसुत्ता बहुरयणुज्जलणगिंदमउडधरा ।
सरिजलपवाहहारा खेत्तणरिंदा विराजंति ॥९३॥
हिमवंतमहाहिमवंतणिसिधणीलाइरुम्मिसिहरिगिरी ।
मूलोवरिसमवासा पुव्वावरजलदेहिं[1] संलग्गा ॥९४॥
एदे हेमज्जुणतवणिज्जवेरुलियरजदहेममया ।
एक्कदुचदुचदुगइगिजोयणसयउदयसंजुदा कमसो ॥९५॥

१०० । २०० । ४०० । ४०० । २०० । १०० ।

वरदा हसिदा रत्ता सवि चामरविज्जमाणया परिदो ।
कप्पतरुचारुविंदा वसुहमहीं सिंहासणारूढा ॥९६॥
वरवेदीकडिसुत्ता विविहुज्जलरयणकुडमउडधरा ।
अंबरणिब्भरहारा चंचलतरुकुंडलाभरणा ॥९७॥

1 जलधीहिं (?)

गोउरतिरीटरम्मा पायारसुगंधकुसुमदामग्गा ।
सुरपुरकंठाभरणा वररायिविचित्तवत्थकयसोहा ॥९८॥
तारिणकंकणजुत्ता वज्जपणालीपुरंतकेयूरा
जिणवरमंदिरतिलया भूधरराया विराजंति ॥९९॥
णाउदीजुदसदभजिदे जंबूदीवस्स वासपरिमाणे ।
जं लद्धं तं रुंदं भरहं खेत्तम्मि णादव्वं ॥१००॥
पुव्वावरदो दीहा सत्त वि खेत्ता अणादिणिधणा ।
कुलगिरिकयमज्झादा विदियगणा दक्खिणुत्तरदो ॥१०१॥
भरहम्मि होदि एक्को तत्तो दुगुणा य चुल्लहिमवंतो ।
एवं दुगुणदुगुणा होदि सलायं[1] विदेहंतं ॥१०२॥

१ । २ । ४ । ८ । १६ । ३२ । ६४ ।

अद्धं खु विदेहादो णीलो णीलादु रम्मको होदि ।
एवं अद्धद्धाओ एरावदखेत्तपरियंतं ॥१०३॥

३२ । १६ । ८ । ४ । २ । १

वरिसादीण सलायामिलिदे[2] णउदीयमधियमेक्कसयं ।
एसा जुत्ता हारस्स भासिदो आणुपुव्वीए ॥१०४॥
भागभाजिदम्मि लद्धं पणसयछव्वासजोयणाणि[3] य ।
छव्विहकला य कहिदो भरहक्खेत्तम्मि विक्खंभो ॥१०५॥

५२६ । ६ ।
१९

वरिसादु दुगुणवड्ढी आदीदो दुगुणिदो परोवरि सो ।
जाव विदेहं होदि हु तत्ता अद्धद्धहाणीए ॥१०६॥

१०५२ । १२ । २१०५ । ५ । ४२१० । १० ।
१९ १९ १९

८४२१ । १ । १६८४२ । २ । ३३६८४ । ४ ।
१९ १९ १९

१६८४२ । २ । ८४२१ । १ । ४२१० । १० ।
१९ १९ १९

1 A सिलायं ; 2 A S सलाया . 3 जोयणायं ।

२१०५ । ५ । १०५२ । १२ । ५२६ । ६ ।
१९ १९ १९

। एवं विण्णासो सम्मत्तो ।

भरहखिदीबहुमज्झे विजयद्धो णाम भूधरो तुंगो ।
रजदमओ वट्टे दि हु[1] णाणावररयणरमणिज्जो ॥१०७॥
पणुवीसजोयणुदओ जुत्ता तह गुणमूलविक्खंभा ।
उदयतुरिमम्म गाढा जलणिहिपुट्ठा तिमेदिगओ ॥१०८॥

२५ । ५० । २५ ।
४

दसजोयणाणि उवरिं गंतूणं तस्स दोसु पासेसं ।
विज्जाहराण सेढी एक्केक्का जोयणाणि दस रुंदा ॥१०९॥

१० ।

विजयड्ढायामेणं हुवंति विज्जाहराण सेढीओ ।
एक्केक्का तह वेदी णाणाविहतोरणेहिं कियसोहा ॥११०॥
दक्खिणदिससेढीए पराणास पुराणि पुव्ववहुदिम्मि[2] ।
उत्तरसेढीए तह णयराणिं सट्ठि वट्टंति[3] ॥१११॥

द ५० । उ ६० ।

तण्णामा—

किंणामिदकिंणरगीदाइ तह य णारणीदं ।
बहुकेदुपुंडरीया सीहद्धयसेदकेदूइं ॥११२॥
गरुडद्धयं सिरिप्पहसिरिधरलोयणाला अरिंजयकं ।
वइरमालवइरंदा विमोजिया जयपुरी य सगडमुही ॥११३॥
चंदुमुहबहुतुहअरजंगवायाणि विरजक्खणामविक्खादं ।
तत्तो रहणेउरमेहलणक्खेमंपुरावराजिदया ॥११४॥
णामेण कामपुण्णं गयणचरी विजयचरियसुक्कपुरी ।
तह संजयंतणयरी जयंतविजाहरवइजयंतं च ॥११५॥
खेमंकरचंदाभा सूराभपुरुत्तमापुवाइं[4] पि (?) ।
चित्तमहाकूडाइं सुवण्णकूडातिकूडा य ॥११६॥

1 ASB चेट्टे दि। Hereafter a Ms from Delhi (= D) is being used in addition.
2 D बहुदंमि ; 3 ABS चेट्टंति ; 4 D मा पुव्वइं ।

बहुचित्तहेमकूडा[1] तत्तो वइसवणकूडसूरपुरा ।
चंदं णिक्खुज्जोयं विमुही तह णिच्चवाहिणी सुमुही ॥११७॥

९ ।

अंजुलअरुणीकइलासवारुणीओ[2] य विज्जुपहणामा ।
किलकिलचूडामणियं[3] ससिपहचंमालपुप्फचूलाइं ॥११८॥

१० ।

णामेण हंसगब्भं बलाहकसिवंकरा सिरिसउदं[4] ।
चमरं सिवमंदिरवसुवकावावसुमाइमा णामा ॥११९॥
सव्वत्थपुरं सत्तुंजयं च णामेण केदुमालं ति ।
सुरवइकंतं तह गगणं गंदणं पुरमसोगं च ॥१२०॥
तत्तो विसोकयं वीदसोकअलकाइतिलकणामं च ।
अंबरतिलकं मंदरकुमुदा कुंदं च णयणवल्लभयं ॥१२१॥
दिव्वतिलयं च भूमीतिलयं गंधव्वपुरवरं तत्तो ।
मुत्ताहरणाइमिसणामं तह[5] अग्गिजालमहजाला ॥१२२॥
णामेण सिरिणिकेदं जयावहं सिरिणिवासमणिवज्जं ।
भद्दं सव्वधणं जयमाहिंदो विजयणयरं च ॥१२३॥
तह य सुगंधिणिवेरंतदराणं खीरफेणसंखोभा (?) ।
गिरिसिहरधरणिवारणिदुब्भाइं दुद्धरं सुदंसणयं ॥१२४॥
रयणायररयणपुरा उत्तरसेढीय सट्ठि णयरीओ ।
विजयद्धायामेणं विरचिदपंतीय णिवसंति ॥१२५॥

६० ।

विज्जाहरणयरवरा अणाइणिहणा सहावणिप्पण्णा ।
णाणाविहरयणमया गोउरपासाय[6]तोरणादिजुदा ॥१२६॥
उज्जाणवणसंजुत्ता पोक्खरणीकूवदिग्घियासहिदा ।
धुव्वंतरयवदाया पासादा ते च[7] रयणमया ॥१२७॥
णाणाविहजिणगेहा विज्जाहरपुरवरेसु रमणिज्जा ।
वररयणकंचणमया ताण ट्ठाणेसु सोहंति ॥१२८॥

1 BS बहुचित्त; 2 ABS कइलासे; 3 ABS कूडा —; 4 S संउदं; 5 D सव्वणामं; 6 D पासावार (पाकार ?); 7 च (?) ।

वणसंडवच्छणाहा वेदीकडिसुत्तएहि कंतिल्ला ।
तोरणकंकणजुत्ता विज्जाहररायभवणमोडधरा[1] ॥१२९॥
मणिगिहकंठाभरणा चलंतहिंदोलकुंडलेहिं जुदा ।
जिणवरमंदिरतिलया णयरणरिंदा विरायंति ॥१३०॥
[2]पुव्विदकमलवणेहिं वावीणिचएहिं मंडिया विउला ।
पुरवाहिरभूभागा उज्जाणवणेहिं रेहंति ॥१३१॥
कल्हारकमलकुवलयकुमुदुज्जलजलपवाहपदहत्था ।
दिव्वतलाया विउला तेसु पुरेसु विरायंति ॥१३२॥
जमणालवल्लतुवरीतिलजवगोधूममासपहुदीहिं ।
सव्वेहिं सुधण्णेहिं पुराइं सोहंति भूमीहिं ॥१३३॥
बहुदिव्वगामसहिदा दिव्वमहापट्टणेहि रमणिज्जा ।
कब्बडदोणमुहेहि संवाहमडंबएहि परिपुण्णा ॥१३४॥
रयणाण सयायरेहिं[4] विभूसिदो पंचमरायपहूदीणं ।
दिव्वणयरेहि पुण्णा धणधण्णसमिद्धिरम्मेहि ॥१३५॥
जंबकुमारसरिच्छा बहुविहविज्जाहि संजुदा पवरा ।
विज्जाहरा मणुस्सा क्कम्मजुदा हुवंति सदा ॥१३६॥
अच्छरसरिच्छरूवा अहिणवलावण्णदिव्वरमणिज्जा ।
विज्जाहरवणिताओ बहुविहविज्जासमिद्धाओ ॥१३७॥
कुलजाईविज्जाओ साहियविज्जा अणोयभेयाओ ।
विज्जाहरपुरिसपुरं वियाण वरसोक्खजणणीओ ॥१३८॥
रम्मुज्जाणेहि जुदा होंति हु विज्जाहराण सेढीओ ।
जिणभवणभूसिदाओ का सक्कइ वण्णणदं सयलं ॥१३९॥
दसजोयणाणि तत्तो उवरि गंतूण दोसु पासेसुं ।
अभियोगामरसेढी[5] दसजोयणवित्थरा होदि ॥१४०॥
वरकप्पदुक्खरम्मा फलिदेहिं उववणेहि परिपुण्णा ।
वावितलायप्पउरा वरअच्छरकीडणेहिं जुदा ॥१४१॥
कंचणवेदीसहिदा वरगोउरसुंदरा य बहुचित्ता ।
मणिमयमंदिरबहुला परिखा पायारपरियरिया ॥१४२॥

1 मडड (?); 2 पुप्फिद (?); 3 ABS णिवएहि; 4 D रयणाणवावरेहि; 5 ABS अभियोगामर ।

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री.

इय हरिवंसपुराणे मणाहरेमरायपुरिसगुणालंकारकल्लाणे तिहुवणकित्तिसिस्सअप्प-सुदसुदकित्ति महाकव्वु विरयंतो णाम सइंतालिसमिमो संधिपरिच्छेओ समत्तो ॥

निवनियरुदेसुरट्ठो जयसिरिधम्माणुराउ मणिहिट्ठो नंदउ जणावउपवरो सुहसंपइवाण-कप्पयरो ॥१॥ चउविहमुणिगणसहिओ नंदउ सिरिनंदिसंघु सुरमहिओ नंदउ जयसिरिजुत्तो सावयगणु धम्मअणुरत्तो ॥२॥ हरिवंसगयणचंदो जह दंसणसयलभुवणा आणंदो तयलोयसुजसुपवरो नेमिजिणो भवियदुरियहरो ॥३॥ रिसहु अजिउ संभउ जिणंदु अभिणंदणु सामिउ सुमतिपहमुपहु पुणु सुपासु ससिपहुसिवगामिउ सुविहु सुसीयलु पुणु सिरंसु वसुपुज्जु गुणोहरु विमल णंतु पुणु धरमसंतिसंजयइं कंथु अरु मल्लिसुव्वउ नमिसुनेमिजिणु पासु पहाणइं वीरसहियभवियणहु देंति सिरिसंति समाणइं। सिद्धि संवत् १५५३ वर्षेकरवदि २ द्वजगुरौ दिने अद्येह श्रीमण्डपाचलगढदुर्गे सुलितान गयासदीन राज्ये प्रवर्तमाने श्रीदमोवादेसे महाखानभोजखानवर्तमाने जेरहटस्थाने सोनीश्रीईसुरप्रवर्तमाने श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनन्दिदेव तस्य शिष्य मण्डलाचार्यदेवेन्द्रकीर्तिदेव तच्छिष्य मण्डलाचार्य श्रीत्रिभुवनकीर्तिदेवान् तस्य शिष्य श्रुतकीर्ति इदं हरिवंशपुराणं परिपूर्णं कृतम्। भव्यजनपठनार्थं ज्ञानावरणकर्मक्षयार्थं श्रीपार्श्वनाथचैत्यालये श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकरं परमभक्त्या प्रणम्य तथा श्रुतगुरुभक्तिपूर्वकं नमस्कृत्य ग्रन्थस्य अविघ्नसमाप्तिनिमित्तम्।

इस हरिवंशपुराण के रचयिता यशःकीर्त्ति ने अपने को श्रीमूलसंघ*, बलात्कारगण एवं सरस्वतीगच्छ के प्रातःस्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा में बतलाया है। आप के प्रगुरु मण्डलाचार्य देवेन्द्रकीर्त्ति और गुरु मण्डलाचार्य भुवनकीर्त्ति हैं। कुछ विद्वानों का ख्याल है कि धर्मशर्माभ्युदय के टीकाकार यशःकीर्त्ति और आप एक ही हैं। परन्तु यह धारणा भ्रान्त है। क्योंकि धर्मशर्माभ्युदय के टीकाकार यशःकीर्त्ति ललितकीर्त्ति के शिष्य हैं, आप भुवनकीर्त्ति के।

इस ग्रन्थ के अन्त में दो प्रशस्तियाँ दी गयी हैं। पहली अपभ्रंश भाषा में एवं दूसरी संस्कृत में। पहली प्रशस्ति में लिखा है कि यह ग्रन्थ वि० सं० १५५२ माघकृष्णा पञ्चमी सोमवार मालवदेशान्तर्गत मंडवगढ में, शाहि गयासुद्दीन के शासन-काल में जेरहट नगर में समाप्त हुआ। दूसरी प्रशस्ति में लिखा है कि सिद्धि संवत् १५५३ आश्विन कृष्णा द्वितीय को मण्डपाचलगढ दुर्ग में, सुलतान गयासुद्दीन के राज्यकाल में, दमोवादेश में, महाखान-भोजखान की मौजूदगी में जेरहट नगर के पार्श्वनाथ जिनालय में यह ग्रन्थ परिपूर्ण

* अपभ्रंश-प्रशस्ति में नन्दिसंघ लिखा हुआ है।

हुआ। समझ में नहीं आता है कि इन प्रशस्तियों में ग्रन्थ-समाप्ति के काल के सम्बन्ध में ऐसा मतभेद क्यों हुआ? यह लेखक की भी भूल नहीं मानी जा सकती। क्योंकि दोनों सम्वतों में मास, तिथि आदि भी भिन्न-भिन्न दी गयी है। क्या इनमें से सं० १५५२ को ग्रन्थ-प्रारंभकाल एवं सं १५५३ को ग्रन्थ-समाप्ति-काल माना जा सकता है? मगर प्रशस्तियों से स्पष्टतया इन बातों की सूचना नहीं मिलती है। ऐसी अवस्था में इसका निर्णय और और प्रतियों की छान-बीन से ही किया जा सकेगा। साथ ही साथ इस बात का भी पता लगाना है कि जेरहट का वर्तमान नाम क्या है और पहली प्रशस्ति में मालवदेश और दूसरी प्रशस्ति में दमोवा देश कैसे लिखा गया। सुना है कि वर्तमान सागर जिला में भी जेरठ नामक एक प्राचीन स्थान है। मण्डवगढ या मण्डपाचलगढ वर्तमान मेवाड राज्यान्तर्गत 'मांडल गढ़ का किला' ही मालूम होता है। शाहि या सुल्तान गयासुद्दीन भी खिलजी वंशज गयास-उद्दीन ही ज्ञात होता है, जो कि १५ वीं शताब्दी में गुजरात में शासन करता था। क्योंकि अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार होने पर यह किला भी उनके हस्तगत हो गया था।

दूसरी शुद्ध प्रति मिलने पर संभव है कि इन दो प्रशस्तियों की बातों पर मैं कुछ विशेष प्रकाश डाल सकूं। भवन की यह प्रति बहुत अशुद्ध है। 'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ' इस ग्रन्थ-तालिका में निम्नलिखित ग्रन्थ भी हरिवंशपुराण (प्राकृत) के कर्त्ता यशःकीर्त्ति के बतलाये गये हैं :—

(१) पाण्डवपुराण (प्राकृत) (२) गौतमचरित्र (३) प्रबोधसार (४) जगत्सुन्दरी (५) शृङ्गारार्णवचन्द्रिका (६) श्रावकाचार (७) धर्मशर्माभ्युदय की टीका (८) प्रद्युम्नकाव्य की टीका। परन्तु इनमें जगत्सुन्दरी, शृङ्गारार्णवचन्द्रिका एवं धर्मशर्माभ्युदय की टीका तो इनकी है ही नहीं। क्योंकि जगत्सुन्दरी के कर्त्ता यशःकीर्त्ति विमलकीर्त्ति के शिष्य हैं*। शृङ्गारार्णवचन्द्रिका के कर्त्ता विजयवर्णी हैं‡, न कि यशःकीर्त्ति। धर्मशर्माभ्युदय के टीकाकार ललितकीर्त्ति के शिष्य हैं—यह बात ऊपर लिख चुका हूँ। गौतमचरित्र एक प्रकाशित हो चुका है। पर इसके कर्त्ता धर्मचन्द्र हैं। शोलापुर से एक प्रबोधसार भी प्रकाशित हो गया है, इसके कर्त्ता महापण्डित यशःकीर्त्ति बताये गये हैं। प्रशस्ति नहीं होने से यह कहना कठिन है कि यह यशःकीर्त्ति यही हैं या दूसरे। इसी प्रकार शेष कृतियों को भी बिना देखे इन्हीं का कहना ठीक नहीं है।

* देखें—'अनेकान्त' वर्ष २, किरण १२, पृष्ठ ६८६।

‡ देखें—'प्रशस्तिसंग्रह' पृष्ठ ७३।

(४१) ग्रन्थ नं० २५७/ख

रामपुराण

कर्ता—सोमसेन

विषय—पुराण

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १२ इञ्च चौड़ाई ७ इञ्च पत्रसंख्या २४६

प्रारम्भिक भाग—

वन्देऽहं सुव्रतं देवं पञ्चकल्याणनायकम् ।
देवदेवादिभिः सेव्यं भव्यवृन्दसुखप्रदम् ॥१॥
शेषान् सिद्धान् जिनान् सूरीन् पाठकान् साधुसंयुतान् ।
नत्वा वक्ष्ये हि पद्मस्य पुराणं गुणसागरम् ॥२॥
वन्दे वृषभसेनादीन् गणाधीशान् यतीश्वरान् ।
द्वादशाङ्गं श्रुतं यश्च कृतं मोक्षस्य हेतवे ॥३॥
वन्दे समन्तभद्राख्यं श्रुतसागरपारगम् ।
भविष्यत्समये योऽत्र तीर्थनाथो भविष्यति ॥४॥
कुन्दकुन्दं मुनिं वन्दे चतुरं गुणाचारणम् ।
कलिकाले कृतं येन वात्सल्यं सर्वजन्तुषु ॥५॥
आचार्यं जिनसेनाख्यं वन्दे ग्रन्थस्य सिद्धये ।
सिद्धान्तत्रयकर्त्तारं मोक्षमार्गोपदेशकम् ॥६॥
पूज्यपादप्रभाचन्द्राकलंकादीन् यतीश्वरान् ।
नमामि धर्मतीर्थस्य कर्त्तॄन् प्राणिहितङ्करान् ॥७॥
रविषेणं महाचार्यं वन्दे शास्त्रादिपारगम् ।
यत्प्रसादात्करोम्यत्र पुराणं रामसंज्ञकम् ॥८॥
गुणभद्रं यतिं वन्दे सर्वजीवदयापरम् ।
महापुराणकर्त्तारं ज्ञातारं सर्वसंचिरम् (?) ॥९॥
चारुकीर्तिमुनीन्द्रं च वन्दे श्रेष्ठार्थसिद्धिदम् ।
समाधिशीलसम्पन्नं हिताहितोपदेशकम् ॥१०॥

वन्देऽहं भानुमुन्याख्यं त्रिकालं योगमुक्तिदम् ।
सप्तशतमुनीन्द्रैश्च सेव्यपादश्च योऽभवत् ॥११॥
महेन्द्रकीर्त्तियोगीन्द्रौ नमामि कलिवारणौ ।
ययोः पादान् प्रसेवन्ते यत्यादिनरपुंगवाः ।
सरस्वतीं नमाम्यादौ जिनेन्द्रमुखसंभवाम् ।
द्वादशाङ्गस्फुरद्वक्त्रां मोक्षस्थानसुखप्रदाम् ॥१३॥

× × ×

मध्य भाग (परपृष्ठ १२५, पंक्ति ५)—

चतुर्मासेऽथवा ताते गते श्वभ्रादिविड्वरे ।
समं गंतुं समुद्युक्तं दृष्ट्वा यज्ञो वदत्यरम् ॥१॥
क्षन्तव्यं देव किञ्चिद्यविनयाद् दुष्कृतं मया ।
भवादृशां नरागाश्च (?) कः शक्नोतीह सेवितुम् ॥२॥
ततो जगाद रामोऽपि नम्रीभूतं सुराधिपम् ।
यदपराधमस्माकं क्षन्तव्यं च त्वया सुर ॥३॥
इति वचनमाकर्ण्य सन्तुष्टो यज्ञनायकः ।
नत्वा स्तुत्वा च तं रामं पूजतिस्म सुभक्तितः ॥४॥
स्वयं प्रभाभिधं हारं ददौ रामाय संमदः ।
कुण्डले लक्ष्मणाय द्वे शशिसूर्यसमप्रभे ॥५॥

× × ×

अन्तिम भाग :—

विक्रमस्य गते शाके षोडशशतवर्षके ।
षट्पञ्चाशत्समायुक्ते मासे श्रावणिके तथा ॥
शुक्लपक्षे त्रयोदश्यां बुधवारे शुभे दिने ।
निष्पन्नं चरितं रम्यं रामचन्द्रस्य पावनम् ॥
महेन्द्रकीर्तियोगीन्द्रप्रसादाच्च कृतं मया ।
सोमसेनेन रामस्य चरितं पुण्यहेतवे ॥
यदुक्तं रविषेणेन पुराणं विस्तराकरम् ।
तदेवात्र च संकुच्य यत्किञ्चित्कथितं मया ॥
गर्वेणा न कृतं शास्त्रं नापि कीर्त्तिफलाप्तये ।
केवलं पुण्यहेत्वर्थं स्तुता रामगुणा मया ॥

नाहं जानामि शास्त्राणि न छन्दो न च काव्यकम् ।
तथापि च विनोदेन कृतं रामपुराणकम् ॥
ये सन्ति सुधियो लोके शोधयन्तु च ते मम ।
शास्त्रं परोपकाराय यत्कृतं ब्रह्मणा भुवि ॥
कथामात्रस्य पद्मस्य वर्तते वर्णनां विना ।
अस्मिन ग्रन्थे तु भो भव्याः शृणवन्तु सावधानतः ॥
रविषेणाकृते ग्रन्थे कथा यावत्प्रवर्तते ।
तावच्च सकलात्रापि वर्तते वर्णनां विना ॥
विस्ताररुचयः शिष्याः ये सन्ति शुद्धमानसाः ।
ते शृणवन्तु पुराणं हि रविषेणस्य निर्मितम् ॥
रविषे विषये रम्ये जित्वरे नगरे वरे ।
मन्दिरे पार्श्वनाथस्य सिद्धो ग्रन्थः शुभे दिने ॥
सेनगणेऽति विख्याते गुणभद्रोऽभवन्मुनिः ।
पट्टे तस्यैव संजातः सोमसेनो यतीश्वरः ॥
तेनेदं निर्मितं शास्त्रं रामदेवस्य भक्तितः ।
तस्य निर्वाणहेत्वर्थं संक्षेपेण महात्मना ॥
यस्मिन्निदं पुरं शास्त्रं शृणवन्ति च पठन्ति च ।
तत्र सर्वं सुखं क्षेमं परं भवति मङ्गलम् ॥
धर्मात्लभन्ते शिवसौख्यसम्पदः स्वर्गादिराज्यानि भवंति धर्मात् ।
तस्मात्कुरुध्वं जिनधर्ममेकं विहाय पापं नरकादिकारकम् ।
सेनगणे यतिपरमपवित्रे वृषभसेनगणधरस्तु वंशे ।
पण्डितवर्गसुखकरस्तु जातः सोमसुसेनयतिवरमुख्यः ॥
श्रीमूलसंघे वरपुष्कराख्ये गच्छे सुजातो गुणभद्रसूरिः ।
पट्टे च तस्यैव सुसोमसेनो भट्टारकोऽभूद्विदुषां शिरोमणिः ॥

इति श्रीरामपुराणे भट्टारकश्रीसोमसेनविरचिते रामस्वामिनो निर्वाणवर्णनो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमोऽधिकारः ।

प्रशस्ति से सिद्ध होता है कि इस रामपुराण के रचयिता भट्टारक सोमसेन ने इस ग्रन्थ को विक्रम संवत् १६५६ श्रावण शुक्ल त्रयोदशी बुधवार को समाप्त किया था। संभवतः आप के गुरु महेन्द्रकीर्त्ति और योगीन्द्र थे। यह बात प्रारंभिक भाग के १२ वें एवं

अन्तिम भाग के तीसरे श्लोक से व्यक्त होती है। किन्तु प्रस्तुत महेन्द्रकीर्त्ति सम्वत् १५९२ तथा संवत् १८५२ वाले महेन्द्रकीर्त्ति-द्वय से भिन्न हैं। मालूम नहीं होता कि यह महेन्द्रकीर्त्ति कौन हैं। साथ ही साथ उल्लिखित योगीन्द्र का भी पता नहीं लगता क्योंकि अभी तक इनकी कोई साहित्यिक कृति मेरे दृष्टिगोचर नहीं हुई है। प्रारंभ एवं अन्त में सोमसेन ने लिखा है कि मैंने यह रामपुराण रविषेणाचार्य-कृत पद्मपुराण के आधार पर बनाया है। साथ ही साथ यह भी बताया है कि मैंने पद्मपुराण के वर्णन भाग को छोड़कर के केवल उसके कथा-भाग का ही आश्रय लिया है।

इस ग्रन्थ की समाप्ति प्रणेता ने रविषे (?) देशान्तर्गत जिस्वर नगर के पार्श्वनाथ-मन्दिर में की है। पर पता नहीं लगता है कि रविषे देश एवं जिस्वर नगर वर्तमानकालीन किस प्रान्त या स्थान का नाम है। बल्कि 'रविषे' यह नाम अशुद्ध ज्ञात होता है। दूसरी प्रति में इसका प्रकृत पता लगाना परमावश्यक है। 'दिगम्बर जैन ग्रन्थ-कर्ता और उनके ग्रन्थ' इस ग्रन्थ-सूची से रामपुराण के रचयिता सोमसेन के निम्नलिखित ग्रन्थों का भी पता लगता है :—

(१) स्थण्डिल्य होमपूजा (२) शुक्रपञ्चम्युद्यापन (३) प्रद्युम्नचरित्र (४) सप्तर्षि-पूजा (५) भक्तामरोद्यापन (६) यशोधरचरित्र (७) त्रिवर्णाचार (८) दशलक्षणपूजाविधान (९) कर्म-दहन-व्याख्यान (१०) लघुशान्तिक। ये सभी ग्रन्थ इन्हीं की कृतियाँ हैं या कतिपय इस बात का निर्णय सभी ग्रन्थों के अवलोकन से ही किया जा सकता है। बल्कि प्रद्युम्नचरित के कर्त्ता सोमसेन (वि० सं० १६२५ लगभग) काष्ठासंघी थे। परन्तु इस रामपुराण के रचयिता सोमसेन अपने को मूलसंघ, पुष्करगच्छ एवं सेनगण के सुविख्यात आचार्य गुणभद्र के पट्टधर बतलाते हैं। साहित्यिक दृष्टि से यह ग्रन्थ साधारण श्रेणी का है। क्योंकि इसके संस्कृत में कोई साहित्यिक छटा नहीं दिखती है।

---

(४२) ग्रन्थ नं० २६३/ख

रत्नत्रयोद्यापनपूजा

कर्त्ता—भट्टारक विश्वभूषण

विषय—पूजा

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १० इञ्च चौड़ाई ८ इञ्च पत्रसंख्या ३२

प्रारम्भिक भाग—

श्रीवर्द्धमानमानम्य गौतमादींश्च सद्गुरून् ।
रत्नत्रयविधिं वक्ष्ये यथाम्नायं विमुक्तये ॥१॥
परमेष्ठी परंज्योतिः परमात्मा जगद्गुरुः ।
ज्ञानमूर्त्तिरमूर्त्तोऽपि भूयान्नो भवशान्तये ॥२॥
निर्विकल्पं निराबाधं शाश्वदानन्दमन्दिरम् ।
तोष्टुवीमि चिदात्मानं स्वस्वरूपोपलब्धये ॥३॥
यस्य ज्ञानान्तरिक्षैकदेशे सर्वं जगत्त्रयम् ।
एकमृक्षमिवाभाति तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥४॥
अनन्तानन्तसंसारपारावारैकतारकम् ।
परमात्मानमव्यक्तं ध्यायाम्यहमनारतम् ॥५॥
अनन्यशरणीभूयात्तद्गुणग्रामलब्धये ।
स्फुरन्मम्मरसीभावमितोऽ चिद्घनं स्तुवे ॥६॥

× × ×

मध्य भाग (परपृष्ठ २०, पंक्ति ४)—

यत्सत्त्वसन्तानविचित्रमेतत्त्रैलोक्यमप्याशु वशीकरोति ।
वात्सल्यमात्मोदयकारणं तत् सुदर्शनांगं हृदये ममास्ताम् ।
ॐ ह्रीं वात्सल्यांगाय नमः ।
सम्यक्त्वभावेन सुदृष्टिजातं शान्त्यष्टकं स्तोत्र(?) विधाय यत्र ।
वात्सल्यतां प्राह मनीषिकीभिः रसालहव्यैः प्रयजामि साधुम् ॥
ॐ ह्रीं पूज्यपादकं (?) वात्सल्यांगाय जलम् ।

एकादशांगेन निरूपितं यत् ह्यकम्पनेनापि प्रकाशितं च ।
तत्प्रार्चयामि सदकैः रसालैः मुनीन्द्रवन्द्यं गतकल्मषं यत् ॥
ॐ ह्रीं अकम्पनाचार्यप्रकाशितैकादशाङ्गवात्सल्यांगाय जलम् ।
सान्तर्द्धेन पूर्वाणि चतुर्दश प्रकाशितम् ।
तद्वात्सल्यबुधैर्ज्ञानं सर्वुजैः संयजे फलैः ॥
ॐ ह्रीं चतुर्दशवात्सल्यसहितसाधुभ्यो जलम् ।
वरांगदनृपेणापि श्रावकाचारभाषितम् ।
सोऽद्यापि वर्तते लोके तं यजे तिन्दुनिम्बकैः ॥
ॐ ह्रीं वरांगदनृपोपासकाचारवात्सल्यांगाय नमः ।
श्रुतबाह्याजिनैः प्रोक्तं चतुर्विंशतिवन्दनात् ।
तत्र वात्सल्यकं जातं तत् यजे वसुद्रव्यकैः ॥
ॐ ह्रीं श्रुतबाह्यचतुर्विंशतिवात्सल्यांगाय जलम् ।

× × ×

अन्तिम भाग—

प्रजापतिभाद्रमिते द्वितीयायां पडेव (पडेभ) सप्तशिवत्सरेषु । रत्नत्रयं पाठ (?) चकार पूर्णं भडिल (?) पूजां मुनिविश्वभूषः ।

शोधयन्तु महापाठं वाग्मीकसुगिरा चिरम् ।
क्षम्यतां क्षम्यतां देवि ! यद्विरुद्धं मया कृतम् ॥
यावन्मेरुनदीगंगाः यावत्खे च सुतारकाः ।
तावत्तिष्ठतु मे पाठो मित्थ्यात्वतम (?) भास्करः ॥

इति विशालकीर्त्यात्मजो भट्टारकविश्वभूषणविरचिता रत्नत्रयोद्यापनपूजा समाप्ता ।

इस रत्नत्रयोद्यापन के कर्त्ता भट्टारक विश्वभूषण अपने को विशालकीर्त्ति का आत्मज बतलाते हैं। यह भ० विश्वभूषण वि० सं० १८१०* में होनेवाले भक्तामरकथा, पद्म पुराण, इन्द्रध्वजपूजा, षण्णवतिक्षेत्रपालशान्ति आदि के रचयिता ही ज्ञात होते हैं। इनके दशलक्षणोद्यापन, जिनगुणसम्पत्त्युद्यापन आदि दो-तीन उद्यापन-सम्बन्धी ग्रन्थ भी मिलते हैं। इससे भी उपर्युक्त अनुमान प्रबल प्रतीत होता है। पर एक बात है—प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रशस्ति में 'पडेवसप्तशिवत्सरेषु' पाठ देख कर उक्त सम्वत् पर कोई सन्देह कर सकता है। पर यह लेखक की ही भूल ज्ञात होती है। वास्तव में यह प्रति है भी बहुत अशुद्ध। मेरे ख़याल से इसका पाठ 'पडेभसप्तशशि' होना चाहिये। इस पाठ से उक्त निर्णीत समय करीब-करीब असन्दिग्ध हो जाता है।

* देखें—'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ' पृष्ठ २७।

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. V DEC. 1939 No. III.

Edited by

Dr. B. A. SALETORE, M. A., Ph. D.

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.

Babu KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSHANA

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY

ARRAH, BIHAR, INDIA.

***Annual Subscription*:**

INLAND Rs. 4. FOREIGN Rs. 4-8. SINGLE COPY Rs. 1-4.

CONTENTS.

PAGES.

1. JAINA LITERATURE IN TAMIL. By Prof. A. Chakravarti M.A., I.E.S. ... ... 67—74

2. MIND IN JAIN PHILOSOPHY. By S. C. Ghoshal, M.A., B.L., Sarasvati ... ... 75—79

3. ASOKA AND JAINISM. By Kamta Prasad Jain, M.R.A.S. ... 81—88

4. VADIBHA SIMHA AND VADI RAJA. By S. Srikantha Sastri, M.A. ... ... 89—94

5. SOME INSCRIPTIONS ON JAINA IMAGES. By Prof. A. N. Upadhye, M.A ... ... 95—97

ॐ.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. V. No. III | ARRAH (INDIA) | Dec. 1939.

JAINA LITERATURE IN TAMIL.

By Prof. A. Chakravarti, M.A., I.E.S.

Continued from Vol. V, No. II, page 42.

5 Padumaivā- llambagam—Since Jivaka expressed his desire to return home, Sudañjana Deva, before parting with his friend Jivaka, instructed him in three important vidyās which might be useful to him in life. These are: (1) the capacity to assume a beautiful form to be envied even by the God of Love, (2) to cure the effects of deadly poison, (3) and to take any form desired. After instructing him in these three useful Mantras, the Deva directed his friend the way he is to take to reach home. Leaving the land of his friend Sudañjana Deva, he roamed about in several places doing useful service to very many who were in suffering. Finally he reached the city of Chandrābha in Pallava Deśa. There he became a friend of Lokapāla, the Pallava prince. This Prince's sister Padmā, one day, when she went to gather flowers, got bitten by a cobra. Jivaka saved her from the effect of poison through the Mantra given to him by Deva Sudañjana. As a reward of this good service, he had Padmā given to him in marriage by the Pallava king. There he stayed for a few months when he left the city *in cognito* all of a sudden. The princess was in great sorrow because

of the disappearance of her husband. The king sent messengers in search of his son-in-law Jīvaka, who were told by Jīvaka himself in disguise that there would be no use in searching for him now, and that he would of his own accord return after nine months. With this glad tidings the messengers went back and comforted the princess Padmā. Thus ends the Padumiyār Ilambagam

6. Kēmaśariyār Ilambagam—Then Jīvaka reached Kēmapuri in Ṭakka Nāḍu. In that Kēmapuri there was a merchant by name Subhaddiran. He had a daughter by name Kemaśari. Astrologers told this merchant that the youth who at the sight produced the emotion of modesty and love in his daughter would become her husband. The merchant in search of a son-in-law tried several times to bring about such a situation to discover the predicted emotions in his daughter. But all cases proved failure till he came upon Jīvaka. When Jīvaka was invited to his house, he observed to his great joy that his daughter Kemasari at the first sight fell in love with Jīvaka. He gladly gave his daughter Kemaśari in marriage to Jīvaka who stayed with his wife for some time. Again he left the place in disguise, without the knowledge of anybody, to the great grief of his new wife Kemasari.

7. Kanakamālaiyār Ilambagam—Then Jīvaka reached Hemapura in Madhya Deśa. Reaching the Udyāna in the outskirts of the city, he met Vijaya the son of Daḍamittan, the king of Hemapura. This Vijaya was attempting to get a mango fruit from a tree in the garden with the help of his arrow. But he could not succeed. The stranger Jīvaka brought down the fruit at his first aim; at this Vijaya was very much delighted; and he reported the stranger's arrival to the king, his father. The king was very much pleased to receive Jīvaka and requested him to instruct his sons in archery. When his sons became experts in archery as a result of Jīvaka's instruction, the king out of gratitude and pleasure offered his daughter Kanakamālai in marriage to Jīvaka. He was living with Kanakamālai for some time In the meanwhile, his cousin Nandaṭ-ṭan not knowing the whereabouts of Jīvaka wanted to go about in search of him. Gāndharvadattā, the Vidyādhara princess and

Jivaka's first wife, gave the information about the exact whereabouts of Jivaka at the moment. Through the help of her Vidyā, she managed to lead Nandaṭṭan to Hemapura where he stayed with his friends. Jivaka's other friends went in search of him. On their way they met the old queen Vijayā in a Tavappaḷḷi. She was informed of all that happened to Jivaka after she left the baby on the cremation ground. And she expressed a great desire to meet her son, and they promised to arrange for such a meeting within a month and left the Tavapaḷḷi to go to Jivaka. While Jivaka was living with his new wife Kanakamālai, they pretended to besiege the town in order to meet Jivaka. Jivaka with his cousin Nandaṭṭan gathered large forces and went out to meet the besieging army in battle. Padumuhan who was in charge of the army outside and a friend of Jivaka despatched his first arrow with a message tied to it informing Jivaka of his own identity and the object of the visit. When the arrow fell at the feet of Jivaka, he picked it up and read the message to his great joy. Recognising that they were all his friends, he invited them all into the city and introduced them to the king and father-in-law. When Jivaka learnt from his friends about his mother and her eagerness to meet him, he took leave of the king and his wife Kanakamālai who was asked to stay with her father. He started from the city with all his friends to meet his old mother. Jivaka together with his associates reached Daṇḍakāraṇya and met his old mother Vijayā. Vijayā embraced her son with great joy because of the separation of several years. Thus he spent 6 days in the Tavapaḷḷi with his mother Vijayā. She advised her son to meet his maternal uncle Govindarāja and to take his advice and help for the purpose of recovering his father's lost kingdom. He sent his mother in the company of a few female ascetics to his uncle's place, while he himself with his friends went towards Rājamahāpuram. They all camped in a garden adjoining the city. Next day Jivaka, leaving his friends there, went into the city assuming a beautiful form which could attract even the God of Love. While he was walking along the streets of the city, there appeared before him Vimalā who ran into the street to pick her ball which went astray while she was playing. At the sight of

that handsome Jīvaka, she fell in love with him. She was the daughter of a merchant by name Sāgaradatta. Jīvaka went and sat in Sāgaradatta's shop just to take rest The large stock of sugar, which he had in store for a long time unsold, was disposed off immediately after the visit of the stranger to the shop. This was taken to be a very good omen by the merchant Sāgaradatta, as he had learnt previously from the astrologers "that he whose presence would lead to the complete disposal of his unsold goods would be the proper son-in-law for him" He gladly offered his daughter Vimalā in marriage to this beautiful youth. Jīvaka accepted Vimalā in marriage and spent with her just two days and the third morning he went back to his friend's camp in the garden outside the city.

Suramañjarī Ilambagam—His friends observed Jīvaka with the marks of a fresh bridegroom and wanted to know the identity of his fresh matrimonial conquest. When Jīvaka told them that he married Vimalā, the merchant's daughter, they all congratulated him that he was the veritable Kāma. But one of his friends named Buddhiṣeṇa was not willing to congratulate him for this paltry achievement: for in the city there was one Suramañjarī who would not brook to see a male's face; and if Jīvaka succeeded in marrying her, then he would be congratulated as the veritable God of Love. Jīvaka took up the challenge. Next day he assumed the form of a very old Brāhmaṇa mendicant and appeared before the gate of Suramañjarī. Suramañjarī's maid servants informed their mistress of the appearance of the old Brāhmaṇa mendicant at her gate begging for some food. Suramañjarī, thinking that an old and frail Brāhmaṇa mendicant would not lead to the violation of her vow, instructed her servants to bring the old man into the house. There the old mendicant was received as an honoured guest and was offered the finest food that she could arrange for. After dinner the old man took rest on a beautiful bed prepared for him. After a few minutes' nap the old man sang a very beautiful song which was identified by Suramañjarī as Jīvaka's. This roused in her the old desire to win over Jīvaka for herself. She decided to go to the temple of Love the next day to offer worship to the God of Love that she might at last get Jīvaka as her husband. Even before

Jīvaka took the shape of a Brāhmaṇa mendicant, he arranged with his friend Buddhiṣeṇa that he should remain hiding behind the God of Love in the temple and that when Suramañjarī begged the God to help her to win Jīvaka he must answer her favourably from behind the idol. So next day when Suramañjarī with her attendants wanted to go to the temple of Love, she took with her in the carriage this old Brāhmaṇa mendicant. He was left in one of the front rooms of the temple, while Suramañjarī went into the temple to offer Pūjā. After the Pūjā was over, she begged the God of Love to promise success in her adventure. Immediately there came a voice from inside the temple "Yes, you have won already Jīvaka." In great delight she wanted to return home; and when she went to pick up the old mendicant on her way, Lo! she found there the youthful prince Jīvaka instead of the old Brāhmaṇa mendicant. There was no limit to her joy. She clasped him in great delight and announced that she would marry him. The matter was intimated to her father Kuberadatta who was very glad to have the marriage celebrated immediately. From this city of Rājamāpura he took leave of his foster-father and went out with his friends in the disguise as a horse-dealer.

Maṇmagaḷ Ilambagam :—Thus Jīvaka with his friends entered Vidaiya Nāḍu, the land of his uncle Govinda Rāja. He was received by his uncle with great joy. There he discussed with his uncle as to the method of reconquering his country Hemāṅgada from the usurper Kaṭṭiyaṅgāran. Govinda Rāja tried to get Kaṭṭiyaṅgāran to his place by a stratagem. This Govinda Rāja had a beautiful daughter named Ilakkaṇai. He proclaimed the conditions of a Svayaṁvara and set up a machine in the form of a boar which was always rotating; he who successfully hit the rotating boar would be accepted as the fitting husband to the princess. Kaṭṭiyaṅgāran and several other princes were assembled at the court of Govinda Rāja in order to try their luck at the Svayaṁvara. But none was really successful. At last Jīvaka appeared on the scene on the back of an elephant. The very sight made Kaṭṭiyaṅgāran frightened. Jīvaka, whom he considered to be dead and gone, was

before him fully alive. He got down from the elephant's back and hit at the boar mark successfully with his arrow, and won the hand of the princess in the Svayaṁvara. Then his uncle Govinda Rāja openly announced who this young man was and sent an ultimatum to Kaṭṭiyaṅgāran to return back his kingdom. But Kaṭṭiyaṅgāran accepted the challenge and preferred to fight. He was defeated and killed in a regular battle together with his hundred sons. Jīvaka was victorious. At the news of the victory, his old mother was in great joy and felt that her life-purpose was fulfilled.

Pūmagal Ilambagam—Then Jīvaka after the victory marched to his own city Rājamāpuram where he had the coronation ceremony conducted in a grand manner to the delight of his friends and relations. This is spoken of as the marriage with the Bhūmi Devī, the Spirit of the earth, because Jīvaka's previous career was one of a glorious stream of marriages.

Ilakkaṇai Ilambagam—After assuming the kingship over Hēmaṅga Nāḍu he had the celebration of the marriage with his uncle's daughter Ilakkaṇai who was won in the last Svayaṁvara, by his successful hitting at the boar-mark, and rewarded all his friends in a fitting manner. His foster-father was elevated to royal honour. His friends were given several presents. He gave away all the wealth of Kaṭṭiyaṅgāran to his uncle Govinda Rāja. He built a temple in honour of his friend Sudañjaṇa Deva. Thus during his reign all were satisfied and the country enjoyed plenty and prosperity

Mutti Ilambagam—While they were all living in happiness, one day his old mother Vijayā expressed her desire to renounce all these worldly pleasures and wanted to live the life of an ascetic. Thus, with the permission of her son and king, she spent her remaining days in a Tāpasa āśrama in prayer and spiritual discipline. The king Jīvaka, while wandering in the Udyāna one day, noticed a curious phenomenon. He observed a monkey with her lover enjoying their happy life. Immediately he saw the male monkey fetching a fine jack fruit to offer to his mate. Just then the gardener noticing the jack fruit in the hands of the monkey, beat him with

his stick and took away the jack fruit which he did eat. When this was noticed by Jīvaka, he realised that this was symbolic of all worldly riches, always taken possession of by the mightier at the cost of the weaker. Even royal honour is no exception to this. Everywhere he found the principle "that might is right" triumphant. He saw that in the life of Kaṭṭiyaṅgāran and he intimately knew in his own life the same principle illustrated. Royal honour resting on such unethical foundation was certainly not the thing to be coveted for. Therefore he resolved to abdicate his kingdom in favour of his son and retire from sovereignty to spend the rest of his life in penance So he went away to the place where Mahāvīra was, got instruction in spiritual matters from Gaṇadhara Sudharma who initiated him into spiritual life and penance. Thus Jīvaka spent the rest of his period in meditation and finally attained Nirvāṇa as the fruit of his meditation and penance: Thus ended the glorious life of the great Kṣatriya hero Jīvaka in whose honour this monumental Tamil classic was composed by the author Tiruttakka Dēva.

This classic contains 3145 stanzas. An excellent edition containing a fine commentary by Naccinārkkiniyar is now available, and it is by the famous scholar Mahāmahopādhyāya Dr. V. Swaminatha Ayyar who has devoted all his life to the publication of rare Tamil classics.

Let us now turn to the five minor kāvyas which are (1) Yaśōdhara Kāvya, (2) Cūḍāmaṇi, (3) Udayaṇan Kathai, (4) Nāgakumāra Kāvyam, and (5) Neelakēśi. All these five minor epics were composed by Jaina authors.

(1) Yaśōdhara Kāvya—Unlike Jaina literary works in Sanskrit where the authors generally give a bit of autobiographic information, either at the beginning or at the end of the work, in Tamil literature the author maintains absolute silence on that matter. It is very often difficult to know even the name of the author, not to speak of other details relating to his life. We have to depend upon purely circumstantial evidence as to the life of the author. Sometimes such

circumstantial evidence will be extremely meagre, and we have to confess our ignorance about the author and his life. Such is the case with this Yaśōdhara Kāvya Practically nothing is known about the author except that he was a Jaina ascetic. From the nature of the story all that we can infer is that it is later than the Hindu doctrine of Yāga as reformed by Madhvācārya. Madhvācārya, the famous Vedantic scholar, introduced a healthy reform that Vedic ritual could very well be continued without involving animal sacrifice if a substitute for the animal be introduced in the same form made of rice-flour. The story of Yaśōdhara Kāvya is evidently intended to reject this ritualism even with this substitute. The moral value of conduct depends upon the harmony between thought, word and deed, Manas, Vāk and Kāya. In this particular form of ritualism, though the actual deed is avoided, there is still lacking the harmony and co-operation of the other two. The desire to sacrifice an animal and to pronounce the necessary Mantras being there, the substitution of a mock-animal would not relieve an agent of any of his responsibility for animal sacrifice. This seems to be the main theme of the story in which incidentally many of the doctrines relating to the Jaina religion are introduced. Hence the work must be placed after the period of the reformation in ritualism associated with the founder of Mādhva philosophy.

Contd.

MIND IN JAIN PHILOSOPHY.

BY

S. C. Ghoshal, M.A., B.L., Sarasvati.

We propose in this short article to summarise the view of Jain Philosophers whether mind is to be regarded as a sense or not and compare this view with the same in Hindu Philosophies.

The earliest references to Manas in the Vedic literature show that Manas was not regarded as an Indriya (sense) In the Atharva-Veda (Kanda 21, Anuvaka 1-9-5 we find.

"इमानि यानि पंचेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि ।"

i.e. " these five senses making up six with Manas have been placed by Brahma in my heart."

Here the Indriyas are clearly mentioned to be only five. When Manas is added to this number, the total becomes six.

When later philosophers tried to establish that Manas is an Indriya, they argued that by "Manas making up the sixth" it is meant that Manas also is an Indriya. But the method of interpretation of the Vedas is laid down in detail in the Mimāmsā philosophy. In it, it has been mentioned that we find in the Vedas the injunction " यजमानपंचमा इडां भक्षयन्ति " *i.e.* "The five including the sacrificer eat the Idā oblation." Here the four are the four kinds of Ritvik priests and the fifth is the sacrificer. So it cannot be said that by the expression "Yajamāna making up the fifth," the sacrificer becomes one of the Ritviks. The sacrificer is ever distinct from the priests. By no streach of imagination he can be included within the priests.

Another example is quoted in this connection: " वेदानध्यापयामास महाभारतपंचमान् " *i.e.* "He taught the Vedas making up five with the Mahābhārata." It is urged that the Mahābhārata is not a Veda. So by saying " Mahābhārata making up the fifth," it cannot be said that this becomes a Veda.

So the above text of the Veda is to be interpreted as "five Indriyas with Manas totalling six" and it must be understood that Manas is not a sense.

In Vedānta-paribhāṣā by Dharmarājādhvarindra it is mentioned "न तावदन्तःकरणमिन्द्रियमित्यत्र मानमस्ति।" *i.e.*, "There is no proof that Manas (Antaḥkaraṇa) is a sense." The above examples of the use of "Yajamāna-pañchamā" and "Mahābhārata-pañchamān" are quoted and the author after quoting "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।" Gita XIV. 7 lays down: No contradiction results in filling up the number six with Manas, though Manas be not reckoned as an organ of sense. There is no positive injunction restricting the completion of the number relating to the organs of sense to such an organ only." To support this view the following from Katha Upanishad (III. 10) is quoted:

"इंन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः।"

i.e. "Objects are beyond the organs of senses, mind is beyond the sense-organs."

It is peculiar however that by mentioning Antaḥkaraṇa as Manas, the author of Vedāntaparibhāṣā indirectly accepts mind as a sense. Karaṇa means a sense and while the senses of touch, taste, smell, sight and hearing are said to be external senses (बहिरिन्द्रिय) Manas is said to be internal sense (अन्तरिन्द्रिय).

In the Vedas also we find "एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।" *i.e.* "from Him is produced Prāṇa, Manas and all Indriyas." There are various views regarding the number of Prāṇas in the Vedas. But from this, it is found that mind is mentioned separately from all Indriyas.

Saṇkarāchārya in his Bhāṣya as Vedānta Sutras II 4. 6-17 have discussed the views of different Śrutis regarding Prāṇa and Manas. He has come to the conclusion that Prāṇas are eleven in number, ten senses and one Antaḥkaraṇa (which is mentioned as Atmā) ("दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश; आत्मशब्देनात्रान्तःकरणं परिगृह्यते।". In his Bhāṣya on Vedānta-Sūtra II 4. 17, he says that though Manas is separately mentioned from Indriyas it should be taken as an Indriya from the injunction of the Smritis.

("स्मृतौ त्वेकादशेन्द्रियाणीमानि मनोऽपीन्द्रियत्वेन श्रोत्रादिवत् संगृह्यते ।")

The view of the Smritis will appear from the following from Manu-saṃhitā (II. 89-92).

"I shall mention serially the eleven senses as mentioned by the early sages. The five are hearing, touch, sight, taste and smell. Taking Pāyu, upastha, hands, feet and voice, ten are made. The five hearing etc., are called Buddhindriya and the five Pāyu etc., are called Karmendriya The eleventh is Manas which is of both kinds according to its own quality."

In the Gita Manas has been accepted as a sense for it is mentioned in X-22 "I am the Manas among the senses" meaning the best of the senses *e.g.*

"वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥"

In Sāṅkhya Sūtra II-26 we find उभयात्मकमत्र मनः *i.e.*, "Mind is of both kinds (Jñānendriya as well as Karmendriya). In Sāṅkhya-karika 27 we find the same view.

Gautama in his Nyāya sūtras has excluded the five Karmendriyas Vāk, Pāda, Pāṇi, Pāyu and Upastha in enumerating senses and has taken consideration of only the five Jñānendriyas *viz.*, the senses of touch, taste, smell, sight and hearing. Mind has been accepted as sense in the Hindu Nyāya philosophy but it has been distinguished from the five senses as mentioned above. It has been mentioned that the true senses touch, taste etc., are fixed in their particular objects. For example, the sense of smell can produce a knowledge of smell but not of taste, sight etc. The mind however can apply itself to every object in all its qualities. In mind there is no special quality like those existing in senses *e.g.*, smell etc., Vātsyāyana in his Bhāṣya to Nyāya-sūtra I. 1-4 affirms this in the following :—

"भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि, सगुणानां चैषामिन्द्रियभाव इति । मनस्तु अभौतिकं सर्वविषयञ्च, नास्य स्वगुणस्येन्द्रियभाव इति । सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सन्निधिमसन्निधिञ्चास्य

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिकारणं वक्ष्याम इति। मनश्चेन्द्रियभावान्न वाच्यं लक्षणान्तरमिति। तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यमिति।"

Udyotkara in his Nyāya-vārtika also supports the same view *e.g.* "मनः सर्वविषयं स्मृतिकारणसंयोगाधारतात् आत्मवत् सुखग्राहकसंयोगाधिकरणत्वात् समस्तेन्द्रियाधिष्ठातृत्वत्।"

Now, let us see what is the view of Jain philosophy in this matter. The Jain Logic affirms like the Hindu Nyāya that the Indriyas are five (subdivided according to Dravya and Bhāva). In Pramāṇa-Mimāmsā of Hemachandra I. 1-22 we find :

"स्पर्शरसगन्धरूपशब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि द्रव्यभावभेदानि।"

Mind is called in Jain Logic Anindriya or No-indriya. But by this, it should not be imagined that mind is not a sense. Hemachandra says that mind takes all objects "सर्वार्थग्रहणं मनः" (Pramāṇa-mimāṃsā I. 1. 25) that is to say it does not take objects of touch only as is done by the sense of touch, but objects which can be cognised by other senses also. The mind is called Anindriya or No-Indriya ("सर्वे न तु स्पर्शनादीनां स्पर्शादिवत् प्रतिनियता एवार्था गृह्यन्ते तेनेति सर्वार्थग्रहणं मनोऽनिन्द्रियमिति नो इन्द्रियमिति चोच्यते।" Bhāṣya to I. 1-25 Pramāṇa-mimaṃsā).

Akalaṅka Deva in his Tattvārtharājavārttika on Sūtra I-14 has laid down : Mind is called Anindriya ("not Indriya") like Anudarā ("without a belly"). "अनिन्द्रियं मनोऽनुदरावत्।" This is explained in the commentary as follows :—

"मनोऽन्तःकरणमनिन्द्रियमित्युच्यते। कथं इन्द्रियप्रतिषेधेन मन उच्यते? यथानुदरा कन्या इति नास्या उदरं न विद्यते, किन्तु गर्भभारोद्वहनसमर्थोदरामावादनुदरा। तथानिन्द्रियमिति नास्येन्द्रियत्वाभावः। किन्तु चक्षुरादिवत् प्रतिनियतदेशविषयावस्थानाभावादनिन्द्रियं मन इत्युच्यते।"

i.e. "Min is called Antaḥkaraṇam or Anindriya. Is mind mentioned as not being a sense ?

(It should not be supposed that mind is not an Indriya) We call a female who is unable to conceive 'a woman without a belly, This does not mean that really this female has no belly at all but the meaning is that she is unable to conceive. So by the use of the word 'Anindriya,' it is not laid down that this (mind) is not an Indriya. But as mind does not always exist in a particular object of sense like eye etc. it is called Anindriya."

The difference between mind and other senses is as follows. In case of the senses of sight etc., impressions of objects arise on contact of the senses with objects. But mind does not produce impressions of objects on contact in this manner.

Thus the view of the Jain Logic is in accordance with the view that preponderates in the Hindu philosophy regarding mind being a sense. But though Jain Logic accepts mind as a sense, it calls it a small or intangible sense (No-Indriya or Iṣat-indriya) because it is not materially cognisable like other senses. Its function according to Jain view is discernible only by highly developed souls who have Manaḥparyaya Jñāna the knowledge of thoughts of others).

The earlier view in the Hindu Śāstras as can be found from the Vedic literature is that mind is not a sense. In the Smritis and different systems of philosophy which followed, mind is taken as a sense. In the Vedic literature, the number of senses is five, in the Śmritis and Sāṅkhya Philosophy the number is eleven (five Jñānendriyas, five Karmendriyas and mind). In Hindu Nyāya philosophy however, only the five Jñānendriyas and Manas are accepted as senses.

The view of Jain Logicians is the same as that laid down in Hindu Nyāya Philosophy. They accept mind as a sense but at the same time they emphasise its difference from other senses by calling it Anindriya or No-indriya according to its peculiar characteristic *viz*, that it is not confined to particular objects cognizable by particular senses or contact but it can cognize all objects, cognizable by the five senses.

Asoka and Jainism.

BY

Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.

Continued from Vol. V. No. II, page 60.

Evidence of Asoka's Inscriptions.

The inscriptions of Asoka which are brought forward to vouchsafe his Buddhistic belief, unfortunately do not seem to support it. "Three of these historical inscriptions of Asoka," says Rev. H. Heras "speak of the time in which he became an *upāsaka*, a 'lay worshipper' (Sahasrām R. I., B.—Brahamagiri R. I., C.) while their parallel inscription of Rupnāth says that he was 'openly a Sākya' (Rup. R. I., B) and the one of Maski reads 'a Buddha Sākya' (Maski, R. I., B). Does this mean that he became a Buddhist believer on this occasion? It is not clear. We must not place too much importance on the word itself forgetting the spirit of the sentence. Certainly *upāsaka* means a layworshipper, but a layworshipper does not mean anything else than one who is not properly acquainted with the deep dogmas of his faith and has not been initiated with its mystries. This word *upāska* may, therefore, be interpreted as referring to Aśoka's conversion after the Kalinga war, *i.e.*, his becoming a lay-worshipper. Naturally he could also call himself Śākya and Buddha-Śākya, because any conversion is a kind of enlightenment, and he could therefore consider himself the enlightened one. Such is the meaning of the word *upsāka*, Śakya and Buddha-Śākya." [46]

With due defference to Rev. H. Heras' learned opinion, I may differ here a bit from him. For I would like to attach a special importance to the word *upāsaka*, since it is only used as a technical term for the lay-worshipper either in Jainism or Buddhism. Therefore it denotes that Asoka became a lay-worshipper of either sects at this stage of his life. Besides though it is true that the reading of Asokan edicts is almost certain, yet I may be further allowed to

46. JMS. XVII, p. 273.

state that at certain places it is not conclusive yet. Scholars have substituted letters at places from their own guess, believing that Asoka was a Buddhist. Hence they differ in reading them. For instance in the Rupnāth Rock inscription a certain scholar has read the word '*Sāvake*' (Skt. Śrāvaka) instead of 'Śākya'[47] and it will prove that Aśoka really became a Jaina layman, for it (Śrāvaka) has been substituted here as a parallel for the word '*upāsaka*' (lay-worshipper) used in the Bairāṭ and Sahasrāma inscriptions and in Buddhism the former 'Śrāwaka) word has a different meaning than the latter (upāsaka) one. It is used there for a Buddhist monk.[48] Hence these words being not synonymous in Buddhism as they are in Jainism, betray the truth that Asoka became a layman of Jain pursuasion at this stage of his life.

No doubt Asoka's leaning towards Buddhism and his interference with the Sangha for establishing peace between its members are facts borne out by his edicts themselves.[49] And it may also be taken for the time being as true that Aśoka styled himself as a 'Buddha Śākya.' But in these all instances I would like to point that Aśoka's affectionate regard for his queen named Devi who was a Śākya by birth and a Buddhist by belief[50] worked and influenced him. A parallel instance in the latter Indian history is found in the life of Hoyasal King Viṣṇuvardhana, who though in his after-life became a convert to Vaiśnavism, yet continued to grant villages as donations to Jaina temples simply out of regard for his queen who professed Jainism till death[51].

Moreover it is evident that after the visit of Asoka to the Buddhist Sangha, he issued two decrees: one for all his subjects and another for the members of the Buddhist Sangha. "The former," writes Rev. H. Heras "is the one contained in the Rūpnāth

47. Janārdana Bhaṭṭa "Aśoka Ke Dharma Lekha", p. 69.

48. Bhagwān Mahāvīrā Aur Mahātmā Buddha, Foreword, p. 12.

49. Mookerjee, Asoka, pp. 61 - 68.

50. *Ibid*, p. 9 'Vedisa-Mahādevī, Śākyakumārī.

51. Jain Śilālekha Saṁgraha (M. G. Bombay), Intro. : p. 84 94.

and cognate edicts. We must note that this document though it is the first exposition of the Dharma after his visit to the Sangha, does not give any precept we might call Buddhist. The other document addressed to the Sangha itself is thoroughly different. This is the Calcutta-Bāirat R. I. This document has been supposed to be the profession of Buddhistic faith of Aśoka. It would have been so, if addressed to all his subjects, but it was addressed only to the Saṁgha: 'The Magadha King Priyadarśin having saluted the Saṁgha, hopes they are both well and comfortable.' Then it is not strange to hear him adding: 'it is known to you, Sirs, how great is my reverence and faith in the Buddhá, the Dharma and the Saṁgha. Whatsoever, Sirs, has been spoken by the blessed Buddha, all that is quite well spoken.' This is not a profession of faith The document being addressed to the monks themselves, he could not say otherwise, Aśoka had to observe the injunction given to all the sects; not to say anything against another sect and to foster the purity of his doctrine. In order to obtain this, he recommends both the monks and the nuns as well as the laity to read often and meditate upon seven extracts of Buddha's Dharma. It is worth noticing the difference between the document addressed to the Dharma (saṁgha ?) and Rūpnāth R. I., written at the same time, but addressed to all the subjects of his vast Empire. Even Prof. Bhandarkar remarks that the six passages recommended in the Calcutta-Bairat edict do not express any ritualistic or metaphysical element of Buddhism." (JMS. XVII. pp. 274-75.)

It is also remarkable that while reviewing his work of propogating the Dharma in the last pillar edict, Asoka did neither mention at all the names of those Buddhist monks whom the tradition assign to have been appointed by him for propagation of Dharma, nor he state anything about the Buddhist council said to have been held during his sign.[52] Buddhist travellers like Fahian and Hieuntsang only mention the inscriptions of Aśoka as ancient records.[53]

52. P. E. 7. 53. Mookerjee, Asoka, p. 14 F. N. 3.

They do not say that they were the monuments of Buddhist Religion and work of a devout Buddhist king.

These all facts point that the inscriptions of Aśoka do no support the view of his being a Buddhist votary.

Aśoka's visit to sacred places.

It is also inferred from the inscriptions of Aśoka that he visited many sacred places, most of which were Buddhistic one. But the word '*Sambodhi*' used in the 8th Rock Edict and passed for the 'Tree of Enlightenment' (Bodhi Vrakṣa) of Gautama Buddha do not seem tenable.[54] It is rather meant that Aśoka attained to right knowledge at this stage. It is evident from the Jaina scriptures that the attainment of '*Bodhi*' is essential in *Dharma-Mārga*; which is significant in as much as it will denote a follower of Dharma as a way-farer of Right Path.[55] Aśoka seems to use the phrase about getting to *Sambodhi* in this very sense. Therefore it cannot be said that he visited the *Bodhi-Tree*, sacred to the Buddhists. Of course on another occasion he visited the Birth-place of Buddha [56]; but it do not prove anything in favour of his supposed belief in Buddhism, for there are available on the otherhand instances from which it is clear that Aśoka honoured even those sects which were regarded as rivals of Buddhists. In the 20th year of his reign Aśoka visited and worshipped the Stupa of Konakamuni; who was a previous Buddha, worshipped by the sect of Devadatta, rival of Buddha.[57] Thus it is evident that Aśoka honoured all the sects in a like manner.

And if we finds "Mahāvaṃśa" stating that Aśoka erected many Buddhist buildings, [58] the "Rājataringiṇī" on the other hand states that he built many Brahmanical temples in Kashmir.[59] The

54. Rock Edict 8 C. Mookerjee, Asoka p. 151, F. N. 2.

55. Mūlachāra 'सयं भवभय महण्णा बाधी गुणत्थिदा मग्गे लद्धा ।
जदि पढिदा ण हु सुलहा तह्मा ण सयं पमादामे ॥१५८॥" मूलाचार ।

56. Mookerjee, Asoka p. 201. 57. Smith, Early Hist. of India, p. 33.

58. Mahāvaṃśa, V. p. 23. 59. Rājataringiṇī, p. I 20.

Rājāvalikathe" states likewise that Aśoka having visited Śravaṇa-belagola built Jaina temples there[60] and if we may give credit, which we should, to the interperetition of Mr. Thomas of the passage of the "Rājataringinī," which speaks about the preaching of the Religion of Jina by Aśoka in Kashmir, we find the belief of Aśoka in Jainism vouchsafed by the author of Rājatāraṅgiṇî as well.[61] Abulfazal clearly distinguishes between Jainism and Buddhism, when he refers to the act of preaching of Jina-Dharma by Aśoka in Kashmir.[62] Moreover the word '*Jina*' has a great importance in and is significant of Jainism.[63]

Hence keeping in view the above arguments it is not bold to say that there is nothing in his inscriptions which prove the Buddhist faith of Aśoka. "We have been mislead," Says Rev. H. Heras, "by the Buddhist chronicles long ago. Modern criticism cannot accept other documents referring to Aśoka than his own inscriptions. And these do not say that he embraced the doctrines of Gautama."[64]

Aśoka's State Policy and Administration.

After the Kalinga war Aśoka was so disgusted with bloody wars that he sweared to have no more of them. Rather he professed and preached henceforth the principle of *Ahiṁsā* for the good of man and beast alike. His royal injunctions for the protection of life are akin to the idea of Ahiṁsā in Jainism. "Nothing of a Buddhist spirit," says Dr. Kern, "can be discovered in his state policy. From the very beginning of his reign he was a good prince. His ordinances concerning the sparing of animal life agree much more

60. Jaina Śilalekha Saṁgraha, Introduction : p. 61.

61. JRAS., Vol. IX pp. 155-191.

62. "Va Chūni farmandahi bāśoka pisare Amma Rāja Janaka bāza kar dida Kaiśe Brāhmaṇa andākhatah āyîne Jaina bar grafta." *cf*: "Va āyîne Bodha dar ān zamāna rawayi yafta." *i.e.*, "At that time (during the reign of Jaloka Buddhism flourished," and "dar Zamane Rāja Narabrahmā na bar Bodha chirab dasta amadand va parastiśa jāye ān khāka to dahe gaśta."

63. Indian Historical Quarterly, Vol. III p. 575.—JRAS., Vol. IX. p. 183.

64. JMS., XVII, p. 276.

closely with the ideas of the heretical Jainas than those of Buddhists." [65] He is an ideal of a Jaina King and seems an ardent follower of the faith like a true Jaina of latter periods; for it is remarked by Bulher that "In practical life Jainism make of its laity earnest men who exhibit a stronger trait of resignation than other Indians and excel in an exceptional willingness to sacrifice anything for their religion. It makes them also fanatics for the protection of animal life. Wherever they gain influence there is an end of bloody sacrifices and of slaughtering and killing the large animals."[66] In the reign of Aśoka this very spirit of Ahiṁsā pervailed at large. Like Jainas he opened hospitals even for animals and proclaimed "*Amārighoṣa*" at many a occasion [67] Aśoka awarded capital punishment to those culprits who were found guilty of injury to animals. The Jaina Kumārapāla also issued such strict orders for the protection of animal life.[68] Aśoka abolished the killing of animals on all accounts. No body was allowed to kill any living being either for the sake of his religious belief or to satiate his sensual cravings. Thus Asoka's reign was a guarantee of life to every living being and as such it was truly a 'Jaina Rājya'!

Evidence to prove the Jain Faith of Aśoka.

But what is there expressive to prove Asoka's belief in Jainism? Certainly the literary evidence referred to above is far more latter and might be deemed open to doubt. Therefore we should rely only on the inscriptions of Aśoka to prove his faith in Jainism We shall divide this evidence in the following heads and deal with them below one by one :—

(1) Asoka's monuments and symbols;
(2) Asoka's technical terms;
(3) Asoka's teaching and philosophy; and
(4) Asoka's missions to foreign countries.

65. Manual of Indian Buddhism, p. 275.

66. Indian sect of the Jainas, pp. 17—18

67. Mookerjee, Asoka, pp. 22ff. For animal hospitals of Jainas See JRAS. (Old series) Vol. I pp. 96 97; Indian Antiquary, Vol. III (1874) pp. 77—81; and L. Rousselet, l'Inde des Rajahs (1875) pp. 17—18 & 98

68. Early History of India, p. 155.

But before examining the above evidence it seems necessary to refer to Asoka's three stages of mind in striving for Dharma, as pointed out by Rev. H. Heras; to whom I am much indebted for quoting *et large* from his learned article. It is said in the 13th Rock Edict of Aśoka. "After that, now that the country of the Kalingas has been taken, Devānāmpriya is devoted to a zealous study of morality to the love of morality and to the instruction of the people in morality"[69] Thus these three stages are (1) Study of Dharma (2) Love of Dharma (3) and propogation of Dharma and these are in quite agreement with the teaching of Jaina scriptures; for it is said in them that Piety follows knowledge (पठमं नाणं तओ दया) Aśoka first acquired knowledge of Dharma and was assured just like a Jaina that the gift of Dharma is the best. Naturally he became a zealous lover to propagate the Dharma. It looks as if Aśoka is following here in the steps of the Jaina Tirthaṁkara, who having studied and having acquired the supreme knowledge, filled his heart of hearts with immense love and piety and set on preaching the Dharma to one and all—low and high, man and beast—all alike[70] Did not Asoka exhort likewise one and all to practise Dharma?[71] It also speaks for his belief in Jainism.

Asoka's monuments & symbols.

Though the building of cities, *vihāras, stūpas,* caves and pillars and rails of stone, bearing inscriptions or artistic sculptures, are assigned traditionally to Asoka; but out of them at the present his pillars and inscriptions only are available. In Jainism pillars have a special place and they are a thing of worship for the Jainas from

69. JMS., XVII pp. 256--257.

70. Kalpasutra (1848) pp. 82—96—Samavāyāṅga Sutta.

"भगवंयणं धम्ममाइक्खइ तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय चउप्पय मियपसुपक्खि सरीसिवाणं अप्पप्पणोत्थि सिवसुहदाय भासत्ताए परिणमइ—"

—समवायाङ्गसुत्त,

71. In Rock Edict VI th Asoka says :—

"There is no higher duty than the welfare of the whole world. And what little effort I make is in order that I may be free from debt to the creatures, that I may render them happy here and they may gain heaven in the next world."

time immemorial.[72] They are called *Mānasthambhas* and the chief aim in building them lies in the idea of imparting the sacred glimpse of Tirthaṁkara's " *Shānti-mudrā* " to all living beings through their images engraved on them, so that they may attain tranquillity of mind and peace of soul. Many a Jain king built such pillars and many of them are found mounted with lion and other animals and decorated with sacred Jain symbols, *e.g. Dharmacakra* etc.[73] Thus it seems most probable that Aśoka grasped the idea of building pillars for propogation of his Dharma from the Jainas The animals and symbols which he used are also those found in Jainism.[74]

Moreover the places which Asoka chose for erecting his pillars are not exclusively Buddhistic. They are found either at important centres or on the sacred places of all the ancient Indian Religion. The places like Girnār, Srāvasti, Vaiśāli and Rājagrha are sacred to Jainas. Vaiśāli seems to be an exclusively Jaina *tīrtha* being the birth place of Vardhamāna Mahāvira, the last Tirthankara and Prof. R. Mookerjee states that " this might explain the location of this pillar."[75] This pillar is also surmounted by a lion, which animal is the signifying emblem chinha of the last Tirthaṁkara.

In the manner of Jain King Khāravela,[76] Aśoka also got excavated many a cave for the use of *Śramaṇa* ascetics.[77]

72. 'पडिमाणं अग्गेसुं रयण थंभा हवंति वोसपुढ' ।
पडिमा पीढ सरिच्छा पीठा थंभाणणादव्वा ॥'
—तिलोयपण्णति,

'ततोऽन्तरांतरं किं चिद्गत्वा हेममयोन्नताः ।
अधोमध्यजिनाच्यांगा ध्वजछत्राभूषिताः ।
चतुर्गोपुर संबद्धशालमि तयवेष्टिताः ।
रेजुर्मध्येषु वीथीनां मानस्तंभा मनोहराः ॥
—मल्लिनाथपुराण,

73. " Vira "—'Kalānka ' 1934.
74. JRAS., Vol. IX pp. 161—168.
75. Mookerjee, Asoka p. 86.
76. JBORS., Vol. III pp. 465—467.
77. Mookerjee Asoka, p. 89.

To be continued.

VĀDIBHA SIMHA AND VĀDI RĀJA.

BY

S. Śrīkaṇṭha Śāstri, M.A.

In the *Jaina Siddhānta Bhāskara* (*Bhāga* VI, *Kiraṇa 2.* Pandit K. Bhujabali Śāstri is of the opinion that Vādibha Simha must be placed in the latter half of the 11th century and was the contemporary of the Cola Rāja Rāja II. There is no doubt that Vādi Simha mentioned by Jina Sēna II [1] in his Mahāpurāṇa is a different individual from the later Vādibha Simha. But Vādibha Simha can not be placed in the latter half of the 11th. Century for the following reasons :—

(1) The commentary on the *Yaśas tilaka campu* of Śomadēva Sūri (not Soma Sēna) says (p. 265 *Kāvyamālā* Ed.)

उक्तं च वादिराजेन महाकविना—
कमणा कवलिता जनिता जातः पुरांतरजनंगमवाटे ।
कर्मकोद्रवरसेन हि मत्तः किं किमेत्यशुभधाम न जीवः ॥
स वादिराजोऽपि श्रीसोमदेवाचार्यस्य शिष्यः :—
वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः ।
श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः । इत्युक्तत्वाच्च ।

Sōma dēva Sūri completed this campu on Friday, March 25, 959 A.D. in the reign of Vāga Rāja, the son of the Cālukya Arikesari (who had been the patron of the Kannada poet Pampa). The emperor was Rāṣṭrakūṭa Kṛshṇa III who had just then completed the conquest of the Coḷa country and had his camp at Mēlpāṭi (cf. *Karhad grant* of *Kṛshṇa* III). If therefore Sōmadēva lived in C. 950

---

(1) कवित्वस्य परा सीमा वाग्मित्वस्य परं पदम् ।
गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः ॥
Mahā Purāna 1—54.

Also :—

स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते ।
दिग्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिभंगो न दुर्घटः ॥
Vādirāja's Pārśvanātha Charita.

A. D., his disciples cannot be placed in the last half of the 11th Century.*

(2) The Belgāmve grant to tha Lākuḷa Vādi Rudra gaṇa by Chālukya Jayasimha II Jagadēkamalla in 1035 A.D. (Ś. 957, Yuva sk. 126. E.C. VII) gives the following titles to Vādi Rudra gaṇa.

" *Advaita vādi bhūja Kuṭhāram, Akalamkatripura dahana triṇētram, Vādi gharaṭṭa diśapaṭṭa, Vadibha Simha Śarabham, Vādi Rāja mukha mudra naya vādi diśāpaṭṭam* " etc.

Vādi Rudra gaṇa therefore claims that before 1035 A.D., he had defeated Advaitins, Akalaṁka, Vādi gharaṭṭa, Vādibha Simha, Vādirāja etc.

(3) The verse in *Kṣatra cūḍāmaṇi*—

राजतां राजराजोऽर राजराजो महोदयैः ।
तेजसा वयसा शरः क्षत्राचूडामणिर्गुणैः ॥

refers to a Rāja Rāja. There are three Rāja Rāja's in Cola history and Rāja Rājanarēndra in the History of the Eastern Cālukyas of Vengi. Rāja Rājanarendra of Vengi was the son-in-law of the Cola Rājendra I and was crowned in 1022 A.D., (I. A. XIV p 50). But he is said to have been ruling even before, in 1018 A.D. and up to 1063 A.D., (cf. *Rāja Rāja Narendra Sanchika*). Therefore no

* I very much thank Prof. S. Srikanta Sastri for his article on " Vadibha Simha and Vādi Rāja, " but I would like to say that some Jain Scholars do not consider Vadibha Simha as a disciple of Soma Deva. The reasons for saying so are obvious. Neither Vadibha Simha nor Vadi Raja has ever claimed to be a disciple of Somadeva. The extract from the commentary noted above has not been proved authentic, and unless the location, time and occasion of the said extract are proved to the satisfaction of scholars, and unless it is corroborated by other authentic writings, it is difficult to place faith in it, and accept it as an evidence in the present case.

K. B. Shastri.

doubt he was the contemporary of the Cōlās Rāja Rāja I and Rājendra I (1012—1015 A. D.) Rāja Rāja I Cola ruled from 985 to 1012 A. D. Satyāśraya Iriva Bedanga defeated Rāja Rāja I. His successors Vikrama V and Ayyaṇa ruled up to 1014 A. D. when Jayaśimha II Jagadēkamalla came to the throne and ruled up to 1042-43 A.D. Jaya simha fought with Bhōja of Mālwa and with the Coḷa Rājendra I from C. 1017 to 1023 A. D. Rāja Rāja II (1176—1182) was a weak ruler who was reinstated before 1183 and after 1171 A.D., on the Coḷa throne by the Hoysala king Vīra Ballāla II and Raja Rāja III (1216—1248) was involved in a civil war with Rājēndra III and imprisoned twice by Kāḍava Perunjinga and released by the Hoysala kings Narasimha III and Somēśvara, Hence it is extremely doubtful whether they can be styled Kṣatra cūḍāmaṇis. It is more probable that Rāja Rāja the Great is referred to.* The Tamil inscriptions mention Kṣhatriya Sikhāmaṇipuram probably named after Rāja Rāja I who seems to have had the title Kṣatriya Sikhāmaṇi. In the time of Rāja Rāja I the Buddhist Cūḍāmaṇi Vihāra was built at Nāgapatam by Vijayottinga Varma, son of Cūḍāmaṇivarma, (I.A. 7, 22 ;)

(4) The author of *Kṣatra chūḍamaṇi* is a Sūri as he tells us in the colophon.

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणिकाव्ये—

It is usually assumed that he is the same as the author of Gadya Cintāmani. The author of the latter work was the disciple of Puṣpa Sēna and was called Oḍeya dēva. Oḍeya in Kannaḍa means master or Svāmi.† The Malli Sheṇa Praśasti refers to one Puṣpasēna (probably Padma Sēna) after Akalamka and before

* That Rāja Rāja of Vadibha Simgha is Cola I has been accepted by me also in Bhaskar Baga II Kirana 2, but because the late R. Narsimhacharya did not subscribe to this view I had to change my mind. On the authority of Inscription Nos. 37 and 40 of Nagar he has placed Vadibha Simha between the latter half of the 11th century, and the first half ofthe 12th century.

† The word, 'Deva,' also, means something similar to 'svami', so two words of similar sense could not have been used. I therefore think that Odeya Deva was only another name of Puspa Sena.

K. B. Shastri.

Vimala Candra. Later on after Śrīpāla traividya it refers to Mati sāgra, Hēmasēna Vidyādhanam jaya and Dayāpāla of Rūpa Siddhi. Matisāgara's disciple was Vādi rāja who praised Śrī Vijaya, the disciple of Hēma Sēna. Then Kamalabhadra, Dayāpāla and Śāntideva are mentioned. Śantidēva was probably Śabda caturmukha who was called " Svāmi " by a Pāṇḍya king and also praised by Āhava malla. Tailapa II (973—997) was called Āhavamalla and so also Someśvara I who came to the throne in 1044 A D., after Jayasimha. We do not however know whether Sānti dēva Śabda Caturmukha was also known as Odeya (Svāmi ?) and as Vādibha Simha.

Therefore the identity of Puṣpasena must be discussed. The suffix Sēna seems to imply that he belonged to the Sēna gaṇa but it is not the invariable rule. In the Humcha inscription of Nanni Sāntara, the son of Vīra Sāntara and Caṭṭala, dated Ś999 (1077 A.D.) we have :—

Vimala Candra
|
Kanaka sēna (con of Rāchanamalla II ?)

| | | |
Dayāpāla of *Rupa Siddhi* Puṣpasēna Vādirāja Śrī Vijaya
Sāntidēva, Guna Sēna, Dayāpāla, Kamala bhadra.
Ajita Sēna, Śrēyāṁsa.

E C. 8 *Ng.* 46 dated Ś 1009 (1087 A.D.) refers to Ajita Sēna Vādibha Simha of the Araṅgulānvaya. *Sr. Bel.* 98 refers to a Puspasēna of Navilur Samgha in c. 700 A. D. The Malli Sēṇa Prasasti however mentions Śrīpāla Traividya, Mati Sāgara (not Kanaka Sēna) as the guru of Vādirāja. Vādirāja's colleagues were Śri vijaya, the disciple of Hema Sēna (probably identical with Kanaka Sēna) Dayapāla, Kamala bhadra and Śāntidēva. Guṇasēna Paṇdita, Ajita sēna and Śāntinātha and Dayāpāla—the disciples of Ajitasēna, Kumāra Sēna and Malli Shēṇa the disciple of Ajita Sēna. (1128 A. D.) Among these Śantidēva was also worshipped by the Hoysala Vinayāditya II (1047—1100 A. D.) Guṇa sēna was the disciple Puṣpasēna and the guru of the Hoysaḷa Ereyanga

(1063—1100 A. D.) and the Kongālva Rājēndra (Ś986-A. D. 1064.) Continuing the succession further :—

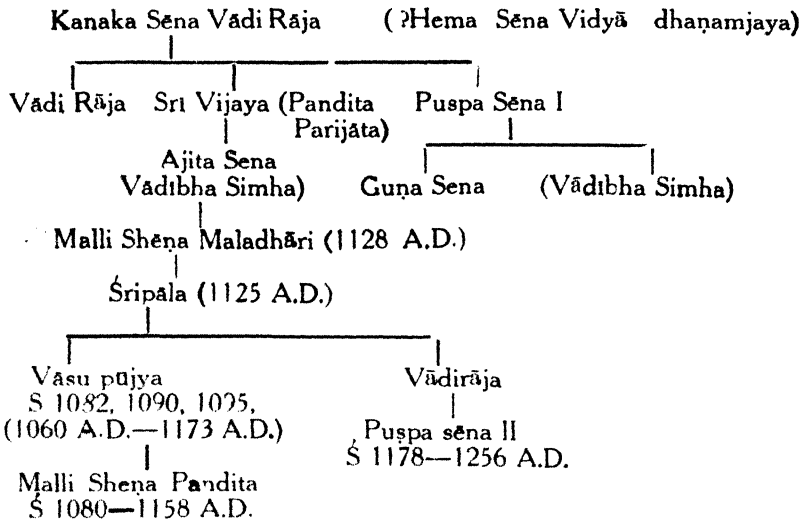

Earlier, there was Kanaka nandi of Muḷḷūr, the contemporary of Nṛpakāma Poysala (1022—27 A.D.) and the guru of the General Echiga and Pochikabbe in 1020 A D. Another Kanakanandi Vādi Rāja belonged to the Dēsigaṇa and was the colleague of Śrutakīrti, the disciple of Munichandra (c. 1105 A. D.), of the Kraṇūr gaṇa Also we find a Kanakasēna of Sēna gaṇa at Muḷgunda in S 829 (907 A D.) and Ś 831 (909 A. D) and he also seems to have had the title Vādirāja. As for the title Vādibha Simha, it is also applied to Śrīpāla Traividya (Vādimattebha Simha) in 1124 A.D., in the Belur inscriptions. His disciples were Vāsupūjya and Vādi Raja as stated above. Regarding Kanaka sēna Vādirāja of Muḷgunda his parampara is given thus :—

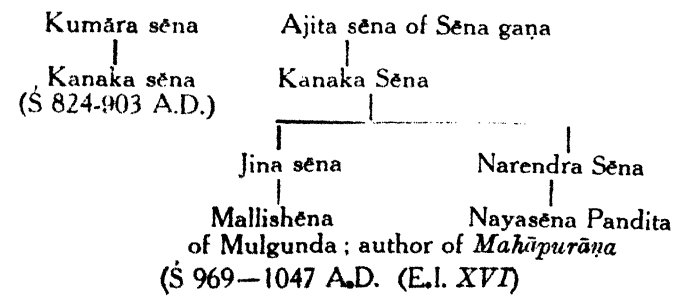

Vādibhakaṇṭhīrava was also the title of Guṇacandra, the disciple of Prabhāchandra and the colleague of Māghanandi of Krāṇurgaṇa (E. C. T. Shi, 57). Therefore the titles Vādirāja and Vādibha Simha themselves are no definite guides [1].

5. In the *Gadya cintamaṇi*, Vādibha Simha says.

श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणिः कृतः ।
स्थेयादोड्यदेवेन चिरादास्थानभूषणः ॥

It implies that he was the ornament of the court of a king, probably Jayasimha II, because his guru Puṣpasēna (or Padmasēna) was the contemporary of Vādirāja in the Chalukya Kataka of Jayasimha.

6 Pandit K. Bhujabali Śastri thinks that Sōmadēva might have been the Vidyāguru and Puṣpasēna was the Dikṣāguru. Since the *Yaṣastilaka Campu* was written in 959 A D. and Puṣpa sēna is placed in the latter half of the 11th century, Vādibha simha must be assigned a very long life of about a century. As pointed out above the Lākula ascetic Vādi Rudragaṇa is said to have defeated Vādi Rāja, Vādi Gharaṭṭa, and Vādibha simha. In the Tirthahaḷḷi inscription of 1103 A. D. Tribhuvanamalla Sāntara and Caṭṭalā are said to have built a basadi in the name of Ajita sēna Paṇḍita dēva Vādi gharaṭṭa of the Arunguḷanvaya. But the Belagamvi inscription of Vadi Rudragaṇa (Shimoga VII E.C. SK126) of 1035 A.D as said above mentions Akalamka, Vādi Gharaṭṭa, Mādhavabhaṭṭa, Jñānānanda, Abhaya candra, Vādibha Simha and Vādirāja, implying that Vādigharaṭṭa is a different individual from Vādibha Simha. If this Vādigharaṭṭa Ajita sēna lived from 1035 A.D. to 1103 he must have lived for than 70 years for at the time he disputed with Vādi Rudragaṇa, he must have been at least twenty or thirty years old.*

1. In the *Sumadhva Vijaya* it is said that Madhvacarya defeated in argument two Jainas Buddhi Sāgara and Vādirīja in the 13th Century A.D.

* Along with this other inscriptions should, also, have been studied.

Much light has, however, been thrown on the subject by the learned Professor, and it is desirable that other scholars, too, will pay their attention to this controversial subject.

K. B. Shastri.

Therefore taking all these facts into consideration, it is safe to say that Vādibha simha must have been as a boy the pupil of Somadēva Sūri in 960 A.D., and he lived up to 1035 A.D. in the reigns of Rāja Rāja I and Jayasimha II and was the contemporary of Vādi Rāja, whose Pārsavanātha Charita was completed in 1025 A.D., when Jayasimha was in the camp on the banks of the Kāṭṭagā (Ghaṭaprabha). Sk. 153 dated Ś 960 Bahudhānya (1028 A.D.) also says that one of Jayasimhá's capitals was Ghattada Keṛenēleviḍu.*

* *Journal of Oriental Research.* Vol. XIII Pt. I. *Jainism in Pudukottah* :— Matisāgara is said to have been the contemporary of Rāja Rāja I.

Some Inscriptions on Jaina Images.

BY

Prof. A. N. Upadhye, M.A., D. Litt.

In the last few weeks some Jaina images from Karnāṭaka have come to light. They have inscriptions on them at the base, and their rubbings were sent to me for deciphering. Thinking that they might be useful in various ways, I am reproducing those inscriptions here in Devanāgarī characters. My thanks are due to my friend Prof. K. G. Kundangar for some of his valuable suggestions.

(1)

Shriman Sheth Kalappa Annaji Lengade of Shahapur, Belgaum, has with him an image of Pañca Parameṣṭhin. On the space at the bottom of the image, we have the following inscription in three lines in Old-Kannaḍa characters. Some letters are not visible in the prints supplied to me, but I have added them in the square brackets. The language is Kannaḍa. The inscription runs thus :—

[1] श्री यापनिय संघद कारेयगणद श्रीधरत्रैविद्यदेव

[2] र शिष्यतियरप्प [बा] गेवाडिय होम्म सिरिकंतियरु श्रुतपंच [मि]

[3] नोंपिय वुरुववक्के कोट्ट पंचपरमेष्ठिगल प्रतिमे

The passage means that this image of Pañca Parameṣṭhin was presented at the time of the festivity of Śruta Pañcamī by Homma Sirikanti of Bāgevāḍi (a village near Belgaum). She wss a disciple Śrīdhara Traividya Deva of Kāreya Gaṇa of the Yāpanīya Saṁgha. The hand-writing of the inscription is fairly old. I think that Śrīdhara Traividya Deva mentioned in the inscription is identical with Śrīdhara Traividya Deva of the Yāpanīya Saṁgha and Kāreya Gaṇa mentioned in the Hannikeri Inscription (See Inscriptions in Northern Karnataka and the Kolhapur State by Prof. K. G. Kundangar, Kolhapur 1939, Inscr. No. 22, pp. 163 et seq. and pp. 99

et seq.). It glorifies Kanakaprabha, the pupil of Sridhara Traividya Deva, and it is inscribed in A. D. 1209. Śrīdhara Traividya Deva flourished, therefore, in the last quarter or so of the 12th century A.D.; and that then is the age of this image as well.

(2)

Sheth Kalappa Annaji Lengade has sent another print from an image. It is not fully legible. The characters and language are Old-Kannaḍa. It runs thus in two lines :—

[1] श्री मूलसंघद बळत्कार गणद सकळ विद्याचक्रव

[2] र्ति श्री श्रुतकीर्ति सिद्धांतदेवर गुड्ड × × × मय

The inscription mentions the name of Śrutakīrti Siddhānta Deva of Balātkāra Gaṇa and Mūla Saṅgha. The name of his pupil s not legible.

(3)

Shetha Kalappa Annaji Lengade of Shahapur has sent the print of an inscription from the image of Pārśvanātha which was recently discovered at Dharwar. I learn that the image measures about three feet in height including the hood; and it is quite attractive in artistic details. The inscription runs thus in four lines :—

[1] स्वस्ति श्रीमतु पुन्नागवृक्ष मूलगणद वुम्मचेगेय बसदिय

[2] कल्याणदेवर शिशिति चंद्रमतिव्वे संहृब बसदिगे माडिसिद पार्श्वदेव

[3] प्रतिमे कोट्टलि काणि कोंडलि काणि मुद्रापण मूनूरु कम्म एरेय व

[4] ळिय तोंट सट्टुगवत्त सोटिगेयेण्डे

It is written in Old-Kannaḍa characters, and the language also is Kannaḍa. In portions it is not clear. It records the grant of lands, oil etc., for the temple. The donor appears to be Candramativve, the female disciple of Kalyāṇadeva of the temple of Ummacige; and this temple belonged to Punnāga Vṛkṣa Mūla Gaṇa. The appearance of the characters is fairly old, and I think that the image might go back to the 11th or the 12th century A.D.

(4)

Shriman Sheth Virachand Kodaraji Gandhi, Phaltan, has recently brought an image, from Mishrikoti, Dt. Dharwar, of Pārśvanātha in a standing posture. At the base of it there is a Kannaḍa inscription in Old-Kannaḍa characters, and it runs thus in four lines :—

[1] श्री पंनाग त्रिद मूलगणद ब

[2] सदिय कवडेय सोड्डिसेट्टि जि

[3] र्णोद्धारव माडिदं मंगल म

[4] हा श्री श्री श्री .

The inscription tells us that the Jirṇoddhāra was performed by Kavaḍeya Soḍḍi Seṭṭi of the temple or Basadi of Punnāga Vṛkṣa Mūla Gaṇa. It is not clear whether this Jirnoddhāra refers to the temple or to this very image. The characters do not appear to be very old, and probably they might be as old as two to three hundred years.

"INDIAN CULTURE."

(JOURNAL OF THE INDIAN RESEARCH INSTITUTE)

A high class research quarterly in English on Indology, conducted under the distinguished editorship of Drs. D. R. Bhandirkar, B. M. Barua, B. C. Law, with a strong Advisory Committee, consisting of such eminent orientalists as Sir, Brajendra Nath Seal, Sir D. B Jayatilaka, Drs. S. N. Das Gupta, Laksman Sarup, Radhakumud Mukerjee P. K. Acharya, MMs. Kuppuswami Sastri, Gananath Sen, and others, each of whom represents a particular section of Indian Culture.

It deals with all the branches of Indian Culture-Vedas, Philosophy, Buddhism, Jainism, Zoroastrianism, Ancient Indian Politics and Sociology, Indian Positive Sciences, History, Archaeology, Dravidian Culture, etc. Among the contributors are the best orientalists of India and foreign lands including Drs. Sir B. N. Seal, Sir, A. B. Keith, Drs. Winternitz, Otto Schrader, Otto Stein, R. C. Mazumdar, P. K Acharya, etc.

Indispensable for every lover of Indology. A most attractive get up and printing. Each issue contains about 200 pages. Price very moderately fixed Rs. 6 or Sh. 10 per annum (including postage)

Among the other publications of the Institute, which aims at wide propagation of Ancient Indian Culture and Wisdom by publication of the best products of Ancient Literature under various Series-Vedic, Buddhistic, Jain, etc., are :—

(1) An encyclopaedic edition of the Rigveda with texts, commentaries and translations with elaborate research note in English, Bengali and Hindi,

(2) Gaya and Buddha Gaya, 2 Vols. Rs. 12.

(3) Barhut, 3 Vols. Rs. 18.

(4) Upavana Vinoda (a Sanskrit treatise on Arbori Horticulture), etc., etc., Rs. 2-8.

(5) Vangiya Mahakosa (each part), As. 8.

(6) Books of the Buddhistic Series.

For further particulars, please apply to :

The Hony. General Secretary,
The Indian Research Institute.
170 Maniktala Street.
Calcutta, (India.)

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*, in June, September, December and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including 'Jain Siddhanta Bhaskara') and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0

3. Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jaina Siddhanta Bhavana, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., typewritten, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

DR. B. A. SALETORE M A, Ph. D
PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A, D.Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २।)
(मू० कम कर दिया गया है)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह ... ... ॥)

(४) जैन-सिद्धान्त-भास्कर, १म भाग की १म, २य तथा ३य किरणें ... २।)

(५) " २य भाग ... ४)

(६) " ३य " ... ४)

(७) " ४र्थ " ... ४)

(८) " ५म " ... ४)

(९) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ... ॥)
(यह अर्ध मूल्य है)

(१०) भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ॥।)

प्राप्ति-स्थान—
जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

श्रवणबेल्गोल के मस्तकाभिषेक की स्मृति में

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ६ किरण ४

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. V. No. IV

Edited by

Dr. B. A. Saletore. M. A., Ph. D.
Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A , D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

MARCH, 1940.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर; और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक-व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'भास्कर' आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

श्रवणबेल्गोल के मस्तकाभिषेक की स्मृति में

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ६ फाल्गुन किरण ४

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९६

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
१ जैनबिद्री अर्थात् श्रवणबेल्गोल	[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम. ए., एलएल. बी.	२०१
२ श्रवणबेल्गोल एवं यहां की श्रीगोम्मट-मूर्ति	[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ...	२०५
३ श्रवणबेल्गोल (पद्य)	[श्रीयुत कल्याणकुमार जैन 'शशि'	२१३
४ पाणिनि, पतञ्जलि और पूज्यपाद	[श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ...	२१६
५ वीरमार्त्तण्ड चामुण्डराय	[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ...	२२९
६ श्रवणबेल्गोल के शिलालेख	[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.	२३३
७ गोम्मट स्वामी की सम्पत्ति का गिरवी रक्खा जाना	[श्रीयुत पं० जुगल किशोर मुख्तार	२४२
८ महाबाहुबाहुबली (पद्य)	[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ...	२४५
९ दक्षिण भारत के जैन वीर	[श्रीयुत त्रिवेणी प्रसाद, बी. ए०	२४९
१० धर्मशर्माभ्युदय की दो प्राचीन प्रतियाँ	[श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी ...	२५८
११ गोम्मट-मूर्ति की प्रतिष्ठाकालीन कुण्डली का फल	[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ	२६१
१२ सार 'जैन ऐन्टीक्वेरी'—(भाग ५, न० ३)	[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन ...	२६३
१३ साहित्य-समालोचना—(१) अकलंक-ग्रन्थमाला की तीन पुस्तकें	[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री	२६८
(२) कथा-कुसुमावली	[श्रीयुत पं० हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ	२६९

.)
१)
३)
४)
५)
६)
(७)
(८)
९)
(१०

श्रीवासुदेव शर्मा

श्रीयुत अयोध्या प्रसाद गोयलीय के सौजन्य से प्राप्त

श्रीजिनाय नमः

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ६ | मार्च १९४०। फाल्गुन वीर नि० सं० २४६६ | किरण ४

जैनबिद्री अर्थात् श्रवणबेल्गोल

[लेखक—श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम०ए०, एलएल० बी०]

समस्त दक्षिण भारत में ऐसे बहुत ही कम स्थान होंगे जो प्राकृतिक सौन्दर्य में, प्राचीन कारीगरी के नमूनों में व धार्मिक और ऐतिहासिक स्मृतियों में 'श्रवणबेल्गोल' की बराबरी कर सकें। आर्य जाति और विशेषतः जैन जाति की लगभग ढाई हजार वर्ष की सभ्यता का इतिहास यहां के विशाल और रमणीक मन्दिरों में, अत्यन्त प्राचीन गुफाओं, अनुपम उत्कृष्ट मूर्तियों व सैकड़ों शिलालेखों में अंकित पाया जाता है। यहां की भूमि अनेक मुनि-महात्माओं की तपस्या से पवित्र, अगणित धर्मनिष्ठ यात्रियों का भक्ति से पूजित और बहुत से नरेशों व सम्राटों के दान से अलंकृत और इतिहास में प्रसिद्ध हुई है।

यहां की धार्मिकता इस स्थान के नाम में ही गर्भित है। श्रवण (श्रमण) नाम जैन मुनि का है और बेल्गोल् कन्नड भाषा के 'बेल्' और 'गोल' इन दो शब्दों से बना है जिनका अर्थ क्रमशः धवल और सरोवर होता है। इस प्रकार श्रवण-बेल्गोल का अर्थ 'जैन मुनियों का धवल सरोवर' होता है जिसका तात्पर्य संभवतः उस रमणीक सरोवर से है जो ग्राम के बीचो-बीच अब भी इस स्थान की शोभा बढ़ा रहा है। जैनियों का प्राचीनतम केन्द्र होने से इस स्थान की प्रसिद्धि जैनबिद्री नाम से भी है।

श्रवणबेल्गोल ग्राम मैसूर प्रान्त में हासन जिले के चेन्नरायपट्टण तालुक में दो सुन्दर पहाड़ियों के बीच बसा हुआ है। इनमें से बड़ी पहाड़ी (दोड्डबेट्ट) ग्राम से दक्षिण की ओर है और विन्ध्यगिरि कहलाती है। छोटी पहाड़ी (चिक्कबेट्ट) ग्राम से उत्तर की ओर है और चन्द्रगिरि नाम से प्रख्यात है। विन्ध्यगिरि समुद्रतल से ३,३४७ फुट और नीचे के

मैदान से लगभग ४७० फुट ऊँचा है। कभी-कभी इन्द्रगिरि नाम से भी इस पर्वत का सम्बोधन किया जाता है। पर्वत के शिखर पर पहुंचने के लिये नीचे से कोई ५०० सीढ़ियां बनी हुई हैं। ऊपर समतल चौक है जिसके चारों-ओर एक छोटा सा घेरा है। इस घेरे में बीच-बीच में तलघर हैं जिनमें जैन मूर्तियां विराजमान हैं। इस घेरे के चारों ओर कुछ दूरी पर एक भारी दीवाल है जो कहीं-कहीं प्राकृतिक शिलाओं से बनी हुई है। चौक के ठीक बीचोबीच गोम्मटेश्वर की वह विशाल खड्गासन मूर्ति है जो अपनी दिव्यता से उस समस्त भूभाग को अलंकृत और पवित्र कर रही है। यह नग्न, उत्तरमुख खड्गासनमूर्ति समस्त संसार की आश्चर्यकारी वस्तुओं में से है। सिर के बाल घुंघराले, वक्षस्थल चौड़ा, विशाल बाहु नीचे को लटकते हुए और कटि किंचित् क्षीण है। घुटनों से कुछ ऊपर तक बमीठे दिखाये गये हैं जिनसे सर्प निकल रहे हैं। दोनों पैरों और बाहुओं से माधवी लता लिपट रहा है। मुख पर अपूर्व कान्ति, अगाध शान्ति और अटल ध्यानमुद्रा विराजमान है। मूर्ति क्या है मानों तपस्या का अवतार ही है। दृश्य बड़ा ही भव्य और प्रभावोत्पादक है। सिंहासन एक प्रफुल्ल कमल के आकार का है। इस कमल पर बायें चरण के नीचे तीन फुट चार इञ्च का माप खुदा हुआ है जिसको कहा जाता है, अठारह से गुणित करने पर मूर्ति की ऊँचाई निकलती है। जो माप लिये गये हैं उनसे मूर्ति की ऊँचाई कोई ५७ फुट पाई गई है। निस्सन्देह मूर्तिकार ने अपने इस अनुपम प्रयास में अपूर्व सफलता प्राप्त की है। एशिया-खंड ही नहीं समस्त भूतल का विचरण कर आइये, गोम्मटेश्वर की तुलना करनेवाली मूर्ति आपको शायद ही कहीं दृष्टिगोचर होगी। रामसेस या अबू सिम्बल की अत्यन्त प्राचीन मूर्तियां मानो इसी दिव्य मूर्ति के सामने लज्जित होकर धराशायी हो गयी हैं। बड़े-बड़े पश्चिमीय विद्वानों के मास्तष्क इस मूर्ति की कारीगरी पर चक्कर खा गये हैं। इतने भारी और प्रबल पाषाण पर सिद्धहस्त कारीगर ने जिस कौशल से अपनी छैनी चलाई है उससे भारत के मूर्तिकारों का मस्तक सदैव गर्व से ऊँचा उठा रहेगा। कोई एक हजार वर्ष से यह प्रतिमा सूर्य, मेघ, वायु आदि प्रकृति देवी की अमोघ शक्तियों से टक्कर ले रही है, पर अब तक उसमें कोई भारी क्षति नहीं हुई। मानों मूर्तिकार ने उसे आज ही उद्घाटित किया हो।

गोम्मट स्वामी कौन थे और उनकी यह अनुपम मूर्ति किस भाग्यवान् ने निर्माण कराई इसका विवरण श्रवणबेल्गोल के शिलालेख व भुजबलि-शतक, भुजबलि-चरित, गोम्मटेश्वर चरित, राजावलिकथा व स्थलपुराण नामक ग्रन्थों में पाया जाता है। आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव के दो पुत्र थे भरत और बाहुबली। भरत चक्रवर्ती राजा हुए और बाहुबली ने तपोरूपी साम्राज्य स्वीकार करके केवल ज्ञान प्राप्त किया। कहा जाता है भरतजी ने उनकी ५२५ धनुषप्रमाण मूर्ति स्थापित कराई थी। उसी का प्रशंसा सुन कर गंगनरेश राचमल्ल के मंत्री

चामुण्डराय ने शक संवत् ९५१ के लगभग इस भव्य मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई जो गोम्मटेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके सेकड़ों वर्ष पश्चात् दक्षिण में गोम्मटेश्वर की और विशालकाय मूर्तियां निर्माण हुईं। एक कारकल में सन् १४३२ में ४१½ फुट ऊँची और दूसरी वेणूर में सन् १६०४ ईस्वी में ३५ फुट ऊंची। श्रवणबेल्गोल के गोम्मटेश्वर के मस्तकाभिषेक के उल्लेख शक संवत् १३२० से लगाकर आधुनिक काल तक के मिलते हैं।

विन्ध्यगिरि पर अन्य दर्शनीय स्थान हैं सिद्धरबस्ति, अखण्ड बागिलु, सिद्धरगुण्डु, गुल्ल कायज्जि बागिलु, त्यागद ब्रह्मदेवस्तम्भ, चेन्नण्ण बस्ति, ओदेगल बस्ति, चौबीस तीर्थङ्कर बस्ति और ब्रह्मदेव मन्दिर।

चन्द्रगिरि (चिक्कबेट्ट) पर्वत की ऊँचाई समुद्रतल से ३,०५२ फुट है। प्राचीनतम लेखों में इसका नाम कटवप्र (संस्कृत) व कल्वप्पु (कन्नड) पाया जाता है। तीर्थगिरि और ऋषिगिरि नाम से भी इस पर्वत की प्रसिद्धि रही है। यहां १४ मन्दिर (बस्ति) हैं—पार्श्वनाथ, कत्तले, चन्द्रगुप्त, शान्तिनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, चामुण्डराय, शासन, मज्जिगण्ण, एरडुकट्टे, सवतिगंधवारण, तेरिन, शान्तीश्वर और इरुवे ब्रह्मदेव। इनमें से प्रथम १३ एक ही घेरे के भीतर हैं, केवल अन्तिम मन्दिर उससे बाहर है। यहां के अन्य दर्शनीय स्थान हैं—कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ, महानवमी मण्डप, भरतेश्वर मूर्ति, कञ्चिनदोण्णे कुंड, लक्किदोण्णे कुंड, भद्रबाहु की गुफा और चामुण्डराय की शिला।

विन्ध्यगिरि और चन्द्रगिरि के बीच बसे हुए नगर के मन्दिर इस प्रकार हैं—भण्डारि बस्ति, अक्कन बस्ति, सिद्धान्त बस्ति, दानशाले बस्ति, नगर जिनालय, मंगायि बस्ति, और जैनमठ। कहा जाता है कि पूर्वकाल में धवल, जयधवल आदि सिद्धान्तग्रन्थ यहीं रखे जाने के कारण पूर्वोक्त बस्ति का नाम सिद्धान्त बस्ति पड़ा तथा पीछे यहीं से वे ग्रन्थ मूड़बिद्री गये। इन मन्दिरों के अतिरिक्त नगर में दर्शनीय स्थान इस प्रकार हैं—कल्याणि सरोवर, जक्किकट्टे सरोवर और चेन्नण्ण कुंड।

श्रवणबेल्गोल का सब से बड़ा ऐतिहासिक माहात्म्य वहां के शिलालेखों में है। यहां कोई ५०० शिलालेख चट्टानों, स्तम्भों व मूर्तियों पर खुदे हुए पाये गये हैं, जिनमें जैन इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक राजाओं और आचार्यों का उल्लेख पाया जाता है। इनमें सबसे प्राचीन शिलालेख वह है जिसमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की भविष्यवाणी तथा मुनिसंघ के उत्तरापथ से दक्षिणापथ की यात्रा का उल्लेख है। इसी लेख में जो प्रभाचन्द्राचार्य का उल्लेख है उससे मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का तात्पर्य समझा जाता है जो अनेक साहित्यिक उल्लेखों के अनुसार भद्रबाहु से दीक्षा लेकर जैन मुनि हो गये थे और जिन्होंने यहीं चन्द्रगिरि पर तपस्या करके समाधिमरण किया। इसी कारण इस पर्वत का नाम चन्द्रगिरि पड़ा। इस पर्वत पर भद्रबाहु नाम की गुफा भी है और उसमें चन्द्रगुप्त के चरणचिह्न बतलाये जाते हैं

और कहा जाता है कि यहीं चन्द्रगुप्त ने समाधिमरण किया था। अनेक शिलालेखों में भी भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त मुनि का उल्लेख आया है। साहित्य में भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की कथा को सविस्तर रूप से वर्णन करनेवाले ग्रन्थ हरिषेणकृत बृहत्कथाकोष, रत्ननन्दिकृत भद्रबाहु-चरित, चिदानन्दकृत मुनिवंशाभ्युदय और देवचन्दकृत राजावलिकथे हैं। पश्चिमी विद्वानों में ल्यूमन, हानले, टामस व राइस साहब ने मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के जैनधर्मी होने की बात स्वीकार की है। स्मिथ साहब पहले इस मत के विरुद्ध थे, किन्तु अन्त में उन्हें भी कहना पड़ा कि "चन्द्रगुप्त मौर्य का घटनापूर्ण राज्यकाल किस प्रकार समाप्त हुआ इस पर ठीक प्रकाश एकमात्र जैन कथाओं से ही पड़ता है। जैनियों ने सदैव उक्त सम्राट् को बिम्बसार (श्रेणिक) के समान जैन धर्मावलम्बी माना है और उनके इस विश्वास को झूठ कहने के लिये कोई उपयुक्त कारण नहीं है।" जायसवाल महोदय लिखते हैं कि "प्राचीन जैन ग्रन्थ और शिलालेख चन्द्रगुप्त को जैनराजर्षि प्रमाणित करते हैं। मेरे अध्ययन ने मुझे जैन ग्रन्थों की ऐतिहासिक वार्ताओं का आदर करने को बाध्य किया है। कोई कारण नहीं है कि हम जैनियों के इस कथन को कि चन्द्रगुप्त अपने राज्य के अन्तिम भाग में राज्य को त्याग जिनदीक्षा ले मुनिवृत्ति से मरण को प्राप्त हुए, न मानें" इत्यादि। इस प्रकार अधिकांश विद्वानों का झुकाव अब चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु की कथा के मूल अंश को स्वीकार करने की ओर है।

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की दक्षिण-यात्रा का दक्षिण भारत और जैनधर्म के इतिहास पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। जैन मुनियों ने सर्वत्र विहार कर के जैनधर्म का खूब प्रचार किया। राजनीति और साहित्य दोनों पर इस प्रचार का भारी प्रभाव पड़ा। क्रमशः गंग, कदम्ब, रट्ट, पल्लव, सन्तार, चालुक्य, राष्ट्रकूट और कलचूरि राजवंशों में जैनधर्म की मान्यता के प्रचुर प्रमाण उपलभ्य हैं। धवल सिद्धान्त के मूलाधार ग्रन्थ षट्खण्डागम की रचना बनवास और तामिल देश में विक्रम की दूसरी शताब्दि में हुई थी। अनेक सर्वोपरि प्रमाण जैन ग्रन्थों के रचयिता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने भी इसी भूभाग को अलंकृत किया था। समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्दी, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, महावीराचार्य, पुष्पदन्त, नेमिचन्द्र आदि दिगम्बर-समाज के प्रमुख आचार्यों की रचनाओं का इसी प्रदेश में अवतार हुआ था। तामिल भाषा के साहित्य को परिपुष्ट करने तथा कन्नड भाषा में साहित्य उत्पन्न करने का श्रेय जैन आचार्यों को ही है।

श्रवणबेल्गोल इस सब सामाजिक और साहित्यिक प्रगति का केन्द्र था। धर्म की इसी विपुल और विशाल उन्नति को ही मानो मन्त्रिराज चामुण्डराय ने गोम्मटेश्वर की स्थापना-द्वारा मूर्तिमान स्वरूप दे दिया है जिससे यहां चिरकाल तक धर्म प्रभावना होती रहे और यावच्चन्द्र-दिवाकरम् जैनधर्म की जयजयकार बोली जावे।

श्रवणबेल्गोल एवं यहां की श्रीगोम्मट-मूर्ति

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

श्रीमान्नाभेयजातः प्रथममनसिजो नाभिराजस्य नप्ता
देहं संसारभोगं तृणमिव मुमुचे भारते संगरे यः ।
कायोत्सर्गं वितन्वन् महदुरगलसद्गर्भवल्मीकजुष्टम्
सोऽयं विन्ध्याचलेशो स जयतु सुचिरं गोम्मटेशो जिनेशः ॥

यों तो दक्षिण भारत में कोपण (कोप्पल) आदि जैनियों के और भी कई स्थान ऐसे हैं, जो कि ऐतिहासिक, धार्मिक एवं कलाकौशलआदि की दृष्टि से कम महत्त्व के नहीं हैं। फिर भी इन सबों में श्रवणबेल्गोल को प्रथम स्थान दिया जाना सर्वथा समुचित ही है। यहाँ के विशाल और चित्ताकर्षक देवालयों, अतिप्राचीन गुफाओं, अनुपम मनोज्ञ मूर्तियों तथा सैकड़ों शिलालेखों में आर्यजाति और विशेषतया जैनजाति की लगभग पच्चीस सौ वर्ष की सभ्यता का जीता-जागता इतिवृत्त सुरक्षित है। यहाँ का भू-भाग अनेक प्रातःस्मरणीय मुनि-र्जिकाओं को दिव्य तपस्या से पुनीत, बहुत से धर्मनिष्ठ श्रावक-श्राविकाओं के समाधि-मरण से पवित्र, असंख्य श्रद्धालु यात्रियों के भक्तिगान से मुखरित और अनेक नरेशों एवं सम्राटों की वदान्यता से विभूषित है। यहाँ की धार्मिकता इस क्षेत्र के नाम में ही छिपी हुई है। क्योंकि श्रवण (श्रमण) बेल्गोल इस शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ जैनमुनियों का श्वेतसरोवर होता है। सात-आठ सौ वर्ष प्राचीन शिलालेखों में भी इस स्थान के नाम श्वेतसरोवर, धवलसरोवर तथा धवलसर पाये जाते हैं। हाँ, गोम्मट-मूर्ति के कारण इसका नाम गोम्मट-पुर भी है।

श्रवणबेल्गोल यह ग्राम मैसूर राज्य में हासन जिला में चेन्नराय पट्टण तालुक में दो सुन्दर पर्वतों के बीच बसा हुआ है। इनमें बड़ा पर्वत (दोड्डबेट्ट) जो ग्राम से दक्षिण की ओर है 'विन्ध्यगिरि' कहलाता है। इस पर गोम्मटेश्वर की वह विशाल लोकविश्रुत मूर्ति स्थापित है जो मीलों की दूरी से दर्शकों की दृष्टि इस पवित्र तीर्थ की ओर आकृष्ट करती रहती है। इस मूर्ति के अतिरिक्त पर्वत पर कुछ जैन मन्दिर भी विद्यमान हैं। दूसरा छोटा पर्वत (चिक्कबेट्ट) जो ग्राम से उत्तर की ओर है 'चन्द्रगिरि' के नाम से प्रसिद्ध है। अधिकांश एवं प्राचीनतम लेख और मन्दिर इसी पर्वत पर हैं। कुछ मन्दिर, लेख आदि ग्राम की सीमा के भीतर है और शेष इसके आसपास के ग्रामों में।

इस बात को मैं भी मानता हूं कि श्रुतकेवली भद्रबाहु और सम्राट् चन्द्रगुप्त की दक्षिण-यात्रा के पूर्व भी दक्षिण भारत में जैनधर्म मौजूद था। अन्यथा श्रुतकेवली जी को इतने विशाल जैनसंघ को यहाँ पर ले जाने का साहस नहीं होता। इस बात की पुष्टि सिंहलीय 'महावंश' नामक सुप्राचीन बौद्धग्रन्थ से भी होती है। परन्तु उस समय का इतिहास अभी अन्धकार में छिपा हुआ है। इसलिये एक प्रकार से दक्षिण भारत के जैनइतिहास का सूत्रपात यहीं से माना जाता है। बल्कि आज भी अधिकांश विद्वानों का खयाल है कि भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त की यात्रा के उपरान्त ही दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रसार हुआ। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि उपर्युक्त यात्रा के पश्चात् ही यहाँ पर जैनधर्म को सार्वभौम एवं सर्व-व्यापक होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उत्तर भारत से गये हुए विद्वान् जैनमुनियों ने प्रत्येक प्रान्त में जा-जाकर अपने धर्म, साहित्य एवं संस्कृति का इतना प्रचार किया कि अन्य धर्मावलम्बियों को भी उनका लोहा मानना पड़ा। बाहर से जाकर उन प्रान्तों की भिन्न-भिन्न भाषाओं को जानकर उनमें सर्वोच्च प्राचीनतम साहित्य की सृष्टि कर उसी के द्वारा अपने धर्म का द्रुतगति से प्रचार करना कोई साधारण बात नहीं है।

जैनधर्म के उस सुवर्ण-युग में प्रचुर संख्या में हिन्दूधर्म के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जैसे उच्चवर्ण के लोग सहर्ष जैन धर्म में दीक्षित हुए। यह दीक्षा-द्वार दीर्घकाल तक उन्मुक्त रहा। यहाँ के अनेक जैनपरिवारों में अबतक इन्हीं अपने प्राचीन भारद्वाज, आत्रेय, गर्ग आदि हिन्दुत्व-सूचक गोत्रसूत्रादि का प्रचलन ही इस बात के लिये एक ज्वलन्त दृष्टान्त है। इतना ही नहीं समन्तभद्र जैसे जैनधर्म के स्तम्भस्वरूप सुप्राचीन आचार्यों ने जिन कतिपय क्रियाओं को लोकमूढ, देवमूढ आदि विशेषणों से पूर्व में घोषित किया था ऐसी कई क्रियायें—जो जैनमूल-सिद्धान्त के विरुद्ध हैं—इन्हीं नवदीक्षित हिन्दुओं से जैनधर्म में प्रविष्ट हुईं। बल्कि लगभग ७ वीं—८ वीं शताब्दी से कुछ ऐसी क्रियायें जैनकर्मकाण्ड आदि ग्रंथों में भी स्थान पा गयीं। ये सब बातें सर्वप्रथम भगवज्जिनसेनाचार्य-कृत महापुराण में ही हमें दृष्टिगोचर होती हैं। इसके लिये कतिपय श्रद्धेय आचार्यों को दोषी ठहराना एकान्त भूल है। क्योंकि वह ऐसा ही एक जमाना था कि आपद्धर्म-रूप में इन चीजों को यदि वे नहीं अपनाते तो दक्षिण-भारत में जैनधर्म का सार्वत्रिक प्रचार एवं रक्षा असाध्य सी हो जाती। क्योंकि इस समय शंकराचार्य, मध्वाचार्य आदि हिन्दू-धर्माचार्य जैनधर्म के विरुद्ध खुले आम हो गये थे और पूर्वोक्त आचरणों के अभाव में जैनियों को नास्तिक कहते हुए जनता को भड़का कर उलटा लाभ उठाना चाहते थे। इससे जैनधर्म के प्रचार में ही रोड़ा नहीं अटका, बल्कि जिस प्रबल राजाश्रय के द्वारा दक्षिण में जैनधर्म फल-फूल रहा था उससे भी इसे हाथ धोने का मौका आ गया था। ऐसी दशा में कुछ नूतन आचार-विचारों का अपने धर्मग्रंथों में प्रश्रय देकर हमारे

पूर्वजों ने बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया। यों तो कोई भी धर्म देशकालादि के वायुमण्डल से बचकर यथावत् विशुद्ध नहीं रह सका है। प्रत्येक धर्म में दूसरे धर्म की कुछ न कुछ छाप है अवश्य। हिन्दूधर्म पर भी अहिंसाधर्म का प्रभाव आदि जैनधर्म की देन लोकमान्य तिलक जैसे प्रगाढ़ हिन्दू विद्वानों ने मुक्तकंठ से स्वीकार की है। अपने सम्यक्त्व को किसी प्रकार से दूषित नहीं करने वाले आचरणों को अपनाना अनुचित नहीं है* यों घोषित करते हुए आचार्यों ने उक्त क्रियाओं को अपने सिद्धान्तानुकूल बनाने की काफी चेष्टा की है और उसमें सफल भी हुए हैं। खैर, मैं पाठकों को विषयान्तर में ले जाना नहीं चाहता।

यद्यपि श्रवणबेल्गोल के लेखों का मूल प्रयोजन धार्मिक है, फिर भी ये इतिहास-निर्माण के लिये भी कम महत्त्व की चीज नहीं हैं। यहाँ के संगृहीत लेखों में लग-भग एक सौ लेख मुनियों, अर्जिकाओं, श्रावक एवं श्राविकाओं के समाधिमरण के स्मारक हैं; लगभग एक सौ मन्दिर-निर्माण, मूर्ति-प्रतिष्ठा, दानशिला, वाचनालय, मन्दिरों के दरवाजे, परकोट, सीढ़ियाँ, रंगशालायें, तालाब, कुण्ड, उद्यान एवं जीर्णोद्धारादि कार्यों के यादगार हैं; अन्य एक सौ के लग-भग मन्दिरों के खर्च, जीर्णोद्धार, पूजा, अभिषेक और आहारदान आदि के लिये ग्राम, भूमि तथा रकम के दान के स्मृति-रूप में हैं; लगभग एक सौ साठ संघों और यात्रियों की तीर्थयात्रा के स्मरण-चिह्न हैं; शेष चालीस लेख ऐसे हैं जो या तो किसी आचार्य, श्रावक या योद्धा के प्रशंसा-परक हैं। इसी से पाठक समझ सकते हैं कि इतिहास और इन लेखों में कितना निकट एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है। बल्कि जैनइतिहास की अनेक जटिल गुत्थियाँ यहीं के लेखों से सुलझ पायी हैं। गंग, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयसल, विजयनगर, मैसूर, कदम्ब, नोलम्ब, पल्लव, चोल, कोंगाल्व, चंगाल्व आदि बड़े से बड़े और छोटे से छोटे राज-वंश से श्रवणबेल्गोल का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा है। इन सम्बन्धों का विस्तृत विवरण यहाँ के अन्यान्य लेखों में स्पष्ट अंकित है। इसी प्रकार श्रवण-बेल्गोल के लेखों में उत्कीर्ण आचार्य-परम्परा भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें भिन्न-भिन्न संघ के अनेक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य आ गये हैं। यह है भी स्वाभाविक। क्योंकि भूतबलि, पुष्पदन्त, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलङ्क, विद्यानन्दी, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, महावीराचार्य, पुष्पदन्त (अन्य), नेमिचन्द्र, वादीभसिंह आदि दिगम्बर-सम्प्रदाय के जितने प्रधान-प्रधान आचार्य हुए हैं, वे सब प्रायः कर्णाटक या तमिलुदेश के निवासी थे। बल्कि अन्तिम तीर्थङ्कर श्रीमहावीर स्वामी की द्वादशाङ्गवाणी का अवशिष्टरूप, धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों का मूलाधार षट्खण्डागम की रचना भी विक्रमीय द्वितीय शताब्दी में बनवासि (कर्णाटक)

* "सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र व्रतदूषणम्॥" (आचार्य सोमदेव)

एवं तमिलु देश में हुई थी। खासकर दिगम्बर-सम्प्रदाय के साहित्य-भाण्डागार को भरने का सुयश दाक्षिणात्य दिगम्बराचार्यों को ही प्राप्त है। उस जमाने में सबों का केन्द्र यही श्रवण-बेल्गोल रहा है।

अब उपर्युक्त विन्ध्यगिरि में विराजमान श्रीगोम्मट या गोम्मटेश्वर-प्रतिमा को लीजिये। यह दिगम्बर, उत्तराभिमुख, खड्गासन मूर्ति अखिल विश्व में एक कौतूहलोत्पादक वस्तु है। सिर के बाल घुंघराले, कान बड़े और लंबे, छाती चौड़ी, लम्बी बाहु नीचे को लटकती हुई और कमर कुछ पतली है। मुख पर अलौकिक कान्ति एवं शान्ति का साम्राज्य है। घुटनों से कुछ ऊपर तक भामियाँ दिखाई दे रही हैं, जिनसे सर्प निकलते दृष्टिगोचर होते हैं। दोनों पैरों और बाहुओं से माधवीलता लिपटी हुई है।* फिर भी मुख पर ध्यान-मुद्रा की स्थिरता दर्शनीय है। प्रतिमा क्या है, मानो तपस्या का जीता-जागता एक अनूठा निदर्शन है। दृश्य बड़ा ही हृदयग्राही है। सचमुच शिल्पी ने अपने इस अपूर्व प्रयत्न में अभूतपूर्व एवं आशातीत सफलता पायी है। बड़े-बड़े पाश्चात्य विद्वानों का मस्तिष्क भी इस मूर्त्ति-निर्माण-कला को देख कर चकरा गया है। स्थापत्य-कला के मर्मज्ञों का कहना है कि संसार में मिश्र मूर्तिकला के लिये पथप्रदर्शक माना गया है; फिर भी इस मूर्ति की कला के सामने वह नतमस्तक है। इतने लम्बे-चौड़े और गुरुतर पाषाण पर सिद्धहस्त शिल्पी ने जिस नैपुण्य से अपनी छेनी चलाई है, उससे भारतीय मूर्तिकारों का मस्तक हमेशः गर्व से ऊँचा रहेगा। वास्तव में यह जैनियों के लिये ही नहीं, प्रत्युत समस्त आर्यजाति के लिये एक अपूर्व गौरव की वस्तु है। बल्कि जिस मैसूर राज्य में यह अनुपम मूर्ति विराजमान है उसके लिये एकमात्र अभिमान-कारक बहुमूल्य रत्न है।

५७ फुट की मूर्ति खोद निकालने योग्य पाषाण कहीं और जगह से लाकर इतने ऊँचे पर्वत पर प्रतिष्ठित किया गया होगा, यह सम्भवपरक नहीं ज्ञात होता। बल्कि यह अनुमान करना सर्वथा समुचित जान पड़ता है कि इसी पहाड़ पर प्रकृति-प्रदत्त स्तम्भाकार चट्टान को काट कर ही यह मूर्ति बनायी गयी है। मगर सोचिये, सीधे खड़े एक कठिनतम वृहदाकार चट्टान को चारो ओर से काटते हुए इसी खड़ी दशा में शास्त्रोक्त प्रमाण से नाप-जोख कर

*—स शंसितव्रतो नाग्वान् वनवल्लीततान्तिकः।
वल्मीकरन्ध्रनिस्सर्पत्सर्पैरासीद्भयानकः ॥१०७॥
दधानः स्कन्धपर्यन्तलम्बिनीः केशवल्लरीः।
सोऽन्वगादूढकृष्णाहिमण्डलं हरिचन्दनम् ॥१०९॥
माधवीलतया गाढमुपगूढः प्रफुल्लया।
शाखाबाहुभिरावेष्ट्य सम्प्रीत्येव सहासया ॥११०॥ —(आदिपुराण, पर्व ३६)

इतनी सुन्दर विशालकाय प्रतिमा का निर्माण करना बड़े ही साहस का काम है। इस कठिनाई का अनुभव केवल एक भुक्तभोगी कुशल मूर्त्ति-निर्माता ही कर सकता है—सब कोई नहीं। आरा में अभी थोड़े ही रोज हुए इन्हीं गोम्मटेश्वर की लगभग १५ फुट की श्वेत-शिला की मूर्ति जो जयपुर से बन कर आई है, इसी की कठिनाई का इतिहास सुन कर बहुत से पाठक आश्चर्यित हुए बिना नहीं रहेंगे। श्रवणबेल्गोल की यह मूर्ति लगभग एक हजार वर्ष से धूप, हवा और पानी आदि का सामना करती हुई अक्षुण्ण रह मालूम पड़ती है मानों अमर शिल्पी के द्वारा आज ही उत्कीर्ण की गयी है। इस मूर्ति के दोनों बाजुओं पर यक्ष और यक्षी की मूर्त्तियाँ हैं, जिनके एक हाथ में चमर दूसरे में कोई फल है। यह मूर्त्तियाँ भी कला की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर हैं। मूर्ति के सम्मुख का मण्डप नव सुन्दर रचित छतों से सजा हुआ है। आठ छतों पर अष्टदिक्पालों की मूर्त्तियाँ हैं और नवी छत पर गोम्मटेश के अभिषेक के लिये हाथ में कलश लिये हुए इन्द्र की मूर्त्ति। ये छतें बड़ी कारीगरी की बनी हुई हैं। गोम्मटेश्वर-मूर्त्ति की निश्चित प्रतिष्ठा-तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भेद है। इसी किरण में अन्यत्र प्रकाशित कुछ लेखों में कतिपय विद्वानों ने इस पर प्रकाश डाला भी है। सुहृद्वर श्रीयुत गोविन्द पै मंजेश्वर का मत है कि इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा ईस्वी सन् ९७८ और ९८६ के बीच में ९८१ के मार्च की १३ तारीख रविवार को हुई होगी।

अब विचार करना है कि गोम्मट स्वामी कौन थे और उनकी मूर्त्ति यहाँ किसके द्वारा, किस प्रकार प्रतिष्ठित की गयी। इसका कुछ विवरण लेख नं० ८५ (२३४) में पाया जाता है। यह लेख एक छोटा सा सुन्दर कन्नड काव्य है जो सन् ११८० ई० के लगभग बोप्पण कवि के द्वारा रचा गया था। इसके वर्णनानुसार गोम्मट पुरुदेव अपर नाम ऋषभदेव[1] प्रथम तीर्थङ्कर के पुत्र थे। इनका नाम बाहुबली या भुजबली भी था। इनके ज्येष्ठ भ्राता भरत थे। ऋषभदेव के दीक्षित होने के पश्चात् भरत और बाहुबली दोनों भ्राताओं में साम्राज्य के लिये युद्ध हुआ, जिसमें बाहुबली की विजय हुई, पर संसार की वासना से विरक्त हो उन्होंने साम्राज्य को अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत को सौंप दिया और आप तपस्या करने वन में चले गये। थोड़े ही काल में घोर तपस्या के द्वारा उन्होंने केवल-ज्ञान प्राप्त किया। भरत ने, जो अब चक्रवर्त्ती हो गये थे, पोदनपुर[2] में स्मृति-स्वरूप उनकी शरीराकृति के अनुरूप ५२५ धनुष प्रमाण की एक

१—ऋषभदेव का वर्णन भागवतपुराण, पञ्चम स्कन्ध, अध्याय ३—७ में भी विस्तारपूर्वक मिलता है।

२—जैनपुराणों में पोदन, पौदन एवं पौदन्य—बौद्धग्रन्थों में दक्षिणापथस्थ अश्मकदेश की राजधानी पोतन या पोतलि—भागवतपुराण में इक्ष्वाकुवंशीय अश्मक की राजधानी पौदन्य नाम से विख्यात यह नगर मिलवर श्रीयुत बा० कामताप्रसादजी के मत से विन्ध्य के उत्तरवर्त्ती तक्षशिला एवं श्रीयुत सुहृद्वर गोविन्द

प्रतिमा स्थापित कराई। समयानुसार मूर्ति के आस-पास का प्रदेश कुक्कुटसर्पों[1] से व्याप्त हो गया, जिससे उस मूर्ति का नाम कुक्कुटेश्वर पड़ गया। धीरे-धीरे वह मूर्त्ति लुप्त हो गयी और उसके दर्शन केवल मुनियों को ही मन्त्र-शक्ति से प्राप्य हो गये। गंगनरेश राचमल्ल के मन्त्री चावुण्डराय ने इस मूर्त्ति का वर्णन सुना और उन्हें उसके दर्शन करने की अभिलाषा हुई। पर पौदनपुर की यात्रा अशक्य जान उन्होंने उसी के समान एक सौम्य मूर्त्ति स्थापित करने का विचार किया और तदनुसार इस मूर्त्ति का निर्माण कराया। यही वर्णन थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ भुजबलिशतक, भुजबलिचरित, गोम्मटेश्वरचरित, राजावलिकथे और स्थल-पुराण में भी पाया जाता है। एक बात है, जिनसेन (ई० सन् ८३८) के आदिपुराण, पंप (ई० सन् ९४२) के कन्नड आदिपुराण, चावुण्डराय (ई० सन् ९७८) के चावुण्डरायपुराण, रत्नाकरसिद्ध (ई० सन् १५५७ लगभग) के भरतेश्वरवैभव आदि में भी बाहुबलि-सम्बन्धी कथा मिलती है अवश्य; पर यहाँ भरतचक्रवर्ती की कथा के सामने इनकी कथा गौण हो गई है। इन सबों में इनके वर्णन के विषय में तो उपर्युक्त बोप्पण पण्डित का छोटा सा काव्य ही उल्लेखनीय है।

अब देखना है कि गोम्मट शब्द का क्या अर्थ है और श्रवणबेल्गोल में स्थापित बाहुबली की विशाल मूर्ति गोम्मट नाम से क्यों प्रख्यात हुई। कात्यायन की 'प्राकृतमञ्जरी' के "न्मो मः" (३।४२) इस सूत्र के अनुसार संस्कृत का 'मन्मथ' शब्द प्राकृत में 'गम्मह' हो जाता है। उधर कन्नड भाषा में संस्कृत का 'ग्रन्थि' शब्द 'गन्टि' और 'पथ' शब्द 'बट्टे' आदि में परिवर्तित हो जाते हैं। अत एव संस्कृत के 'मन्मथ' शब्द का 'ह' उच्चारण जो उसे प्राकृतरूप में नसीब होता है, वह कन्नड में नहीं रहेगा। बल्कि वह 'ट' में बदल जायगा। इस प्रकार संस्कृत 'मन्मथ' प्राकृत 'गम्मह' का कन्नड तद्भवरूप 'गम्मट' हो जायगा। और उसी 'गम्मट' का 'गोम्मट' रूप हो गया है। क्योंकि बोलचाल की कन्नड में 'अ' स्वर का उच्चारण धीमे 'ओ' की ध्वनि में होता है। जैसे—'मगु'='मोगु'; 'सप्पु'='सोप्पु' इत्यादि। उधर कोंकणी और

पं की राय में वर्तमान निज़ाम-सरकार के निज़ामाबाद जिलान्तर्गत बोधन-नामक एक छोटा सा ग्राम है। (देखें—क्रमशः जैन एण्टिक्वेरी, भाग ३, किरण ३ तथा 'कंठीरव' के सन् १९३८ का दसहरा विशेषांक, पृ० ५२-५३)

अगर निज़ामराज्यान्तर्गत 'बोधन' ही प्राचीन पौदनपुर होता तो क्या आचार्य नेमिचन्द्र जैसे विद्वान् भी इतने निकटवर्ती स्थान से अपरिचित होते; क्योंकि इन्हों ने अपने गोम्मटसार (कर्मकाण्ड गाथा सं० ९६८) में इस मूर्त्ति को 'दक्खिणकुक्कडजिणो' स्पष्ट लिखा है। अन्यान्य विद्वानों की कृतियों में भी इसका समर्थन दृष्टिगोचर होता है। इससे मालूम होता है कि 'उत्तरकुक्कटजिन' भी कोई अवश्य थे। श्रीयुत गोविन्द पं इसकी ओर अवश्य ध्यान दें।

१—कुक्कुटसर्प कैसे होते थे इस बात को जानने के लिये काकल के चतुर्मुख-बसदि (मन्दिर) की दीवाल में उत्कीर्ण उनके चित्रों को या श्रवणबेल्गोल के शासन-संग्रह में दिये हुए २६ वं चित्र को देखें।

मराठी भाषाओं का उद्गम क्रमशः अर्द्ध मागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से हुआ प्रकट है और यह भी विदित है कि मराठी, कोङ्कणी एवं कन्नड भाषाओं का शब्द-विनिमय पहले बराबर होता रहा है। क्योंकि इन भाषा-भाषी देश के लोगों का पारस्परिक विशेष सम्बन्ध था। अब कोङ्कणी भाषा में एक शब्द 'गोमटो' या 'गोम्मटो' मिलता है और यह संस्कृत के 'मन्मथ' शब्द का ही रूपान्तर है। यह अद्यापि 'सुन्दर' अर्थ में ही व्यवहृत है। कोङ्कणी भाषा का यह शब्द मराठी भाषा में पहुंच कर कन्नड भाषा में प्रवेश कर गया हो—कोई आश्चर्य नहीं। कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि गोम्मट संस्कृत के मन्मथ शब्द का तद्भवरूप है और यह कामदेव का द्योतक है।

श्रीयुत प्रो० के० जी० कुन्दनगार एम० ए० आदि एक दो विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। बल्कि कुन्दनगारजी का 'कर्णाटक-साहित्य-परिषत्पत्रिका भाग XXIII, पृष्ठ ३०४—३०५ में इसके सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित भी हो चुका है। पर श्रीयुत गोविन्द पै अपने इसी मत को इसी किरण में अन्यत्र प्रकाशित अपने अंग्रेजी लेख में समर्थन करते हैं। श्रीयुत मित्रवर ए० एन० उपाध्ये और श्रीयुत के० जी० कुन्दनगार आदि विद्वानों को इस पर सप्रमाण विशेष प्रकाश डालना चाहिये।

अब प्रश्न हो सकता है कि बाहुबली की विशाल मूर्त्ति मन्मथ या कामदेव क्यों कहलायी। जैनधर्मानुसार बाहुबली इस युग के प्रथम कामदेव माने गये हैं। इसी लिये श्रवणबेल्गोल में या अन्यत्र स्थापित उनकी विशाल मूर्त्तियां उसके (मन्मथ के) तद्भवरूप 'गोम्मट' नाम से प्रख्यात हुई। बल्कि बाद मूर्तिस्थापना के इस पुण्यकार्य की पवित्र स्मृति को जीवित रखने के लिये आचार्य श्रीनेमिचन्द्रजी ने इस मूर्त्ति के संस्थापक चावुण्डराय का उल्लेख 'गोम्मटराय' के नाम से ही किया और इस नामको प्रख्याति देने के लिये ही चावुण्डराय के लिये रचे गये अपने 'पञ्चसंग्रह' ग्रंथ का नाम उन्होंने 'गोम्मटसार' रख दिया।*

जैनियों में बाहुबली की मूर्त्ति की उपासना कैसे प्रचलित हुई यह भी एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। इसका प्रथम एवं प्रधान कारण यह है कि इस अवसर्पिणी-काल में सब से प्रथम अर्थात् अपने श्रद्धेय पिता आदि तीर्थङ्कर वृषभ स्वामी से भी पहले मोक्ष जाने वाले क्षत्रिय वीर बाहुबली ही थे। मालूम होता है कि इस युग के आदि में सर्व-प्रथम मुक्ति-पथ-प्रदर्शक के नाते आपकी पूजा, प्रतिष्ठा आदि जैनियों में सर्वमान्य-रूप से प्रचलित हुई। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि बाहुबली के अपूर्व त्याग, अलौकिक आत्मनिग्रह और नैजबन्धुप्रेम आदि असाधारण एवं अमानुषिक गुणों ने सर्वप्रथम अपने बड़े भाई सम्राट् भरत को इन्हें पूजने को बाध्य किया होगा, बाद भरत का ही अनुकरण औरों ने भी।

* विशेष जिज्ञासु भास्कर भाग ४, किरण २ में प्रकाशित श्रीयुत गोविन्द पै का "श्रीबाहुबली की मूर्त्ति गोम्मट क्यों कहलाती है ?' शीर्षक लेख देखें।

अब देखना है कि उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में बाहुबलीजी की प्रतिमा का विशेष प्रचार क्यों हुआ ? संसार का यह अटल नियम है कि जो जिस विषय में अपने को निष्णात बनाना चाहता है, वह उस विषय के विशेषज्ञ को ढूंढ़ता है। जैसे—धनुर्विद्या सीखने वाला एक योग्य धनुर्धर को एवं आयुर्वेद सीखनेवाला एक सुयोग्य आयुर्वेदज्ञ को। इस नियमानुसार क्षत्रिय वीरों के लिये संसार-विजयी, प्रथम कामदेव, महाबाहु बाहुबली को छोड़ कर दूसरा कोई आदर्श व्यक्ति नहीं मिल सकता था। यही कारण है कि चावुण्डराय जैसे वीर-मार्तण्ड ने इन्हीं को अपना आदर्श मान लिया। कार्कल एवं वेणूर के शासक वीर क्षत्रियों ने भी पीछे इन्हीं चावुण्डराय का अनुकरण किया है। वास्तव में वीर क्षत्रियों के लिये बाहुबली को छोड़कर इह-पर दोनों के सर्वयोग्य पथ-प्रदर्शक दूसरा कोई नहीं मिल सकता है।

श्रवणबेल्गोल !

[रचयिता—श्रीयुत कल्याणकुमार जैन, 'शशि']

तुम प्राचीन कलाओं का आदर्श विमल दरशाते
भारत के ध्रुव गौरव-गढ़ पर जैन-केतु फहराते
कला-विश्व के सुप्त प्राण पर अमृत-रस बरसाते
निधियों के हत साहस में नवानीधि-सौरभ सरसाते
आओ इस आदर्श कीर्ति के दर्शन कर हरषाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(२)

शुभस्मरण कर तीर्थराज हे शुभ्र अतीत तुम्हारा
फूल-फूल उठता है अन्तस्तल स्वयमेव हमारा
सुरसरि-सदृश बहा दी तुमने पावन गौरव-धारा
तीर्थक्षेत्र जग में तुम हो देदीप्यमान ध्रुवतारा
खिले पुष्प की तरह विश्व में नवसुगन्ध महकाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(३)

दिव्य विंध्यागिरि भव्य चन्द्रगिरि की शोभा है न्यारी
पुलकित हृदय नाच उठता है हो बरबस आभारी
श्रुत-केवली सुभद्रबाहु सम्राट् महा यज्ञ-धारी
तप-तप घोर समाधिमरण कर यहीं कीर्ति विस्तारी
उठो पूर्वजों की गाथाएं जग का मान बढ़ाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(४)

सात-आठ सौ शिला लेख का है तुममें दुर्लभ धन
श्रावक-राजा-सेनानी श्राविका-आर्यिका मुनिजन
धीर-वीर-गम्भीर कथाएं धर्म-कार्य सञ्चालन
उक्त शिलालेखों में है इनका सुन्दरतम वर्णन
दर्शन कर इस पुण्य क्षेत्र का जीवन सफल बनाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(५)

पंशु-रक्षा पर प्राण दिये जिन लोगों ने हँस हँस कर
वीर-बधू सायिर्ब* लड़ी पति-सँग समर के स्थल पर
चन्द्रगुप्त सम्राट् मौर्य का जीवन अति-उज्ज्वलतर
चित्रित है इसमें इन सब का स्मृति-पट महामनोहर
आ-आ एक बार तुम भी इसके दर्शन कर जाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(६)

मन्दिर अति-प्राचीन कलामय यहाँ अनेक सुहाते
दुर्लभ मानस्तम्भ मनोहर अनुपम छवि दिखलाते
यहाँ अनेकानेक विदेशी दर्शनार्थ हैं आते
यह विचित्र निर्माण देख आश्चर्य-चकित रह जाते
अपनी निरुपम कला देखने देशवासियों ! आओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(७)

प्रतिमा गोम्मटदेव बाहुबलि की अति-गौरवशाली
देखो कितनी आकर्षक है चित्त-लुभानेवाली

* इनका प्रकृत नाम सावियब्बे है। —के० बी० शास्त्री।

बढ़ा रही शोभा शरीर पर चढ़ लतिका शुभशाली
मानों दिव्य कलाओं ने अपने हाथों ही ढाली
इस उन्नति के मूल केन्द्र में जीवन ज्योति जगाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(८)

ऊँचे सत्तावन सुफीट पर नभ से शीस लगाए
शोभा देती जैनधर्म का उज्ज्वल यश दरशाए
जिसने कौशल-कला-कलाविद के सम्मान बढाए
देख-देख हैदर-टीपू-सुल्तान जिसे चकराए
आओ इसका गौरव लख अपना सम्मान बढ़ाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में यश पाओ ॥

(९)

गंग-वंश के राचमल्ल नृप विश्व-कीर्ति-व्यापक हैं
नृप-मन्त्री चामुण्डरायजी जिसके संस्थापक हैं
जो निर्माण हुआ नौसे नब्बे* में यशवर्द्धक है
राज्य-वंश मैसूर आजकल जिसका संरक्षक है
उसकी देख-रेख रक्षा में अपना योग लगाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(१०)

कहे लेखनी पुण्य-तीर्थ क्या गौरव-कथा तुम्हारी
विस्तृत कीर्ति-सिन्धु तरने में है असमर्थ विचारी
नत मस्तक अन्तस्तल तन-मन-धन तुम पर बलिहारी
शत-शत नमस्कार तुम को हे नमस्कार अधिकारी
फिर सम्पूर्ण विश्व में अपनी विजय-ध्वजा फहराओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

---

* मूर्ति-स्थापना-काल अभी ठीक निश्चित नहीं हो पाया है।
—के० बी० शास्त्री।

पाणिनि, पतञ्जलि और पूज्यपाद

[लेखक—श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री]

अष्टाध्यायीसूत्र के प्रणेता प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि और उनके भाष्यकार पतञ्जलि को इतिहासकारों ने ईस्वी सन् से पहले का विद्वान् सिद्ध किया है। किन्तु शोलापुर से प्रकाशित सर्वार्थसिद्धि-नामक ग्रन्थ की तथोक्त महत्वपूर्ण प्रस्तावना में जैनसमाज के उदीयमान विद्वान् श्रीगौतमचन्द्र मोतीचन्द्र कोठारी एम० ए० ने उन्हें आद्य जैनव्याकरण के प्रणेता आचार्य पूज्यपाद (ईसा की ५वीं शताब्दी) का समकालीन सिद्ध करने का प्रयास किया है। कोठारी जी का उक्त प्रयास यदि किन्हीं ठोस प्रमाणों के आधार पर अवलम्बित होता तो सचमुच जैनसमाज के लिये यह गर्व की बात होती। किन्तु मुझे दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि उन्होंने लिखते समय कदाचित् यह सोचा ही नहीं कि यह कार्य कितना गुरुतर है। उनकी भूमिका के ऐतिहासिक अंश को पढ़ कर मुझे तो यही प्रतीत हुआ कि वह इतिहासज्ञों के लिये नहीं लिखा गया और न ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही लिखा गया है। उसके लिखने में साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से ही काम लिया गया है और संभवतः वह उसी तरह के लोगों के लिये लिखा भी गया है। लेख का कोई-कोई मुद्दा (युक्ति) विचारणीय भी है, किन्तु लेखक ने इतने उतावलेपन से अपनी लेखनी को चलाया है कि उन्होंने अपने किसी भी तर्क को डटकर प्रमाणित नहीं किया है। उन्हें सोचना चाहिये था कि जिन ग्रन्थकारों के सम्बन्ध में वे लेखनी चला रहे हैं उनके बारे में देशीय और विदेशीय लेखकों ने ज़रूरत से ज्यादा लिखा है और आज तक के सभी इतिहासज्ञ उन्हें ईस्वी सन् से पहले का विद्वान् मानने में एकमत हैं। अतः उनके बारे में जो कुछ लिखा जाना चाहिये वह खूब सोच-समझ कर लिखा जाना चाहिये, जिससे अन्य इतिहासज्ञ उस पर विचार कर सकें और लेखक को उनके हास्य का पात्र न बनना पड़े। किन्तु लेखक ने उस ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जान पड़ता। उनके लेख को पढ़ने से ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने जो कुछ लिखा उसे स्वयं सिद्ध समझ लिया। अस्तु, मेरा लिखना कहां तक ठीक है यह आगे की आलोचना से स्वयं ज्ञात हो जायगा।

पूज्यपाद के नाम

नन्दिसंघ की पट्टावली में एक श्लोक निम्न प्रकार है—

"यशःकीर्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः।
श्रीपूज्यपादापराख्यः गुणनन्दी गुणाकरः॥"

इस श्लोक में जितने नाम आये हैं, कोठारी जी उन्हें पूज्यपाद के नामान्तर बतलाते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। इसके लिये हमें पट्टावली[1] का इससे पूर्व का श्लोक देखना चाहिये, जो निम्न प्रकार है—

"ततः पट्टद्वयी जाता प्राच्युदीच्युपलक्षणात्।
तेषां यतीश्वराणां स्युर्नामानीमानि तत्त्वतः॥"

इस श्लोक में बतलाया है कि—'उसके बाद दो पट्ट हो गये एक पूर्वीय पट्ट और दूसरा उत्तरीय। उन पट्टों में जो मुनीश्वर हुए उनके वास्तविक नाम निम्न प्रकार है।'

इस श्लोक के साथ उक्त श्लोक को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त श्लोक में जो यशःकीर्ति, यशोनन्दी, द्वितीय नाम पूज्यपाद के धारक महामति देवनन्दी और गुणों के आकर गुणनन्दी का नाम आया है, ये सब नाम एक ही आचार्य के नहीं हैं, किन्तु पट्ट पर होने वाले विविध आचार्यों के नाम हैं। जो दो नाम एक ही आचार्य के थे, उन्हें पट्टावलीकार ने 'श्रीपूज्यपादापराख्यः' लिख कर स्वयं स्पष्ट कर दिया है। अन्य उपलब्ध प्रमाणों से भी पूज्यपाद के देवनन्दी और जिनेन्द्रबुद्धि ये दो ही नाम उपलब्ध होते हैं, यशःकीर्ति आदि नामों का समर्थन अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं होता। 'गुणनन्दी' नाम के समर्थन में कोठारी जी ने शब्दार्णवचन्द्रिका का जो 'श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवम्' इत्यादि श्लोक दिया है, उसका आशय समझने में भी उन्हें भ्रम हुआ है। इस श्लोक में ग्रन्थकार ने भगवान् महावीर के विशेषणरूप से क्रम से पूज्यपाद का, गुणनन्दी का और अपना निर्देश किया है। यह गुणनन्दी एक पृथक् आचार्य हुए हैं, जिन्होंने पूज्यपाद के सूत्रपाठ[2] को संशोधित और परिवर्धित कर के वह सूत्रपाठ तैयार

१ 'भास्कर' भाग १, किरण ४ में नन्दिसंघ की पट्टावली २६ वें श्लोक से दी है और लिखा है कि इस पट्टावली के प्रारम्भ के २५ श्लोक श्रीशुभचन्द्राचार्य की गुर्वावली के प्रारम्भिक २५ श्लोकों के ही समान हैं। अतः यह श्लोक यहां शुभचन्द्राचार्य की गुर्वावली से दिया गया है। उसमें भी इसके बाद 'यशःकीर्ति' इत्यादि श्लोक आता है।

२ जैनेन्द्रव्याकरण के दो सूत्रपाठ उपलब्ध हैं—एक पर महावृत्ति है और दूसरे पर शब्दार्णवचन्द्रिका तथा जैनेन्द्रप्रक्रिया हैं। स्व० के० बी० पाठक दूसरे पाठ को मौलिक बतलाते हैं। उन्होंने इसके सम्बन्ध में एक लेख लिखा था। किन्तु श्रीयुत प्रेमीजी महावृत्ति-वाले सूत्र-पाठ को ही मौलिक समझते हैं। इस सम्बन्ध में 'जैनसाहित्य-संशोधक' भाग १, अङ्क २ में प्रकाशित 'जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य देवनन्दी' शीर्षक उनका महत्त्वपूर्ण लेख पठनीय है। इस लेख के लिखने में उससे भी सहायता ली गई है और इसके लिये मैं प्रेमीजी का आभारी हूं।

किया था, जिस पर शब्दार्णवचन्द्रिका और जैनेन्द्रप्रक्रिया टीका बनाई गई है। यह बात शब्दार्णवचन्द्रिका के अन्तिम श्लोक के नीचे दिये चरणों से स्पष्ट है—

'श्रीसोमदेवयतिनिर्मितमादधाति या नौः प्रतीतगुणनन्दितशब्दवार्धौ।'

इसमें सोमदेव-निर्मित वृत्ति को गुणनन्दी आचार्य के 'शब्दार्णव' में प्रवेश करने के लिये नौका के समान बतलाया है। तथा जैनेन्द्रप्रक्रिया के अन्तिम श्लोक में "सैषा श्री-गुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णवं निर्णयम्' लिखकर बतलाया है कि गुणनन्दी ने शब्दार्णव के शरीर को विस्तृत किया था। अतः गुणनन्दी पूज्यपाद का नामान्तर नहीं है, किन्तु उस नाम के वह एक पृथक् आचार्य हैं।

पाणिनि, पतञ्जलि और पूज्यपाद

कन्नड भाषा में चंद्रप्प कवि-निर्मित एक पूज्यपादचरित पाया जाता है। उसमें प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि को पूज्यपाद का मामा बतलाया है तथा लिखा है कि पाणिनि अपने अष्टाध्यायी ग्रन्थ को विना पूर्ण किये ही मर गये, और मरते समय अपने भानजे पूज्यपाद से अपना ग्रन्थ पूर्ण करने के लिये कह गये, जिसे उन्होंने बाद को पूर्ण कर दिया। कोठारी जी का मन्तव्य है कि इस चरित में कवि ने जो कुछ लिखा है वह सब प्रमाण है या नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु उसका बहुभाग प्रमाण है और पाणिनि के ग्रन्थ अष्टाध्यायी की पूर्ति करने का उल्लेख तो प्रमाण है ही।

इस प्रकार कन्नडभाषा के उक्त चरित में वर्णित घटनाक्रम को आधार मानकर कोठारी जी ने पाणिनि को पूज्यपाद का समकालीन अर्थात् ईसा की पांचवी शताब्दी का विद्वान् सिद्ध करने का प्रयास किया है। तथा जब पाणिनिव्याकरण के प्रणेता पूज्यपाद के समकालीन हैं, तब उस पर महाभाष्य की रचना करनेवाले पतञ्जलि महाराज तो उनके बाद के होने ही चाहिये। किन्तु कोठारी जी ने उन्हें भी पाणिनि का न केवल समकालीन अपि तु उनका पूर्ववर्ती बतलाया है। क्योंकि वे लिखते हैं—"वयं तु भाष्यकारः खिष्टाब्दी-यायां चतुर्थ्यां पञ्चम्यां वा शताब्द्यां प्रादुरासेति मन्यामहे।" अर्थात्—'हमारा मत है कि भाष्यकार ईस्वी सन् की चौथी अथवा पांचवीं शताब्दी में हुए हैं। इसके पहले पाणिनि के विषय में उन्होंने लिखा है— "यद्यपि केषांचिद् विदुषां मतेन पाणिनिराचार्यः खिष्टकाला-त्पूर्वं स्वजनुषेमां भारतभूमिमलञ्चकार, तथाप्यस्मन्मतेन स खिष्टाब्दीयपञ्चमशताब्द्यां प्रादुर्बभूव।" अर्थात्—'यद्यपि किन्हीं विद्वानों के मत से आचार्य पाणिनि ने ईस्वी सन् से पहले इस भारतभूमि को अपने जन्म से सुशोभित किया था। किन्तु हमारे मत से वे ईसा की पांचवी शताब्दी में हुए हैं।' इस स्खलित लेखनी के बारे में क्या लिखा जाये। अस्तु,

पाणिनि और भाष्यकार पतञ्जलि के पूर्वोक्त समय-निर्धारण में कोठारी जी ने जो उपपत्तियाँ दी हैं, उनकी आलोचना करने से पहले पाणिनि और पतञ्जलि की समकालीनता के विरोध में ही कुछ लिखना उपयुक्त होगा। उस अवस्था में उनकी बहुत सी उपपत्तियाँ स्वतः बेकार हो जायेंगी।

संस्कृत के अभ्यासियों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि पाणिनि-व्याकरण पर कात्यायन ने वार्तिक बनाई थीं और भाष्यकार ने अपने भाष्य में उनका व्याख्यान इत्यादि किया है। तथा महाभाष्य में कुछ ऐसी वार्तिक इत्यादि भी पायी जाती हैं, जिन्हें भाष्यकार ने कात्यायन की वार्तिकों के सम्बन्ध में उद्धृत किया है। इस प्रकार के वार्तिक आदि के रचयिता भारद्वाजीय और सौनाग आदि कहे जाते हैं। उदाहरण के लिये—

(१) २-२-१८ सूत्र पर कात्यायन की तीसरी वार्तिक "सिद्धं तु क्वाङ्स्वतिदुर्गतिवचनात्" और चौथी वार्तिक "प्रादयः क्तार्थे" है। इन दोनों वार्तिकों का व्याख्यान करके पतञ्जलि लिखते हैं—"एतदेव च सौनागैर्विस्तरतरकेण पठितम्।" इसका व्याख्यान करते हुए कैयट लिखता है—"एतदेवेति। कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थः।"

(२) १-१-२० सूत्र पर कात्यायन की वार्तिक है—"घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम्।" इस पर पतञ्जलि लिखते हैं—"भारद्वाजीयाः पठन्ति—घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम्।" यह वार्तिक कात्यायन के नियम में एक मौलिक परिवर्तन करती है।

(३) ३-१-८९ सूत्र में पाणिनि ने जो नियम बतलाया था, उसमें वृद्धि करते हुए कात्यायन लिखते हैं—"यक्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमणिन्श्रीन्ब्रूञामुपसंख्यानम्।" इसकी व्याख्या करने के बाद पतञ्जलि लिखते हैं—"भारद्वाजीयाः पठन्ति—यक्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूञामात्मनेपदाकर्मकाणामुपसंख्यानम्।" यह कात्यायन के मत की एक तरह से आलोचना ही है जो भारद्वाजियों ने की है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। इनके सिवाय भाष्यकार ने 'अन्ये' 'केचित्' आदि लिख कर कुछ अन्य आचार्यों के भी मतों का उल्लेख किया है।

वार्तिकों के सिवाय महाभाष्य में बहुत सी कारिकाएँ भी पाई जाती हैं। और जैसे सब वार्तिकों को एक लेखक की बतलाना भ्रामक है उसी तरह सब कारिकाओं को भी एक ही लेखक की बतलाना भ्रमपूर्ण है। ये कारिकाएं कात्यायन की भी नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि उनमें से कुछ कारिकाएँ कात्यायन के नियमों का संग्रहरूप हैं, कुछ उनके विरुद्ध हैं और कुछ वार्तिकों की आलोचना करती हैं। एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है, वह यह कि पतञ्जलि ने कारिकाओं का कुछ भाग बिना व्याख्या

किये ही रहने दिया है जब कि कुछ भाग पर वार्तिकों के ढंग से ही व्याख्यान किया है। अव्याख्यात कारिकाएँ दो प्रकार की हैं—एक[1] तो वार्तिकोक्त बातों का केवल संग्रह के रूप में है और वे प्रायः उस सूत्र के व्याख्यान के अन्त में पाई जाती हैं, जिनसे वे सम्बन्ध रखती हैं। दूसरी[2] प्रकार की अव्याख्यात कारिकाएँ वार्तिकों का केवल संग्रहीत रूप नहीं हैं, किन्तु वे भाष्य के विवरण की आवश्यक अङ्गभूत हैं। पाणिनि-व्याकरण के विशिष्ट अभ्यासी पं० गोल्ड स्टूकर का मत है कि ये अव्याख्यात कारिकाएँ कात्यायन की वार्तिकों के बाद में रची गई हैं।

वार्तिक और कारिकाओं के सिवाय महाभाष्य में जो तीसरी वस्तु ध्यान देने योग्य है, वह है परिभाषाएँ। कुछ परिभाषाएँ कात्यायन से पहले की मानी जाती हैं; क्योंकि कात्यायन ने अपनी वार्तिकों[3] में उन्हें उद्धृत किया है।

महाभाष्य के इस विहंगावलोकन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि पाणिनि-व्याकरण पर कात्यायन के वार्तिक रचे जाने के बाद, तथा उन वार्तिकों के ऊपर भी भारद्वाजीय वगैरह वैयाकरणों के प्रति-वार्तिकों तथा कारिकाओं की रचना होने के बाद पतञ्जलि ने अपना महाभाष्य बनाया था। कात्यायन ने पाणिनि के लगभग आधे सूत्रों पर वार्तिक रची हैं, जिनकी संख्या ४००० से भी अधिक है। इन वार्तिकों के द्वारा कात्यायन ने पाणिनि-व्याकरण की बहुत सी कमियों की पूर्ति की है, अनेक नियमों में परिवर्तन और परिवर्धन किया है। उनके देखने से पता चलता है कि पाणिनि के समय में जो प्रयोग

१ इस प्रकार की कारिकाओं के बारे में टीकाकार भी स्पष्ट उल्लेख करते हैं। यथा—२-१-६० सूत्र की व्याख्या में कैयट लिखते हैं—"पूर्व एवार्थः आर्यया संगृहीतः।" २-४-८५ में "एष एवार्थ आर्यया दर्शितः।" २-४-८५, कारिका २, ३, में—"पूर्वोक्त एवार्थः श्लोकेन संगृहीतः।" इत्यादि।

२ दूसरी प्रकार की कारिकाएँ ४-१-४४ सूत्र की चर्चा में पाई जाती हैं। यथा—'गुण-वचनादित्युच्यते। को गुणो नाम? सत्वे निवेशते·····' इत्यादि। इसी के आगे "अपरः—आह" करके 'उपैत्यन्यद् जहात्यन्यद्' इत्यादि अव्याख्यात कारिका है। तथा ४-१-६३ में—"जानेरित्युच्यते। का जातिर्नाम? आकृतिग्रहणा जातिः ·····इत्यादि। "इसी के आगे 'अपरः आह' करके 'प्रादुर्भावविनाशाभ्याम्" इत्यादि कारिका है जो दूसरा मत बतलाती है।

३ १-१-६५ पर एक वार्तिक इस प्रकार है—"अन्त्यविज्ञानात्सिद्धमिति चेन्नानर्थकेऽलोऽन्त्य-विधिरनभ्यासविकारे।" इसका 'नानर्थके' इत्यादि अंश परिभाषा है, जो भाष्य से स्पष्ट है।

शुद्ध समझे जाते थे, कात्यायन के समय में वे या तो अशुद्ध समझे जाने लगे थे, या उनका प्रचार नहीं रहा था। यथा—"इन्धिभवतिभ्याञ्च" (१-२-६), पाणिनि का यह सूत्र इन्ध् और भू धातु से परे लिट् को कित् करता है, किन्तु कात्यायन उसका निषेध करते हुए कहते हैं—"इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद् भुवो वुको नित्यत्वात्ताभ्यां किद्वचनानर्थक्यम्।"

कात्यायन की वार्तिकों से दूसरी बात यह मालूम होती है कि उस समय कुछ शब्दों का जो अर्थ प्रचलित था, पाणिनि उससे अनभिज्ञ थे। यथा—पाणिनि लिखते हैं—'अरण्यान्मनुष्ये' (४-२-१२९), इससे स्पष्ट है कि वह आरण्यक का अर्थ 'जंगल में रहनेवाला मनुष्य' करते हैं। किन्तु इस पर पतञ्जलि 'अत्यल्पमिदमुच्यते मनुष्य इति' लिख कर लिखते हैं—'पथ्यध्यायन्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति वक्तव्यम्'। यह कात्यायन का वार्तिक है जो आरण्यक का अर्थ जंगल का रास्ता, जंगली हाथी, आरण्यक अध्याय आदि बतलाता है।

पाणिनि के विशिष्ट अभ्यासियों ने कात्यायन और पाणिनि का पौर्वापर्य बतलाने के लिये इस तरह की बहुत सी बातें महाभाष्य से खोज निकाली हैं, उनके देने से लेख का व्यर्थ कलेवर बढ़ जायगा। हमारा इस चर्चा से केवल इतना ही बतलाने का अभिप्राय है कि पाणिनि और पतञ्जलि की समकालीनता तो असम्भव है ही किन्तु पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिकों के रचयिता कात्यायन भी पतञ्जलि के समकालीन नहीं थे। इन तीनों ग्रन्थकारों की रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से जो निष्कर्ष निकलता है उस पर विचार करते हुए पाणिनि और पतञ्जलि के बीच में कम से कम २०० वर्ष का अन्तर मानना होगा, क्योंकि इतना अन्तराल माने बिना शब्दशास्त्र की वे समस्याएं हल नहीं हो सकतीं, जो उक्त तीनों रचनाओं के क्रमिक अध्ययन से ज्ञात होती हैं और जिनका आभास-मात्र ऊपर कराया गया है। अतः पाणिनि को ईसा की पांचवीं शताब्दी के मध्य या अन्त का विद्वान् मानने पर पतञ्जलि को सातवीं शताब्दी का विद्वान् मानना होगा। इसका मतलब यह हुआ कि भाष्यकार पतञ्जलि प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि के समकालीन थे, जिनका मरण ई० ६५० में हुआ था। किन्तु भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय-नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के द्वितीय काण्ड के अन्त में महाभाष्य का जो इतिहास दिया है, वह इस स्थिति पर अव

१ इसीपर से विद्वानों का यह विचार है कि पाणिनि वैदिक शास्त्र आरण्यकों से अनभिज्ञ थे, क्योंकि उन्होंने आरण्यक शब्द का अर्थ 'आरण्यक अध्याय' नहीं किया, जैसा कि कात्यायन ने किया है। अतः वे आरण्यकों की रचना से पहले हुए हैं।

प्रकाश डालता है। भर्तृहरि लिखते हैं—

"प्रायेण[1] संक्षेपतश्च नव्यविद्यापरिग्रहान्।
संप्राप्य वैयाकरणान संग्रहे समुपागते॥
कृतेऽथ पातञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥
अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्।
तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावस्थितनिश्चयः॥
वैजिसौभवहर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः।
आर्षेनिलाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुकैः॥
यः पातञ्जलिशिष्येभ्योऽभ्यष्टो व्याकरणागमः।
कालेन दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः॥
पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।
स नीतो बहुशास्त्रत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥
न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्।
प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः॥"

अर्थात्—नव्य विद्या के पारगामी वैयाकरणों की तथा (व्याडि के) संग्रह की सहायता से पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में समस्त न्यायों का निबन्धन किया। जब लोगों को यह मालूम हुआ कि यह महाभाष्य बहुत गम्भीर है अतः इसकी गहनता का पता लगाना कठिन है, तथा अकृतबुद्धि जन उसमें दृढ़ निश्चय नहीं रह सकते। तब शुष्क तर्क के अनुसर्ता, वैजि, सौभव और हर्यक्ष नाम के वैयाकरणों ने, जो संग्रह के तरफ़दार थे, पतञ्जलि के भाष्य को छिन्न-भिन्न कर डाला। पतञ्जलि के शिष्यों से उसका ग्रन्थ पुनः प्राप्त हो सका और उसकी एक कापी कुछ समय तक दक्षिण में रही। चन्द्रादि आचार्यों ने पर्वत से इस ग्रन्थ को प्राप्त किया और उसको बहुत सी पुस्तकों में कर दिया (अर्थात् उसकी बहुत सी प्रतिलिपियाँ करा डालीं)। मेरे गुरु ने उन न्यायों का तथा अपने दर्शन का अभ्यास करके यह आगम संग्रह बनाया।

इस उल्लेख से कम से कम इतनी बात तो स्पष्ट है कि भर्तृहरि के जन्म से बहुत पहले महाभाष्य की रचना हो चुकी थी। चीनी यात्री इत्सिंग के उल्लेखानुसार भर्तृहरि[2] की मृत्यु ई० ६५० में हुई है। यदि उनकी मृत्यु से १५० वर्ष पहले भी पतञ्जलि का काल

१ ये श्लोक गोल्डस्टूकर के ग्रन्थ से लिये गये हैं।

२ इत्सिंग ने लिखा है कि भर्तृहरि ने महाभाष्य पर एक वृत्ति रची थी। कुमारिल के तंत्रवार्तिक पृ० २२३ में भी भर्तृहरि की इस टीका का उल्लेख मिलता है।

माना जावे तो पाणिनि का समय ईसा की पांचवीं शताब्दी नहीं हो सकता, क्योंकि हम ऊपर बतला आये हैं कि पाणिनि और पतञ्जलि कभी भी समकालीन नहीं हो सकते।

राजतरङ्गिणी में एक श्लोक निम्न प्रकार से मिलता है—

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्धादेशं तस्मात्तदागमम्।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं[1] च व्याकरणं कृतम् ॥१- १७६॥

अर्थात्—चन्द्र आदि आचार्यों ने उसकी (राजा अभिमन्यु की) आज्ञा प्राप्त करने के बाद महाभाष्य का उद्धार किया और अपना व्याकरण (चन्द्रव्याकरण) बनाया।

भर्तृहरि के 'पर्वतादागमं लब्ध्वा' आदि श्लोक के साथ इस श्लोक को पढ़ने से दोनों का आशय एक सा लगता है। यह चन्द्र चन्द्रव्याकरण का प्रणेता वैयाकरण चन्द्र ही प्रतीत होता है। यह चन्द्र[2] पूज्यपाद का पूर्ववर्ती माना जाता है। अतः इस उल्लेख के आधार पर न केवल पाणिनि, किन्तु भाष्यकार पतञ्जलि भी पूज्यपाद के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार पाणिनि और पतञ्जलि के साहित्य तथा अन्य उल्लेखों के आधार पर न केवल पाणिनि अपि तु पतञ्जलि भी पूज्यपाद के समकालीन या बाद के सिद्ध नहीं होते ऐसी दशा में कोठारी जी ने उनको समकालीन सिद्ध करने के लिये जो प्रमाण दिये हैं, उन पर विचार करना केवल लेख की कलेवर-वृद्धि का ही कारण होगा। तथापि पाठकों को यह बतलाने के लिये कि कोठारी जी ने इस गुरुतर ऐतिहासिक कार्य में कितने उतावलेपन से बिना विचारे लेखनी चलाई है, उनके कुछ प्रमाणों पर विचार किया जाता है।

पाणिनि तथा जैनेन्द्रव्याकरण के बहुत से सूत्र परस्पर में मिलते हैं। इसके आधार पर पूज्यपाद-चरित की इस बात को प्रमाणित करना कि पूज्यपाद ने पाणिनिव्याकरण को पूर्ण किया था, केवल हास्यास्पद है। इसी तरह यदि भाष्यकार या काशिकाविवरणकार किसी मत को पूर्वाचार्य का बतलाते हैं और वह मत जैनेन्द्र-व्याकरण के रचयिता का भी है तो 'भाष्यकार और का० विवरणकार ने पूज्यपाद के मत का उल्लेख किया है' यह कल्पना तभी सत्य समझी जा सकती है जब उनसे पहले केवल पूज्यपाद ही ऐसे वैयाकरण सिद्ध हों, जिनका उक्त मत रहा हो। बिना ऐसा किये यह तो असिद्ध को

१ मि० ट्रोयर ने अपने संस्करण में 'चन्द्रव्याकरणं कृतम्' पाठ दिया है। ऐसा गोल्ड-स्टूकर लिखते हैं।

२ देखो—'अन्नल्स आफ भण्डारकर पूना, जि० १३, पृ० २५ पर डा० पाठक का लेख।

असिद्ध से सिद्ध करने की चेष्टा के समान ही है। हम पहले बतला आये हैं कि भाष्यकार ने 'केचित्' आदि लिखकर अनेक आचार्यों के मतों का निर्देश किया है। अतः इस प्रकार के थोथे प्रमाणों से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

१ पतञ्जलि ने 'अपरः आह' करके जाति का एक लक्षण उद्धृत किया है। जिसकी विचारधारा जैनसिद्धान्त से मेल खाती है। इस मामूली सी बात से कोठारीजी ने निष्कर्ष निकाला है कि भाष्यकार किसी जैनवैयाकरण से बाद में हुए हैं। वैयाकरण व्याकरण-विषयक ग्रन्थों में वैयाकरणों के ही मत उद्धृत करने की प्रतिज्ञा तो सम्भवतः नहीं करते हैं। यदि ऐसा कोई नियम होता कि व्याकरण-विषयक ग्रन्थों में किसी नैयायिक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक या कवि का कोई मत या कोई विचार उद्धृत नहीं करना चाहिये तो हम कोठारी जी के उक्त निष्कर्ष से किसी तरह सहमत हो भी जाते। किन्तु इस बादरायण-सम्बन्ध से सहमत होने के लिये हमारी क्षुद्र बुद्धि तैयार नहीं होती। क्योंकि जैन-विचारधारा तो अतिप्राचीन है, उसे भाष्यकार किसी अन्य स्रोत से जान कर लिख सकता था। पूज्यपाद के साथ इस विचारधारा का, पता नहीं, कैसे अविना-भावी सम्बन्ध जोड़ लिया गया है।

२ 'वाहनमाहितात्' इस सूत्र पर भाष्यकार ने 'अपरः आह' करके 'वाहनबाह्यादिति वक्तव्यम्' ऐसा लिखा है। जैनेन्द्र में 'बाह्याद्वाहनम्' सूत्र है। इस शब्द-साम्य से, जो यथाक्रम भी नहीं है, कोठारी जी निष्कर्ष निकालते हैं कि 'अपर' पद से जैनेन्द्रकार का उल्लेख किया है। क्यों भई, यदि जैनेन्द्र का सूत्र ही भाष्यकार ने उद्धृत किया है तो उसे उसने परिवर्तित क्यों कर दिया? क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि जैनेन्द्रकार ने भाष्य की इस वार्तिक को ही परिवर्तित करके अपना सूत्र बना लिया है, जैनेन्द्रकार के सामने कात्यायन की वार्तिक थी, यह बात उनके सर्वार्थसिद्धि-विषयक उल्लेखों से स्पष्ट है।

३ तत्वार्थसूत्र के चतुर्थ अध्याय के 'पीतपद्मशुक्ललेश्याद्वित्रिशेषेषु' इस सूत्र का व्याख्यान करते हुए पूज्यपाद स्वामी ने एक वाक्य इस प्रकार लिखा है—"यथाहुः—द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानमिति।" पाणिनि के "तपरस्तत्कालस्य' (१-१-७०) सूत्र के व्याख्यान में भाष्यकार ने एक वार्तिक इस प्रकार दी है—"यद्येवं द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कालभेदात्।" आगे इसका व्याख्यान करते हुए भाष्यकार लिखते हैं—"द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कर्तव्यम्" इत्यादि। इसका भी कोठारी जी ने वही निष्कर्ष निकाला है। कोठारी जी की इस महती भूल को देख कर मेरी उनके विषय में जो धारणा थी, उसे बड़ी ठेस

पहुंची है। एक विद्वान् व्यक्ति लेखनी के द्वारा जानबूझ कर इतनी बड़ी भूल कर सकता है, यह मेरा आत्मा मानने के लिये तैयार नहीं है। सर्वार्थसिद्धि के जिस प्रकरण में उक्त वाक्य है, उसका आशय कोठारी जी ने क्या समझा है? यह तो वे ही बतला सकते हैं। किन्तु प्रकरण यह है कि टीकाकार पूज्यपाद ने "पीता च पद्मा च शुक्ला च ताः पीतपद्म-शुक्लाः' इस प्रकार सूत्रस्थ पद का समास किया। उस पर शिष्य ने पूछा—"कथं ह्रस्व-त्वम्" अर्थात् पीता का पीत इत्यादि में ह्रस्वत्व कैसे हो गया? आचार्य ने उत्तर दिया—'औत्तरपदिकम्' अर्थात्—उत्तर पद परे रहते ह्रस्वत्व हो गया है। अपने इस उत्तर की पुष्टि में आचार्य ने 'यथाहुः' करके 'द्रुतायाम्' इत्यादि वाक्य प्रमाण-रूप में उद्धृत कर दिया। अर्थात्—जैसे 'मध्यमविलम्बितयोः' में (मध्यमा च विलम्बिता च मध्यमविलम्बिता) उत्तरपद 'विलम्बित' रहते हुए 'मध्यमा' पद को ह्रस्वत्व हो गया है, उसी प्रकार यहां पर भी जानना चाहिये। 'यथाहुः' का 'आहुः' पद ही यह बतलाता है कि ग्रन्थकार किसी अन्य पुरुष का प्रमाणवाक्य दे रहे हैं। सम्भवतः इसी से कोठारी जी ने इसे प्रमाणरूप में उपस्थित करते समय 'आहुः' पद को छोड़ कर केवल 'यथा' शब्द का उल्लेख किया है। महाभाष्य से स्पष्ट है कि अपने मत के समर्थन में पूज्यपाद ने जिस वाक्य को प्रमाणरूप से उपस्थित किया है, वह कात्यायन की वार्तिक है। अतः पाणिनि और उनके वार्तिक-कार कात्यायन, दोनों पूज्यपाद के पूर्ववर्ती हैं, यह निर्विवाद है। और भी लीजिये—सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ७, सूत्र १६ की व्याख्या में 'मैथुन' शब्द का अर्थ बतलाते हुए पूज्यपाद स्वामी अपने अर्थ के समर्थन में शास्त्र का प्रमाण देते हुए लिखते हैं—"शास्त्रेऽपि 'अश्ववृषभयोर्मैथुनेच्छायाम् इत्येवमादिषु तदेव गृह्यते'। इस वाक्य में उद्धृत 'अश्ववृष-भयोर्मैथुनेच्छायाम्' पद पाणिनि के ७-१-५१ सूत्र पर कात्यायन की प्रथम वार्तिक है। यहां पूज्यपाद ने कात्यायन की वार्तिक अथवा भाष्य का 'शास्त्र' शब्द से उल्लेख किया है। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पूज्यपाद और पाणिनि समकालीन नहीं थे। अतः कन्नड के पूज्यपाद-चरित्र के आधार पर कोठारी जी ने जो कुछ हवाई महल खड़ा किया है, ऐतिहासिक जगत में उसका कोई मूल्य नहीं आँका जा सकता और न इस तरह की असत्कल्पनाओं से जैनसाहित्य और जैनाचार्यों का महत्त्व ही बढ़ सकता है।

पार्श्वनाथ-चरित का श्लोक

वादिराज के पार्श्वनाथचरित के प्रथम परिच्छेद में तीन श्लोक निम्न प्रकार से मुद्रित हैं।

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते॥ १७॥

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा ।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥१८॥
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः ।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥ १९ ॥

किसी लेखक आदि की भूल से किसी प्रति में यह श्लोक उक्त क्रम से लिखे गये हैं और उसी पर से इस तरह मुद्रित भी हो गये हैं। किन्तु वास्तव में १७ वां और १९ वां श्लोक एक साथ हो कर अट्ठारहवां उनके बाद में होना चाहिये। क्योंकि १७ वें श्लोक में समन्तभद्र का स्मरण करते हुए उनके देवागमस्तोत्र का उल्लेख किया है और १९ में उनके रत्नकरण्डनामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। किन्तु १८ वें 'देव' शब्द से प्रसिद्ध वैयाकरण देवनन्दी का स्मरण किया है। आदिपुराण और हरिवंशपुराण[1] में भी इन्हें इसी संक्षिप्त

१ हरिवंशपुराण का यह श्लोक निम्न प्रकार है—

इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः ।
देवस्य देवसंघस्य न वन्द्यते गिरः कथम ?

न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना (पृ० १००) में मैंने लिखा था कि इस श्लोक में देवनंदी का स्मरण किया है। और अपने इस विचार को कई युक्तियों से सिद्ध किया था। किन्तु 'अकलङ्क-ग्रन्थत्रय' की प्रस्तावना में पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने मेरे इस मत का निराकरण किया है। आप की मुख्य आपत्ति यह है कि पूज्यपाद जैनेन्द्रव्याकरण के रचयिता हैं अतः इन्द्र चन्द्र आदि व्याकरणों के साथ उन्हें अपने ही रचित व्याकरण का ईक्षिन-द्रष्टा कहना ठीक नहीं है। किन्तु इस आपत्ति का परिहार यह हो सकता है कि हरिवंशपुराणकार की दृष्टि में पूज्यपाद इतर व्याकरणों के भी उतने ही विशिष्ट अभ्यासी थे जितने स्वरचित व्याकरण के। अर्थात् जिस तरह स्वरचित ग्रन्थ के प्रत्येक रहस्य से रचयिता अभिज्ञ रहता है उसी तरह वे पर-रचित व्याकरणों के भी प्रत्येक रहस्य से अभिज्ञ थे। श्रवणबेल्गोल के शिलाले० नं० ५० के एक उल्लेख से भी इस बात का समर्थन होता है। उसमें मेघचन्द्र मुनि का गुणगान करते हुए उन्हें 'सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम्' लिखा है, जो बतलाता है कि पूज्यपाद समस्त व्याकरणों के परगामी थे। यदि इस बात को स्वीकार न किया जाये और इस श्लोक के द्वारा अकलङ्कदेव का स्मरण किया जाना ही ठीक माना जाये, जैसा कि पण्डितजी का मत है, तो इस व्याकरण-शास्त्र के नियमों की विरोध-सम्बन्धी आपत्ति के सामने अनेक ऐतिहासिक आपत्तियां आ खड़ी होती हैं, जिन्हें दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। तथा उसके विरुद्ध दूसरे मत के समर्थन में अनेक उपपत्तियां भी मिलती हैं।

नाम से स्मरण किया है। अतः कोठारीजी ने इस श्लोक के आधार पर जो समन्तभद्र को वैयाकरण सिद्ध किया है वह भी भ्रमपूर्ण है।

दोनों बातें निम्न प्रकार हैं—

१ यदि उक्त श्लोक में अकलङ्क देव का ही स्मरण हुआ माना जाये तो कहना होगा कि हरिवंशपुराणकार ने पूज्यपाद का स्मरण ही नहीं किया। किन्तु यह बात किसी भी तरह नहीं जंचती कि हरिवंशपुराणकार अपनी रचना के प्रारम्भ में प्रमुख-प्रमुख शास्त्रकारों का स्मरण करते समय जैनेन्द्रव्याकरण के अध्येता अकलङ्क देव का तो वैयाकरण या व्याकरणशास्त्र-निष्णात के रूप में स्मरण करें और आद्य जैनव्याकरण जैनेन्द्र के रचयिता प्रसिद्ध शाब्दिक देवनन्दी को भूल ही जायें।

२ अब तक शास्त्रों तथा शिलालेखों में पूज्यपाद और अकलङ्क के सम्बन्ध के जो उल्लेख मेरी दृष्टि से गुजरे हैं, उनमें पूज्यपाद का वैयाकरण के रूप में और अकलङ्क का तार्किक के रूप में ही स्मरण किया गया है। जैनसाहित्य में सर्वत्र एक ही ध्वनि गूंजती सुनाई पड़ती है; और वह है—"प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।" वैयाकरण के रूप में अकलङ्क का जिसमें स्मरण किया गया हो ऐसा कोई उल्लेख कमसे कम मेरे देखने में तो नहीं आया।

३ हरिवंशपुराणकार जिनसेन और आदिपुराणकार जिनसेन, दोनों समकालीन थे, किन्तु हरिवंश पुराण की रचना पहले और आदिपुराण की रचना बाद को हुई है। हरिवंश-पुराण की तरह आदिपुराण के भी प्रारम्भ में व्यतिक्रम से सिद्धसेन और समन्तभद्र का स्मरण कर (बीच में कुछ अन्य अचार्यों का स्मरण करने के बाद) देव नाम के विद्वान् का स्मरण इस प्रकार किया है—

"कवीनां तीर्थकृद्देवः कितरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्॥"

इसमें देव को 'कवियों का तीर्थङ्कर' बतलाया है और उनके वचोमय तीर्थ को विद्वानों के वाङ्मल का नाशक लिखा है। हरिवंशपुराण के पूर्वोक्त श्लोक को देखते हुए यह श्लोक भी अकलङ्क देव के पक्ष में सरलता से लगाया जा सकता है। क्योंकि व्याकरण-शास्त्र-निष्णात का वचोमय तीर्थ 'वाङ्मलध्वंसि' होना ही चाहिये। यदि आदिपुराणकार ने अकलङ्क का पृथक् स्मरण न किया होता तो पण्डितजी इसे भी अकलङ्क के पक्ष में लगाये बिना न छोड़ते। किन्तु उसके बाद ही अकलङ्क का नाम स्मरण करके ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि शब्द-शास्त्र-निष्णात 'देव' भट्टाकलङ्क से पृथक् विद्वान् हैं और वे देवनन्दी के सिवाय दूसरे नहीं हो सकते।

४ आदिपुराणकार ने "भट्टाकलङ्कश्रीपालपात्रकेसरिणां गुणाः" आदि लिख कर भट्टाकलङ्क का केवल सामान्य उल्लेखमात्र कर दिया है, 'देव' की तरह पृथक् रूप से उनके

आशा है कोठारी जी मेरे इस लेख को सद्भाव से ही अपनायेंगे और भविष्य में कुछ लिखते समय जल्दबाजी से काम न लेंगे। उनसे हमलोगों को बड़ी आशाएँ ❀ हैं।

किसी विशेष गुण का स्मरण नहीं किया। यदि हरिवंशपुराणकार अकलङ्क देव का स्वतन्त्र स्मरण करते तो यह संभव प्रतीत नहीं होता कि आदिपुराणकार उनका उल्लेखमात्र करके ही छोड़ देते। इससे भी सिद्ध होता है कि हरिवंशपुराणकार ने जिनका उल्लेख भी नहीं किया था, आदिपुराणकार ने उनका कम से कम सामान्य उल्लेख तो कर ही दिया।

५ हरिवंशपुराण में 'देव' के स्मरण के बाद ही वज्रसूरि का स्मरण किया गया है। देवसेन के उल्लेख के अनुसार वज्रनन्दी देवनन्दी के शिष्य थे। इस पौर्वापर्य से भी यह सिद्ध होता है कि वज्रसूरि के पहले जिन 'देव' का स्मरण किया गया है, वह वज्रसूरि के गुरु देवनन्दी ही हैं। ग्रन्थकार ने दोनों के 'नन्दी' पद को छोड़ कर केवल 'देव' और 'वज्र' नाम से उनका स्मरण किया है।

हरिवंश पुराण (मा० ग्र० मा०) में 'देवसंघस्य' पाठ मुद्रित है। किन्तु उसी के नीचे टिप्पण में लिखा है कि 'देववन्द्यस्य' और 'देवनन्दस्य' पाठ भी उपलब्ध हैं। 'देवनन्दस्य' पाठ अशुद्ध है किन्तु उस पाठ से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि इस श्लोक में 'देव' पद से देवनन्दी का ग्रहण अभीष्ट था। अतः इसे क्लिष्ट कल्पना तो नहीं कहा जा सकता। 'देवसंघस्य' पद अकलङ्कदेव के यद्यपि अनुकूल पड़ता है, क्योंकि उन्हें देवसंघ का आचार्य कहा जाता है। किन्तु एक तो इस विषय का कोई स्पष्ट उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया, दूसरे श्रवणबेल्गोल के शिलालेख नं० १०८ में लिखा है कि अकलङ्कदेव के स्वर्गगत हो जाने पर यह संघ भेद हुआ था। तीसरे उक्त श्लोक में अकलङ्कदेव का स्मरण हुआ मानने में पूर्वोक्त बाधाएँ उपस्थित होती हैं। अतः मेरा विचार है कि 'देवसंघस्य' के स्थान में दूसरी प्रतियों में उपलब्ध 'देववन्द्यस्य' पाठ ही ठीक है। श्रीयुत प्रेमीजी ने भी अपने देवनन्दि-विषयक लेख में यही पाठ रक्खा है। पता नहीं, पण्डित जी प्रतियों में उपलब्ध इस पाठ को स्थान देने में कैसे 'कल्पना-गौरव' समझते हैं। कल्पना-गौरव तो तब कहा जा सकता था, जब यह पाठ किसी प्रति में उपलब्ध नहीं होता और सङ्गति ठीक बैठाने के लिये अपनी ओर से उसकी कल्पना की जाती। किन्तु ऐसा तो नहीं किया गया है। तथा शिलालेखों के पूज्यपाद-विषयक उल्लेखों से भी 'देववन्द्यस्य' पाठ का समर्थन होता है। यथा—श्रवणबेल्गोल के शिलालेख नं० १०८ में पूज्यपाद को 'सुराधीश्वरपूज्यपादः' लिखा है। शिलालेख नं० १०५ में 'यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः' लिखा है। शिलालेख नं० ४० में लिखा है—'देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्।'

इस उक्त विवेचन से इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि हरिवंशपुराणकार ने प्रसिद्ध वैयाकरण देवनन्दी का ही स्मरण किया है, न कि व्याकरणशास्त्रनिष्णात अकलङ्कदेव का।

❀ इस लेख के लिखने में मुझे गोल्ड स्टूकर के 'पाणिनि' नामक ग्रन्थ से बहुत अधिक सहायता मिली है। अतः उनका आभार कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया जाता है।

वीरमार्त्तण्ड चावुण्डराय

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

जैन ऐतिहासिक महापुरुषों में वीरमार्त्तण्ड चावुण्डराय भी एक हैं। भारत का इतिहास इनका अमर नाम कभी भुला नहीं सकता। बल्कि इनके द्वारा निर्मापित श्रवणबेल्गोल की वह अद्भुत विशाल मूर्त्ति जब तक मौजूद रहेगी तबतक संसार में इनकी धवल कीर्त्ति अविच्छिन्न रूप से फैली रहेगी। एक बात हमें याद रखनी चाहिये कि जैसे वह मूर्त्ति अद्भुत, अनुपम एवं विशाल है इसी प्रकार वीरमार्त्तण्ड का व्यक्तित्व भी सचमुच अद्भुत, अनुपम तथा महान् है। यद्यपि चावुण्डराय की जीवन-घटनाओं का पूर्ण परिचय हमें प्राप्त नहीं है; फिर भी यत्र-तत्र उपलब्ध कीर्त्ति-गाथाओं से इनके महान् व्यक्तित्व का पता अवश्य लग जाता है।

स्वरचित 'त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण' (पृष्ठ ५) एवं श्रवणबेल्गोल के विन्ध्यगिरिवाले शिलालेख (२८१) में चावुण्डराय ब्रह्मक्षत्रियवंशज बतलाये गये हैं। इससे अनुमान होता है कि मूल में इनका वंश ब्राह्मण था, बाद क्षत्रियकर्म—असिकर्म—को अपनाने से यह क्षत्रिय गिने जाने लगे। खेद की बात है कि दुर्भाग्य से इनके माता-पिता कौन थे और इनका जन्म कहाँ और किस तिथि को हुआ था आदि बातों का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। यों तो 'भुजबलि चरित' में लिखा है कि इनकी माता का नाम कलाल देवी था। हाँ, चावुण्डराय दीर्घकाल तक जीते रहे, यह अनुमान करना आसान है। क्योंकि इन्हें एक-दो नहीं, तीन शासकों के शासन-काल में काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। साथ ही साथ यह जानना भी सुलभ है कि चावुण्डराय के बहुमूल्य जीवन का अधिकांश भाग गंगों की राजधानी तलकाड में ही व्यतीत हुआ था।

अजितसेनाचार्य के परम शिष्य 'गंगकुलाब्धिचन्द्र' 'गंगकुलचूडामणि', 'जगदेकवीर' 'धर्मावतार' आदि अन्वर्थ उपाधियों से विभूषित राचमल्ल (चतुर्थ) इनके प्रकृत आश्रयदाता थे। जिस गंगवंश का सुदृढ राज्य मैसूर प्रान्त में लगभग ईसा की चौथी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक बना रहा, राचमल्ल उसी गंगवंश के सुशासक मारसिंह के उत्तराधिकारी थे। गंगराजाओं के शासनकाल में वर्तमान मैसूर का बहुभाग उन्हीं के राज्य के अन्तर्भुक्त था, जो उस समय 'गंगवाडि' कहलाता था। गंगराज्य उस समय अपनी सर्वोत्कृष्ट दशा पर पहुंच गया था और आदि से ही इस राज्य का जैनधर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। बल्कि श्रवणबेल्गोल के लेख नं ५४ (६७) एवं गंगवंश के अन्यान्य दानपत्रों से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि गंग-वंश की जड़ जमानेवाले जैनाचार्य सिंहनन्दी ही थे। इस कथन को 'गोम्मटसारवृत्ति' के रचयिता अभयचन्द्र त्रैविद्यचक्रवर्ती ने भी स्वीकार किया है। हेब्बूरु

ताम्रशासन के आधार पर मे० राइस साहब का कहना है कि आचार्य पूज्यपाद इसी वंश के सातवें शासक दुर्विनीत (ई० स० ४७८ ५१३) के राजगुरु थे। जैनधर्म के उपासकों में राचमल्ल के पूर्वाधिकारी गंगनरेश मारसिंह का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने कई जैनमन्दिर तथा स्तम्भ आदि निर्माण करा कर अन्त में अजितसेन भट्टारक के निकट समाधि-मरण-पूर्वक बंकापुर में शरीर-त्याग किया था।

चावुण्डराय उपर्युक्त राचमल्ल चतुर्थ के सुयोग्य सेनापति और मन्त्री थे। इन राचमल्ल के निष्कण्टक शासन-काल में ही वीरमार्त्तण्ड ने श्रवणबेल्गोल की संसार-विख्यात श्रीगोम्मटेश्वर-मूर्त्ति को स्थापित किया था। बल्कि चावुण्डराय की 'राय' यह उपाधि भी इनके इस धार्मिक उदार कार्य से सन्तुष्ट होकर राचमल्ल के द्वारा ही दी गयी थी, जो कि धर्ममूर्त्ति चावुण्डराय के लिये सर्वथा समुपयुक्त है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड[1] तथा जीवकाण्ड से आचार्य अजितसेन जी चावुण्डराय के गुरु एवं उसकी टीका से व्रतगुरु स्पष्ट सिद्ध होते हैं। यद्यपि चावुण्डराय के विद्याध्ययन के सम्बन्ध में कुछ भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। फिर भी यह अनुमान लगाना आसान है कि इनका विद्याध्ययन किसी सुयोग्य गुरु के निकट ही हुआ है। इसी लिये यह शस्त्र-शास्त्र एवं शिल्प आदि सभी कलाओं में निष्णात थे। हाँ, पीछे आचार्य नेमिचन्द्र के निकट इन्होंने अपने आध्यात्मिक ज्ञान को और उन्नत बनाया था। नेमिचन्द्र जी ने स्वयं चावुण्डराय के गुणों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है[2]।

जिस प्रकार इनका बाल्यजीवन अन्धकाराच्छन्न है, उसी प्रकार गृहस्थ-जीवन भी। हाँ, इतना पता तो अवश्य लगता है कि इनकी सौभाग्यवती गृहिणी का नाम अजिता देवी और पुत्र का नाम जिनदेव था। गङ्गनरेशों का राजमन्त्री तथा सेनानायक जैसे उच्चपद पर चावुण्डराय का आसीन होना ही इनकी योग्यता का एक समुज्ज्वल निदर्शन है। वास्तव में चावुण्डराय अपने कुल के भी एक देदीप्यमान रत्न थे। इसीलिये विद्वानों ने इन्हें 'ब्रह्म-क्षत्र-कुल-भानु', 'ब्रह्म-क्षत्र-कुल-मणि' आदि विशेषणों से स्मरण किया है। शासनाधिकाररूपी उच्चतम पद पर आरूढ़ हो कर भी यह अपने नैतिक मार्ग से कभी तिल भर भी नहीं डिगे थे। तब न 'शौचाभरण' 'सत्ययुधिष्ठिर' आदि गौरवपूर्ण शब्दों से यह उल्लेख किये गये हैं।

चावुण्डराय ने सेनापति जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पद को बहुत ही योग्यता के साथ निबाहा है। यही कारण है कि इन्होंने खेडग के युद्ध में वज्वलदेव को हरा कर 'समरधुरन्धर', गोनूर

१—" जम्हि गुणा विस्संता गणहरदेवादिइड्ढिपत्ताणं।
सो अजियसेणणाहो जस्स गुरू जयउ सो राओ ॥९६६॥
अज्जजसेणगुणगणसमूहसंधारिअजियसेणगुरू।
भुवणगुरू जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयतु " ॥७३३॥

२—" सिद्धं तुदयतडुग्गयणिम्मलवरगोमिचंदवरकलिया।
गुणरयणभूसणाइहिमइवेला भरउ भुवणयले " ॥९६७॥ —कर्मकाण्ड

के मैदान में नोलम्बों के समर में जगदेकवीर को पराजित कर 'वीरमार्त्तण्ड', उच्चंगि के किले को हस्तगत कर 'रणरंगसिंग', बागेयूर दुर्ग में त्रिभुवनवीर को मार कर गोविन्द को शासक बनाने के उपलक्ष में 'वैरिकुल-कालदण्ड', नृप काम के दुर्ग में राज, बास, सिवर एवं कूणाङ्क आदि शूरों पर विजय पाने के कारण 'भुज-विक्रम', अपने सहोदर नागवर्म को मारनेवाले 'चलदंकगंग', 'गंगरभट' मदुराचय को तलवार के घाट उतारने के हेतु 'समरपरशुराम' और अन्य वीरों को दमन करने के कारण 'प्रतिपक्षराक्षस' तथा करोड़ों वीर भटों का पराभव करने से 'भटमारि' जैसी प्रचण्ड वीरता-द्योतक उपाधियाँ प्राप्त की थीं।* बल्कि अति-प्रचण्ड-वीर-माण्डलिक-शिखण्ड मण्डन-मणि होने से 'सुभटचूडामणि' के बिरुद से भी यह विख्यात थे। वास्तव में उपर्युक्त इन उपाधियों से चावुण्डराय उस युग के एक अद्वितीय वीरशिरोमणि सिद्ध होते हैं।

वीरमार्त्तण्ड जिस प्रकार एक सफल सेनापति थे उसी प्रकार एक कुशल राज-मन्त्री भी। इनके मन्त्रित्व में गंगराष्ट्र की अभूतपूर्व उन्नति हुई थी। तत्कालीन गङ्ग प्रजाओं की अभिवृद्धि ही चावुण्डराय के सुशासन का ज्वलन्त दृष्टान्त है। उस समय के उपलब्ध अनेक भव्य मन्दिर, कितनी ही मनोज्ञ मूर्त्तियाँ आदि गङ्गराष्ट्राभ्युदय के सुन्दर साक्षी हैं।

वीरमार्त्तण्ड कन्नड, संस्कृत एवं प्राकृत के अच्छे विद्वान् तथा कवि थे। इस समय इनके चारित्रसार (संस्कृत) और त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण (कन्नड) नामक दो ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। बल्कि ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। आचार्य नेमिचन्द्र जी के कथनानुसार इन्होंने गोम्मटसार पर एक कन्नड वृत्ति भी रची थी।† उपर्युक्त चारित्रसार एक संग्रह ग्रन्थ है‡। हाँ, इनका त्रिषष्टिलक्षण महापुराण एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और १०वीं शताब्दी के कन्नड गद्य का एक समुज्ज्वल निदर्शन है। बल्कि कन्नड साहित्य में त्रिषष्टिशलाकापुरुषों का वर्णन करनेवाला यही एक सर्व-प्राचीन ग्रन्थ है। आजतक उपलब्ध कन्नड गद्यग्रन्थों में यह चावुण्डरायपुराण आदिम गद्य-ग्रन्थ माना जाता है। मालूम होता है इन्हें पद्य की अपेक्षा गद्य लिखने की अधिक सुविधा थी या अपने ग्रन्थों में निर्दिष्ट धर्मोपदेश को सर्वसाधारण तक सुगमता से पहुंचाने के लिये इन्होंने सरल गद्य में ग्रन्थ-रचना करना ही अपना प्रमुख ध्येय बना लिया था। श्रीयुत गोविन्द पै के शब्दों में इन्हें जनप्रिय लेखक होना इष्ट था, न कि अपने को कवि प्रकट करने की लालसा। कन्नड साहित्य में उपलब्ध चम्पू ग्रन्थों में इसकी रचना-शैली नितान्त विलक्षण है। इसका वर्णन-क्रम बिल्कुल स्पष्ट और हृदयग्राही होने के साथ-साथ एक जन्मजात वीर योद्धा के स्वभावानुसार ठीक अपने लक्ष्य को प्रकट करनेवाला है। इन्हें 'कविजनशेखर' उपाधि भी थी।

---

* देखें—अ० बे० शिलालेख नं० १०९ एवं 'चावुण्डरायपुराण'।

† "गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी।
सो राओ चिरं कालं णामेण य वीरमत्तंडी" ॥९७२॥ —कर्मकाण्ड

‡ देखें—भास्कर भाग २, किरण ३।

वीरमार्त्तण्ड कवियों के सच्चे आश्रयदाता थे। जिस समय महाकवि रन्न विद्याध्ययन-निमित्त अपने बन्धु-बान्धव एवं जन्मभूमि को त्याग कर गङ्गराजधानी में पहुंचे उस समय चावुण्डराय ने इनकी विद्यारुचि, मुख की तेजस्विता आदि गुणों का अनुभव कर इन्हें अपने पास रक्खा और इनके अध्ययन की पूरी-पूरी व्यवस्था कर दी। चावुण्डराय के हस्तावलम्बन से कुछ ही समय में रन्न एक अद्वितीय कवि निकले, जिनकी प्रशंसा आज भी सम्पूर्ण कर्णाटक मुक्तकण्ठ से सगर्व कर रहा है। यह कवि कन्नड कविरत्नत्रयों में अन्यतम हैं। इनकी कविता से मुग्ध होकर ही राजा तैलपने 'कविचक्रवर्त्ती' की बहुमूल्य उपाधि प्रदान की थी। अगर वीरमार्त्तण्ड असहाय रन्न को उस समय आश्रय नहीं देते तो आज कर्नाटक को इनकी सुधामयी कविता के रसा-स्वादन का सौभाग्य कभी प्राप्त नहीं होता। यों तो वीर-मार्तण्ड चावुण्डराय के बहुमूल्य जीवन का अधिकांश भाग रण-क्षेत्र में ही व्यतीत हुआ है, फिर भी देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम एवं दान आदि गार्हस्थ्य दैनिक कर्म भी इनसे अलग नहीं हुए थे। वीरमार्त्तण्ड एक सच्चे दृढ श्रद्धालु नैष्ठिक श्रावक थे। इसीलिये कहा गया है कि निश्शङ्कादिगुणपरिरक्षणैककारण ही 'गुणवं कावं', 'सम्यक्त्वरत्नाकर' एवं 'गुण-रत्नभूषण' ये उपाधियाँ इन्हें प्राप्त थीं। बल्कि यह श्रावक के अहिंसादि अणुव्रतों के पूर्ण परिपालक थे। अत एव 'शौचाभरण', 'सत्ययुधिष्ठिर' आदि विरुदों से भी अलंकृत रहे। साथ ही साथ चावुण्डराय एक जनप्रिय होने के हेतु 'अण्ण' जैसे बन्धुत्वसूचक सम्मानित नाम से भी पुकारे जाते थे।

इसमें शक नहीं है कि वीरमार्त्तण्ड का अन्तिम जीवन विशिष्ट धर्म-सेवन के साथ व्यतीत हुआ होगा। आचार्य नेमिचन्द्र जी जैसे महान् विद्वान् का सम्पर्क इसमें मुख्य कारण है। चावुण्डराय ने अपनी धवल कीर्त्ति को अमर बना रखने के लिये श्रवणबेल्गोल जैसे प्रमुख सुप्राचीन पुण्यतीर्थ को जो चुना है, यह बड़ी ही बुद्धिमत्ता का काम है। वास्तव में इनके द्वारा स्थापित उपर्युक्त गोम्मट-मूर्त्ति से इस तीर्थ की महिमा और भी बढ़ गई है। इस दृष्टि से इन्हें इस पवित्र भूमि का उद्धारक कहना सर्वथा समुचित है। आजतक बराबर यह क्षेत्र जनता की नजरों से आकृष्ट रहने का एकमात्र कारण उल्लिखित गोम्मट-मूर्त्ति ही है। अन्यथा दक्षिण के कोपण आदि अन्यान्य प्राचीन क्षेत्रों के समान ऐतिहासिकदृष्टि से अन्वेषक विद्वानों के लिये ही यह स्थान एक अन्वेषणीय वस्तु मात्र रह जाता। इस पुनीत तीर्थ को अभिवृद्धि का सारा श्रेय वीरशिरोमणि चावुण्डराय को ही मिलना चाहिये। अब, सर्वप्रयत्न से उक्त इस मूर्त्ति की रक्षा के सम्बन्ध में पूर्ण सचेत रहना सम्पूर्ण जैन समाज का प्रधान एवं परम कर्त्तव्य है। जैनियों को यह याद रखना चाहिये कि जब तक श्रवणबेल्गोल में यह गोम्मट-मूर्त्ति विराजमान रहेगी तभी तक इस क्षेत्र का बोलबाला रहेगा। जैनसमाज का मुख उज्ज्वल रखने के लिये यह मूर्त्ति वास्तव में एक बहुमूल्य रत्न है। देखें, जैनसमाज इस मस्तकाभिषेक के सुअवसर पर इस मूर्ति-रक्षा की ओर कहाँ तक ध्यान देता है। मैसूर सरकार को भी इस पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

श्रवणबेल्गोल के शिलालेख

[लेखक—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०]

"कोळविदु हालुगोळनोविदु अमुर्तगोळनोविदु, गङ्गे नदियो तुङ्गबद्रियो मङ्गलागौर्या-विदु, रुन्दवनवोविदु श्रृङ्गारतोटवो। अयि अयिया अयि अयिये बले तीर्त्त बले तीर्त्त जया जया जया जय॥"

"यह दुग्धकुण्ड है या कि अमृतकुण्ड? यह गङ्गा नदी है या तुङ्गभद्रा या मङ्गल गौरी? यह वृन्दावन है कि विहारोपवन? ओहो! यह तो क्या ही उत्तम तीर्थ है?"

—शिलालेख नं० १२३

सोलहवीं शताब्दी के एक भक्त-हृदय से श्रवणबेल्गोल जैन-तीर्थ के दर्शन करने पर उपर्युक्त शब्द-लहरी झंकृत हुई थी! श्रवणबेल्गोल का श्वेत सरोवर ही मन को हरनेवाली वह चीज़ है जिस पर यात्री की आँख जाकर टकराती है। भक्त उसे देखकर अचरज में पड़ता है और पूछता है कि 'क्या वह दुग्धकुण्ड, अमृतकुण्ड, गङ्गा अथवा तुङ्गभद्रा है?' फिर आगे जब वह अपनी दृष्टि पसारता है और सुन्दर-सघन वनस्पति एवं बहुमूल्य मंदिर-मूर्तियों से समलंकृत शैल-शिखिर देखता है तो बरबस मुग्ध होकर वह फिर विस्मय से पूछता है कि 'क्या यह वृन्दावन है या विहारोपवन?' वह भूल जाता है कि वृन्दावन के पास कालिन्दी और गोवर्द्धन ज़रूर हैं, परंतु हरे-हरे सघन वृक्ष-समूह वहाँ न—कहीं हैं। यह विशेषता श्रवणबेल्गोल में है। भक्त-हृदय इन सब विशेषताओं को देखता है और अंत में कहता है—'अहा! कैसा अच्छा यह तीर्थ है!'

श्रवणबेल्गोल के दर्शन करके प्रत्येक यात्री के हृदय से ऐसे ही उद्गार निकलते हैं। दक्षिण भारत में यह एक अनूठा स्थान है, जहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य, प्राचीन शिल्पकला और ऐतिहासिक धार्मिकता गलबाहियां डालकर नृत्य कर रही हैं।

यहाँ के प्राचीन स्मारकों और मूर्तियों पर और भी जो लेख अङ्कित हैं वह इतिहास के लिये बड़े महत्त्व के हैं। जैन इतिहास के लिये वह खास चीज़ हैं। उनसे न केवल जैन मान्यता का समर्थन होता है, बल्कि कितनी ही अनूठी बातें विदित होती हैं।

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों का प्रारंभ प्रायः निम्नलिखित रूप में हुआ मिलता है। विद्वानों का मत है कि प्राचीन जैनशिलालेखों का आरंभ "स्वस्ति" और 'सिद्ध'" शब्द से होता है।[1]

१ डरजैनिस्मस (बर्लिन) पृ० १३५।

इन शिलालेखों में भी यह शब्द देखने के लिए मिलते हैं। यहां के प्रारंभिक नमूने यह हैं:—

(१) 'सिद्धम् स्वस्ति'[१]

(२) 'श्री'[२]

(३) 'स्वस्ति श्री'[३]

(४) 'श्री स्वस्ति'[४]

(५) 'सिद्धम्'[५]

(६) 'श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्वादामोघलाञ्छनं।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"[६]

(७) 'श्रीमत्स्याद्वादमुद्राङ्कितममलमहानेन्द्रचक्रेश्वरेड्यं जैनीयं शासनं विश्रुतमखिल-हितं दोषदूरं गभीरं। इत्यादि'[७]

(८) 'भद्रं भूयाज्जिनेन्द्राणां शासनायाघनाशिने।
कुतीर्थ-ध्वान्तसंघातप्रभिन्नघनभानवे ॥ १ ॥'[८]

(९) 'श्रीजयत्यजय्यमाहात्म्यं विशासितकुशासनं।
शासनं जैनमुद्भासि मुक्तिलक्ष्म्येकशासनं ॥'[९]

(१०) 'श्रीगणेशाय नमः'[१०]

उपर्युक्त नं० ६, ७ आदि श्लोकों के उपरांत 'नमः सिद्धेभ्यः'—'नमो वीतरागाय'—'नमो जिनाय'—'स्वस्ति' आदि वाक्य भी मिलते हैं। लेख नं० ४३६ में 'श्री श्री गोमटेशाय नमः' लिखा हुआ है। इनसे स्पष्ट है कि जैनशिलालेखों के आदि वाक्य उपर्युक्तरूपेण होते हैं।

यहाँ के कई शिलालेखों में भ० महावीर के निर्वाण का संवत् भी दिया हुआ है, जिससे उस संवत् का बहु प्राचीनकाल से प्रचलित होना स्पष्ट है। लेख नं० ४५५ में शालिवाहन शकाब्द १७८० और वीरनिर्वाणाब्द २५५१ दिया है। इसी तरह लेख नं० ४३५ (३५५) व ४३६ (३५६) में है। इस गणना का आधार प्रकट होना आवश्यक है।

---

१ लेख नं० १ (१)।

२ नं० ३ (१२), ६ (९), ७ (२४) आदि।

३ नं० ५ (१८), २१ (२९), २३ (३८) इत्यादि।

४ नं० ३८ (५९), १४० (३५२)।

५ नं० ३५ (७६)।

६ जै० शि० सं०, पृ० २१, ३३, ४२, ४९, ५२, ६६, ८१, ८५ आदि।

७ जै० शि० सं०, पृ० ३०।

८ जै० शि० सं०, पृ० ५५—५८।

९ जै० शि० सं०, पृ० २०९।

१० जै० शि० सं०, पृ० ३३५।

दिगम्बर जैनगुरु-परम्परा का इतिहास उनके आधार से संकलित किया जा सकता है और मौर्यकाल में जैनसंघ के दक्षिण को आने की वार्ता का वह पोषण करते हैं। यहाँ के लगभग शक सं० ५७२ के लेख नं० १७-१८ (३१) में कहा गया है कि 'जो जैनधर्म भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनीन्द्र के तेज से भारी समृद्धि को प्राप्त हुआ था उसके किञ्चित् क्षीण हो जाने पर शान्तिसेन मुनि ने उसे पुनरुत्थापित किया।' इसके अतिरिक्त और भी कई लेखों में ऐसा उल्लेख देखने को मिलता है। प्रो० हीरालाल जी ने इन लेखों का महत्त्व दरसाते हुए इनका संग्रह और सम्पादन "जैनशिलालेख-संग्रह" के नाम से बम्बई की प्रसिद्ध श्रीमाणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला में कर दिया है। फिर भी इन लेखों को हिन्दी अनुवाद और विशेष ऐतिहासिक टिप्पणियों सहित प्रकाशित करना आवश्यक है। प्रो० साहब ने अपने संग्रह में जिन बातों पर प्रकाश डाला है उनको यहाँ पर दुहराना व्यर्थ है। यहाँ तो शिलालेखों के आधार से नवीन ज्ञातव्य प्रकट करना ही अभीष्ट है। अतः आगे पाठक उसी को पढ़ें।

शिलालेख में सैद्धान्तिक उल्लेख

सब से पहले शिलालेखों में प्रयुक्त हुए जैनसिद्धान्त-विषयक वाक्यों को उपस्थित करके जैनसिद्धान्त के रूप-रंग को हम पुष्ट करेंगे, किन्तु उसके पहले पाठकगण देखें कि चन्द्रगिरि के शिलालेख नं० १ (लगभग शक सं० ५२२) ही ऐसा दि० जैन शिलालेख देखने में आया है जिसमें भ० महावीर और उनके शासन का सम्पर्क विशाला (वैशाली) नगरी से दरसाया है। श्वेताम्बर-आगम-ग्रंथों में भ० महावीर और वैशाली की घनिष्ठता का विशेष उल्लेख मिलता है। दिगम्बर जैन शास्त्र भी वैशाली को भ० महावीर की ननिहाल बताते हैं; परन्तु श्वेताम्बरीय शास्त्रकारों की तरह भ० महावीर का उल्लेख 'वैशालीय' नाम से करते हुए दिगम्बर-शास्त्रकार हमें नहीं मिलते हैं। उपर्युक्त शिलालेख में अवश्य वैसी ही कुछ ध्वनि प्रकट होती है। यह इस शिलालेख की विशेषता है। अब देखिये सैद्धान्तिक उल्लेखों को—

१ लेख नं० १ में भ० महावीर वर्द्धमान का उल्लेख करते हुए उनके केवलज्ञान का उल्लेख किया है और उसे लोकालोक-प्रकाशक तथा अर्हत्पद का विशेषण बताया है। आगे इसी लेख में तप और समाधि की आराधना करने का उल्लेख है।

२ लेख नं० ३ (शक सं० ६२२) में पाप, अज्ञान और मिथ्यात्व को हनन करने और इन्द्रियों को दमन करने का उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि तब सम्यक्त्व के लिये उपर्युक्त तीन बातों का मिटना आवश्यक समझा जाता था और सम्यक्चारित्र में इन्द्रिय-दमनमुख्य था।

३ लेख नं० ७-८ (शक सं० ६२२) में 'संन्यासव्रत'-द्वारा प्राणोत्सर्ग करने का उल्लेख है। 'तत्वार्थधिगम-सूत्र' में भगवन् उमास्वाति ने व्रतों के अन्त में मुनि और श्रावकों

को पालने के लिये 'सल्लेखनाव्रत' का विधान किया है। यहाँ पर उसी का उल्लेख 'सन्यास' नाम से हुआ है।

४ लेख नं० १७—१८ (शक सं० ५७२) में 'अशनादिका त्याग कर के पुनर्जन्म को जीतने' का उल्लेख है। जैनसिद्धान्त में संसारी जीव को भवभ्रमण करते माना गया है और अशनादि का जिसमें त्याग किया जाता है उन तपों और व्रतों को पाल कर उसके अन्त करने का भी विधान मिलता है।

५ लेख नं० २० (शक० ६२२) 'सुरलोक-विभूति' को प्राप्त करने का उल्लेख है। व्रतादि पालन का फल सुरलोक के वैभव को प्राप्त करना इससे स्पष्ट है। लेख नं० २८ (शक ६२२) से स्पष्ट है कि स्त्रियाँ भी बारह प्रकार के तपों और व्रतों को पाल कर के सुरलोक का सुख प्राप्त करती थीं। इस लोक से परे सुरलोक का होना वह मानते थे।

६ लेख नं० २२ (शक १०२२) से 'देववन्दना' करना आवश्यक प्रमाणित होता है।

७ लेख नं० २४ (शक ७२२) से श्रावकों द्वारा 'मौनव्रत' पालने और 'दान' देने का उल्लेख है।

८ लेख नं० २६ (शक ६२२) में रूप-धन-वैभव की अनित्यता को दरसा कर 'अनित्य-भावना' का चित्रण किया गया है। संवरतत्व में अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्तन करने का विधान भी जैनसिद्धांत में है।

९ लेख नं० २७ (शक ६२२) में आर्यिकाओं के समाधिमरण करने का उल्लेख है जिससे स्त्रियों की धार्मिकता का अनुभव होता है।

१० लेख नं० २८ (शक ६२२) में 'द्वादशतप' का उल्लेख है अर्थात् तब भी लोग अनशनादि बारह प्रकार के तपों से विज्ञ थे।

११ लेख नं० २९ (शक ६२२) में 'उत्साह और आत्मसंयम-सहित समाधिव्रत' पालने का उल्लेख है। 'मूलाचार' में उत्साह-भावना का विधान मिलता है।*

१२ सल्लेखना के लिये मृत्यु का अवश्यम्भावी ज्ञान होना आवश्यक है। लेख नं० ३२ (शक ६२२) व नं० ३३ (शक ६२२) इसी सिद्धांत के पोषक हैं। इनमें लिखा है कि 'मृत्यु का समय निकट जानकर' और 'अब मेरे लिए जीवन असंभव है' यह कह कर मुमुक्षुओं ने सल्लेखना व्रत आराधा। लेख नं० ३८ (शक ८९६) में तीन दिन तक सल्लेखना पालने का उल्लेख है और लेख नं० ४४ से स्पष्ट है कि सल्लेखनाव्रत में एक करवट से लेटने और पंचनमस्कारपद का उच्चारण करना भी प्रचलित था।

१३ लेख नं० ३८ (शक सं० ८९६) में 'धर्म्ममङ्गल' को नमस्कार करने का उल्लेख है। प्राचीन नमस्कार मंत्र में 'चत्तारि मंगलं' में 'धर्म्म-मङ्गल' भी एक बताया गया है। (केवलिपण्णत्तो धम्मो-मङ्गलं)।

* उ-छाह भावणासं पसंस सेवा सुदंसणो सद्धा। इत्यादि

१४ अनादि पंचणमोकार मंत्र का उल्लेख 'पंचनमस्किया'-रूप में लेख नं० ४१ (शक सं० १२३५) और लेख नं० ४४ (शक सं० १०४३) में 'पंचपद' रूप में है।

१५ लेख नं० ४१ (शक १२३५) में माया (शल्य), जैनमार्गप्रभाव (प्रभावना), कोपादि (कषाय), आर्त और रौद्र परिणामों का उल्लेख है।

१६ लेख नं० ४२ (शक १०९९) में 'सप्त महाऋद्धियों' और 'चारणऋद्धि' का उल्लेख है।

१७ उपर्युक्त लेख में आगे 'शल्यत्रय'—'गारवत्रय'—'दंडत्रय' का उल्लेख है। माया-मिथ्या-निदान तीन शल्य हैं। मनोदण्ड, वचनदण्ड, कायदण्ड, यह तीन दण्ड हैं। तीन गारव से क्या भाव है, यह गवेषणीय है।*

१८ लेख नं० ४३ (शक १०४५) में मुनियों की जीवदया वृत्ति, जैन सिद्धांत (राद्धान्त) पारंगत और वात्सल्य गुण का उल्लेख है। इसी लेख में पंचेन्द्रियदमन का भी उल्लेख है।

१९ उपर्युक्त लेख में आगे विष्णुवर्द्धन नरेश की भावज जयकरणव्वे की धार्मिकता का परिचय कराते हुए श्राविकाओं द्वारा जिनपूजा करने, सत्य व शीलव्रत पालने, गुरुभक्ति करने और विनय धर्म को पालने का उल्लेख है। उन्हें 'भव्यर्क' कहा है।

२० लेख नं० ४४ (शक १०४३) में श्रावक की दैनिकचर्या का वर्णन श्रावक मार का चित्रण करते हुए किया गया है। जिनपूजा करना, जिनेन्द्र की वंदना करना, मुनिजनों की निकटता में मन लगाना, सारा समय जिनमहिमा के प्रसारित करने में खर्च करना और दान देना श्रावक का महान कर्तव्य है। आहार, अभय, भैषज्य और शास्त्र इस प्रकार दान चार तरह का बताया है। इन दानों का अन्य लेखों में भी उल्लेख है। पूजा में अर्चन और अभिषेक दोनों सम्मिलित थे।

२१ लेख नं० ५६ (शक १०३७) में विनय, सत्य, शौच, वीर्य, शौर्य और सर्वसंग-परित्याग धर्मों का उल्लेख है।

२२ लेख नं० ४७ (शक १०३७) में परीषह, दशलक्षणोत्तम महाधर्म और आत्म-संवेदन गुण का उल्लेख है। इसी लेख में आगे शील, समिति, गुप्ति, दण्ड, शल्यादि का भी उल्लेख है। 'रत्नत्रय' धर्म संसारसागर से पार पहुंचने के लिए पोत बताया है। इसी में आचार्य के 'षट्त्रिंशद्गुणों' का उल्लेख है। और शब्दविद्या, तर्कविद्या एवं सिद्धांतविद्या के पारगामी को 'त्रैविद्य' घोषित किया है। इसी में पल्यङ्कासन' और 'उत्तमपात्रदान (मुनिदान) का उल्लेख है।

---

* 'गारव' इच्छार्थक शब्द है। गारवत्रय ये हैं—(१) ऋद्धिगारव (२) रसगारव (३) सातगारव। (भगवती आराधना) —के० बी० शास्त्री

२३ लेख नं० ५२ (शक १०४१) में पंच महाकल्याण, अष्ट महाप्रातिहार्य और चतुस्त्रिंशद् अतिशयों से मण्डित अर्हद्भगवान् का उल्लेख है, जिनके मुख-कमल से सदसन्निरूपक जिनवाणी निर्गत हुई थी।

२४ लेख नं० ५३ (शक १०५०) में 'पण्डितमरण' का उल्लेख है।

२५ लेख नं० ८० (शक १०८०) व नं० ८६ में अष्टविधार्चन और मुनि-आहार का उल्लेख है। इन धर्मकार्यों के लिये धर्मात्मा पुरुष दान किया करते थे।

२६ लेख नं० ८२ (शक १३४४) में पंच पापों से दूर रह कर देशव्रतों को पालने तथा सुपात्रों को दान और दीन-जनों को करुणादान देने का उल्लेख है। (हिंसानृतान्यवनिताव्यसनं सचौर्य्यं, मूर्च्छा च देशव्रतोऽस्य बभूव दूरे ॥ दानं चास्य सुपात्र एव करुणा दीनेषु, इत्यादि)

२७ लेख नं० ९३ (शक ११९७) में पुष्पमालायें नित्य चढ़ाने का उल्लेख है। और नं० ९४ में गोम्मट के अभिषेक के लिए दुग्धदान का उल्लेख है। नं० ९५ में गोम्मटदेव के नित्याभिषेक के लिए दान देने का उल्लेख है।

२८ लेख नं० १०५ (शक १३२०) में अंग-पूर्वगत जिनवाणी का उल्लेख है। इसी लेख में श्वेताम्बरादि विपरीत मतों का उल्लेख है। (सिताम्बरादौ विपरीतरूपे खिले विसंघे वितनोतु भेदं)

२९ लेख नं० ११३ (शक १०९९) में उभय-नय, त्रिदण्ड, त्रिशल्य, चतुःकषाय, चतुर्विध उपसर्ग गिरिकंदरादिक आवास, पंद्रह प्रमाद, पंचाचार—वीर्याचार, षट्कर्म, सप्तनय, अष्टाङ्गनिमित्तज्ञान, अष्टविधज्ञानाचार, नवविधब्रह्मचर्य, दशधर्म, एकादशश्रावकाचार—देशव्रताचार, द्वादशतप, द्वादशाङ्गश्रुत, त्रयोदशाचार, शीलगुण, जीव-भेद (विज्ञान), जीवदया और चतुःसंघ का उल्लेख है।

३० उपर्युक्त लेख में ही अनेक आचार्यों, कलियुग के गणधर, पचास मुनीन्द्रों, आर्यिकाओं और अट्ठाइस संघों द्वारा एकत्रित होकर पञ्चकल्याणोत्सव मनाने का उल्लेख है।

३१ लेख नं० ४१३ व ४१४ में विजयधवल और जयधवल के नाम हैं; जो संभवतः सिद्धांतग्रन्थों के द्योतक हैं।

उपर्युक्त सैद्धांतिक उल्लेखों का सामञ्जस्य प्रचलित जैनसिद्धांत से है और यह उसकी वैज्ञानिकता स्पष्ट करता है।

धार्मिक उदारता

अब आगे पाठकगण देखें कि उस समय जैनसिद्धांत को माननेवाले कितना उदार धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि रखते थे। वह लोक से मिथ्यात्व को मिटा कर सम्यक्त्व का आलोक फैलाने में दत्तचित्त थे—जीवमात्र के प्रति उनके हृदय में करुणा का भाव था। तत्कालीन जैन

संघ में चतुर्वर्ण के लोग सम्मिलित थे। लेख नं० ४२ (शक १०९९) में चतुर्वर्ण को दान देने का उल्लेख है। लेख नं० १०२ (शक १४५९) में चेन्नय्यमाली के दान देने का उल्लेख है। और तो और नृत्यकारिणी मंगायि को भी धर्माराधना का पूर्ण अवसर प्राप्त था। वह श्रीमद् अभिनव चारुकीर्त्ति पण्डिताचार्य की शिष्या और सम्यक्त्वाद्यनेक-गुण-गणाभरण-भूषित थी। उसने 'त्रिभुवनचूड़ामणि' नामक चैत्यालय निर्माण कराया था, जो आज भी बेल्गोल में एक दर्शनीय वस्तु है। (देखो लेख नं० १३२)। एक अन्य लेख से सुनार जातीय भक्त के सल्लेखनाव्रत धारने की वार्त्ता स्पष्ट होती है। स्त्रियों को तो धर्माराधना की पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त थी। सारांशतः प्रत्येक भव्य जीव को तब के जैनसंघ में धर्म की आराधना करने के लिये सुअवसर प्राप्त था। साथ ही साम्प्रदायिक विरोध भी कभी-कभी तो नहीं के बराबर देखने को मिलता है। सम्राट् विष्णुवर्द्धन वैष्णव हो जाते हैं, परन्तु उस पर भी वह जैन मंदिरों को दान देते हैं। उनकी पट्टरानी शान्तल देवी जीवनपर्य्यन्त जैनधर्मानुयायिनी रही थीं और अनेक जिनमंदिरों को दान देती रही थीं। होयसल नरेश बल्लाल द्वितीय के मंत्री चन्द्रमौलि वेदानुयायी ब्राह्मण थे, परन्तु उनकी भार्या आचियक्क जिनधर्मावलम्बिनी क्षत्रियाणी थी। उन्होंने बेल्गोल में पार्श्वनाथवस्ति का निर्माण कराया था। लोगों में धार्मिकता यहाँ तक बढ़ी-चढ़ी थी कि अपने दानधर्म का पुण्यफल दूसरों के देने का संकल्प करते थे। लेख नं० १०० में चिक्कण ने चौडिमट्टि को एक 'धर्मसाधन' दिया था, क्योंकि उन्होंने उसे कष्टमुक्त किया था। यही बात लेख नं० १०१ से प्रकट होती है। किन्हीं लेखों के अन्त में दान की रक्षा के लिये काशी—रामेश्वर और कुरुक्षेत्र में कपिलादि गाय और ब्राह्मणों की हत्या का पाप लगने का उल्लेख धार्मिक-सहिष्णुता का द्योतक है।*

जैनों की वीरता

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में जहाँ एक ओर धार्मिक उदारता के दिग्दर्शन होते हैं, वहाँ दूसरी ओर जैनों की वीरता के अपूर्व दर्शन भी मिलते हैं। इस वीरता के दो अलग क्षेत्र वहाँ दिखाई पड़ते हैं। एक ओर कर्मवीर है तो दूसरी ओर धर्मवीर। कर्मवीर अन्ततः धर्मवीर बनते मिलते हैं। इन वीरों का पूर्ण परिचय लिखने के लिये इस अंक के पृष्ठ शायद ही पर्याप्त हों। सम्राट् मारसिंह, सम्राट् इन्द्र, सम्राट् राचमल्ल, वीरवर चामुण्डराय, दण्डाधिप गङ्गराज, मंत्रिप्रवर हुल्ल प्रभृति अगणित नरपुंगव ऐसे हैं जो कर्मवीर और धर्मवीर दोनों थे। उन्होंने रणक्षेत्र में तलवार के जौहर दिखाये तो धर्मक्षेत्र में जैनाचार्यों के चरण कमलों में धर्माराधना करके सल्लेखना-व्रत-द्वारा प्राणोत्सर्ग किये! जैनवीरता के पोषक कतिपय उद्धरणों

* देखें—'जैनशिलालेख-संग्रह' पृष्ठ १६६।

को उपस्थित करना ही पर्याप्त है :—

१ "जब चालुक्य नरेश की सेना कन्नेगल की छावनी में पड़ाव डाले हुई थी उस समय महान् मन्त्री और दंडनायक गङ्गराज यह कहते हुये कि 'चलने दो' घोड़े पर सवार हो गये, विना इस बात की परवाह किये कि रात में युद्ध करना होगा वह सरपट बढ़े चले गये और अपनी तलवार से भयभीत शत्रु-सेना को आतुर बना दिया। मानो यह उनका खिलवाड़ था—उन्होंने सब ही राजाओं को परास्त किया और उनकी सारी युद्ध-सामग्री और वाहनों को लाकर अपने प्रभु के सामने रख दिया। होय्सल-नरेश ने कहा—'मैं प्रसन्न हूं—प्रसन्न हूं तुम्हारे भुज-विक्रम से। मांगो, जो वर चाहो!' इस महती कृपा को पाकर भी गंगराज ने धन-सम्पत्ति की इच्छा नहीं की—उनका मन तो जिनेन्द्र की पूजा में पगा हुआ था। उन्हों ने परमनामक ग्राम होय्सल-नरेश से प्राप्त करके जिन-पूजा के लिये अपनी माता पाचाल देवी और पत्नी लक्ष्मी देवी-द्वारा निर्मित जिनालयों को दान कर दिया!" (ले० नं० ४५)

२ वीरगल्लु (लेख) न० ६१ (शक ८७२) से प्रकट है कि पुरुष ही नहीं स्त्रियाँ भी रणाङ्गण में निज शौर्य प्रकट करके वीरगति प्राप्त करती थीं। इस वीरगल्लु में लोकविद्याधर और उसकी पत्नी सावियव्वे का परिचय कराया गया है। कन्नड-भाषा के कुछ वाक्य देखिये—

"श्री युवतिगे निज-विजय-श्री-युवतिगे सवति येनिसे ..... श्रावक-धर्मदोळ् दोरेयेनल् पेररिल्लेने सन्द रेवति-श्रावकि ताने सज्जनिकेयोळ् जनकात्मजे ताने रूपिनोलळ्-देवकि ताने पेम्पिनोळरुन्धति ताने जिनेन्द्र-भक्ति-सद्-भावदे सावियव्वे जिन-शासन देवते ताने काणिरे ॥ इत्यादि।"

सावियव्वे रेवती, देवकी, सीता, अरुन्धती आदि सदृश रूपवती, पतिव्रता और धर्मप्रिया थी। वह पक्की श्राविका (जैनी) थी—जिनभगवान् में उसकी शासन देवता के सदृश भक्ति थी। वह सती अपने पति के साथ 'वागेयूर' के युद्ध में गई और वहाँ लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुई! लेख के ऊपर जो चित्र खुदा है उसमें वह स्त्री घोड़े पर सवार हुई हाथ में तलवार लिए हुये एक हाथी पर सवार वीर का सामना करती हुई चित्रित की गई है। हाथी पर चढ़ा हुआ पुरुष इस वीराङ्गना पर वार कर रहा है! यह थी उस समय की जैन युवतियों की वीरता!

३ लेख नं० ६० भी एक 'वीरगल्लु' अर्थात् वीरगति को प्राप्त हुए वीर का स्मारक है। उसमें गङ्गनरेश रक्कसमणि के वीर योद्धा 'वद्देग' के शौर्य का बखान है। 'युद्ध में इसने ऐसी वीरता दिखाई कि जिसकी प्रशंसा उसके विपक्षियों ने भी की थी।'

साहित्य-कला

श्रवणबेल्गोल के अधिकांश शिलालेख कन्नड और संस्कृत-भाषा में हैं। मारवाड़ी-हिन्दी में भी कुछ शिलालेख हैं। साहित्य में कला की दृष्टि से उनमें से कई उल्लेखनीय हैं। 'मल्लिषेणप्रशस्ति' आदि इतिहास और साहित्य दोनों के लिये उपयोगी है। कुछ नमूने देखिये:—

(१) "स्वस्ति समस्त-भुवन-स्तुत्य-नित्य-निरवद्य-विद्या विभव-प्रभाव-प्रहृतहूरीपाल-मौलि-मणि-मयूख-शेखरीभूत-पूत-पद-नख-प्रकररु। जितवृजिनजिनपतिमतपयपयोधिलीला-सुधा कररु। ..... शरदमलशशधरकरनिकरनीहारहाराकारानुवर्त्तिकीर्त्तिवल्लीवेल्लितदिगन्तरालरु मप्पश्रीमन्महामण्डलाचार्य्यरु श्रीमद्देवकीर्त्तिपण्डितदेवरु।"

(लेख नं० ३९)

(२) "स्वस्तिनिस्तुषाति-जितवृजिन-भाग-भगवदर्हदर्हणीयचारुचरणारविन्दद्वन्द्वानन्दवन्दन-बेलाविलोकनीयाक्ष्मायमाण-लक्ष्मीविलासेयुं। अपहसनीयस्वीयजीवितेशजीवितान्यजीवन-विनोदानारत-रतरतिविलासेयुं। कालेयकालरात्तसरत्ता-विकलसकलवाणिजत्राणाति-प्रचण्डचामुण्डातिश्रेष्ठराजश्रेष्ठिमानसराजमानराजहंसवनिताकलपेयुं।" इत्यादि—

(लेख नं० ४९)

यह तो हुआ मनोहर गद्य; किन्तु ज़रा पद्यों को भी देखिये:—

(१) 'विहितदुरितभङ्गा भिन्नवादीभशृङ्गा वितत-विविधमङ्गाः विश्वविद्याब्जभृङ्गाः।
विजितजगदनङ्गा वेशदूरोज्ज्वलाङ्गा विशदचरणतुङ्गा विश्रुतास्तेऽस्तसङ्गाः ॥३०॥"

(लेख नं० १०५)

(२) "उद्दीप्त-दुःख-शिखि-सङ्कृतिमङ्गयष्टि
तीव्राजवाञ्जव-तपातप-ताप-तप्तां।
स्रक्-चन्दनादि-विषयामिष-तैल-सिक्तां
को वावलम्ब्य भुवि सञ्चरितप्रबुद्धः ॥६६॥

(लेख नं० १०८)

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों से धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र आदि के भी उल्लेखनीय नियमों की उपलब्धि होती है। रसिकजन उनका वहां से पाठ करें। सारांशतः भ० बाहुबली की विशाल-विभूति का धर्ममय प्रभाव वहां चहुंओर छिटक रहा है। धन्य हैं वे जो उनके दर्शन करके अपना जीवन सफल करते हैं। इति शम्।

गोम्मटस्वामीकी सम्पत्तिका गिरवी रक्खा जाना

[लेखक—श्रीयुत पं० जुगलकिशोर मुख्तार]

जो लोग भगवान्‌का पूजा करके आजीविका करते हैं—पूजनके उपलक्षमें वेतन लेते अथवा दक्षिणा, चढ़ावा या उपहार ग्रहण करते हैं—उनमें प्रायः धर्मका भाव बहुत ही कम पाया जाता है। यही वजह है कि समय-समयपर उनके द्वारा तीर्थादिकों पर अनेक अत्याचार भी हुआ करते हैं। वे लोग ज़ाहिरमें अपने अंगोंको चटका-मटका कर बहुत कुछ भक्तिका भाव दिखलाते हैं और यात्रियोंपर उस देव तथा तीर्थके गुणों का ज़रूरतसे अधिक बखान भी किया करते हैं; परन्तु वास्तवमें उनके हृदय देवभक्ति तथा तीर्थभक्तिके भावसे प्रायः शून्य होते हैं। उनका असली देव और तीर्थ टका होता है। वे उसीकी उपासना और प्राप्तिके लिये सब कुछ करते हैं। यदि उनको अवसर मिले तो वे उस देवतीर्थकी सम्पत्तिको भी हड़प जानेमें आनाकानी नहीं करते! ऐसे लोगोंके हृदयके क्षुद्र भावों और दीनताभरी याचनाओंको देखकर चित्तको बहुत ही दुःख होता है और समाजकी धार्मिक रुचिपर दो आँसू बहाये विना नहीं रहा जाता।

यह दशा केवल हिन्दू-तीर्थोंके पण्डे-पुजारियोंकी ही नहीं, बल्कि जैनियोंके बहुतसे तीर्थोंके पण्डे-पुजारियोंकी भी प्रायः ऐसी ही अवस्था देखनेमें आती है। श्रवणबेल्गोल-सम्बन्धी मेरी तीन महीनेकी यात्रामें मुझे इस विषयका बहुत कुछ अनुभव प्राप्त हुआ है। उस समय तारंगा तीर्थका पुजारी अपने फटेपुराने कपड़ोंको दिखलाकर यात्रियोंसे भीख माँगता था! श्रवणबेल्गोलमें, जिसे जैनबद्री भी कहते हैं, छत्तीसघर पुजारियोंके हैं। परन्तु यदि वहाँके मन्दिरोंकी हालतको देखा जाय तो दाँतोंतले अंगुली दबानी पड़ती है। जगह-जगह कूड़ा-कर्कटका ढेर लगा हुआ है। बहुतसे मन्दिरोंके गर्भ-गृहोंमेंसे इतनी दुर्गन्धि आती है कि वहाँ ठहरा नहीं जाता! नगरमें और पर्वतोंपर अधिकांश मन्दिर ऐसे हैं जिनमें नित्य क्या, महीनों और वर्षोंमें भी प्रतिमाओंका प्रक्षालन नहीं होता। आठ दिन ठहरने पर भी, पुजारियोंकी कृपासे नगरके दो तीन मन्दिर दर्शनोंके लिये खुल नहीं सके। इतने पर भी "पूजन कब कराओगे, गोम्मटस्वामीका खास पुजारी मैं हूं, दान या इनाम मुझे ही देना, हम आपकी आशा लगाये हुए हैं," इत्यादि दीन वचन पुजारियोंके मुखसे बराबर सुननेमें आते थे। इससे पण्डे-पुजारियोंकी धर्मनिष्ठाका बहुत कुछ अनुभव हो सकता है। यह धर्मनिष्ठा आजकलके पण्डे-पुजारियोंकी ही नहीं बल्कि आजसे कई शताब्दियों पहलेके पण्डे-पुजारियोंकी भी प्रायः ऐसी ही धर्मनिष्ठा पाई जाती है, जिसका अनुभव पाठकोंको सिर्फ़ इतने परसे ही हो जायगा

कि इन पुजारियोंके पूर्वजोंने श्रवणबेल्गोलके गोम्मटस्वामीकी सम्पत्तिको एक समय महाजनोंके पास गिरवी अर्थात् रहन (mortgage) रख दिया था ! लगभग तीन सौ वर्ष हुए जब शक सम्वत् १५५६ आषाढ़ सुदी १३ शनिवारके दिन मैसूरपट्टनाधीश महाराज चामराज वोडेयर अय्यके सदुद्योगसे ये सब रहन छूटे हैं। श्रवणबेल्गोलमें इस विषयके दो लेख हैं, एक नं० १४० जो ताम्रपत्रों पर लिखा हुआ मठमें मौजूद है और दूसरा नं० ८४ जो एक मण्डपमें शिलापर उत्कीर्ण है। वे दोनों लेख कन्नड भाषामें हैं। पाठकोंके ज्ञानार्थ उनका भावार्थ *नीचे प्रकाशित किया जाता है :—

लेख नं० १४०

श्रीस्वस्ति। शालिवाहन शक १५५६, भाव संवत्सरमें, आषाढ़ सुदी १३ को, शनिवारके दिन, ब्रह्मयोगमें—

श्रीमन्महाराजाधिराज, राजपरमेश्वर, अरिरायमस्तकशूल, शरणागतवज्रपंजर, परनारी-सहोदर, सत्त्यागपराक्रममुद्रामुद्रित, भुवनवल्लभ, सुवर्णकलशस्थापनाचार्य, धर्मचक्रेश्वर, मैसूर-पट्टनाधीश्वर चामराज वोडेयर अय्य—

पुजारियोंने, अपनी अनेक आपत्तियोंके कारण बेल्गोलके गोम्मटनाथ स्वामीकी पूजाके लिये दिये हुए उपहारों (दान की हुई ग्रामादिक सम्पत्ति) को वणिग्गृहस्थोंके पास रहन (बंधक) कर दिया था, और रहनदार लोग (बंधकग्राही—mortgagees) उन्हें हस्तगत किये हुए बहुत कालसे उनका उपभोग करते आ रहे थे—

चामराज वोडेयर अय्यने, इस बातको मालूम करके, उन वणिग्गृहस्थोंको बुलाया जिनके पास रहन थे और जो सम्पत्तिका उपभोग कर रहे थे और कहा कि—"जो कर्ज़ेजात (ऋण) तुमने पुजारियोंको दिये हैं उन्हें हम दे देवेंगे और ऋणमुक्तता कर देवेंगे।"

इस पर उन वणिग्गृहस्थोंने ये शब्द कहे—"हम उन ऋणोंका, जो कि हमने पुजारियोंको दिये हैं, अपने पिताओं और माताओंके कल्याणार्थ, जलधारा डालते हुए दान करेंगे।"

उन सबके इस प्रकार कह चुकने पर,—वणिग्गृहस्थोंके हाथोंसे, गोम्मटनाथ स्वामीके सम्मुख, देव और गुरुका साक्षीपूर्वक, यह कहते हुए कि—"जब तक सूर्य और चन्द्रमा स्थित हैं तुम देवकी पूजा करो और सुख से रहो—" यह धर्मशासन पुजारियोंको, ऋणमुक्तता के तौर पर, दिया गया।

बेल्गोलके पुजारियोंमें आगामी जो कोई उपहारोंको रहन रक्खेगा, या जो कोई उनपर रहन करना स्वीकार करेगा वह धर्मबाह्य किया जायगा और उसका ज़मीन तथा जायदाद-पर कुछ अधिकार नहीं होगा।

*यह भावार्थ मिस्टर बी० लेविस राइस साहब के अंग्रेजी अनुवाद पर से लिखा गया है। कहीं-कहीं चामराज के विशेषणादि सम्बन्ध में मूल से भी सहायता ली गई है।

यदि कोई मनुष्य इस विज्ञप्तिका उल्लंघन करके, रहन रक्खेगा या रहन स्वीकार करेगा, तो वे राजा जो इस राष्ट्रपर राज्य करेंगे इस देवके स्वत्वोंको पूर्वरीत्यनुसार सुरक्षित रक्खेंगे।

जो कोई राजा इस कर्तव्यसे अनभिज्ञ रहकर उपेक्षा धारण करेगा उसे वाराणसीमें एक हज़ार गौओं और ब्राह्मणोंके बध करनेका पाप लगेगा।

इस प्रकार धर्मशासन लिखा गया और दिया गया। मंगलमहाश्री। श्री ॥ श्री ॥

लेख नं० ८४

श्रीशालिवाहन शक वर्ष १५५६, भाव संवत्सरमें, आषाढ़ सुदी १३ को, शनिवारके दिन ब्रह्मयोगमें; श्रीमन्महाराजाधिराज, राजपरमेश्वर, मैसूरपट्टनाधीश्वर, षट्दर्शनधर्मस्थापनाचार्य, चामराज वोडेयर अय्य,—बेल्गोलके मन्दिरकी ज़मीनें बहुत दिनोंसे रहन थीं,—उक्त चामराज वोडेयर अय्यने होसबोललु केम्पप्पके पुत्र चन्नण्ण बेल्गुल पायि सेट्टिके पुत्रों चिक्कण्ण और जिगपायि सेट्टि नामके रहनदारों तथा दूसरे रहनदारोंको बुलाकर, कहा कि "मैं तुम्हारे रहनका रुपया अदा कर दूंगा।"

इस पर चन्नण्ण, चिक्कण्ण, जिगपायि-सेट्टि मुद्दण्ण, अञ्जण्णन पदुमप्पण्णका पुत्र पण्डेण्ण, पदुमरसय्य, दोड्डण्ण, पंचवाणकविका पुत्र बोम्मप्प, बोम्मणकवि, विजयण्ण, गुम्मण्ण, चारुकीर्ति, नागप्प, बेडदय्य, बोम्मि सेट्टि, होसहल्लिय रायण्ण, परियण्ण गौड, वैर सेट्टि, बैरण्ण, वीरय्य, नामके इन सब वणिकों और क्षेत्रपतियोंने, अपने पिताओं और माताओंके कल्याणार्थ गोम्मटस्वामीकी मौजूदगीमें और अपने गुरु चारुकीर्ति पंडितदेवके सम्मुख, जलधारा डालते हुए बंधकग्राहियोंके (?) मंदिरनिरीक्षकोंको रहननामे (mortgage bonds) दे दिये और यह शिलाशासन रहनोंके छूटनेका लिख दिया। (शाप—काशी रामेश्वरमें एक हज़ार गौओं और ब्राह्मणोंके मारनेका पाप)। श्री श्री।

महाबाहुर्बाहुबली

(रचयिता—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण)

आराध्यदेवमभिवन्द्य बुधोत्तमानाम् ।
श्रीदोर्बलीशचरितं कथयामि भक्त्या ।
श्रुत्वा त्रिलोकविनुतं चरितं यदत्र ।
मुञ्चन्ति कर्मरजसो भुवि भव्यजीवाः ॥ १ ॥

अस्त्यत्र भारते वर्षे जम्बूद्वीपस्य भूषणे ।
कोशलाख्यो महादेशः सर्वसद्गुणमण्डितः ॥ २ ॥

आसीत्तत्र पुरे रम्ये नाभिराजो महामनुः ।
नृपसद्गुणसम्पन्नो नीतिशास्त्रविशारदः ॥ ३ ॥

नियुज्य वृषभं राज्ये वृषदं वृषनायकम् ।
स राजा विरतिं प्राप गुरुसाम्राज्यभारतः ॥ ४ ॥

आस्तां तस्य सुनाथस्य वृषभस्य महात्मनः ।
यशःस्वतीसुनन्दाख्ये पत्न्यौ शीलसुशोभने ॥ ५ ॥

सम्बभूवुर्यशस्वत्याः सूनवो भरतादयः ।
पुत्री ब्राह्मी च सञ्जाता रूपलावण्यमण्डिता ॥ ६ ॥

सुनन्दापि प्रलेभे हि वीरं बाहुबलं सुतम् ।
पुत्रीं च सुन्दरीमेवं सुशीलगुणभूषिताम् ॥ ७ ॥

मत्वा सकलसाम्राज्यमेकदा नश्वरं ध्रुवम् ।
स राजा चिन्तयामास सर्वं हेयं विवेकिनाम् ॥ ८ ॥

एवं विचिन्त्य तत्सर्वं त्यक्तराज्यो महीपतिः ।
बभार जिनदीक्षां तां लोकद्वयसुखावहाम् ॥ ९ ॥

दीक्षोन्मुखेन तातेन प्रदत्ता प्रमुखा मही ।
सुजेष्ठाय सुयोग्याय भरताय विवेकिने ॥ १० ॥

एवमन्यान्यपुत्रेभ्यो दत्तं राज्यं सुवेधसा ।
सुयोग्यसम्पदं प्राप्य सर्वेऽपि सुखिनोऽभवन् ॥ ११ ॥

एकदा भरतो राजा चिन्तयामास मानसे ।
जित्वा षट्खण्डपृथ्वीं तां मण्डलेशो भवाम्यहम् ॥ १२ ॥
इत्थं विचिन्त्य सन्नाहं विजयार्थं महीपतिः ।
कृतवान् सर्वयत्नेन मन्त्रिभिश्च नृपैः सह ॥ १३ ॥
विजित्य वसुधां सर्वां यदा प्रत्याययौ पुरीम् ।
तदा तस्य पुरीं चक्रं न प्रविष्टं तदाज्ञया ॥ १४ ॥
दृष्ट्वा भरतराजोऽयमचलं चक्रमद्भुतम् ।
आहूय पृष्टवांस्तस्य कारणं स्वपुरोधसम् ॥ १५ ॥
पुरोहितेन तेनोक्तो भरतः सुविचारिणा ।
स्वारब्धजयसिद्धिस्ते न प्राप्ता नृकुलोत्तम ! ॥ १६ ॥
तदा स भरतेनोक्तस्त्यक्त्वा मम सहोदरान् ।
निर्जिता निखिला भूपा राज्यादिमदगर्विताः ॥१७॥
ततो व्यापत्प्रतीकारः कोऽयास्ति सुपुरोहित ।
स्वानुजेभ्यस्तु तातेन दत्तं राज्यं पुरैव हि ॥ १८ ॥
तच्छ्रुत्वाभिहितस्तेन भरतो भुवि विश्रुतः ।
उपायेन विजेतव्या विजेयास्तव सोदराः ॥ १९ ॥
श्रुत्वा विप्रवचो राजा प्रेषयामास तत्क्षणम् ।
दूतान्नीतिविदो राज्ये सोदराणां सुनीतिभाक् ॥ २० ॥
ज्ञात्वा भरतसन्देशं दूतेभ्यो भ्रातरो बुधाः।
चिन्तां प्रापुरिमे सर्वे यशस्वत्याः सुसूनवः ॥ २१ ॥
अवश्यं खलु नश्यन्ति भुक्त्वापि विषयाश्चिरम् ।
ततस्त्याज्या हि मोक्षाय राज्यादिविषयाः स्वयम् ॥ २२ ॥
इत्थं विचिन्त्य ते सर्वे सुदीक्षां प्रतिपेदिरे ।
सत्यं स्वाचलसौख्याय मोक्षाय स्पृहयेन्न कः ॥ २३ ॥
मत्वा दूतमुखाद् वृत्तमीदृशं भरतोऽग्रणीः ।
अधिकं विह्वलो जातो बन्धुप्रेमा हि तादृशः ॥ २४ ॥

पश्चादखिलनीतिज्ञः सोऽयं भरतभूपतिः ।
प्रेषयामास संचिन्त्य स्वदूतं पौदनं पुरम् ॥ २५ ॥

पौदनेशसभामेत्य स दूतो मर्मवेदकः ।
बोधयामास भूपंतं स्वेष्टसम्पादनेच्छया ॥ २६ ॥

स राजापि तदा मत्वा तन्त्रं भरतभूभुजः ।
प्रेरयामास क्रोधेन कथ्यतामिति भूपतिः ॥ २७ ॥

तवानुजस्तु न्यायेन संग्रामेणैव दास्यति ।
करं दुर्नीतिसम्पाद्यं नान्यथा दातुमर्हति ॥ २८ ॥

पुनरावृत्य दूतोऽयं भरतं भुवनेडितम् ।
प्रार्थयामास तत्सर्वं यदुक्तं पुरुसूनुना ॥ २९ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो राजा स्वानुजे स्वाभिमानिनि ।
क्रुध्यन् चक्रित्वलोभेन घोषयामास संगरम् ॥ ३० ॥

यथोचिते विशालेऽत्र प्रदेशे पूर्वनिश्चिते ।
सोभयी विपुला सेना साज्जिता विजयश्रियै ॥ ३१ ॥

तदोभयविपक्षास्ते मन्त्र्यादिहितकांक्षिणः ।
प्रार्थयामासुरेवं हि सोदरौ समरत्रये ॥ ३२ ॥

भुजबल्येव तं जित्वा मल्लादिसमरत्रये ।
प्रपेदे जयलक्ष्मीं तां देवमानवसम्मुखे ॥ ३३ ॥

तद्दृष्ट्वा भरतो राजा महामोहप्रणोदितः ।
चालयामास चक्रं तत् स्वानुजं हन्तुमिच्छया ॥ ३४ ॥

किन्तु तच्चालितं चक्रं पौदनेशस्य सन्निधौ ।
निर्वीर्यमभवल्लोके दुःखदं किं महात्मनाम् ॥ ३५ ॥

अग्रजस्येदृशं कृत्यं दृष्ट्वा बाहुबली तदा ।
प्रपेदे गुरुनिर्वेगं लोकद्वयसुखप्रदम् ॥ ३६ ॥

तदा तत्र स्थितास्सर्वे प्रार्थयामासुरुन्नतम् ।
सम्प्राप्तजयलक्ष्मीः सा भुज्यतामिति सादरम् ॥ ३७ ॥

नृपस्तावत्समीपस्थान् देशयामास संमुदा ।
भुक्तेयं पृथ्वी मान्याः ! असकृद्बहुजन्मसु ॥ ३८ ॥

तस्मादिदं निजं राज्यं ध्रुवमुच्छिष्टवन्मतम् ।
नातोऽहं प्रतिगृह्णामि दुःखदां राज्यसम्पदम् ॥ ३९ ॥

विनश्वरशरीरेण लभ्यते यदि शाश्वतम् ।
सौख्यं तत्प्राप्तये लोके यत्नं कुर्वीत सर्वदा ॥ ४० ॥

भुक्तपूर्वामिदं सर्वं यन्मया बहुयोनिषु ।
त्यज्यते मोक्षसौख्याय नश्वरं सौख्यमैन्द्रियम् ॥ ४१ ॥

इत्थं विबोध्य तत्रस्थान् प्राज्ञो बाहुबली मुदा ।
अग्रजं प्रार्थयामास क्षमस्वेति पुनःपुनः ॥ ४२ ॥

स्वयञ्च क्षमतामेत्य नैजं राज्यं स्वसूनवे ।
दत्त्वा सत्वरमापेदे दीक्षां तां जिनपोदिताम् ॥ ४३ ॥

सोऽयं बाहुबली स्वामी पुष्यान्मम समीहितम् ।
येन कर्मेन्धनं दग्धं शुक्लध्यानोग्रवह्निना ॥ ४४ ॥

अन्यत्र प्रकाशित ये संस्कृत पद्य जैनेतर संस्कृतज्ञ विद्वानों को श्रीबाहुबलीजी की पौराणिक जीवनी की रूप-रेखा का परिचय कराने के उद्देश से ही यहां पर दिये गये हैं। विद्वद्गण इन्हें आलङ्कारिक दृष्टि से न देखें।

—रचयिता

मास्कर

दक्षिण भारत के जैन वीर

[लेखक—श्रीयुत त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए०]

अहिंसा का सिद्धान्त जैनमत की सबसे बड़ी विशेषता है। वास्तव में इसी सिद्धान्त की नींव पर जैनमत स्थित है। लेकिन इस सिद्धान्त को विदेशी और कतिपय देशी इतिहासकारों ने जो भारत की अधोगति का कारण माना है, वह मिथ्या है। अन्य मतावलम्बियों की बात तो दूर, स्वयं अहिंसाव्रतावलम्बी जैनों ने ही कर्मक्षेत्र में जिस कर्तव्यपरायणता का उदाहरण उपस्थित किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है। जहाँ जैन साधुओं ने अहिंसाव्रत को तपस्या की सीढ़ी तक पहुंचा दिया है, वहाँ कर्म-क्षेत्र में निरत रहनेवाले जैनों ने उसे कर्मयोग की दृष्टि से देखा और समझा है। देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के समय उन्होंने अहिंसा को कभी अपने मार्ग की बाधा नहीं होने दिया है। जिन जैन वीरों के हाथ में प्रजापालन और देश-रक्षा का भार आया था, उन्होंने अहिंसा में कर्म को देखा और कर्म में अहिंसा को। कर्म के दर्शन में उन्होंने अहिंसा-दर्शन को घुला-मिला दिया और अहिंसा की आड़ में भीरुता को छिपानेवालों के आगे मार्ग-प्रदर्शक का काम किया। आज हम दक्षिण भारत के कुछ ऐसे ही जैन वीरों का इतिहास उपस्थित करते हैं।

चामुण्डराय

जैन-इतिहास में चामुण्डराय का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। वे केवल वीर ही नहीं बड़े भारी कवि भी थे। 'चामुण्डराय-पुराण' (जिसका समय ९७८ ई० माना जाता है) उन्हीं-की कृति है। ये कर्णाटक के रहनेवाले थे। ये गंगवंश के राजा मारसिंह और उनके पुत्र और उत्तराधिकारी राचमल्ल के दरबार में थे। चामुण्डराय ने अपनेको 'ब्रह्मक्षत्र' जाति का बतलाया है; इसीलिये उनकी एक उपाधि 'ब्रह्मक्षत्र-शिखामणि' भी है।

पता चलता है कि उनके गुरु प्रसिद्ध अजितसेन थे। लेकिन नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती का भी उनपर काफी प्रभाव पड़ा था। नेमिचन्द्र ने अपनी रचना 'गोम्मटसार' में चामुण्डराय की बड़ी प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त कन्नड कवि चिदानन्द ने भी अपनी रचना 'मुनिवंशाभ्युदय' में नेमिचन्द्र को चामुण्डराय का गुरु बतलाया है।

जिस युग में चामुण्डराय हुए थे, वह गंगवंश के राजाओं के लिए बड़ी मुसीबत का था। वे चारो ओर से दुश्मनों से घिरे हुए थे। अपना अस्तित्व कायम रखने के लिये और अपनी उन्नति के लिए उन्हें निरन्तर युद्ध करना पड़ा, और इसमें सन्देह नहीं कि इन युद्धों के संचालक चामुण्डराय ही थे।

चामुण्डराय के समय में गङ्गराज मारसिंह पर 'नोलंबों' ने चढ़ाई की; लेकिन 'गोनूर' के मैदान में चामुण्डराय ने उनकी सेना को छिन्नभिन्न कर दिया। 'चामुण्डराय-पुराण' से पता चलता है कि इस वीरता के लिए चामुण्डराय 'वीरमार्त्तण्ड' की उपाधि से विभूषित किये गये। ब्रह्मदेव के स्तम्भलेख से मालूम होता है कि इस विजय के अवसर पर स्वयं मारसिंह ने 'नोलंब-कुलान्तक' की उपाधि धारण की थी।

दूसरा संकट पश्चिमी चालुक्यों की ओर से था। मारसिंह के ही समय में पश्चिमी चालुक्यों ने उपद्रव मचाना आरम्भ किया था। मारसिंह के पुत्र राचमल्ल के समय में चामुण्डराय ने राजादित्य को परास्त कर यह विपत्ति दूर की। कहा जाता है कि 'उच्चंगि' के दुर्जय किले में राजादित्य ने आश्रय लिया था। इस दुर्ग को जीतना एक प्रकार से असम्भव ही माना जाता था। कुछ समय पहले 'काडुवेदी' ने इस किले का घेरा डाला था, पर बहुत दिनों तक घेरा डालने पर भी वह इसे वश में नहीं ला सका था। लेकिन चामुण्डराय के आगे इस दुर्ग की दुर्जयता न रह सकी। ब्रह्मदेव-स्तम्भ के लेख से (जो ९७४ ई० का है, और जो श्रवणबेल्गोल में पाया गया था) पता चलता है कि चामुण्डराय ने इस किले को विध्वस्त कर संसार को आश्चर्य्य में डाल दिया। स्वयं चामुण्डराय की कृति, 'चामुण्डराय-पुराण' से भी इस बात की पुष्टि होती है। वह लिखते हैं कि 'उच्चंगि' के किले को वीरता-पूर्वक हस्तगत करने के कारण उन्हें 'रणरंगसिंग' की उपाधि मिली थी। त्यागद ब्रह्मदेव-स्तम्भ के लेख से मालूम होता है कि 'रणसिंग' राजादित्य की उपाधि थी। इस प्रकार चामुण्डराय ने शत्रु को परास्त कर उसकी उपाधि धारण की थी। स्वयं राचमल्ल ने इस विजयोपलक्ष में 'जगदेकवीर' की उपाधि ग्रहण की थी।

तीसरी घटना, जिसकी वजह से चामुण्डराय ने 'समर-धुरंधर' की उपाधि पाई, 'खेडग' का युद्ध है। इस युद्ध में उन्होंने वजवलदेव (वज्रल) को परास्त किया था। इसका वृत्तांत 'चामुण्डराय-पुराण' में मिलता है। त्यागद ब्रह्मदेव-स्तम्भ-लेख में भी इसका उल्लेख है।

उक्त पुराण के अनुसार चामुण्डराय ने 'बागयूर' दुर्ग के 'त्रिभुवनवीर' नामक एक सरदार को मारकर 'वैरिकुलकालदण्ड' की उपाधि पाई। इसके बाद राज, बास, सिवर, कुणांक आदि सरदारों को 'काम' नामक राजा के दुर्ग में मारकर 'भुजविक्रम' की उपाधि प्राप्त की। मदुराचय ने, जो 'चलदंक गंग' और 'गंगरभट्ट' के नाम से भी प्रसिद्ध है, चामुण्डराय के छोटे भाई, नागवर्मा को मार डाला था। चामुण्डराय ने उसे मारकर भाई की मृत्यु का बदला चुकाया। त्यागद ब्रह्मदेव-स्तम्भ-लेख से मालूम होता है कि चलदंक-गंग ने गङ्ग-राज-सिंहासन पर अधिकार जमाना चाहा था। चामुण्डराय ने उसके प्रयास को निष्फल करके उसका नाश किया और इस तरह अपना बदला भी चुका लिया। इस सफलता पर उन्हें

'समर-परशुराम' की उपाधि मिली। उक्त पुराण ही से यह भी पता चलता है कि अन्य कई-वीरों पर विजय पाने के कारण उन्हें 'प्रतिपक्षराक्षस' की उपाधि मिली थी। इन उपाधियों के अतिरिक्त वे 'भटमारि' और 'सुभटचूड़ामणि' की उपाधियों से भी भूषित किये गये थे।

चामुण्डराय केवल वीर और युद्धपरायण ही नहीं थे, उनमें वे सभी गुण थे, जो विशिष्ट और धर्मानुरागी व्यक्तियों में पाये जाते हैं। अपने सद्गुणों के कारण ही उन्हें 'सत्ययुधिष्ठिर', 'गुणरत्नभूषण' और 'कविजनशेखर' की उपाधियाँ मिली थीं। 'राय' भी एक उपाधि ही थी, जो राजा ने उनकी उपकारप्रियता और उदारता से प्रसन्न होकर उन्हें दी थी।

चामुण्डराय ने जैनधर्म के लिए क्या किया, यह बताने के लिये ११५९ ई० के एक लेख का उद्धरण देना उचित होगा। उक्त लेख में लिखा है—"यदि यह पूछा जाय कि शुरू में जैनमत की उन्नति में सहायता पहुंचानेवालों में कौन-कौन लोग हैं? तो इसका उत्तर होगा—केवल चामुण्डराय।" उनके धर्मोन्नति-संबंधी कार्यों का विशद वर्णन न कर हम सिर्फ इतना ही उल्लेख करेंगे कि श्रवणबेल्गोल में 'गोम्मटेश्वर' की विशाल मूर्त्ति चामुण्डराय की ही कीर्त्ति है। यह मूर्त्ति ५७ फीट ऊँची है और एक ही प्रस्तर-खण्ड की बनी है। 'गोम्मटेश्वर' की मूर्त्ति के समीप ही 'द्वारपालकों' की बाईं ओर प्राप्त एक लेख से, जो ११८० ई० का है, निम्नलिखित बातें इस मूर्त्ति के निर्माण के संबंध में मालूम होती हैं—

महात्मा बाहुबली पुरु के पुत्र थे। उनके बड़े भाई द्वन्द्व-युद्ध में उनसे हार गए, लेकिन महात्मा बाहुबली पृथ्वी का राज्य उन्हें ही सौंपकर तपस्या करने चले गए और उन्होंने 'कर्म' पर विजय प्राप्त की। पुरुदेव के पुत्र राजा भरत ने पौदनपुर में महात्मा बाहुबली केवली की ५२५ धनुष ऊँची एक मूर्त्ति बनवाई। कुछ कालोपरान्त, उस स्थान में, जहाँ बाहुबली की मूर्त्ति थी, असंख्य कुक्कुटसर्प (एक प्रकार के पक्षी, जिनका सिर तो सर्प के सिर के समान होता था और शरीर का बाकी भाग कुक्कुट के समान) उत्पन्न हुए। इसीलिए उस मूर्त्ति का नाम कुक्कुटेश्वर भी पड़ा। कुछ समय बाद यह स्थान साधारण मनुष्यों के लिए अगम्य हो गया। उस मूर्त्ति में अलौकिक शक्ति थी। उसके तेजःपूर्ण नखों को जो मनुष्य देख लेता था, वह अपने पूर्वजन्म की बातें जान जाता था। जब चामुण्डराय ने लोगों से इस जिन-मूर्त्ति के बारे में सुना, तो उन्हें उसके देखने की उत्कट अभिलाषा हुई। जब वे वहाँ जाने को तैयार हुए, तो उनके गुरुओं ने उनसे कहा कि वह स्थान बहुत दूर और अगम्य है। इसपर चामुण्डराय ने इस वर्तमान मूर्त्ति का निर्माण कराया।

चामुण्डराय का ही दूसरा नाम 'गोमट' था, इसलिए इस नवनिर्मित मूर्त्ति का नाम 'गोम्मटेश्वर' पड़ा।*

* इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। —के० भुजबली शास्त्री

शान्तिनाथ

शान्तिनाथ के विषय में १०६८ ई० के एक लेख से पता चलता है कि इनके पिता का नाम गोविन्दराज था। इनके गुरु का नाम वर्द्धमान व्रती था, जो मूलसंघ के और देशीय-गण के थे। शान्तिनाथ पश्चिमी चालुक्य राजा सोमेश्वर द्वितीय के समय में बनवसेनाड प्रान्त के शासक रायदंड गोपाल लक्ष्म के मंत्री और सेनापति थे। १०६८ के उक्त लेख में उन्हें 'बनवसेनाड' राज्य का कोषाध्यक्ष और उसका उन्नायक कहा गया है। इसी लेख में उन्हें 'श्रेष्ठ जैनमत-रूपी कमल के लिए राजहंस' कहा गया है।

शान्तिनाथ केवल सेनानायक ही नहीं, निपुण कवि भी थे। उक्त लेख में उन्हें जन्मजात और निपुण कवि कहा गया है। उन्हें 'सरस्वती-मुख-मुखर' की उपाधि मिली थी।

जैनमत के लिए शान्तिनाथ ने जो कुछ किया है, वह चिरस्थायी है। कहा जाता है कि उनकी ही प्रेरणा से लक्ष्म ने पत्थर का एक जिनमन्दिर निर्मित कराया और उसने तथा उसके राजा सोमेश्वर द्वितीय ने भी उस मन्दिर को भारी जागीरें दीं। उस म ,र का नाम 'मल्लिकामोद शान्तिनाथ-बसदि' है।

गंगराज

होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन बिट्टिगदेव के यहाँ गंगराज, बोप्प, पुणिष, बलदेव, मरियण्ण, भरत, एच और विष्णु—ये आठ जैन योद्धा थे। विष्णुवर्द्धन १२वीं शताब्दी में हुआ था, अतः इन वीरों का समय निश्चित है।

गंगराज कौण्डिन्य गोत्र के द्विज थे। उनके पिता का नाम एच, एचियांग या बुद्धमित्र था और माता का पूचिकब्बे। उनके पितामह का नाम मार और पितामही का माकण्ब्बे था। इन बातों का पता १११८ और १११९ के शिलालेखों से लगता है। गंगराज माता-पिता की सब से छोटी संतान थे। उनकी स्त्री का नाम नागला देवी या लक्ष्मी और लड़के का नाम बोप्प या एच था।

श्रवणबेल्गोल के एक लेख से पता चलता है कि गंगराज के मातापिता कट्टर जैन थे। ११२० ई० के एक शिलालेख से पता चलता है कि गंगराज की माता ने इसी साल (११२० ई० में) सल्लेखना की विधि से प्राण-त्याग किया। चामुण्डराय-बसदि के एक शिला-लेख में गंगराज की प्रशंसा की गई है और उनकी उपाधियों का वर्णन किया गया है। इन्हीं शिलालेखों से यह भी पता चलता है कि गंगराज ने अपने अतुल पराक्रम से होय्सल-राज्य का काफी विस्तार किया था।

विष्णुवर्द्धन के समय में होय्सल-राज्य की उन्नति और रक्षा के लिए सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण काम था तलकाड से चोलों को मार भगाना। विष्णुवर्द्धन ने यह काम

गंगराज को सौंपा। यह काम अत्यन्त दुःशक्य था, क्योंकि तलकाड से चोलों को मार भगाने के लिए वहाँ के सामन्त को जीतने के अतिरिक्त तलकाड के पूर्वीय भाग में स्थित सामन्त दाम या दामोदर और पश्चिमी घाट के सामन्त नरसिंहवर्मा को परास्त करना आवश्यक था। इस समय चोलों के राजा राजेन्द्रदेव द्वितीय थे। गंगराज ने बड़ी वीरता और कुशलता से तलकाड से चोलशक्ति का समूल नाश कर दिया। ११३५ ई० के एक शिलालेख से इस बात की पुष्टि होती है। अंगडि के शिलालेख से यह भी मालूम होता है कि यह विजय १११७ में प्राप्त हुई थी। इसके बाद गंगराज ने पूर्वी तलकाड के सामंत दामोदर को युद्ध में परास्त किया। दामोदर प्राण-रक्षणार्थ जंगलों में भाग गया। श्रवणबेल्गोल में प्राप्त ११७५ के एक शिलालेख से यह बात विदित होती है।

अब सिर्फ एक सामंत—पश्चिमी घाट का शासक नरसिंह वर्मा—रह गया। श्रवणबेल्गोल के उक्त शिलालेख और अरेगल्लु बस्ती के शिलालेख से पता चलता है कि नरसिंहवर्मा और चोल राजा के दूसरे सामंत हारकर घाट की पहाड़ियों पर भाग गए और इस तरह समूचा 'नाडु' होयसल राजा के अधीन हो गया। पीछे नरसिंह वर्मा मारा गया।

जब गंगराज ने इस प्रकार होयसल राज्य का विस्तार किया, तो विष्णुवर्द्धन ने कृतज्ञता-प्रकाशन के निमित्त उनसे पुरस्कार माँगने को कहा। गंगराज ने केवल 'गंगवाडि' मांग लिया। जान पड़ता है कि 'गंगवाडि' में गोम्मटदेव तथा अन्य अनेक जिन-मन्दिर थे, जिनकी व्यवस्था ठीक नहीं हो रही थी। यह भी अनुमान होता है कि वहाँ जैनमत का काफी प्रचार हो गया था। अतः गङ्गराज का उद्देश्य वहाँ के मन्दिरों का जीर्णोद्धार करके जैनमत की उन्नति करना था। यही कारण था कि अन्य दुर्लभ वस्तुओं और धन-धान्य की इच्छा न करके उन्होंने केवल गङ्गवाडि ही माँगा, जिसे राजा ने सहर्ष उन्हें समर्पित किया। धर्म के प्रति इस अनुराग से गङ्गराज को बहुत यश प्राप्त हुआ। जैन साधुओं ने मुक्तकंठ से उनकी प्रशंसा की। वर्द्धमानाचारी ने १११८ के अपने शिलालेख में उन्हें चामुण्डराय से सौगुना सौभाग्यशाली बताया।

गङ्गराज का पुत्र बोप्प भी अपने पिता के ही मार्ग का अनुगामी था। वह भी वीर सेनानायक और कट्टर जैन था। अपने पिता की मृत्यु के बाद उसने 'दोरसमुद्र' में एक जिनालय बनवाया। कहा जाता है कि ११३४ ई० में बोप्प ने कई शक्तिशाली शत्रुओं को परास्त किया और अपने बाहुबल से 'कोंग' लोगों को अधीन किया।

पुणिष

पुणिष या पुणिषमय्य के पूर्वज राजमंत्री थे। उनके पिता का नाम पुणिषराज दंडाधीश था और उनकी उपाधि 'सकलशासनवाचकचक्रवर्ती' थी। पुणिषमय्य राजा विष्णुवर्द्धन के

'संधिविग्रहिक' मन्त्री थे। चामराज नगर में पार्श्वनाथ-बस्ती के पास पाये गये शिलालेख से यह बात विदित होती है। बेलूर में केशवमंदिर में पाये गए लेख से भी इस बात की पुष्टि होती है।

इतिहासकारों का मत है कि पुणिष ने यद्यपि अपने पराक्रम से गङ्गराज की तरह कर्णाटक में एक नया युग नहीं उपस्थित किया, तो भी उनकी विजयों ने होय्सल राजाओं के लिए दक्षिण का द्वार खोल दिया, और उनकी विजयों के फलस्वरूप ही विष्णुवर्द्धन अपना साम्राज्य बढ़ाने में समर्थ हो सके। जिस समय गङ्गराज तलकाड में चोलों की शक्ति मर्दित कर रहे थे, उस समय पुणिष ने कोंगाल्व, कोडग, टोड और केरल-राजाओं को जीत-कर विष्णुवर्द्धन की विजय-वाहिनी के लिए नीलगिरि के दक्षिण का मार्ग खोल दिया। १११७ ई० के चामराज नगर बस्ती-लेख से उक्त कथन की पुष्टि होती है। गङ्गराज की ही तरह पुणिष भी उदारचेता और धर्मानुरागी थे। उन्होंने भी कई जिन-मन्दिरों का निर्माण कराया था। इस बात का भी प्रमाण मौजूद है कि स्वधर्मानुरागी होने पर भी पुणिष के हृदय में अन्य धर्मों के प्रति उदारता का भाव था।

बलदेव

बलदेव या बलदेवण्ण राजा आदित्य या अरसादित्य के तीसरे लड़के थे। उनकी माता का नाम 'आचाम्बिके' था। ११२० ई० में वे वर्तमान थे। ये भी राजा विष्णुवर्द्धन के आठ मंत्रियों में से थे। ये तीन भाई थे, और तीनों कर्णाटक का मुख उज्ज्वल करनेवाले थे। इनके सैनिक जीवन के संबंध में कोई विशेष बात मालूम नहीं।

विष्णुबिट्टिमय्य

विष्णुबिट्टिमय्य भी होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन के ही समय में हुए थे। इन्हें इम्मडि दण्डनायक बिट्टिमय्य के नाम से भी पुकारा गया है। ये बड़े प्रतिभाशाली थे और बहुत थोड़ी ही उम्र में इन्होंने अपनी बुद्धि और वीरता प्रदर्शित की थी। बेलूर के सौम्यनाथ के मन्दिर के ११३६ के एक लेख से इनका वृत्तान्त विदित होता है। इनके पूर्वज बराबर से राजमन्त्री का पद सुशोभित करते आये थे। इनके पितामह का नाम उदयादित्य और पिता का नाम चेन्नराज दंडाधीश था। विष्णु चेन्नराज के द्वितीय और छोटे पुत्र थे। राजा विष्णुवर्द्धन ने बड़े समारोह से इनका उपनयन-संस्कार कराया था। ७ या ८ साल की उम्र में ही ये शस्त्रविद्या में निपुण हो गए थे। इसी उम्र में विष्णुवर्द्धन की प्रेरणा से उनके एक मन्त्री की कन्या से बिट्टिमय्य का विवाह हुआ। इस अवसर पर राजा ने स्वयं सुवर्ण-कलश उठाकर उनका अभिषेक किया था। दस या ग्यारह वर्ष की आयु में विष्णुबिट्टिमय्य

की प्रतिभा इतनी प्रखर हो चुकी थी कि राजा ने उन्हें 'महाप्रचंड दंडनायक' की उपाधि से विभूषित किया।

शीघ्र ही बिट्टिमय्य के शौर्य्य की परीक्षा का अवसर आया। कोंगु ने राजा विष्णुवर्द्धन को कर देना बन्द कर दिया था। राजा ने उसे दंड देने का भार बिट्टिमय्य पर ही सौंपा। एक सप्ताह के भीतर ही उन्होंने कोंगु पर चढ़ाई कर दी। इस समय चोल, चेर पाण्ड्य और पल्लव राजाओं ने मिलकर विष्णुबिट्टिमय्य के विरुद्ध सम्मिलित संगठन किया। समुद्र के किनारे इन राजाओं की सेना इकट्ठी हुई। किन्तु बिट्टिमय्य ने एक पक्ष के भीतर ही इस सम्मिलित विशाल सेना का ध्वंस कर दिया। उन्हें इस युद्ध में शत्रुओं के बहुत से हाथी हाथ लगे। रायराजपुर जला दिया गया। इस तरह कोंगु परास्त हुआ। बिट्टिमय्य ने अपनी विजय के स्मारक-स्वरूप दक्षिण में एक कीर्त्तिस्तम्भ भी बनवाया।

विष्णुबिट्टिमय्य परमधार्मिक जैन थे। उन्होंने दोरसमुद्र में एक जिनालय बनवाया था, जिसका नाम उन्होंने अपने राजा के नाम पर विष्णुवर्द्धन-जिनोलय रक्खा। उनके गुरु का नाम श्रीपाल त्रैविद्यदेव था। उन्होंने जिन-मन्दिर की व्यवस्था और ऋषियों के भोजनादि के प्रबंध के लिये कई गाँव अपने गुरु को समर्पित किये थे। इन्हीं गाँवों में 'बीजबोल्लल' नामक गाँव भी था, जो उन्हें राजा की ओर से पुरस्कार में मिला था।

देवराज

विष्णुवर्द्धन के बाद उसका पुत्र नरसिंह प्रथम (११४८—११७३ ई०) सिंहासनारूढ़ हुआ। इसके समय में चार जैन वीर हुए। ये थे—देवराय (देवराज), हुल्ल, शान्तियण्ण और ईश्वर।

देवराज कौशिक गोत्र के थे। इनके गुरु का नाम मुनिचन्द्र भट्टारक था। इतिहास में देवराज को चामुण्डराय और गङ्गराज के तुल्य स्थान दिया गया है। राजा नरसिंह ने इन्हें 'सूरनहल्लि' नामक गाँव पुरस्कार में दिया था। देवराज ने इस गाँव में एक चैत्यालय बनवाया और अपने गुरु के नाम पर उसका उत्सर्ग कर दिया। राजा ने उस गाँव का नाम बदल कर 'पर्वपुर' रक्खा।

देवराज के सैनिक जीवन के संबंध में हमें विशेष रूप से कुछ मालूम नहीं।

हुल्ल

श्रवणबेल्गोल के लेखों से, जो ११५९ से ११६३ ई० के बीच के भिन्न-भिन्न समय के हैं, पता चलता है कि हुल्ल के पिता का नाम यक्षराज या जक्कराज, माता का नाम लोकाम्बिके और स्त्री का नाम पद्मावती था। इन लेखों से मालूम होता है कि उनके दो भाई थे—

लक्ष्मण और अमर। उनका कुल 'वाजिकुल' कहलाता था। किन्तु मदेश्वर मन्दिर के शिलालेख से, जिसका समय ११६४ ई० है, पता चलता है कि उनके वंश का नाम 'वाजिकुल' था, पर उनके पिता का नाम मधुसूदन और माता का मुद्दियक्के था। उसी लेख के अनुसार उनके भाइयों का नाम कान्तिमय्य और हरियण्ण था। यह संभव है कि उनके माता-पिता और भाइयों के दो-दो नाम रहे हों और इस शिलालेख में केवल प्रसिद्ध नामों का ही उल्लेख हो। लेकिन पूर्व-कथित शिलालेख के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। जो कुछ हो, इस संबंध में कुछ निश्चय करना अत्यन्त कठिन है, जबतक कि इस संबंध में अन्य प्रमाण उपलब्ध न हों।

हुल्ल ने विष्णुवर्द्धन, नरसिंह प्रथम और उसके उत्तराधिकारी बल्लाल द्वितीय—तीनों के समय में राजमन्त्रित्व का कार्य किया था।

हुल्ल ने श्रवणबेल्गोल में प्रसिद्ध 'चतुर्विंशति जिनालय' का निर्माण कराया था। चौबीस तीर्थङ्करों का मन्दिर होने के कारण उसका उक्त नाम पड़ा था। यह जिनालय ११५९ ई० में बनकर तैयार हुआ था। यह गोम्मटपुर का आभूषण माना जाता है। राजा नरसिंह द्वितीय अपनी विजय-यात्रा के अवसर पर स्वयं यहाँ आये थे और उन्होंने इस जिनालय की व्यवस्था के लिये कई गाँवों का दान दिया था। राजा ने इसका नाम 'भव्यचूड़ामणि' रक्खा। ११७५ ई० में हुल्ल को राजा बल्लाल द्वितीय ने सवनेरु तथा अन्य दो गाँव पुरस्कार में में दिये, और हुल्ल ने ये गाँव भी इसी जिनालय को उत्सर्ग कर दिये। श्रवणबेल्गोल के अतिरिक्त अन्य कई स्थानों में भी उन्होंने धर्मानुराग और उदारता प्रदर्शित की।

शान्तियण्ण

शांतियण्ण के पिता का नाम पारिपण्ण या पार्श्वदेव और माता का बम्मल देवी था। शान्तियण्ण के पिता स्वयं एक पराक्रमी योद्धा थे। वे होय्सल राजा के कोपाध्यक्ष थे। उन्होंने आहवमल्ल को परास्त किया था, किन्तु स्वयं उस लड़ाई में मारे गए थे। राजा नरसिंह ने शांतियण्ण को, उनके पिता की मृत्यु के बाद, 'कारिगुंड' नामक ग्राम दिया था। इसके बाद ही शांतियण्ण दंडनायक के पद से विभूषित किये गए। इन्होंने भी कई जिनालयों का निर्माण कराया।

ईश्वर चमूपति

ईश्वर चमूपति के पिता का नाम एरेयंगमय्य था, जो 'सर्वाधिकारी' और 'सेनापति-दंडनायक' के पद से विभूषित थे। कहा जाता है कि ईश्वर ने ही मन्दारगिरि पर स्थित जिनालय का जीर्णोद्धार कराया था। उसी बसदि के ११६० ई० के एक लेख से उनके संबंध की बातें मालूम होती हैं। उनके सैनिक पराक्रम के संबंध में हमें कुछ मालूम नहीं।

अन्य जैन वीर

कर्णाटक में अन्य अनेक जैन वीर हो गए हैं, जिनके संबंध में हमें अधिक बातें मालूम नहीं। इन वीरों में रेचिमय्य का नाम प्रसिद्ध है। इन्हें 'वसुधैकबान्धव' की उपाधि मिली थी। पहले ये कलचुरीय राजा के यहाँ थे, पीछे होय्सल राजा के यहाँ चले आए। ये होय्सल राजा बल्लाल द्वितीय थे। जैनमत की उन्नति के लिए इन्होंने जो कुछ किया, उसकी प्रशंसा कई लेखों में मिलती है।

बल्लाल द्वितीय के ही यहाँ 'बूचिराज' नाम के एक दूसरे जैन सेनापति थे। ये कन्नड और संस्कृत—दोनों भाषाओं के विद्वान् थे और दोनों में कविता करते थे। उन्होंने सिगेनाड में एक त्रिकूट जिनालय बनवाया था।

बल्लाल द्वितीय के राज्य-काल के अंतिम भाग में एक और प्रसिद्ध जैन सेनापति का आगमन होता है। इनका नाम अमृत था। कहा जाता है कि ये शूद्र-परिवार के थे। इनके पिता का नाम हरियम सेट्टि और माता का नाम सुग्गव्वे था। ये दंडनायक के पद पर थे। इन्होंने १२०३ में यक्कोटि जिनालय का निर्माण कर अपने धर्मानुराग का परिचय दिया। अन्य धर्मों के प्रति भी इन्होंने अपनी उदारता का परिचय दिया था।

अन्तिम होय्सल राजा वीर बल्लाल तृतीय के समय में कैतेय दंडनायक का पता मिलता है। ये एक प्रमुख जैन सेनापति थे। ये १३३२ ई० में वर्तमान थे, और 'सर्वाधिकारी' के पद पर थे, ऐसा लेखों से विदित होता है।

नोट—इस निबंध के तैयार करने में बी० ए० सालेतोरे-लिखित 'मेडिएवल जैनिज्म' नामक पुस्तक से सहायता ली गई है, अतः लेखक उक्त ग्रन्थकार का आभारी है।

धर्मशर्माभ्युदय की दो प्राचीन प्रतियाँ

[लेखक—श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी]

महाकवि हरिचन्द्र के सुप्रसिद्ध महाकाव्य की रचना का समय अभी तक अनिर्णीत है। न तो उन्होंने स्वयं अपना समय बतलाया है और न उनके बाद के किसी ग्रन्थकर्ता ने ही उनका उल्लेख किया है जिससे कुछ अनुमान हो सके। उन्होंने अपने गुरु और उनके संघ गण-गच्छादि का भी कोई जिक्र नहीं किया। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने उच्च कोटि के कवि की चर्चा तक कोई नहीं करता है जिसकी जोड़ का शायद एक भी कवि जैन कवियों में नहीं है और जिसके विषय में काव्यमाला-सम्पादक महामहोपाध्याय पं० दुर्गा प्रसाद जी ने लिखा है कि धर्माशर्माभ्युदय के कर्त्ता अपनी कवित्व-प्रौढ़ता के कारण माघादि प्राचीन महा-कवियों की कक्षा के हैं।

मुद्रित धर्मशर्माभ्युदय के अन्त में कवि ने अपना परिचय सिर्फ इतना ही दिया है कि वे कायस्थकुल के अलंकारभूत श्रीआर्द्रदेव के पुत्र थे। उनकी माता का नाम रथ्या और भाई का लक्ष्मण था। अपने वंशादि के विषय में उन्होंने जो विशेषण दिये हैं, उनसे मालूम होता है कि वे किसी बहुत बड़े प्रतिष्ठित राजमान्य कुल के रत्न थे। बस मुद्रित प्रशस्ति से इतना ही परिचय मिलता है। संभव है मुद्रित प्रशस्ति अधूरी हो और दूसरी हस्तलिखित प्रतियों में वह पूरी मिल जाय, जिससे समयादि का निर्णय हो जाय।

पाटण (गुजरात) के संघवी पाड़ा के पुस्तक-भाण्डार में धर्मशर्माभ्युदय की जो हस्तलिखित प्रति है वह वि० संवत् १२८७ की लिखी हुई है और इसलिए उससे यह निश्चय हो जाता है कि महा कवि हरिचन्द्र उक्त संवत् से बाद के नहीं हैं, पूर्व के ही हैं। कितने पूर्व के हैं, यह दूसरे प्रमाण मिलने पर निश्चय किया जा सकेगा। इस ग्रन्थ-प्रतिका नं० ३६ है और इसकी पुष्पिका में लिखा है—"संवत् १२८७ वर्षे हरिचंद्रकविविरचितधर्मशर्माभ्युदयकाव्यपुस्तिका श्रीरत्नाकरसूरि (रे) आदेशेन कीर्तिचंद्रगणिना लिखितमिति भद्रम् ॥"

इस प्रति में १२॥×११ साइज के १९५ पत्र हैं।

उक्त संघवी पाड़े के ही भाण्डार में इस ग्रन्थ की १७६ नम्बर की एक प्रति और भी है जिसमें २०×२½ साइज के १४८ पत्र हैं। इस प्रति में लिखने का समय तो नहीं दिया है; परन्तु प्रति लिखा कर वितरण करनेवाले की एक विस्तृत प्रशस्ति दी है, जो यहाँ दे दी जाती है।

अथास्ति गुर्जरो देशो विख्यातो भुवनत्रये।
धर्मचक्रभृतां तीर्थैर्धनाढ्यैर्मानवैरपि ॥१॥

विद्यापुरं पुरं तत्र विद्याविभवसंभवं।
पद्मः शर्करया ख्यातः कुले हुंबड़संज्ञके ॥२॥
तस्मिन्वंशे दादनामा प्रसिद्धो भ्राता जातो निर्मलाख्यस्तदीयः।
सर्वज्ञेभ्यो यो ददौ सुप्रतिष्ठां तं दातारं को भवेत्स्तोतुमीशः ॥३॥
दादस्य पत्नी भुवि मोषलाख्या शीलांबुराशेः शुचिचंद्ररेखा।
तन्नन्दनश्चाहणिदेविभर्त्ता देपालनामा महिमैकधाम ॥४॥
ताभ्यां प्रसूतो नयनाभिरामो रुंडाकनामा तनयो विनीतः।
श्रीजैनधर्मेण पवित्रदेहो दानेन लक्ष्मीं सफलां करोति ॥५॥
हानू-जासलसंज्ञकेऽस्य शुभगे भार्ये भवेतां द्वये,
मिथ्यात्वद्रुमदाहपावकशिखे सद्धर्ममार्गे रते।
सागारव्रतरक्षणैकनिपुणे रत्नत्रयोद्भासिके,
रुद्रस्येव नभोनदीगिरिसुते लावण्यलीलायुते ॥६॥
श्रीकुंदकुंदस्य बभूव वंशे श्रीरामचंद्रः(द्रः) प्रथितप्रभावः।
शिष्यस्तदीयः शुभकीर्तिनामा तपोंगनावक्षसि हारभूतः ॥७॥
प्रद्योतते संप्रति तस्य पट्टे विद्याप्रभावेण विशालकीर्तिः।
शिष्यैरनेकैरुपसेव्यमान एकांतवादादिविनाशवज्रम् ॥८॥
जयति विजयसिंहः श्रीविशालस्य शिष्यो
जिनगुणमणिमाला यस्य कंठे सदैव।
अमितमहिमराशेर्धर्मनाथस्य काव्यं
निजसुकृतनिमित्तं तेन तस्मै वितीर्णम् ॥९॥

अर्थात्—धर्मचक्रियों (तीर्थङ्करों) के तीर्थों और धनी मनुष्यों के कारण जो तीन भुवन में विख्यात है, उस गुर्जर (गुजरात) देश में विद्या और वैभव से सम्पन्न विद्यापुर (बीजापुर ?) नाम का नगर है। वहाँ हूमड़ कुल में एक पद्म नामक गृहस्थ विख्यात हुए जिनका पत्नी का नाम शर्करा था। उसी वंश में दाद हुए जिनके भाई का नाम निर्मल था। जिसने सर्वज्ञों का भी प्रतिष्ठा दी अर्थात् जैनमंदिरों की प्रतिष्ठा कराई, उस दाता की भला कौन नहीं प्रशंसा कर सकता है ? दाद की पत्नी का नाम मोषला था जो शीलवती और चन्द्ररेखा के समान पवित्र थी। उसके पुत्र का नाम महिमाधाम देपाल (देवपाल) था जिसकी चाहणी देवी नामक भार्या से सुन्दर विनयशील रुंडाक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो दान कर करके अपनी लक्ष्मी को सफल करता है। उसकी हानू और जासल नाम की दो भार्यायें महादेव की गंगा और पार्वती के सदृश थीं, जो सद्धर्ममार्ग में रत, सागारव्रतों की रक्षा करनेवालीं और रत्नत्रय को प्रकाशित करनेवाली थीं।

श्रीकुन्दकुन्द के वंश में प्रभावशाली रामचन्द्र के शिष्य शुभकीर्त्ति हुए जो बड़े तपस्वी थे। इस समय उनके पद को अपनी विद्या के प्रभाव से विशालकीर्ति शोभित कर रहे हैं, जिनके अनेक शिष्य हैं और जो एकान्तवादियों को पराजित करनेवाले हैं।

विशालकीर्ति के शिष्य विजयसिंह हैं, जिनके कंठ में जिनगुणों की मणिमाला सदैव शोभा देती है।

उसने यह भगवान् धर्मनाथ का काव्य (धर्मशर्माभ्युदय) पुण्यवृद्धि के निमित्त उनके लिए वितरण किया।

पहले के पद्यों में रुंडाक तक जो वंशावली दी है, उससे आगे का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता। संभव है, छह नम्बर के बाद का कोई श्लोक छूट गया हो जो वितरणकर्त्ता का सम्बन्ध जोड़नेवाला हो। ऐसा मालूम होता है कि रुंडाक की दो पत्नियों में से किसी एक का कोई पुत्र होगा जिसने धर्मशर्माभ्युदय की उक्त प्रति को दान किया है।

इस १७६ नम्बर वाली प्रति में प्रति लिखने का समय नहीं दिया है; परन्तु रामचन्द्र शुभकीर्ति या विशालकीर्ति के समय का पता यदि अन्य साधनों से लगाया जा सके तो वह मालूम हो सकता है।

विद्यापुर गुजरात का बीजापुर ही मालूम होता है। वहाँ हूंबड़ जाति के जैनों की बस्ती अब भी है।

धर्मशर्माभ्युदय काव्य की प्रतियाँ जहाँ जहाँ हों, वहाँ के विद्वानों को चाहिए कि वे उनकी प्रशस्तियों को देखें और उनमें यदि कोई विशेषता हो, तो उसे प्रकाशित करने की कृपा करें।

गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशित पाटणके भाण्डारों के सूचीपत्र में इन दोन प्रतियों का जो विवरण दिया है, उसी के आधार से यह नोट लिखा गया है।

बम्बई,
२०-११-३९

गोम्मट-मूर्ति की प्रतिष्ठाकालीन कुण्डली का फल

[लेखक—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ]

श्रीयुत गोविन्द पै के मतानुसार 'श्रवणबेल्गोल' के गोम्मट स्वामी की मूर्ति की स्थापना-तिथि १३ मार्च, सन् ९८१ है। बहुत कुछ संभव है कि यह तिथि ही मूर्त्ति की स्थापना-तिथि हो। क्योंकि भारतीय ज्योतिष के अनुसार 'बाहुबलि चरित्र' में गोम्मट-मूर्ति की स्थापना की जो तिथि, नक्षत्र, लग्न, संवत्सर आदि दिये गये हैं वे उस तिथि में अर्थात् १३ मार्च सन् ९८१ में ठीक घटित होते हैं। अत एव इस प्रस्तुत लेख में उसी तिथि और लग्न के अनुसार उस समय के ग्रह स्फुट करके लग्न-कुण्डली तथा चन्द्रकुण्डली दी जाती हैं और उस लग्न-कुण्डली का फल भी लिखा जाता है। उस समय का पञ्चांग-विवरण इस प्रकार है—

श्रीविक्रम सं० १०३८ शकाब्द ९०३ चैत्रशुक्ल पंचमी रविवार घटी ५६, पल ५८, रोहिणी नाम नक्षत्र, २२ घटी, १५ पल, तदुपरांत प्रतिष्ठा के समय मृगशिर नक्षत्र २५ घटी, ४८ पल, आयुष्मान् योग ३४ घटी, ४६ पल इसके बाद प्रतिष्ठा-समय में सौभाग्य योग २१ घटी, ४९ पल।

उस समय की लग्न स्पष्ट १० राशि, २६ अंश, ३९ कला और ५७ विकला रही होगी। उसकी षड्वर्ग-शुद्धि इस प्रकार है—

१०।२६।३९।५७ लग्न स्पष्ट—इस लग्न में गृह शनि का हुआ और नवांश स्थिर लग्न अर्थात् वृश्चिक का आठवाँ है, इसका स्वामी मंगल है। अत एव मंगल का नवांश हुआ। द्रेष्काण तृतीय तुलराशि का हुआ जिसका स्वामी शुक्र है। त्रिंशांश विषम राशि कुम्भ में चतुर्थ बुध का हुआ और द्वादशांश ग्यारहवां धनराशि का हुआ जिसका स्वामी गुरु है। इसलिये यह षड्वर्ग बना—

(१) गृह—शनि, (२) होरा—चन्द्र, (३) नवांश—मंगल, (४) त्रिंशांश—बुध, (५) द्रेष्काण—शुक्र, (६) द्वादशांश गुरु का हुआ। अब इस बात का विचार करना चाहिये कि षड्वर्ग कैसा है और प्रतिष्ठा में इसका क्या फल है? इस षड्वर्ग में चार शुभ ग्रह पदाधिकारी हैं और दो क्रूर ग्रह। परन्तु दोनों क्रूर ग्रह भी यहां नितान्त अशुभ नहीं कहे जा सकते हैं। क्योंकि शनि यहां पर उच्च राशि का है। अत एव यह सौम्य ग्रहों के ही समान फल देनेवाला है। इसलिये इस षड्वर्ग में सभी सौम्य ग्रह हैं, यह प्रतिष्ठा में शुभ है और लग्न भी बलवान् है; क्योंकि षड्वर्ग की शुद्धि का प्रयोजन केवल लग्न की सबलता अथवा निर्बलता देखने के लिये ही होता है, फलतः यह मानना पड़ेगा कि यह लग्न बहुत ही बलिष्ठ है।

जिसका कि फल आगे लिखा जावेगा। इस लग्न के अनुसार प्रतिष्ठा का समय सुबह ४ बज कर ३८ मिनट होना चाहिये। क्योंकि ये लग्न, नवांशादि ठीक ४ बजकर ३८ मिनट पर हो आते हैं। उस समय के ग्रह स्पष्ट इस प्रकार रहे होंगे।

नवग्रह-स्पष्ट-चक्र

रवि	चन्द्र	भौम	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	राहु	केतु	ग्रह
११	१	२	१०	१	०	६	०	६	राशि
२४	२५	७	२	३	५	६	७	७	अंश
४३	४१	२६	५८	११	३६	१३	२१	२१	कला
१४	२५	४८	५१	३१	४२	५९	३७	३७	विकला
५८	७८२	४५	१०८	४	५६	२	३	३	गति
४५	५२	३७	५९	४१	५२	३१	११	११	विगति

यहाँ पर 'ग्रह-लाघव' के अनुसार अहर्गण ४७८ है तथा चक्र ४९ है, करणकुतूहलीय अहगण १२३५-९२ मकरन्दीय १६८८३२९ और सूर्यसिद्धान्तीय ७१४४०३९८४९५६ हैं। परन्तु इस लेख में ग्रहलाघव के अहर्गण पर से ही ग्रह बनाये गये हैं और तिथि नक्षत्रादिक के घट्यादि भी इसी के अनुसार हैं।

उस समय की लग्न-कुण्डली

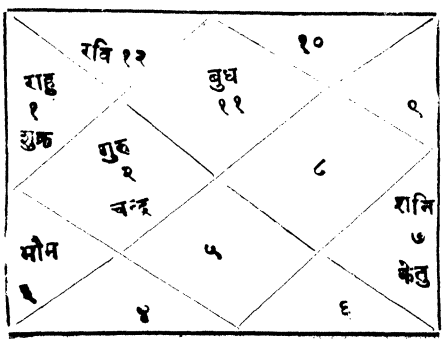

उस समय की चन्द्रकुण्डली

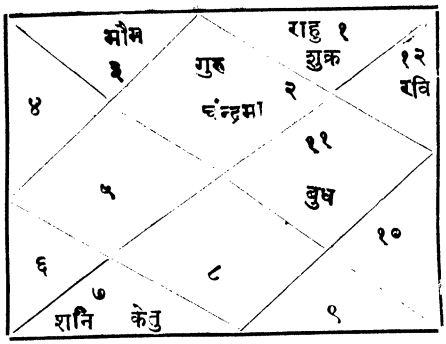

प्रतिष्ठाकर्त्ता के लिये लग्नकुण्डली का फल

सूर्य्य—जिस प्रतिष्ठापक के प्रतिष्ठा-समय द्वितीय स्थान में सूर्य रहता है, वह पुरुष बड़ा भाग्यवान् होता है। गौ, घोड़ा और हाथी आदि चौपाये पशुओं का पूर्ण सुख उसे होता है। उसका धन उत्तम कार्यों में खर्च होता है। लाभ के लिये उसे अधिक चेष्टा नहीं करनी पड़ती है। वायु और पित्त से उसके शरीर में पीड़ा होती है।

चन्द्रमा का फल—यह लग्न से चतुर्थ है इसलिये केन्द्र में है साथ ही साथ उच्च राशि का तथा शुक्लपक्षीय है। इसलिये इसका फल बहुत उत्तम है। प्रतिष्ठाकर्त्ता के लिये इसका फल इस प्रकार हुआ होगा।

चतुर्थ स्थान में चन्द्रमा रहने से पुरुष राजा के यहाँ सब से बड़ा अधिकारी रहता है। पुत्र और स्त्रियों का सुख उसे अपूर्व मिलता है। परन्तु यह फल वृद्धावस्था में बहुत ठीक घटता है। कहा है—

"यदा बन्धुगोबान्धवैरत्रिजन्मा नवद्वारि सर्वाधिकारी सदैव" इत्यादि—

भौम का फल—यह लग्न से पंचम है इसलिये त्रिकोण में है और पंचम मंगल होने से पेट की अग्नि बहुत तेज हो जाती है। उसका मन पाप से बिल्कुल हट जाता है और यात्रा करने में उसका मन प्रसन्न रहता है। परन्तु वह चिन्तित रहता है और बहुत समय तक पुण्य का फल भोग कर अमरकीर्त्ति संसार में फैलाता है।

बुधफल—यह लग्न में है। इसका फल प्रतिष्ठा-कारक को इस प्रकार रहा होगा—

लग्नस्थ बुध कुम्भ राशि का होकर अन्य ग्रहों के अरिष्टों को नाश करता है और बुद्धि को श्रेष्ठ बनाता है, उसका शरीर सुवर्ण के समान दिव्य होता है और उस पुरुष को वैद्य, शिल्प आदि विद्याओं में दक्ष बनाता है। प्रतिष्ठा के ८वें वर्ष में शनि और केतु से रोग आदि

जो पीड़ायें होती हैं उनको विनाश करता है।*

गुरुफल—यह लग्न से चतुर्थ है और चतुर्थ बृहस्पति अन्य पाप ग्रहों के अरिष्टों को दूर करता है तथा उस पुरुष के द्वार पर घोड़ों का हिनहिनाना, वन्दीजनों से स्तुति का होना आदि बातें हैं। उसका पराक्रम इतना बढ़ता है कि शत्रु लोग भी उसकी सेवा करते हैं; उसकी कीर्त्ति सर्वत्र फैल जाती है और उसकी आयु को भी बृहस्पति बढ़ाता है। शूरता, सौजन्य, धीरता आदि गुणों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।†

शुक्रफल—यह लग्न से तृतीय और राहु के साथ है। अत एव इसका फल प्रतिष्ठा के ५वें वर्ष में सन्तान-सुख को देना सूचित करता है। साथ ही साथ उसके मुख से सुन्दर वाणी निकलती है। उसकी बुद्धि सुन्दर होती है। उसका मुख सुन्दर होता है और वस्त्र सुन्दर होते हैं। मतलब यह है कि इस प्रकार के शुक्र के होने से उस पूजक के सभी कार्य सुन्दर होते हैं।‡

शनिफल—यह लग्न से नवम है और इसके साथ केतु भी है, परन्तु यह तुलाराशि का है। इसलिये उच्च का शनि हुआ अत एव यह धर्म की वृद्धि करनेवाला और शत्रुओं को वश में करता है। क्षत्रियों में मान्य होता है और कवित्व शक्ति, धार्मिक कार्यों में रुचि, ज्ञान की वृद्धि आदि शुभ चिह्न धर्मस्थ उच्च शनि के हैं।

---

* "बुधो मूर्तिगो मार्जयेदन्यरिष्टं गरिष्ठा धियो वैखरीवृत्तिभाजः।
जना दिव्यचामीकरीभूतदेहाश्चिकित्साविदो दुश्चिकित्स्या भवन्ति॥"
"लग्ने स्थिताः जीवेन्दुभार्गवबुधाः सुखकान्तिदाः स्युः।"

† गृहद्वारतः श्रूयते वाजिहेषा द्विजोच्चारितो वेदघोषोऽपि तद्वत्।
प्रतिस्पर्धितः कुर्वते पारिचर्यं चतुर्थे गुरौ तत्समन्तर्गतश्च॥
—चमत्कारचिन्तामणि

सुखे जीवे सुखी लोकः सुभगो राजपूजितः। विजातारिः कुलाध्यक्षो गुरुभक्तश्च जायते॥
लग्नचन्द्रिका

अर्थ—सुख अर्थात् लग्न से चतुर्थ स्थान में बृहस्पति हो वे तो पूजक (प्रतिष्ठाकारक) सुखी, राजा से मान्य, शत्रुओं को जीतने वाला, कुलशिरोमणि तथा गुरु का भक्त होता है। विशेष के लिये बृहज्जातक १९ वां अध्याय देखो।

‡ मुखं चारुभाषं मनीषापि चार्वी मुखं चारु चारूणि वासांसि तस्य।
वाराही संहिता

भार्गवे सहजे जातो धनधान्यसुतान्वितः। नीरोगी राजमान्यश्च प्रतापी चापि जायते॥
लग्नचन्द्रिका

अर्थ—शुक्र के तीसरे स्थान में रहने से पूजक धन-धान्य, सन्तान आदि सुखों से युक्त होता है। तथा निरोगी, राजा से मान्य और प्रतापी होता है। बृहज्जातक में भी इसी आशय के कई श्लोक हैं जिनका तात्पर्य यही है जो ऊपर लिखा गया है।

राहु फल—यह लग्न से तृतीय है अत एव शुभग्रह के समान शुभ फल का देनेवाला है। प्रतिष्ठासमय राहु तृतीय स्थान में होने से, हाथी या सिंह पराक्रम में उसकी बराबरी नहीं कर सकते; जगत् उस पुरुष का सहोदर भाई के समान हो जाता है। तत्काल ही उसका भाग्योदय होता है। भाग्योदय के लिये उसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।*

केतु का फल—यह लग्न से नवम में है अर्थात् धर्म-भाव में है। इसके होने से क्लेश का नाश होना, पुत्र की प्राप्ति होना, दान देना, इमारत बनाना प्रशंसनीय कार्य करना आदि बातें होती हैं। अन्यत्र भी कहा है—†

"शिखी धर्मभावे यदा क्लेशनाशः
सुतार्थी भवेन्म्लेच्छतो भाग्यवृद्धिः।" इत्यादि

मूर्ति और दर्शकों के लिये तत्कालीन ग्रहों का फल—मूर्त्ति के लिये फल तत्कालीन चन्द्र-कुण्डली से कहा जाता है। दूसरा प्रकार यह भी है कि चरस्थिरादि लग्न नवांश और त्रिंशांश से भी मूर्ति का फल कहा गया है।

लग्न, नवांशादि का फल

लग्न स्थिर है और नवांश भी स्थिर राशि का है तथा त्रिंशांशादिक भी षड्वर्ग के अनुसार शुभ ग्रहों के हैं। अत एव मूर्ति का स्थिर रहना और भूकम्प, बिजली आदि महान् उत्पातों से मूर्ति को रक्षित रखना सूचित करते हैं। चोर, डाकू आदि का भय नहीं हो सकता। दिन प्रतिदिन मनोज्ञता बढ़ती है और चामत्कारिक शक्ति अधिक आती है। बहुत काल तक सब विघ्न-बाधाओं से रहित हो कर उस स्थान की प्रतिष्ठा को बढ़ाती है। विधर्मियों का आक्रमण नहीं हो सकता और राजा, महाराजा सभी उस मूर्ति का पूजन करते हैं। सब ही जन-समुदाय उस पुण्य-शाली मूर्ति को मानता है और उसकी कीर्त्ति सब दिशाओं में फैल जाती है आदि शुभ बातें नवांश और लग्न से जानी जाती हैं।

---

* न नागोऽथ सिंहो भुजो विक्रमेण प्रयातीह सिंहीसुते तत्समत्वम्।
विद्याधर्मधनैर्युक्तो बहुभाषी च भाग्यवान्॥ इत्यादि

अर्थ—जिस प्रतिष्ठाकारक के तृतीय स्थान में राहु होने से उसके विद्या, धर्म, धन और भाग्य उसी समय से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वह उत्तम वक्ता होता है।

† एकोऽपि जीवो बलवांस्तनुस्थः सितोऽपि सौम्योऽप्यथवा बली चेत्।
दोषानशेषान्विनिहंति सद्यः स्कंदो यथा तारकदैत्यवर्गम्॥
गुणाधिकतरे लग्ने दोषेऽत्यल्पतरे यदि। सुराणां स्थापनं तत्र कर्त्तुरिष्टार्थसिद्धिदम्॥

भावार्थ—इस लग्न में गुण अधिक हैं और दोष बहुत कम हैं अर्थात नहीं के बराबर हैं। अत एव यह लग्न सम्पूर्ण अरिष्टों को नाश करने वाला और श्रीचामुण्डराय के लिये सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थों को देने वाला सिद्ध हुआ होगा।

चन्द्रकुण्डली के अनुसार फल

वृष राशि का चन्द्रमा है और यह उच्च का है तथा चन्द्रराशीश चन्द्रमा से बारहवां है और गुरु चन्द्र के साथ में है, तथा चन्द्रमा से द्वितीय मंगल और दसवें बुध तथा बारहवें शुक्र हैं। अत एव गृहाध्याय के अनुसार गृह 'चिरंजीवी' योग होता है। इसका फल मूर्त्ति को चिरकाल तक स्थायी रहना है। कोई भी उत्पात मूर्ति को हानि नहीं पहुंचा सकता है। परन्तु ग्रह स्पष्ट के अनुसार तात्कालिक लग्न से जब आयु बनाते हैं तो परमायु तीन हजार सात सौ उन्नीस वर्ष, ग्यारह महीने और १९ दिन आते हैं।

मूर्ति के लिये कुण्डली तथा चन्द्रकुण्डली का फल उत्तम है और अनेक चमत्कार वहाँ पर हमेशा होते रहेंगे। भयभीत मनुष्य भी उस स्थान में पहुंच कर निर्भय हो जायगा।

इस चन्द्रकुण्डली में 'डिम्भाख्य' योग है। उसका फल भी अनेक उपद्रवों से रक्षा करना तथा प्रतिष्ठा को बढ़ाना है। कई अन्य योग भी हैं किन्तु विशेष महत्त्वपूर्ण न होने से नाम नहीं दिये हैं।

प्रतिष्ठा के समय उपस्थित लोगों के लिये भी इसका उत्तम फल रहा होगा। इस मुहूर्त में बाण पंचक अर्थात् रोग, चोर, अग्नि, राज, मृत्यु इनमें से कोई भी बाण नहीं है। अतः उपस्थित सज्जनों को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ होगा। सब को अपार सुख एवं शान्ति मिली होगी।

इन लग्न, नवांश, षड्वर्गादिक में ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से कोई भी दोष नहीं है प्रत्युत अनेक महत्त्वपूर्ण गुण मौजूद हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में लोग मुहूर्त, लग्नादिक के शुभाशुभ का बहुत विचार करते थे। परन्तु आजकल की प्रतिष्ठाओं में मनचाहा लग्न तथा मुहूर्त ले लेते हैं जिससे अनेक उपद्रवों का सामना करना पड़ता है। ज्योतिष-शास्त्र का फल असत्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि काल का प्रभाव प्रत्येक वस्तु पर पड़ता है और काल की निष्पत्ति ज्योतिष-देवों से ही होती है। इसलिये ज्योतिष-शास्त्र का फल गणितागत बिल्कुल सत्य है। अत एव प्रत्येक प्रतिष्ठा में पञ्चाङ्ग-शुद्धि के अतिरिक्त लग्न, नवांश, षड्-वर्गादिक का भी सूक्ष्म विचार करना अत्यन्त जरूरी है।

सार "जैन एन्टीक्वेरी"

(भाग ५, अङ्क ३)

पृ० ६७-७४—प्रो० चक्रवर्ती ने तामिल साहित्य के अन्य लघु-काव्यों का परिचय कराया है। वे (१) यशोधरकाव्य (२) चूड़ामणि (३) उदयनन् कथै (४) नागकुमार काव्यम् (५) और नीलकेसी हैं। यह सब काव्य जैन कवियों की रचनायें हैं। यशोधरकाव्य के रचयिता के नाम-धाम का पता नहीं है।

पृ० ७५—७९ प्रो० घोषाल ने जैनसिद्धांत और जैनेतर साहित्य में 'मन' का परिचय कराया है। अथर्ववेद (कांड २१, अनुवक १-९-५) में पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त मन को गिनाया है। इसका भाव यह नहीं है कि मन भी इन्द्रिय है। यद्यपि उपरांत के वैदिक साहित्य में मन भी इन्द्रिय माना गया है। 'वेदान्तपरिभाषा' में मन को इन्द्रिय नहीं कहा है। कठोपनिषद् (३।१०) में अर्थों को इन्द्रियों के परे और मन को भी इन्द्रियों के परे बताया है। 'वेदांतसूत्र' (२।४।२७) भाष्य में कहा है कि मन यद्यपि इन्द्रियों से पृथक् बताया है, परन्तु स्मृतियों के आधार से वह भी इन्द्रिय है। जैन न्याय में मन को अनिन्द्रिय अथवा नो-इन्द्रिय कहा है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जैनी मन को इन्द्रिय नहीं मानते। शेष इन्द्रियों से वह भिन्न है।

पृ० ८१—८८ अशोक विषयक हमारी लेखमाला में आगे अशोक के लेखों से बताया है कि वह बौद्ध नहीं हुआ था। अशोक की स्टेटपॉलिसी जैनों की अहिंसा से बहुत सादृश्य रखती है। अशोक के लेखों के आधार से उसका जैनश्रद्धान बताया गया है। उसने जो स्तंभादि बनवाए वह जैनी चिह्नों सहित कई जैन स्थानों जैसे वैशाली, गिरिनार आदि में हैं।

पृ० ८९—९५ प्रो० शास्त्री ने प्रकट किया है कि भास्कर की किरण २ में प्रतिपादित वादीभसिंह को ११ वीं शताब्दी से कुछ पहले के विद्वान् होना चाहिये।

पृ० ९७—९९ प्रो० उपाध्ये ने कई जिनमूर्तियों के लेख छपाए हैं। उनमें से कई यापनाय संघ के हैं। यह मूर्तियां दिगम्बर जैन मंदिरों में विराजमान हैं।

—का० प्र०

साहित्य-समालोचना

(१)

अकलंक-ग्रन्थमाला की तीन पुस्तकें

(१) जैनधर्म पर लोकमान्य तिलक का भाषण और प्रसिद्ध विद्वानों का अभिमत; पृष्ठ ४० (२) स्याद्वाद-परिचय ; पृष्ठ २८। (३) कर्मसिद्धान्त-परिचय ; पृष्ठ ४१।

इन तीनों पुस्तकों के लेखक श्रीयुत पं० अजितकुमार जी शास्त्री, मुलतान हैं। पुस्तकों का विषय नाम से ही स्पष्ट है। विद्वान् लेखक ने अपने अभीष्ट विषयों पर संक्षेप में अच्छा प्रकाश डाला है। पुस्तकों का चाक-चिक्य, मुद्रण एवं कागज आदि भी सुन्दर हैं। खास कर इन पुस्तकों को अधिक संख्या में विना मूल्य जैनेतर विद्वानों में वितरण करने की बड़ी ज़रूरत है। मैं जहाँ तक समझता हूं उक्त ग्रन्थमाला का भी यही ध्येय होगा। मैं आशा करता हूं कि प्रस्तुत ग्रंथमाला में क्रमशः दशधर्म, द्वादश भावना, गृहस्थधर्म, निर्वाण, आवागमन जैनियों की पूजा, आत्मज्ञान, ॐ की एकीकरण शक्ति आदि अन्यान्य विषयों की भी पुस्तकें प्रकाशित होती रहेंगी।

—के० भुजबली शास्त्री

(२)

कथा-कुसुमावली

लेखक—जयकुमार शर्मा ; पृष्ठसंख्या १३९ ; मूल्य—आठ आने। प्रकाशक—रावजी सखाराम दोशी, कल्याण पावर प्रेस, शोलापुर।

यह एक हाई इङ्गलिश स्कूल में पढ़ायी जानेवाली संस्कृत पाठ्यपुस्तक है। प्रणेता ने इसे स्वरचित पद्य-द्वारा इसके प्रकाशक महोदय को ही समर्पित किया है। इसमें गद्य-पद्य दोनों हैं। गद्य लेखक का ही ज्ञात होता है, पर पद्य महापुराण, यशस्तिलकचम्पू, वर्द्धमानचरित आदि जैनपुराण एवं काव्य से उद्धृत किये गये हैं। इसमें "अकुतोभयो हि महावीरः" आदि इक्कीस पाठ हैं। इनके अतिरिक्त वाक्यरचना की विशेषता और शब्दरत्नाकर (कठिन अथवा सरल संस्कृत शब्दों का मराठी और हिन्दी में अर्थ) भी अङ्कित है। प्रारंभ में कई कृतविद्य, प्रख्यात प्रोफेसर तथा संस्कृत पाठशालाध्यापकों के प्रशंसापत्र भी सन्निबद्ध हैं; जिनमें प्रस्तुत पुस्तक की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। उत्साही लेखक संस्कृत लिखने में सिद्धहस्त मालूम पड़ते हैं। यों तो अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली बहुतेरी संस्कृत-रीडरें मेरी नज़रों से गुजरी हैं पर जैनपण्डितों में जैनशास्त्रानुसार संस्कृत-रीडर लिखने का आपका ही यह प्रथम प्रयास है। आशा है आपकी लेखनी से और भी उत्तरोत्तर विकसित रूप में संस्कृत पाठ्य-पुस्तकें रचित होती रहेंगी। यों तो अशुद्धियाँ बहुत हैं, पर अन्त में अशुद्धि-पत्र लगा दिये गये हैं।

—हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ६—वि० सं० १९९६, वीर सं० २४६६ एवं ई० सन् १९४०

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

पृष्ठ

१ अपभ्रंश साहित्य और जैनी !—['साहित्य-भ्रमर' ८८
२ अणुव्रत-रत्न-प्रदीप—[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एलएल० बी० ... १५५
३ आचार्य नेमिचन्द्र और ज्योतिष-शास्त्र—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ ९३
४ आचार्य वादिराज और उनकी रचनाएँ—[श्रीयुत पं० परमानन्द जैन, शास्त्री ... ११३
५ कोपण—कोप्पल—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... ११०
६ क्या यह सचमुच भ्रमनिवारण है ?—[श्रीयुत पं० जुगलकिशोर मुख्तार ४२
७ क्या वादीभसिंह अकलंकदेव के समकालीन हैं ?—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ७८
८ क्या पावागढ़ दिगम्बर तीर्थ है ?—[श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर ... १४७
९ गोम्मट स्वामीकी सम्पत्तिका गिरवी रक्खा जाना—[श्रीयुत पं० जुगल किशोर मुख्तार २४२
१० गोम्मट-मूर्ति का प्रतिष्ठाकालीन कुण्डली का फल—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ २६१
११ जैन रामायण का रावण—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... १
१२ जैनसिद्धान्त-भवन, आरा का वार्षिक-विवरण ६८
१३ जैनबिद्री अर्थात श्रवणबेल्गोल—[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम. ए., एलएल.बी. २०१
१४ दक्षिण भारत के जैन वीर—[श्रीयुत त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए० ... ... २४९
१५ दाक्षिणात्य जैनधर्म—[श्रीयुत स्व० आर० नाताचार्य, एम० ए०, एल० टी० ... १०२
१६ द्रौपदी के पञ्चपतित्व पर विचार—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... १३७
१७ धम्मपद और श्वेताम्बर-जैनागम—[श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर ... ३६
१८ धर्मशर्माभ्युदय की दो प्राचीन प्रतियाँ [श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी ... २५८
१९ 'नय-विवरण' का कर्ता कौन है ?—[श्रीयुत पं० सुमेरुचन्द्र जैन, दिवाकर न्यायतीर्थ शास्त्री, बी० ए०, एल-एल० बी० ... ... २३
२० पाणिनि, पतिञ्जलि और पूज्यपाद—[श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ... २१६
२१ भारतवर्ष के पतन का मुख्य कारण—[श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस. ७१
२२ महाबाहुबाहुबली (पद्य)—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... २४५
२३ वीरनन्दी और उनका आचारसार—[श्रीयुत पं० परमानन्द जैन, शास्त्री ... १७

२४ वीरमार्त्तण्ड चावुण्डराय—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... २२९
२५ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा की स्मरणीय तिथि और वीरशासन-जयन्ती— श्रीयुत पं० परमानन्द जैन, शास्त्री ५५
२६ श्रवणबेल्गोल एवं यहां की श्रीगोम्मट-मूर्ति—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री .. २०५
२७ श्रवणबेल्गोल (पद्य)—[श्रीयुत कल्याणकुमार जैन, 'शशि' ... २१३
२८ श्रवणबेल्गोल के शिलालेख—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन एम. आर. ए. एस. २३३
२९ श्रीनिर्वाणक्षेत्र गिरिनार—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० १७८
३० सम्राट् खारवेल का हाथीगुफावाला शिलालेख—[श्रीयुत प्रो० बेनीमाधव बारुआ, एम० ए०, डी० लिट् २५
३१ सार 'जैन एण्टीक्वेरी' (भाग ५, न० १)— श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन .. १९७
३२ सार 'जैन एन्टीक्वेरी' (भाग ५, न० ३)—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन २६७

३३ विविध विषय— १ अपनी बात—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... १३३
२ उपदेश-तरंगिणी का गिरिनार-प्रकरण [श्रीयुत कामता प्रसाद जैन ६०
३ 'जैन एण्टीक्वेरी' का सार (भा० ५, कि० ४) ,, ,, ... १३२
४ तेरापुर और कलिकुंड—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन ६२
५ द्राविड़-संघ—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन ५९
६ नयविवरण के सम्बन्ध में—[श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री १२३
७ शहर मुल्तान कहाँ था ? [,, बा० कामता प्रसाद जैन १२९
८ श्रीमाल नगर का एक शिलालेख— ,, ,, .. १३०
९ हिन्दी के दो हरिवंश पुराण— ,, ,, ... १२४

३४ साहित्य-समालोचना—१ अकलंक-ग्रन्थमाला की तीन पुस्तकें—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... २६८
२ आत्मचिन्तन—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... ६६
३ कथा-कुसुमावली—[श्रीयुत पं० हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ २६८
४ ग्रन्थराज श्रीधवलसिद्धान्त का प्रकाशन—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण २००
५ जम्बूस्वामी चरित्र—[श्रीयुत कैलाशचन्द्र शास्त्री ... ६५
६ जैनधर्म का ह्रास क्यों—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ६७

७ जैनइतिहास (३रा भाग)—[पं० के० भुजबली शास्त्री १३४
८ तत्त्वसार टीका (भाषा)—[पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ६६
९ दादा श्रीजिनकुशल सूरि—[पं० के० भुजबली शास्त्री १३४
१० परमप्पपयासु (परमात्मप्रकाश) और जोगसार (योगसार)
—पं० के० भुजबली शास्त्री ६४
११ पंचकल्याण—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... ६७
१२ रत्नकरण्ड-श्रावकाचार [श्रीयुत पण्डित महेन्द्रकुमार जैन,
काव्यतीर्थ १३५
१३ सरल जैनधर्म (चारो भाग)—[पं० के० भुजबली शास्त्री ६६
१४ समाधितंत्र—[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, १९८
१५ सर्वार्थसिद्धि—[श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ... १९९

ग्रन्थमाला-विभाग—

१ तिलोयपण्णत्ती [श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ८१ से १०४ तक
२ प्रशस्ति-संग्रह [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... १३७ से १६० तक

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. V MAR. 1940 No. IV.

Edited by

Dr. B. A. SALETORE, M. A., Ph. D.

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.

Babu KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSHANA

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY

ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription :

INLAND RS. 4. FOREIGN RS. 4-8 SINGLE COPY RS. 1-4.

CONTENTS.

Pages.

1. The Mastakābhishēka of Gommaṭēśvara at Śravaṇa Belgoḷa—*by* Dr. M. H. Krishna, M.A., D. Lit. (Lond) Director of Archaeology Mysore State 101

2. The Date of the Consecration of the Image of Gommaṭeśvara—*by* S. Śrīkaṇṭha Sastri, M.A. 107

3. Śravaṇa Belgoḷa Its Secular Importance—*by* Dr. B. A. Saletore M. A. Ph. D. (Lond.) 115

4. Monastic Life in Sravaṇa Belgoḷa—*by* R. N. Saletore, M.A., Ph. D. 123

5. Date of Malayagiri Sūri—*by* P. K. Gode, M.A. 133

6. Belgoḷa and Bāhubali—*by* Prof. A. N. Upadhye, M.A., D. Litt ... 137

7. Sravaṇa Belgoḷa—*by* Prof. S. R. Sharma, M.A. 141

8. Bāhubali Story in Kannaḍa Literature—*by* Prof. K. G. Kundangar, M.A. 144

9. New Studies in South Indian Jainism—*by* Prof. B. Seshagiri Rao. 147

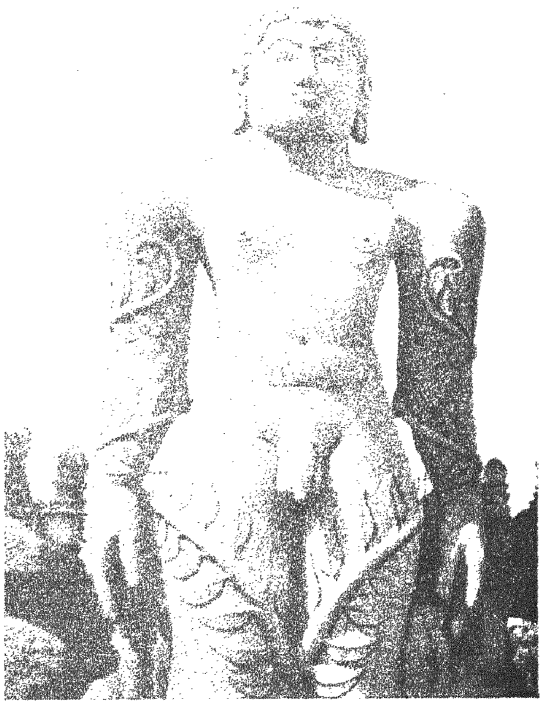

श्रवणबेल्गोलस्थ श्रीबाहुबली की मूर्ति

ॐ नमः

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. V. No. IV | ARRAH (INDIA) | March. 1940.

THE MASTAKĀBHISHĒKA OF GOMMAṬĒŚVARA AT ŚRAVAṆA BĒḶGOḶA.

BY

Dr. M. H. Krishna, M A., D. Lit. (Lond) Director of Archaeology Mysore State.

Śravaṇa Beḷgoḷa is situated in 12°51′ north latitude and 76°29′ east longitude, about 8 miles to the south of Chennarāyapaṭṇa in the Chennarāyapaṭṇa Taluk of the Hāssan District of the Mysore State. Buses run daily to Śravaṇa-Beḷgoḷa from Hāssan and Mysore. The distance from Hāssan is 31 miles and the distance from Mysore is 62 miles. Both these roads to Śravaṇa Beḷgoḷa run through Chennarāyapaṭṇa and as the traveller passes this place, he observes a conspicuous hill, a few miles to the south, bearing on its summit what appears at first sight to be a column, but which on drawing nearer proves to be a colossal statue in the human form. This striking and unusual object, the image of Gommāṭēsvara, which is visible for miles around marks the site of Śravaṇa-Beḷgoḷa, the chief seat of the Jainas in South India from very early times The village lies picturesquely between two rocky hills one larger than the other which stand up boldly from the plain and are covered with huge boulders. "In the whole beautiful State of Mysore, it would be hard to find a spot, where the historic and the picturesque clasp hands so firmly as here."

If tradition is to be believed the history of Śravaṇa-Beḷgoḷa begins from the third century B.C Chandragupta Maurya is said to have taken a vow of renunciation in his old age and migrated from his capital Pāṭaliputra in the north to Śravaṇa-Beḷgoḷa and settled there with his guru Bhadrabāhu. Five hundred inscriptions collected in and near Śravaṇa-Beḷgoḷa, which range in date from 600 A. D. until recent times tell us that the place was successively ruled by the Gaṅga, Rāshṭrakūṭa, Chālukya, Hoysaḷa, Vijayanagara and Mysore rulers.

The great statue of Gommaṭēśvara, the object of the Mastakābhishēka was erected in 983 A. D. by Chāmuṇḍarāya, the minister of the Gaṅga king Rāchamalla IV. According to tradition Gommaṭa or Bāhubali was the second son of the first Tīrthankara Purudēva. Even though he defeated his elder brother Bharata in the war of succession, yet he generously handed over the kingdom of the earth to him, retired from this world and attained eminence as a great ascetic. Bharata set up a statue in honour of this saint in North India. But as this statue came to be surrounded by snakes and as the place where it was situated was difficult to reach, Chāmuṇḍarya set up a statue of Gommaṭa at Śravaṇa Beḷgoḷa.

The image is nude and stands erect facing north. The face is a remarkable one, with a serene expression; the hair is curled in short spiral ringlets all over the head, while the ears are long and large. The figure is treated conventionally, the shoulders being very broad, the arms hanging straight down the sides, with the thumbs turned outwards The waist is small. From the knee downwards the legs are somewhat dwarfed. Though not elegant, the image is not wanting in majestic and impressive grandeur The figure has no support above the thighs. Up to that point it is represented as surrounded by ant-hills, from which emerge serpents; and a climbing plant twines itself round both legs and both arms, terminating at the upper part of the arms in a cluster of berries or flowers. The pedestal is designed to represent an open lotus. It is probable that Gommaṭa was cut out of a boulder which rested on the spot, as it would have been a work of great difficulty to

transport a granite mass of this size up the oval hill side. It is larger than any of the statues of Rameses in Egypt.

The figure is standing with shoulders squared and arms hanging straight. Its upper half projects above the surrounding ramparts. It is carved in a fine-grained light-grey granite, has not been injured by weather or violence, and looks as bright and clean as if just from the chisel of the artist.

The face is its strong point. Considering the size of the head, which from the crown to the bottom of the ear measures six feet six inches, the artist was skilful indeed to draw from the blank rock the wondrous contemplative expression touched with a faint smile, with which Gommaṭa gazes out on the struggling world.

Gommaṭēśvara has watched over India for only 1000 years, whilst the statues of Rameses have gazad upon the Nile for more than 4000. The monolithic Indian saint is thousands of years younger than the prostrate Rameses or the guardians of Abu Simbal, but he is more impressive, both on account of his commanding position on the brow of the hill overlooking the wide stretch of plain and of his size. It is the biggest monolithic statue in the world. The height of the image is 57 feet.

The labour bestowed on this image is really astonishing and the image is on the whole a very successful piece of sculpture. The best part of the image is its face with its wonderful contemplative expression touched with a faint smile. The spirit of Jaina renunciation is fully brought out in this statue. The nudity of the image indicates absolute renunciation while its stiff and erect posture stands for perfect self-control. The benign smile on the face shows inward bliss and sympathy for the struggling world. In spite of its slight anatomical defects, the image looks majestic and impressive. Fergusson says "Nothing grander or more imposing exists anywhere out of Egypt and even there no known statue surpasses it in height."

The Mastakābhishēka or the head-anointing ceremony is performed only at intervals of several years and at great cost. The

earliest one on record took place in 1398 and the latest in 1925. The following account of the ceremony held in 1887 is quoted from Epigraphia Carnatica, Vol. 2 Śravaṇa Beḷgoḷa, pages 18—19.

"The 14th March last was the day of anointing for the statue of Gommaṭēśvara. It was a great day, in anticipation of which 20,000 pilgrims gathered there from all parts of India. There were Bengalis there, Gujaratis also, and Tamil people in great numbers. Some arrived a full month before the time and the stream continued to flow until the afternoon of the day of the great festival. For a whole month there was daily worship in all the temples, and pāda-pūja or worship of the feet of the great idol besides. On the great day, the 14th, the people began to ascend the hill even before dawn in the hope of securing good places from which to see everything. Among them were large numbers of women and girls in very bright attire, carrying with them brass or earthen pots. By 10 o'clock all available space in the temple enclosure was filled. Opposite the idol an area of 40 square feet was strewed with bright yellow paddy, on which were placed 1,000 gaily painted earthenware pots, filled with sacred water, covered with cocoanuts and adorned with mango leaves. Above the image was scaffolding, on which stood several priests, each having at hand pots filled with ghee, milk and such like things. At a signal from the Kolhāpur Svāmi, the master of the ceremonies, the contents of these vessels were poured simultaneously over the head of the idol. This was a sort of preliminary bath, but the grand bath took place at 2 o'clock. Amid the horrible dissonance of many instruments the thousand pots already mentioned were lifted as if by magic from the reserved area to the scaffolding and all their contents poured over the image, the priests meanwhile chanting texts from the sacred books. Evidently the people were much impressed. There were mingled cries of 'Jai Jai Mahārāja,' and 'Ahaha, ahaha,' the distinctive exclamations of Northern and Southern Indians to mark their wonder and approval. In the final anointing fifteen different substances were used, namely, water, cocoanut meal, plantains, jaggery, ghee, sugar, almonds, dates, poppy seeds, milk, curds, sandal, gold flowers, silver flowers and silver coin. With the gold and silver flowers there were mixed nine varieties of

precious gems; and silver coin to the amount of Rs. 500 completed the offering."

The Gommaṭēśvara image is on the top of the hill called Vindhyagiri. On the way to the image, the following objects all ascribed by tradition to Chāmuṇḍarāya, arrest our attention. They are the Tyāgada Bramhadēva Pillar, which contains excellently carved work, Akhaṇḍa Bāgilu, a rock-cut doorway and the image of Guḷḷakāyajji, a lady who is said to have helped Chāmuṇḍarāya in the performance of the anointment of Gommaṭa

Opposite Vindhyagiri is the smaller hill known as Chandragiri which contains among other antiquities, the cave of Bhadrabāhu-svāmi, the guru of Chandragupta Maurya and numerous inscriptions relating to Bhadrabāhu, Chandragupta and other Jaina saints, the Chandragupta Basti, which contains interesting sculptures of Jaina mythological subjects, and the Chāmuṇḍarāya Basti, the largest and the most handsome temple on this hill.

The village which is situated between the hills Vindhyagiri and Chandragiri contains the Bhaṇḍāri Basti, the largest temple in the village enshrining the twenty-four Tīrthankaras, Akkana Basti, a fine temple in the Hoysaḷa style of architecture, the Jaina Maṭha, the residence of the Jaina Gurus, and a beautiful large pond or kalyāni which has given its name to the place. The neighbouring villages of Jinanāthapura (2 miles) and Kambadahaḷḷi (7 miles) contain Jain antiquities of much architectural and sculptural value.

The Government of His Highness the Mahārāja of Mysore have spared no pains either in the excellent upkeep of the glorious Jaina antiquities at Śravaṇa Beḷgoḷa or in providing all facilities to the lakhs of pilgrims who throng to the place at the time of important ceremonies. The intimate relations between Jainism and Mysore have been beautifully expressed by His Highness the Mahārāja of Mysore in his speech at the All-India Jaina Conference held at Śravaṇa Beḷgoḷa on 14th March 1925 at the time of the last Mastakābhishēka. "In welcoming this all-India gathering of Jainas to the land of Mysore, I cannot forget that this land is to them a

land of pilgrimage, consecrated by some of the holiest traditions and tenderest memories of their faith. This is the holy spot sacred to the Munīśvara Gommaṭa whom tradition represents to have been the younger brother of Bharata, the eponymous Emperor of Bhāratavarsha. The land of Mysore therefore symbolises Gommaṭa's spiritual Empire as Bhāratavarsha stands for the Empire of his brother Bharata. But Jainism not only found a second birthplace and home n Mysore, Jainism repaid the debt. For Jainism if it did not create our Kannaḍa literature, inspired some of the noblest master-pieces of that literature in its early history ; and Jaina learned men have ever since continued to render signal service to it."

THE DATE OF THE CONSECRATION OF THE IMAGE OF GOMMAṬĒŚVARA

BY

S Śrīkaṇṭha Sastri, M.A.

भद्रं भवत्वखिलधार्मिकपुण्डरीक-
पण्डावबोधनसुमित्रदिवाकराय ।
संसारसागरविचित्रनिमग्नजन्तो
र्हस्तावलम्बनकृते जिनशासनाय ॥

(*S. I. I.* IX *pt* I *no.* 387.)

The exact date of the consecration of the image of Śri Gommaṭēśvara has been discussed by several scholars, Dr. R. Shāma Śastrī in the *Mysore Archaeological Report* for 1923 made use of the date given in the *Bāhubali Carita* to substantiate his theory of the commencement of the Gupta era in C. 199-200 A. C. On the basis of the following verse :—

कल्यब्दे षट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे
पंचम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे ।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार ।
श्रीमच्चामुण्डराजो बेलुगुलनगरे गोम्मटेशप्रतिष्ठाम् ॥

(*Bāhubali Carita* v. 64.)

Assuming that *Kalyabda* should have been a mistake for *Kalkyabda*, he calculated that the date would tally with Sunday, 3rd March, 1028 A. C. The defect in this calculation was pointed out by Dr. A. Venkata Subhayya. Some think that the date implied was probably 21st April, Sunday 980 A. C. when Mṛga śirā nakṣatra and kumbha lagna were current.[1] The *Ajitanāthapurāṇa* of Ranna was completed in Śaka 915, Vijaya, Kārtika, Nandīśvara day (26th October 993 A. C.), and it says that Attimabbe visited the image

1. If one reading is really Kalki, it is intrepreted as in the sixth century after Kalki and in the 8th year Vibhaba. But 980 A. D. is Vikrama according to southern and Vsha according to northern cycles.

of Gommateśvara. Therefore it is clear that the image existed long before that date. How far earlier has to be determined

It is assumed that because Chāvunḍarāya in his *Adipuraṇa* does not refer to the installation of Gommaṭa, it must have taken place after the completion of the work. The date of the work is given as follows :—

Navu Śata Saṁkhye yāge Śakakāla samam negald-Iśvarābdmu-

-tsavakaramāge Phalguṇa sitāṣṭami Rohiṇi Somavāramem-

bivu śubhadangalāge paramōtsavadim guṇaratna bhūshaṇam

kavijana śrēkharam baredu pustakakārisidam purāṇaman ||

Dr. A Venkaṭa subbayya calculates that according to the southern reckoning the date would fall on Monday, February 18th 978 A. C. when Rohini was current. According to the northern cycle A. C 976 was Iśavara. Therefore the image of Gommaṭa may have been established between 976 and 993 A. D. The nearest Vibhava occurs in 968 A. C. and Śukla panchmi falls on March 7th Saturday but the actual festival might have occured on the next day Sunday. Still we cannot attach much importance to this, nor to the absence of the mention of Gommateśvara image in the Cāvunda Rāya purāna In the previous Vibhava (908 A C.) Caitra Suddha panchmi falls on March 10 Thursday. In 907 A. C. (Prabhava) the tithi occurs on a Sunday, March 10th. Dr. R. Shama Sastri's date is really impossible for there is no evidence that Cāmuṇḍa Rāya lived up to 1028 A D.

I wish to point out the existence of another clear reference to the Gommaṭa image. In the *Mysore Archaeological Report* for 1913-14 p. 28, an inscription at Chikka Hanasōge is given. It belongs to the time of the Ganga Eṛeya.

Ereya samudra vēṣṭitāvanige dharātalamam pratipāli
-suttamit-
-teereya mahārimaṇḍilakarin besegeyye vilāsa ālge-
-yim
mereva karāran ?)endenisal ālipori stita samdhya
rindu van
derega samantu Kalneleya dēvara pāda payoruhan-
gaḷōḷ ||

Sthāvara jangama tirtham
bhāvisi peḷdāgaḷ orade Gommāṭa devar
sthāvara tirthan, Kalnele
Dēvar bhāvalaya dolagaya tirtham ||

Here Gommaṭa dēva is described as the fixed sacred place and Kalnela dēva as the moving sacred place in the Universe. This Kalnela dēva was the disciple of Ēḷacārya. He was called *āṣṭōpavasi* and set up the *nisidige* of his guru Eḷācarya and must have been the contemporary of Ereya. This inscription is assigned by R. Narasimhāchar to c. 910 A. C. Another inscription in the same report at the same place (p. 38) refers to Nēmicandra (c 900 A. C) the disciple of Śrīdhara of Hanasōge vali, Dēśi gaṇa, Pustaka gaccha. E. C IV No 28 refers to Ēḷācārya of the same gaṇa and gachha as the disciple of Śrīdhara. Referring to Śrīdhara of Pustaka gachha of the Dēśi gaṇa are the following :—

Pūrṇa candra.
Dāmanandi.
Ēḷācārya.

Śrīdharācarya –	Śrīdhara dēva	[Kelnele dēva.]
Maladhāri dēva	...	Divākara
Candrakirti. 1099 A. D.	...	Jayakirti

Tamil tradition says that one Ēlāchārya was the guru of Tiruvalluvar to whom Kural is attributed. Hirālāl (*Cat, Skt. Pkt.* in C. P. and Berar) says' that Hēlacārya is the propagator of Jvālāmalini worship. *M.E.R.* 416 of 1929 says that Elacārya was a native of Hēma grāma near Nilagiri. (Ponūr in North Arcot.)

In the Sūrastha (?) gaṇa (E. C. IV No. 19) we have

Anantavīrya
Bālacandra
Prabhācandra
Kalnele dēva
aṣṭōpavāsi
Hemanandi
Vinayanandi

Ēkavīra — Pallapandita (Pālyakirti 1118 A. C. Abhimānadāni)

In I. A. XIV, one Ananta vīrya is said to have been the disciple of Guṇa sēna who was the disciple of Vīra sena. Ananta Vīrya is the contemporary of Rakkasa Ganga in Ś. 899 (977 A. C.) The Humcha inscription refers to Mārasimha Noḷamba Kulāntaka Guttiya ganga as the younger brother of Marula, his younger brother Rācamalla and his younger brother Govinda Nītimārga. Then his *kiriya* (younger?) is mentioned as Satya Vākya Govindara whose titles were Rakkasa Ganga, Vīramāratāṇḍa etc. Rakkasa Ganga, brought up the daughters of his younger brother Arumoḷidēva and married one of them to Kāḍu veṭṭi. Ananta Vīrya may have been the same as the author of *Parīkshamukha Sūtra vṛtti* in 975 A.D. Therefore this Kelnele dēva must have been different from Kelnele dēva the disciple of Ēḷacarya and the contemporary of Erega in c. 910 A.D. If this Eṛega is the same as Eṛeyappa, Mahēndrāntaka, he must be placed between 907 and 913 A. D.

If, as indicated above, the consecration took place in a year Vibhava, since 908 A. D. is a Vibhava and the details seem to refer to 907 A. C. 10th March Sunday, this is most probably the date of installation as it falls in the reign of Eṛega.

But it should be investigated whether such an early date is in conformity with the known facts about Cāmuṇḍa Rāya who was

Ec. VII *Sr.* 37 mentions one Anantavirya as the colleague of Maladhāri Śrīpāla dēva in Ś 1069 (1147 A.C.)

responsible for the installation. Apart from a consideration of the existence of several Cāvuṇḍa rayas, it is usually assumed that Cāvinḍa rāya whose inscription is found near the image is the same as the author of *Cāvuṇḍa Rayapuraṇa.* The exploits of Cāvuṇḍa mentioned in the Kannada work seem to tally with those described in the incomplete inscription at Sravaṇa Beḷagoḷa (No. 281). The inscription says that on the orders of Indra, he defeated Vajjvala the younger brother of Pāṭāḷamalla and also took part in the wars with Noḷamba Rāja at Virōttamsapura. He frustrated the ambition of Chaladanka Ganga (?) In the Purāṇa he refers to victories over Rājāyta, Rācha, Gōvindarasa and Rāchaya who coveted the country. Further he mentions the places of battle, enemies and the titles obtained by time, in the him of Jagadēkavīra (Marasimha.)

Battle.	Enemy.	Title.
1. Khēḍaga ...	Vajjvala	Samara dhurandhara.
2. Gōnūr bayal ...	Nolambas ...	Viramārtāṇḍa.
3. Ucchangi Kōṭe ...	Rājāyta	Raṇa ranga Singa
4. Bāgeyūr Kōṭa ...	Tribhuvana Vīra (the rival of Govindara) ...	Vairikula Kāla daṇḍa.
5. Fort of Nṛpa Kāma	Bāsa, Sivara, Kuṇanka	Bhuja Vikrama.
6.	Enemy who killed cāvuṇḍarāya's younger brother Nagavarma ...	Chaladanka Ganga.
7.	Gangara Bhaṭa Mudu Rāchayya.	Samara Parasu Rāma.
8	Jaṭṭigas	Pratipakṣa Rākkṣasa.

His master was Jaga dēva Vīra Nolamba Kulāntaka and his guru was Ajita Sēṇa of Sena gana, whose parampara is thus mentioned :—

1. Vīra Sēna I
2. Jina sena II (837 A.C.)
3. Guṇabhadra (897 „)
4. Sarvasādhu Bhaṭṭāraka.
5. Dharmasēna of Candrikāvāṭavāsa (*E.C. II*, No. 24 ?)
6. Kumara sēṇa of Muḷgunda and Kopaṇa
   |
   Kanakasēna 903 A, C. (*J.B.B.O.R.A.S.X.*) (*E.C. III* Mal 30 and sg. pt 147)
7. Nāgasēna (E. C. II no. 34 ?)
8. Vīra Sēna II ... ... |
   Guna sēna
   |
9. Candra Sēna Ananta vīrya 977 A. C. (con. Rakkasa Ganga, E. C. I. Cg. 4.)
10. Aryanandi (E. I. IV no. 15 ?)
11. Nayasēna (E. I. XVI. ?)
    |
12. Ajita sēna (c. 974 A. C.)
    |
    Permāḍi (Chāvunḍa Rāya) | Anna Jinsēna III. | Kanaka sēna Narēndra Sēna, 1053 A.C.
    Mallishēṇa (1046 A.C.) | Nayasēna sena)

In the *Cāritra* Sāra, Raṇaranga sinha calls himself the disciple of Jinasena.

In the *Gommaṭasāra* of Nemi candra Gommaṭa Rāya is said to have been the disciple of Ajita sēna, whose guru was Ajja (Ārya) Sēna. In the Karma Kāṇḍa, Ajita sēna Nemi Candra, Indranandi. (c 975) Kanakanandi Abhayanandi, Vīranandi, Śimmala guru Indranandi (V. 16) are mentioned. And there is the specific reference to Dakkhiṇa Kakkuṭa Jina, established by Gommata Raya

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणोय ।
गोम्मटरायविणिम्मय दक्खिणकुक्कुडजिणो जयउ ।
गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण या कयादेसी ।
सो राओ चिरं कालं णामेण य वीरमत्तण्डी ॥

As regards Vajjvaḷa dēva (who is said to have been defeated by Mārasimha Noḷamba Kuḷantaka), one was the centemporary of Kṛshṇa III and Iṛiva Nolamba. *M.E.R.* 219 of 1932 mentions Vajjara dēva ruling Pulinādu under Kaṇṇadēva, where one Pṛthvīrāma seṭṭi died at Mangala. *M.E.R.* 236 and 237 of 1932 also refer to Vajjara dēva ruling Pulināḍu, *M.E.R.* 580 of 1906 refers to Vajjala dēva of Embāḍi as a subordinate of Ballaha in Ś. 887 (965 A. D.). Therefore Vajjvaḷa dēva is not a Silāhāra as assumed by Fleet. (*E I. V* p 170 f. n. 5). But Cavuṇḍa defeated Vajjvaḷa on the orders of Indra Rāja. Mārasimha alo is said to have enabled Indra Rāja to enter his capital Mānyakhēta. Fleet assumed that Indra mentioned in the Sravaṇa Belagoḷa inscription was placed on the Rāṣṭrākuṭa throne by Mārasimha. But there is no evidence that Indra (IV) was ever crowned, because Cālukya Tailapa had successfully usurped the power. Therefore it is suggested that Mārasimha enabled Nityavarsha Indra III (915—917 A. C.), to became king (*Indian Historical Quarterly, June, 1930*). Therefore the Chief Vājjvala conquered by the order of Indra *IV* must have been a person of northern India, since Indra conquered Kanuj and Mahōdaya. This Vajjvala dēva may be Vajra Simha (Vairi Simha) Paramāra of Malwa, also called Vajraṭa (*E.I.* p. 237). He was deposed by the Prātihara Manipāla and fled to the Rāṣṭrakūta country. Mahīpāla invaded Kuntāḷa also but according to the evidence of the drama *Caṇḍa Kauśikam* the Karnātakas defeated him and occupied his country, According to Pampa's *Vikarmarjuna vijaya*, the Cālukya Chief Narasimha defeats Mahīpāla as a subordinate of India III. Therefore there is nothing improbable in Mārasimha and Cāvuṇḍa rāya being already active from 907 A. D.

If Eṛeyappa is Mahēndrāntaka Eṛeyappa, then the Chikka Hanasoge inscription referring to Kalnela dēva should also be placed in C 910 A.D. In Ś 829 Prabhava (907 A. D.) one Nāgavarma died fighting for Eṛeyappa and Ajavarma on the orders of Ganga fought with Noḷamba and died (*Jl.* 19 E.C.XI) Sk. 284, *E. C.* VII. mentions Vikramādityā Sāntarasa and Eṛeya Permāḍiya Sânta (?) in Ś. 825 (903 A. D.) as the subordinates of Kṛshna II. *Sr.* 147 *E. C.* III refers

to Permānaḍi Eṛayappa and to Kumāra sēna Bhaṭāra of Kalbapputīrtha. Fleet assigned Ereyappa to 901—938 A C. (*E.I. VI* p. 59). *Cd* 74, *E. C.* XI. says that in Ś 890 Prabhava (968 A.D.) Jakki Sundari, the wife of Sūdraka, built a basadi in Kākambāḷe and the inscription mentions. Rāmacandra the disciple of Aṣṭōpavāsi, Baḷacandra bhaḷāra, Khehara Sakti, Guṇacandra Kirti, Nāganandi and Kumāra Kirti dēva. This *astopavāsi* was probably the same as Kelnele dēva the disciple of Ēlācārya. Since Indranandin's Jvāḷā maliṅi kalpa was written after Ēlācarya, and in the times of Rāṣṭra kūṭa Kṛshṇa III (939—966 A. D.), there is nothing to prevent Ēlā carya and Kaḷnele dēva being assigned to c. 900 A. C. and Nemicandra himself may have to be assigned to c. 925 A. C. Therefore it is highly probable that the image of Srī Gommaṭēśvara was installed in c. 907-8 A. C.

ŚRAVAṆA BELGOḶA—ITS SECULAR IMPORTANCE

BY

Dr. B. A. Saletore, M. A., Ph. D. (Lond.)

As is well known Śravaṇa Belgoḷa has been considered by the Jainas all over India as one of their most sacred spots in this country. Indeed, its religious importance has been so great that few have ever cared to enquire of its secular position in the civic life of the people. It is the object of this paper to show how for centuries this sacred place of Jaina pilgrimage was also noted for its material wealth. The remarks that follow are based on some of the many inscriptions that have been discovered in and around Śravaṇa Belgoḷa.

"In the whole beautiful State of Mysore it would be hard to find a spot, where the historic and the picturesque clasp hands so firmly as here"[1] This opinion of a modern foreign traveller is certainly justified. For the Jainas, much more than the Hindus, had a rare conception of scenic beauty and a gift of selecting delightful spots which were suited for religous meditation as well as for furthering the cause of material existence. Śravaṇa Belgoḷa was essentially one such spot.

That even in the earliest times the Jainas were aware of this double-sided importance of their centres is evident from one of the oldest stone inscriptions on Candragiri or Cikkabeṭṭa at Śravaṇa Belgoḷa. This epigraph, which has been rightly assigned to about A. D. 600, informs us that the great Bhadrabāhu-svāmi, having learned from an omen and foretold in Ujjain a calamity lasting for a period of twelve years, led the entire *sangha* (or community) to the south. "and reached by degrees a country counting many hundreds of villages and filled with happy people, wealth,

1. Workman, W. H. and W. J., *Through Town and Jungle*, p. 80 (London, 1904) ; Narasimhacharya, *Epigraphia Carnlica. II*, Intr. p. 2.

gold, grain, and herds of cows, buffaloes, goats, and sheep." [2] In other words, when that celebrated Śrutakevali selected this southern centre for his *sangha*, he made it clear to the world that the Jainas were going to a region that was economically—as we would put it in our own days self-sufficient and prosperous.

This economic importance Sravaṇa Belgōḷa maintained almost till own days, and lost it, as many hundreds of centres have lost, because of the altered nature of the times and the onrush of the forces of the modern world.

An examination of the epigraphs ranging from the twelfth to the sixteenth centuries A. D will reveal that the commercial life of the people of Śravaṇa Belgoḷa was marked by some special features. The most noticeable of these was their intense devoutness and patriotism. In early and mediaeval times in the South, we note that patriotism went hand in hand with religion. The merchants of Śravaṇa Belgoḷa were no exception to this rule. We shall prove this from examples relating to all the merchants of that place, and not to particular individuals. In about A. D. 1175, for example, all the merchants of Śravaṇa Belgoḷa, as is related in two stone

2. *Epigraphia Carnatica, ibid*, 1, p. 1. My assertion that this great Śrutakevali was the first Gaṇadhara (*Mediaeval Jainism*, p. 3) has been called one of my 'conspicuous errors of facts' by a critic in the *New Indian Antiquary* for *May, 1939*, p. 132. I relied for this detail concerning the great Bhadrabāhu on Dr. R. Shama Sastry's *Mysore Archaological Report for 1923*, p. 26, para 67. It is a great pity that I did not cite this reference which, from the point of view of the above critic, may also have been a "conspicuous error of fact." On reading the review of my work sent in advance to me for insertion in the NIA, I wrote atonce to Dr. R. Shama Satry and received from him the following note in his letter dated 9th February 1939 :—"Bhadrabāhu was not really a Gaṇadhara, but out of respect he was spoken of as a Gaṇadhara in some Jaina manuscripts and I copied it. I do not now remember the no. of the manuscript……" It will be evident to the reader, therefore, that in committing "a conspicuous error of fact," I have sinned in excellent company. As regards the other "conspicuous errors of facts" noted by the critic, I have dealt with them elsewhere, "in the interest of Jaina studies." B. A. S.

inscriptions assigned to that date, pledged themselves to pay annually for as long as the sun, moon, and stars endure, certain specified dues, to provide for flowers for Gommaṭadeva and Pārśva-deva. These merchants, we may observe, were "endowed with all good qualities", and are said in the two inscriptions to have been "of the holy place Beḷuguḷa" It is interesting to observe in this connection that it was not only men who thus gave evidence of their devoutness, but women as well. One of the two records expressly relates that "To provide for flowers for Gummaṭadeva, all the merchants of the holy place Beḷuguḷa, including Gummi Seṭṭ's Dasaiya, Lokeya-Sahani's daughter Somavve and all the citizens (*samsta-nakharangaḷu*), having purchased certain lands (specified with their location) from the assembly, made over the same to the garland-maker as a perpetual gift.[3]

The merchants Mosaḷe, which seems to have been perhaps a neighbouring place, too, showed their devotion in a like manner. For in about A. D. 1185 the merchants of Mosaḷe pledged themselves to give annually, as a perpetual gift, certain specified amounts, for the eight kinds of worship of the Tirthakaras set up by that large-hearted Jaina merchant leader of Śravaṇa Belgoḷa, Basavi Śeṭṭi.[4]

The fact that Basavi Seṭṭi is called in one of the records the *vaḍḍa-vyavahāri* or Senior-most Merchant,[5] suggests that the merchants of Mosaḷe had gradations of honour amongst them. We can see this better when we examine a record which specifically mentions the highest civic official of Śravaṇa Belgoḷa. This inscription has been assigned to about A. D. 1179. It relates that Malli Seṭṭi, the *Paṭṭaṇasvāmi* (or Lord Mayor) of Gommaṭapura, along with Gaṇḍanārāyaṇa Seṭṭi and the group of chief merchants (*mukhyavāda nakhara-samūha*), having assembled made an agreement which is registered in the record. The broad-mindedness of the Śravaṇa Belgoḷa merchants is seen from the concluding lines of this epigraph

3. *Ibid*, 241, 242, pp. 103, 104.
4. „ 236, p. 101.
5. „ 235, p. 101.

which run thus:—"May those persons who maintain this with affection enjoy long life and great prosperity! The wicked man who, without maintaining, violates this, shall incur the infamy of having slaughtered on the site of Kurukṣetra and in Vāraṇāsi seven crores of eminent sages, tawny cows, and men learned in the Vedas."[6] Evidently to the generous Jainas of the middle ages there was no distinction between Kurukṣetra and Śravaṇa Belgoḷa, and the Vedas and the Jaina Sidhānta.

That the Jainas of Śravaṇa Belgoḷa were organized in commercial guilds is evident not only from the above records but also from the one following in which we have clear evidence of the corporate life of the merchants of that holy place. The inscription in question has been assigned to about A. D. 1206. In this record the Jaina *guru* Nayakīrti-deva, who is to be distinguished from his famous namesake, who is rightly called in the same inscription "the king of asectics," is said to have given to all the merchants of the holy place Belgoḷa, in the presence of the *Senior Māṇikya-bhaṇḍāri* Rāma-deva Nāyaka, the minister of the Hoysala king Someśvara Deva, a charter which ran as follows :—

"For house-tax at Gommaṭapura, beginning from the year Akṣaya and for as long as the moon, sun, and stars endure, the residents shall pay eight *haṇas* (once for all) as the capital on which one *haṇa* can be realized (as interest), and live in peace. This includes the mills of oilmen. In case the imposts (named in detail) of the palace came to be levied, the *Acārya* of the place shall himself pay and settle the matter; it is no concern of the residents. Those who violate the terms of this charter are destroyers of Dharma-sthaḷa (which is evidently Śravaṇa Belgoḷa). If among the merchants of this holy place one or two, posing as leaders, teach the Ācārya deceit, and, causing confusion by taking one thing for another, encourage him to covet a *hāga* and a *beḷe* and ask for more, they are traitors to the creed, traitors to the king, enemies of the Baṇanjigas, gamblers (*nettagayaru*), perpetrators of murder and plunder. If knowing this the merchants are indifferent, they alone are the

6. *Ibid* 397, p. 169.

destroyers of this charity and not the Ācārya and the wicked. If without the consent of the merchants one or two leaders enter into the Ācārya's house or the palace, they shall be traitors to the creed. With regard to privileges, former usage shall be followed. Those who destroy this usage shall incur the sin of having slaughtered tawny cows and Brahmans on the banks of the Ganges."[7]

From the above charter the following conclusions may be drawn ;—Firstly, Śravaṇa Belgoḷa was a sort of a Free City, the house and mill taxes of which were collected not under orders from the Palace (*i.e.*, the king, or the State) but from the Ācārya of the place (*i.e.*, the Pontiff). Secondly, it was the Ācārya who was responsible to the State for the imposts of Government, and who leased the right of collecting taxes to the merchants-guilds. Thirdly, this was done in the presence of the highest official of the State - the minister—in order to make the agreement legal. Fourthly, the Ācārya, like his disciples, was intensely patriotic, as is evident from the clause relating to the treason to the king. Fifthly, there seems to have been evil persons in Śravaṇa Belgoḷa who, then as now, posing themselves as leaders looked to their own profit at the expense of both the holy place and the State. And, finally, the Jainas considered the Brahmans and Benares with the same reverence as they considered their *gurus* and Śravaṇa Belgoḷa.

How famous the merchants of this holy place were is evident from an inscription dated A. D. 1195 which informs us that they were "born in the eminent line of Khaṇḍali and Mūḷabhadra, devoted to truth and purity, possessed of the lion's valour, skilled in conducting various kinds of trade with many sea-ports, adorned with the famous three jewels, the merchants residing at the holy place Beḷuguḷa acquired celebrity on earth."

From the same inscription date A. D. 1195 we learn about another special feature of the commercial life of the merchants of Śravaṇa Belgoḷa. This is related to the very high place they occupied in the civic life of the people. The merchants of Śravaṇa Belgoḷa

7. *Ibid*, 333, pp. 140—141.

were in charge of the religious endowments of that city. The same record informs us that the merchants of that centre "were the protectors of that Jinālaya" (*i.e.*, the famous Nagara Jinālaya of Śravaṇa Belgola.[8]

Even in later ages the merchants of Śravaṇa Belgoḷa were in charge of the public charities of that centre. Thus in about A. D. 1274 the jewel merchants and the *eḷavi* (?), it was agreed upon, were to look after the charity which was made by some one whose name is not mentioned in the record But we are informed that a perpetual endowment of four *gadyāṇas* was made as an act of reverence to the memory of Medhāvi Seṭṭi of Bārakanūr, the lay disciple of Prabhācandra Bhaṭṭāraka, with the condition that three *moṇas* of milk should be supplied every day as long as the sun and the moon last.[9] In about the same year another endowment of three *gadyāṇas* made by Keti Seṭṭi (descent stated), for the daily anointment of the god Gommaṭadeva, was also entrusted to the charge of the jewel merchants of Śravaṇa Belgoḷa.[10]

The extreme care with which they looked after the public charities entrusted to their charge is proved by an inscription dated A. D. 1288. This inscription relates the following:—That all the jewel merehants of the holy place Beḷuguḷa and Jinanātha-pura (Mosaḷe ?), agreeing among themselves, gave a deed as follows:—"For the repairs (of the temple) of the god Ādi of the Nagara-Jinālaya, temple vessele, etc., and services, all the merchants of those two cities granted, with pouring of water, to continue for as long as the sun, the moon, and the stars endure, *davaṇa* (?) at the rate of one *gadyāna* for every hundred *gadyanas* of *davana* received from either local men or foreigners, for the god Ādi." The concluding lines of this deed clearly prove the solidarity of the merchants, their intense patriotism, and their honesty of purpose. "If any one denies or conceals (his income)

8 *Ibid*, 335, p. 143.

9. „ 244, p. 104.

10. *Ibid*, 245, p. 104. *Cf* No. 246, dated also in about the same year, for a similar example. Page 104—105.

in this matter, his race shall be childless; he shall be a traitor to the god, a traitor to the king, and a traitor to the creed. The signature of all the merchants—Śrī Gommaṭa." [11]

That the merchants of Śravaṇa Belgoḷa asserted their rights when injustice prevailed is evident from another record dated A. D. 1296. In this inscription we have the interesting information of the assemblies of Jaina *gurus* and leaders remitting certain taxes, and the merchants utilizing the same for a benevolent purpose It relates that in A. D. 1296 the assemblies of the Mūla-sangha, consisting of *mahāmaṇḍalācāryas* and *rājagurus*, having remitted certain taxes, saving "We will not take any of these (five taxes, named), or any others, is respect of the *devadāna* wet and dry lands of the gods Gommaṭadeva, Kamaṭha-Pārśvadeva, and Devaravallabhadeva of Bhaṇḍārayayya's *basadi*, or (of the gods) of other *basadis*," all the jewel merchants of the holy place Beḷuguḷa, the *gauḍa-prajegaḷ* (citizen- representatives) of Kabbāhunātha-Aruvana, and others granted, for the enjoyment of Devaravallabhadeva, five *gaḍyāṇas* which a certain official named Śambhudeva had unjustly levied as *maḷabhraya* (a kind of tax) from that god's village of Hāḍuvarahaḷḷi. [12]

The existence of jewel merchants and their guilds for centuries at Śravaṇa Belgoḷa bespeaks great wealth and influence in that centre. But wealth brought with it pleasure and enjoyment, and this makes us refer to one more feature of Śravaṇa Belgoḷa. It is that referring to the existence of dancing girls in that city. These were in no way behind other citizens in their piety and large heartedness. An example of one such generous and devout dancing girl was that of Mangāyi. Two inscriptions, both of which are dated in about A. D. 1325, relate that she was the disciple of Abhinava Cārukīrti Paṇḍitācārya. She was "a crest-jewel of firm faith (in Jainism), and a crest-jewel of royal dancing girls." This devout dancing girl caused a famous *caityā'lya* named Tribhuvanacuḍāmaṇi

11. *Ibid*, 336 p. 144.
12. *Ibid*, 347, p. 150.

to be built at Śravaṇa Belgoḷa.[13] For nearly two centuries this wonderful structure received public donations and charities. In about A. D. 1412 a citizen named Gummaṭaṇṇa of Gerasoppe repaired this *basadi*, along with four others, making gifts of food to one group of ascetics.[14] And in about A. D. 1500 the *gauḍas* (citizens) including Nāgagoṇḍa of Belguḷanāḍu and Kalagoṇḍa of Muttaga Honnenahaḷḷi, granted to the same Tribhuvanacuḍāmaṇi *basadi* the wet and dry lands of Doḍanakaṭṭe.[15]

13. *Ibid*, 339, 341, p. 145.
14. *Ibid*, 342, p. 145.
15. *Ibid*, 340, p. 145.

MONASTIC LIFE IN SRAVAṆA BEḶGOḶA.

BY

R. N. Saletore, M.A. Ph. D.

Some light may be thrown on some features of monastic life of the Jaina monks of Sravaṇa Belgoḷa from the earliest times till the beginning of the 19th century, chiefly from inscriptions. Broadly their life may be divided into two spheres: religious and economic, the former, of course, depending on the latter in the sense that no monastic life or activity could either exist or survive without support from outside and this assistance was offered purely with the sole object of promoting the Jaina *Dharma.*

The Jaina monks of Sravaṇa Belgoḷa appear to have paid considerable attention to scholarship. *Muni* Pujyapāda, for instance, was incomparable in grammar, skilfull in *Siddhnta*, poetry, and prosody. Another Jaina *guru* Prabhacandra was a celebrated author in logic.[1] Kaḷadhantu Sridhara Deva, was skilled in *mantras* and medicine,[2] while Meghacandra of the *śrī* Mūla Saṅgha, was in Siddhānta equal to Jinavriasena, in the six systems of logic like Akalanka and in all Grammar, Pūjyapāda.[3] Grammar, Poetry, Prosody, *Siddhānta*, Medicine and Logic appear, therefore to have been the principal subjects in which the monks of Sravaṇa Belgoḷa strove to achieve distinction and for which they devoted their quiet lives.[4]

These monks apparently lived in communities called *saṅghās*, of which, at least in Sravaṇa Belgoḷa, there were three if not four separate divisions. They were known as the Kelaṭūr[5], Mayūra,

---

1. *E. C.*, II; *Inscriptions* at *Sravaṇa Belgoḷa*, 40, p. 121. The references henceforth given are to the inscriptions given in this work.

2. 42, p. 123.

3. 47, p. 127.

4. *Cf.* Studies in the Nālanda Monastery, Shamans Hwui Li and Yen-Tsung. *The Life of Hiuen-Tsiang*, p. 112. (Beal).

5. 33, p. 119.

(which was probably the same as the Navilūra)[1] and the most important of all and perhaps the orignal, the śrī Mūla.[2] Little is known about the Kelatūra *Saṅgha* but of that of Navilūra mention is made of the great Anantamatī Guruva Naṅdi and his disciple Nandi *Munīsa*, who belonged to this congregation at various times. It is interesting to note that the Mayūra *Saṅgha* is called a *Grāma Saṅgha*, probably indicating its origin. But the most prominent of all these was evidently the śri Mūla the leaders of which have traced their leadership to Mahāvīra and Bhadrabāhu. It was customary for them when addressed to be given their spiritual designation especially in contemporary inscriptions. Kukkuṭāsana Maladhāri Deva, for example, is said to have belonged to the Arhata Samaya, (which was from the beginning the Mūla *Saṅgha*) the Koṇḍakundānvaya, of the Desīya Gaṇa and the Pustakagachha. They had spiritual as well as lay disciples. The spirtual disciple of this monk was the famous Subhācandra Siddānta Deva, while his lay follwer was Ganga Camūpati as is recorded in an epigraph dated A. D. 1117.[3]

One of the most important aspects of Jaina monasticism was the nature of their corporate of life, for it must be remembered that the Jaina monks lived in spiritual brotherhoods in select places. Bhadrabāhu is recorded to have arrived at "a country counting many hundreds of villages, completely filled with the increase of people, money, gold, grain, cows, buffaloes and goats."[4] In such places the Jaina monks lived, especially on the bounty of the pious rich as well the poor Grants of land were generally made at the request of the Jaina monks, although voluntary contributions were not unknown. A record of A. D. 670 reveals how a plot of land was granted at the request of one Arasi, obviously a Jaina monk and the details of the plot are also specified.[5] It is interesting to know how

1. 28, p. 118, 29. p. 119.
2. 27, 29, p. 118.
3. 45, p. 126.
4. 1, p. 115.
5. 24, p. 118.

such grants were made from time to time. So early as A. D 1131, one Siriya Devi, the daughter of Bala Deva *Daṇṇāyaka*, in order to provide in the Svati Gaṅdha Vārṇa Jina temple at Belgoḷa, for the divine worship, gifts of food to the assembly of *rishis*, and for repairs, presented the village of Maṭṭa-Navile in Kalkaṇī-nāḍ and an irrigation garden of fifty *Koḷagas* in the middle plain of Gangasamudra. Deposting 40 *gadyaṇas* of gold and asking permission of the reigning king Viṣṇuvardhana Deva Hoysala, and washing the feet of her *guru* Prabhācandra Siddhānta Deva of the Śri Mūla *Saṅgha*, she made over this gift, free of all dues [1] From this record it may be inferred that such an award was made with a threefold object; the maintenance of divine worship, the livelihood of the Jaina monks, and the repairs of the *basadis* is which they lived Not only arable, but also productive land was given, and if, as in this case, it was State property, (for all land in Karṇataka, at least, was not State property) it was granted after obtaining the formal sanction of the reigning king, and what is more important, free of all imposts. Some times such plots of land, with floral crowns (*hūvina paḍige*), were given over to the "hand" of the *Mahāṇāyakācārya*.[2] Land was actually purchased before a gift was made. Even so late as A. D. 1409, it is related how a *dunasāle* paddy field of one *khaṇḍuga* under the Gangasamudra tank of Belgoḷa was purchased (*kramavāgi konḍu koṭṭu*) by one Gaṇṇaṭa Deva "in the regular manner" in the presence of the chief citizens of Belgoḷa, and, after performing worship at the feet of the god, was given as a gift.[3] When such a grant of land was made to the Jaina monks of Sravaṇa Belgoḷa, its boundaries were clearly specified. In A D. 1196, for instance, the limits of a plot were thus specified: "the *modaleri* garden, in the *koḷagere* to the left of the Nagara Jinālaya; six *saḷage* of pady field; below the pond before Udaka's house 10

1. 53, pp. 133-34.

2. 56, pp. 143-44. 89 p. 156. The date of this record is not verifiable.

3. 107 pp. 165-66; *Note*: This custom of bestowing endowments. was in great vogue among the Buddhist monastries. The Nalanda monastery was very prosperous owing to such grants. *Cf.* Shamans Hwui Li and Yen-Tsung. op. cit. pp. 112-13.

koḷagas of dry land, to the south of Keṭṭi Seṭṭ's street north of the Jinālaya, two houses, and in the row of shops...for two oil mills and a house 5 *haṇa.* for a wholesale store in the town, 3 *haṇa.*"[1] From this record it may be concluded first, that plots of land, well-demacrated were given as grants, with their productive qualities clearly defined and secondly, that a graded levy was recovered from shops, oil-mills and houses. The inevitable consequence was two-fold: the Jinālaya received two steady types of income in kind as well as in cash.

It is possible to ascertain some more details of this cash recovery. For the eight kinds of worship, as a grant of A. D 1182 states, the following dues were given by all the *Deśigas Nāḍigas* and *Nagartas*:—

For a load of grain ...	... one *balla.*
„ „ pepper (chillies)	.. one *hāga.*
„ „ arecanut ...	... one quarter.
„ „ turmeric ...	.. one *hāga.*
„ bundle of cotton ...	.. one *hāga*
„ „ women's clothes	one *hāga.*
„ load of betel leaves	.. one *hāga vīsa.*[2]

These charges reveal that the Jaina monks recovered for their monasteries two kinds of revenue: in cash and in kind, and both of these were charged on necessities, which means that the sources of income could not possibly fail and the charges most probably remained light. The dues were charged on specified loads, the sizes of which probably depended on circumstances and places. Sometimes for repairs, for instance, of the Adi Deva of the Nagara Jinālaya and other temple purposes, all the citizens of the Jinanāthapura at the Belgoḷa tīrtha as in A. D. 1288, all the citizens of both these towns, with pouring of water, decided to give at the rate of one *gadyaṇa* for every hundred *gadyaṇa* of profit obtained either from their own people or from foreigners.[3] This implied that at times the people of the locality, not to mention

1. 130, p. 178.
2. 124, p. 172.
3. 131 (*b*) p. 178.

the outsiders who came to visit the place as well, had to pay *one per cent of their profit*, not of their income, and consequently the the charge could not have been heavy, especially as profit in commer cial transactions may be characterised as rather an elastic type of income. Hence the revenue from this source could not possibly have been either steady or appreciably large.

Gifts of donations were also made by the pious followers. We are told that donations were made in the cloisters of the holy Belgoḷa. A record of A. D. 1196 states that in such a place the citizens of Mosaḷe bound themselves to give every year amounts ranging from one *pāga* to five *pāgas*.[1] Sometimes the jewellers of Belgoḷa, as is revelaed in an epigraph ascribed to the year A. D. 1181, promised to pay an annual contribution of one *tā* per *tola* for the coral and one *vīsa* for the sapphires sold.[2] This practice of voluntary contributions became an established custom through the centuries. In the eventful year A. D. 1368 when Bukka I of Vijayanagara reconciled the Jainas with the Śri Vaiṣṇavas, it is recorded that throughout the whole of the kingdom (probably Belgoḷa) "according to their doors," house by house, the citizens gave one *faṇam* for the personal protection of Gomaṭesvara at the holy *tīrtha* of Belgola.[3] As the Kanarese expression reveals (*bāgilu daṭṭaṇeyāgi mane manege varṣakkc 1 haṇa koṭṭu*),[4] such a charge may be called a door-levy, which should not be confused with the house-tax (*mane-dere*) which will be referred to later.

The Jaina congregation took every care to see that these gifts in cash and kind were properly administered, for these were invariably given as though in perpetual trust to the Jaina god-head. A record of A. D. 1180 shows how, having constructed a tank called Nāgasamudra and planted a garden, some disciples of the mortgagers, who are named, gave up the garden and the land to one

1. 99, p. 160.
2. 86, p. 156, text, p. 70.
3. 91, pp. 159 : this date is not verifiable,
4. 136, p. 181.

Nāgadeva Heggaḍe, who presented it to Śri Gomaṭa Deva.[1] In order to keep in tact the award so made, sometimes formal agreements were made between the Jaina monks on the one hand and the donors on the other. Such a pact can best be illustrated by an example. In A. D. 1280 the officiating priests (*pūjakārigaḷuoḍambaṭṭu*) of the Nakhara Jinālaya, made the following agreement with all the citizens of the Beḷgoḷa *tīrtha*. The wet and dry lands of this temple were to be cultivated and " devoting the produce to the eight kinks of worship of the god (we) will make without fail the offerings appointed by the citizens. *Whoso of our family shall sell, mortgage or give on contract the wet and dry lands bestowed upon the god, is a traitor to the king and a traitor to the congregation.* Thus have we agreed and written."[2] Therefore such a pact implied that it was binding on the priests to observe unfailingly the appointed rites and not to either sell, mortgage or give on contract any of the gifted lands. The income and expenditure of such properties must have been watched as can be inferred from an inscription, dated A. D. 1296. In this year the assembly of the Śrī Mūla *Saṅgha* decided first, that whatever they had been obtained as income from the paddy-lands and dry-fields, together with the waste land, the fire-wood, leave, decay of the *basadi* house and so forth, was to continue in tact. Secondly, all the jewel-citizens (jewellers) of Beḷgoḷa, the farmers and subjects, ordained that five *gadyaṇa*, which a certain Śambhu Deva had *unlawfully* disposed of to Srī Vallabha Deva's Hāḍuvarahaḷḷi, should be expended on the festivals of those gods and that the eight rights of possession, with the petty taxes (*ḳirḳuḷa*), whatever they might be, of that village, should be expended on the festivals of those gods and Vallabhadeva. Such a decision implied that wrongful appropriation from one head to another head of account was not tolerated and was branded as " *unlawful* " (*anyāyavāgi maḷabrayavāgi*).[3] Moreover it meant that income from one specified plot of land was to be

1. 122, p. 172.

2. 134, p, 178, texi p. 99 : ᵃtu mᵃḷipadam rāja d(r)ohi samay d(r) Drohigalendu ... Italics mine.

3 137, (c), p. 183.

expended on that plot alone and to no where else, thus bringing into common use the vital principle of self-sufficiency, which was so essential in maintaining the corporate life of the Jaina *Saṅgha*.

Some further details of such an agreement can be made out from a grant of A. D. 1266 when a settlement was made between the Jaina *Saṅgha* of Sravaṇa Belgoḷa and the local merchant devotees. In this year Nayakīrti Deva set down, for all the Nagartās of Gomaṭapura, in the presence of the senior treasurer (*hiriyamāṇikya bhaṇḍāri*) Rāma Deva Nāyaka, Minister of Someśvara Deva, son of Vīra Ballāḷa II, the following decree :—

(*a*) For (each ?) house in Gomaṭapura the *monied* were to pay 8 *haṇa* on their stock (or capital) and remain in peace.

(*b*) Among the mills of oil-mongers, *whatever justice or injustice of the palace*, (whatever) loss or expense may come, the Ācārī of that place must himself stipulate and recover the dues : there was to be no charge on families.[1]

From this order it may be concluded that, in the thirteenth century, the monks of Sravaṇa Belgoḷa charged and recovered the house-tax (*mane dere*) and the oil-mongers dues (*teligāra-gāṇa*.) As the house-tax was recovered only from the wealthy, it could not have affected the poor. But, on the other hand, despite the dues of the king, whether legitimate or not, whether they made a profit or suffered a loss, the oil-mongers were obliged to pay the stipulated dues which, unfortunately, appear to have been left to the discretion of the local *ācārī*, who perhaps was expected to know the local conditions better than the monastery officials entrusted with the recovery of the other dues. When such a charge was imposed the tax on families as units was exempt, which shows that the Jaina monks did not dare to stretch the weapon of taxation too far.

1. 128, p. 176 : Āgi haṇa-vondara modalinge……haṇa vondara modalinge enṭu-haṇavau sukhav ipparu-teligara gāṇa voḷagāgi aramaneya nyāyav anyāyam oḷa-braya ēnuṁ bandaḍam *ā sthaḷadācāryyaru tāve tettu nirṇṇasivaru ʼokkala kāraṇa kathey illa.—Note* : I have changed the translation of the lines underlined, as I nsider my interpretation to be clearer.

It is interesting to note how the Jaina monks took stringent steps to see that none of these measures was transgressed with impunity. This decree further laid down that "if, transgressing the regulations of this order, one or two among citizens of this *tīrtha*, becoming leaders, give bad advice to the *ācāri* to ask for a reduction in the rate, they are traitors to the congregation and traitors to the king. The guild of merchants will not cast lots, nor demolish the long established customary fees. If knowing this, the Nagartas discard it, the Nagartas themselves are the destroyers of the charity: moreover, the *ācāri* and the wicked are not its destroyers. If one or two head men, without the consent of the Nagartas, enter into the house of the *ācāri* or into the palace, they are traitors to the congregation. For free grants and remissions they will follow the old customs."[1] Consequently transgression of the established regulation was declared illegal No reduction in the rate once fixed after agreement was allowed and if any one dared to make such an attempt it was met with the highest punishment which the congregation could possibly give: excommunication from the *Saṅgha*, as such an action was condemned as treason. Again, if any of those who had bound themselves, well knowing it, dared to do such an action they, and not either the *ācāri* or the really guilty, were to be considered traitors to the trust. These *Nagartas* were not even allowed to go either into the house of the *ācāri* or the royal palace, evidently to exert any influence in making any alteration in the charges once fixed and if they did so they were branded as traitors to the congregation. This however, did not mean that no reduction or remission would be granted, for in this as well as in others, established usage was not forgotten and precedent not lost sight of, as such precedents must have formed a code of case-law.

1. 128, p. 176, text. p. 96: I tīrtha nakharaṅgaḷoḷage vobbar-ibbaru grāmaṇigaḷāgi ācāryarige Kauṭilya-buddhiyaṅkalisi vondak onda nenadu toḷasâṭavam māḍi hāga beleyam aḷihi beḍikoḷḷiy endu âcāryyarige manam gottaḍe avaru samaya droharu rājadroharu baṇajiga pageyaru nettagayaru kolekavartteg oḍeyaru. idam aridu nakharaṅgaḷu upeksisi dar ādaḍe ī-dharmmav nakharaṅgaḷe keḍisidavar allade ācāryyara durjanarum keḍisidavar alla loḷkaḍe samaya droharu manya mannaṇeya pūrvva maryyāde naḍasuvaru.

Despite all these regulations and the great care which the Jaina priests administered to preserve their endowments, the monks themselves sometimes went against their own interests and laws and in the bargain brought stark bankruptcy on their heads. In such a crisis they appealed to the king, who invariably succeeded in bringing their dilapdiated finances into some order. So late as A. D. 1634 the priests of Sravaṇa Belgoḷa were actually faced with such a crisis. The priests, says the record, "on account of their various troubles mortgaged to the merchant-householders the endowments made for the worship of Gummaṭanātha swāmi of Belgoḷa of of the gods" and the mortgage-holders enjoyed possession of these properties for a considerable time. Then came the crisis when Cāma Rāja Voḍeyar Ayya of Mysore, inquired into the matter, sent for the merchant house-holders and said: "*The loans which you have made to the priests we will pay and discharge.*" On hearing this they said, that merit might acrue to their parents, they would make a gift of those loans, with the "pouring of water." Then in the presence of all the priests and the merchant-house-holders, the god and *guru* being witness, this release from a long-standing public debt was proclaimed and sanctified. But in order that history might not repeat itself, it was decreed that in future whosoever of the priests mortgaged the endowments or granted a mortgage thereon, would be excommunicated from their religion and would have no claim to place and property.[1]

Such security and management of finances would not have been possible without the maintenance of proper accounts and adequate financial administration. The Jaina monks must have had some officials in charge of their treasury and their accounts. A grant of A. D. 1117 refers to the head of the treasury of Narasinha II who was styled as the *Bhaṇḍārādhikṛta* Huḷḷa while mention is made of the head of the accountants called *Karaṇotsāhi* Nila.[2] Under the latter officer, it may rightly be supposed that there must have been

1. 140, p 185, text p. 111.

2. 42, p. 123. On the activities of this great general, See Saletore, *Mediaeval Jainism*, pp. 140-45

several assistants and the accounts section must have formed the main department of finance in the Jaina monastry at Sravaṇa Belgoḷa. Of course, there were some other officials as well; for mention is made of the writers (*lekhaka*) and the engravers (*ācāri*) who were entrusted with the publication of the *basadi* inscriptions.[1]

Here, within the sacred precints of the *basadi* the Jaina priests lived and passed away. Their practice of *sallekhana* must have an extremly trying and difficult feat to men as well as women who perished in this way. In A. D. 1131 one Māciyabbe " with eyes half closed, repeating the five words (or phrases),[2] glorious with meditating on Jinendra, magnanimous in parting from relatives, absorbed in the vow of a *sanyāsi* ", perished.[3] Those who were so resolved starved from three days to one month,[4] at the end of which they must have succumbed. Great was their faith for they always cried out: " May the honourable supreme profound *syād-vāda*, a fruit-bearing token. the doctrine of the lords of the three worlds, the Jaina doctrine, prevail."

1. 44, p. 125.

2. *Note*: they are: *Namo Arahantāṇam*: *Namoh sidhāṇam*: *Namoh āyuyyā-ṇam*: *Namoh ovaj-jhāyāṇam*: *Namoh lō sabba sāhuṇam.*

3. 53, p. 132.

4. 54, p. 140; 55, p: 144; 13. p. 117; 5, 8, p. 116. *Note*: – This religious death is described by Āyita Varmma in his *Ratna Karaṇḍaka*. It seems to have prevailed in the Roman Empire and among the Albigenses it was called *Endura Cf.* Lecky, *History of Morals in Europe.* I, p. 231, II, p. 52.

DATE OF MALAYAGIRI SŪRI

BY

P. K. Gode, M. A.

Winternitz[1] in his *History of Indian Literature* states that a MS of Malayagiri's Commentary on *Karmaprakṛti* is dated *1395 A. D.*, a MS of the Commentary on the Nandi Sūtra is dated *1235 A D.*, a MS of the Commentary on the Vyavahāra Sūtra is dated 1253 A.D. Peterson [2] refers to the several works of Malayagiri and states that this writer's *Śabdānuśāsana* was written in the reign of Kumārapāla. Kielhorn [3] states that one of Malayagiri's works was composed in Kumārapāla's reign between 1143 and 1174 A.D. I wonder why Winternitz has not recorded the above date for Malayagiri as given by Kielhorn and referred to by Peterson. In case he had any doubts in accepting the date given by Kielhorn we shall have to see if these doubts are justified on the strength of other evidence in support or against Kielhorn's date for Malayagiri.[4]

In the *Catalogue of Manuscripts* in the Jain Bhandars at Patan there are certain dated MSS. of works, the author of which is stated to be Malayagiri. These MSS may be recorded as follows with their dates :—

Page.	Work.	Saṁvat.	A. D.	Place of Deposit.
22	षडशीति (सटीक) मू० जिनवल्लभ टीका of मलयगिरि ।	1332	1276	Saṅghavi Pāḍā Bhāṇḍār.
43	षडशीति वृत्ति by मलयगिरि ।	1258	**1192**	Do.
94	संग्रहणी वृत्ति by मलयगिरि ।	1290	1234	Do.
98	सप्ततिका टीका by मलयगिरि ।	1221	**1165**	Do.
201	चंद्रप्रज्ञप्ति टीका	1480	1424	Do.

1. *His. of Ind. Lit.*, Vol. II, 1933 (Calcutta Univ.) p. 592 fn. 2.

2. *Fourth Report*, 1894, Index of Authors p. lxxxviii.

Works of Malayagiri mentioned by Peterson are :—

(1) व्यवहारसूत्रटीका, । (2) पञ्चसंग्रहटीका । (3) नन्द्यध्ययनटीका । (4) कर्मप्रकृतिटीका । (5) सप्ततिकाटीका । (6) प्रज्ञापनासूत्रटीका । (7) चन्द्रप्रज्ञप्तिसूत्र टीका । (8) सूर्यप्रज्ञप्ति टीका । (9) शब्दानुशासन ।

3. *Report on Palm-leaf MSS* (1880-81), p. 45—Kielhorn observes :—" The instance अदहदरातीन्कुमारपालः on folio 255(b) proves that the work was composed in the reign of Kumārapāla *between 1143 and 1174 A. D.*"

4. Compiled by Dalal and Gandhi, Baroda, Vol. I, 1937.

Page.	Work.	Samvat.	A. D.	Place of Deposit.
202	सित्तरिवृत्ति by मलयगिरि ।	1462	1406	Saṅghavi Pāḍā Bhāṇḍār.
232	धर्मसङ्ग्रहणीटीका by मलयगिरि ।	1437	1381	Do.
231	सूर्यप्रज्ञप्तिटीका by मलयगिरि ।	1481	1425	Do.
239	चंद्रप्रज्ञप्तिटीका by मलयगिरि ।	1483	1427	Do.
311	आवश्यकवृत्ति by मलयगिरि ।	1446	1390	Saṅgha Bhāṇḍāra
397	कर्मप्रकृतिवृत्ति by मलयगिरि ।	1331	1275	Tapāgachha Bhāṇḍāra (Phophalia Wada).

In *the Catalogue of Jesalmere MSS*[1] we find the following dated MSS. of works ascribed to मलयगिरि —

Page.	Work.	Samvat	A. D	Place of Deposit.
18	आवश्यक बृहद्वृत्ति by मलयगिरि ।	1491	1335	Big Bhāṇḍāra at Jesalmere.
43	राजप्रश्नीयवृत्ति by मलयगिरि ।	1488	1432	Do.
23	चंद्रप्रज्ञप्तिटीका by मलयगिरि ।	1488	1432	Do
42	जीवाभिगमवृत्ति by मलयगिरि ।	1489	1433	Do.
13	नंदीटीका by मलयगिरि ।	1488	1432	Do.
39	पिंडनिर्युक्तिवृत्ति by मलयगिरि ।	1489	1433	Do.
41	पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति by मलयगिरि ।	1289	**1233**	Do
36	व्यवहारवृत्ति by मलयगिरि ।	1490	1434	Do.
37	बृहत्कल्पपीठिका by मलयगिरि ।	1378	1322	Do.
18	व्यवहारवृत्ति by मलयगिरि ।	1490	1434	Do.
35	संग्रहणीटीका by मलयगिरि ।	1296	1240	Do.
24	सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्ति by मलयगिरि ।	1489	1433	Do.

1. By C. D. Dalal, Baroda. 1923.

It will be seen from the two foregoing tables of dated MSS. ascribed to Malayagiri that they were copied in the years A. D. *1165*, *1192*, *1233*, *1234*, 1240, 1275, 1276, 1322, 1335, 1381, 1390, 1406, 1424, 1425, 1427, 1432, 1433, 1434. The earliest dated MS. of Malayagiri's work recorded by Winternitz is dated A. D. *1235* while in the above chronological tables we have four MSS. of Malayagiri's works[1] bearing dates earlier than A. D. 1235 *viz.*, A. D. *1165*, *1192*, *1233* and *1234*. According to Kielhorn Malayagiri wrote during King Kumārapāla's reign *i.e., between A. D. 1143* and *1174*. This statement, though not mentioned by Winternitz and accepted, appears to be corroborated by the dates A. D. *1165* and *1192* of Malayagiri's two works सप्ततिकाटीका and षडशीतिवृत्ति. We may, therefore, safely fix A. D. 1165 as one of the limits for the date of Malayagiri, the other limit being about A. D. 1050 as will be seen from the following evidence :—

Malayagiri in his Commentary on the *Āvaśyakasūtra* mentions Prajñyākaragupta and quotes a verse[2] from his work as follows :—

"उक्तं च प्रज्ञाकरगुप्तेन—

"यथा वा प्रेर्यते तूलमाकाशे मातरिश्वना ।
तथा शब्दोऽपि किं वायोः प्रतीपं कोऽपि शब्दवित् ॥"

This appears to me to be a quotation from one of the Sanskrit works of Prajñākara Gupta who was a Buddhist logician belonging to *about 940 A. D.*[3] It may be possible for students of Buddhist

1. For the names of works of Malayagiri vide *Jain-Granthāvali*, pp. 4, 6, 8, 10. 14. 18, 20, 40, 42, 64, 100, 115, 117, 119, 120, 125.

2. Vide folio 29a of the Pothi Edition of the Āvaśyakasūtra with Malayagiri's Commentary (Āgamodaya Samiti No. 56) 1928.

3. Vide p. 336 of the *History* of *Indian Logic* by S. Vidyabhushan, Calcutta, 1921. Prajñākara Gupta lived at the time of Maha Pāla, who died in 940 A D. He wrote the following works :—

1. *Pramāṇavārtikālamkāra*, a commentary on the *Pramāṇavārtika* of Dharmakīrti. Vidyabhushan states that the Sanskrit original of this work of P. Gupta appears to be lost. Recently, however, the work has been recovered and edited by Rahula Sankṛtyāyana in the *Journal of the Bihar and Orissa Res. Soc.* Vol. XXI, Part II (1935). There is also a Tibetan translation of the work.

2. *Sahālambaniścaya*—The Sanskrit original of this work also appears to be lost according to Vidyabhusan but there exists a Tibetan translation.

literature to trace the above verse in P. Gupta's one of the two Sanskrit works."[1] If the author of the name Prajñākara Gupta mentioned by Malayagiri is identical with the celebrated Buddhist logician of that name we may safely fix A. D. 1050 or so as the other limit to the date of Malayagiri. It would thus be seen that the date of Malayagirisūri may be taken to lie *between A. D. 1100 and 1175.*[2]

1. One of these two works viz., the *Pramāṇavārtikālaṃkāra* has been fortunately recovered for us by Rāhula Sāṅkṛtyāyana [Vide p. 42 of *Jour. Bihar and Orissa Res. Soc.* Vol. XXI (March 1935)]. The MS described by him consists of 59 leaves and contains Chapters II and III of the work. This MS has been published in the June 1935 issue of the above journal (pp. 1 to 158). The published portion is fragmentary as it begins from the *Kārikā 330* of the text (vide p. 63). It ends with *Kārikā 539* (p. 158) and is called प्रत्यक्षपरिच्छेद *Cf* Colopon "प्रमाणवार्तिकालङ्कारे प्रत्यक्षपरिच्छेदो द्वितीयः" which corresponds to the 3rd *Pariccheda* of the text of the *Pramāṇavārtika* as stated by the Editor in the footnote on p. 158.

2. In the *Abhidhānarājendra* Vol. VI (1923) p. 156 there is a small article on Malayagiri but it contains no historical information about this author. The compilers of this encyclopaedia, however observe :—
"मलयगिरेः समयो गुरुपरंपरादिकं च न ज्ञायते तथापि हरिभद्रसूरेरर्वाक्तन इति ज्ञायते"
The date of Haribhadrasūri is about 750 A. D.

BEḶGOḶA AND BĀHUBALI.

BY

Prof. A. N. Upadhye, M.A., D. Litt.

In the mediaeval history of Jainism in the South, Śravaṇa Beḷgoḷa has been a place of great cultural importance. The greatness of Beḷgoḷa lies in the fact that it possesses certain features of lasting value: traditionally the place is associated with Bhadrabāhu and Candragupta Maurya, and the historical value of this tradition is now accepted by the standard authorities; it possesses a large number of Inscriptions which are important from the historical, linguistic and literary points of view; there is a Maṭha the spiritual heads of which have guided the social and moral destiny of the Jaina community in Karnāṭaka and round about for centuries together; there are beautiful temples and treasures of old MSS. of which any holy place would be proud; and last but not the least there is the grand image of Bāhubali on the top of the prominent hill there. For these and other reasons Beḷgoḷa is not only a holy place for the Jainas but also a place of cultural and historical importance to the students of South Indian History.

In the Hassan District of the Mysore State, just near Channarayapattan, Beḷgoḷa is very attractively situated near a nicely built square lake in a valley between two hills: Vindhyagiri and Candragiri. The name of the place is probably derived from Beḷ (meaning, white) goḷ (meaning, pond) referring to the splendid square lake which is mentioned in the local inscriptions as Dhavala or Śveta Sarovara. Workman rightly said: 'In the whole beautiful state of Mysore it would be hard to find a spot where the historic and the picturesque clasp hands so firmly as here'. The name Vindhyagiri the migrating people must have brought with them from the North; while the name Candragiri appears to have been suggested by the fact that Candragupta Maurya, who came to the South with Bhadrabāhu, as a tradition of much authenticity and sufficient antiquity tells us, breathed his last on this hill. Candragiri is also

known as Cikkabeṭṭa, as it is smaller of the two hills. On this hill we have fine temples of the Dravidian architectural style, some of them as old as 8th century A. D. Some of the temples such Chāmuṇḍarāya Basti etc., are very beautiful from the artistic and architectural points of view.

It is on Vindhyagiri or Doḍḍabeṭṭa that the image of Gommaṭeśvara stands. The upper part of this huge statue on the top of the hill can be seen from a distance of some sixteen miles. From the ground below we see the image upto the breast, but as we climb the hill the image goes out of sight being surrounded by a temple the ramparts of which support the lower half of the image. Cut out of a boulder (of fine grained light grey granite) resting on the spot, the image is about fifty-seven feet in height. Though not older, it is bigger than the statues of Rameses in Egypt. It stands all nude with arms hanging straight with the thumbs slightly turned outwards. The pedestal of the image represents an open lotus. There are anthills, in stone of course, with emerging serpents on both the sides; and the Mādhavī creeper twines itself round both legs and arms: this indicates the posture of deep meditation. There is an impressive and majestic grandeur about the image. What engrosses one is the demeanour of the face. 'The artist was skilful indeed to draw from the blank rock the wondrous contemplative expression touched with a faint smile with which Gommaṭa gazes on the struggling world' for the last one thousand years, the image being carved out in circa A. D. 984 by the order of Chāmuṇḍarāya, the commander in chief of Rājamalla, the Gaṅga king, who ruled over that part of the country.

All full photographs of this image are in one way or the other distorted, because the image is very tall and there is no convenient point sufficiently elevated to focus the full image This image is imitated at Kārkal and Venur; but the three faces, as I see them, give different expressions. The detached serenity of the Beḷgol image is a triumph: not only it attracts the mind but entraps our heart. The Kārkal image shows extra-meditational gravity and that of Venur juvenile smile. The purpose of imitation has almost failed;

but to the fotune of posterity and to that of monolithic art of India these three images are precious and proud contributions. The granite of the Belgola statue is superior : like its face undisturbed by attachment and aversion the image stands almost unaffected by sun and rains, 'and looks as bright and clean as if just from the chisel of the artist'.

The serene and detached face, with its childlike innocent simplicity, of Gommateśvara commands respect and reverence. It is a profoundly significant remark of His Highness the Maharaja of Mysore who said thus some years back: 'The land of Mysore symbolises Gommata's spiritual empire'; and let us pray that the spiritual forces might be radiated from the life and the image of Bāhubali all over the world which is passing through a transitional period of history.

The life of Gommateśvara or Bāhubali has a noble lesson to the struggling humanity for all times to come. Bāhubali was proud of his power and strength. He would not give an inch of the land and submit to his elder brother Bharata whom he refused to accept as the overlord. Bharata was irritated, and there ensued the battle. The wise ministers asked them as to what they would gain by killing on the battlefield thousands of men for whose welfare their kingdoms were meant. What a vanity of the individuals, and now-a-days of Nations, that so many people are to be sacrificed on the battlefield and so much property wasted! Wiser counsels prevailed, and Bharata and Bāhubali got down into the arena to decide the issue between themselves They fought against each other in various ways Bharata was defeated. Bāhubali won the applause of all. His success meant the defeat of his brother: what a vanity of success and defeat! The spiritual values flashed across his mind, and Bāhubali bade good bye to the hollow vanities of this world and rose above them by cultivating the spiritual values of a lasting character.

Today, as we look around and across the oceans, the flesh attracts the human mind more than the spirit; moral virtues are

at a discount and hypocracy is the fashion of the day; ethical standards are being easily smashed with no just substitutes being put in their places; the scientist has achieved great things, but he is playing in the hands of the politician, capitalist and the mad nationalist; today the world is made a big family which has one mind but unfortunately not one heart; competition and exploitation backed by brutal force are the current coins in the socalled international affairs, and mutual good will and sympathy are no more there; property is more valuable than humanity; love, liberty, justice etc, have become hollow terms of fashionable use; language is not being used for mutual understanding but to misinterpret and twist the simple facts and to mislead and deceive each others; motives are conveniently concealed and downright liars are hailed as diplomats; most barbarous and carnivorous crimes are committed under the decent names of civilization and nationalism, and palpably false reports are shamelessly broadcast to the reading and hearing public: in short, the materialistic forces switched on by abnormal possessive instincts are shaking today the very nerves of the human society. At such a critical hour in the history of mankind, I can only pray that Bāhubali's life and his image that stand for all that is true, beneficial, and beautiful, might inspire in us permanent ethical and spiritual values and lead us on from darkness to light:

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं वीपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

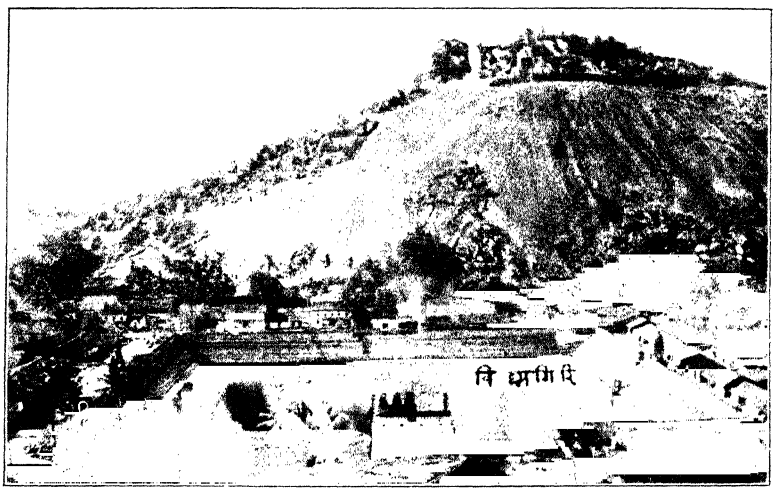

विंध्यगिरि

(श्रीजैन दिगम्बर ट्रेडिंग कम्पनी श्रवणबेल्गोल के सौजन्य से)

ŚRAVAṆA BELGOḶA.

ITS MEANING AND MESSAGE.

BY

Prof. S. R. Sharma, M.A.

A thousand thoughts come crowding in my mind as I write, in response to the call to contribute, to this special number of the *Jaina Antiquary*. It was indeed a very happy idea to bring out this symposium on the eve of the great Abhiṣeka which is shortly to take place. As the recent appeal of Sir Mirza Ismail rightly indicated, Śravaṇa Beḷgoḷa is not merely of sectarian interest; it is a national treasure. Like the Tāj Mahal and the Kailās Temple, the colossus at Beḷgoḷa has attracted universal admiration. It is well to bear in mind, however, that without underestimating the value of the magnificent Āgrā monument and the marvellous Ellorā excavation, the significance of the Jaina memorials in Mysore is deeper than the proud memories evoked by either the exquisite and enduring fossil of a doting Emperor's dreams, or the granite efflorescence of the artistic and architectural genius of the medieval Hindus. Great as these and other antiquities undoubtedly are, the meaning of the Mysore monuments is greater still.

Above all, to my mind, Śravan Beḷgoḷa is most typically *Indian*, for it enshrines the spirit of sacrifice in the cause of the Spirit which alone is Life. India has been the home of several religions and schools of thought, but through all of them—with the singular exception of the Cārvākas—runs one philosophy, one attitude towards Life, one Faith. That Faith is transcendental; it seeks liberation of the Soul from the trammels of mundane existence; it stands for the ultimate triumph of Spirit over matter. It is the shining beacon of Life across the wasteland of death, Life that is enduring and eternal.

The European may climb the highest peaks in the Alps and the Himalayas, may explore the icy corners of the Arctic and the Antarctic, may dive to the deepest depths of the Atlantic and the Pacific,

and fly to the utmost reaches of the stratosphere, but he staggers at the transcendental flights of the Indian philosophers. His eyes have been trained to seek the truth through the microscope and the telescope, his mind has sought to study life in the laboratory through vivisection. In the result, he has succeeded in enslaving matter; but the slave (matter) has also been holding the conqueror (Spirit) in bondage. Not so the Indian, where he has not ceased to be truly *Indian.*

Drunk with the pride of conquest the European may mock at what he considers to be our futile and inane philosophy. But we have reason to believe that the inebriated Western people are getting more and more entangled in the labyrinth of their own making. If their titanic struggle may be best illustrated by the statue of Laocoon desperately caught in the coils of a deadly tangle of reptiles, the Spirit of ancient India is well represented by the colossal calm of the image of Bāhubali rising high over every other human structure, breathing freedom in its great silence. The superficial observer is likely to interpret this contrast in a different way: Does not the naked figure of Gommaṭa show rather the static inactivity of the stagnant East, and the struggling Laocoon group the palpitating dynamism of the progressive West? But I should think that the real contrast is more like that of the restless maelstrom diving into the greater restlessness of the agitated Atlantic, on the one side, and the placid calm of the profound Pacific on the other.

However, this is only one aspect of the situation. The human Spirit, which knows not the dychotomy of East and West, may be said to have gone to one extreme in India and naturally swung back to another extreme in Europe. Truth lies not in the Golden Mean, not midway between the two extremes, but rather in the full amplitude of the swing of the pendulum of Life. The midpoint represents only death; the Jaina philosophy does not stand for that. It has been misrepresented as a philosophy of stagnation, seeking *death* rather than *life.* The Jaina monuments are an eloquent refutation of this libel.

The Tīrthaṅkaras did not stagnate into Nirvāṇa. They built a giant causeway across the dreary ford of death to the eternal fields of Life. Syādvāda and Anekānta are suggestive of all-sided comprehensiveness rather than of any one-sided obsession of monomaniacs. Those who have understood Jainism correctly have characterised it as the most logically consistent of all philosophies. If this should be construed as constituting its main weakness—for Life is too complex to be logically consistent—, then the critics of Jainism should remember that it is not merely a 'philosophy' but also a 'way of life'; that it is not merely a body of thought or a bundle of doctrines, but it also enjoins a course of action and inculcates a code of discipline. Jainism is no more to be condemned as a negation of Life, than Christianity. If the latter is to be judged in terms of its influence over the lives of the Europeans during several centuries, the same should be the norm by which to assess the former. If christianity has made invaluable contribution to European civilization, so has Jainism enriched Indian civilization. If in the course of generation the Christians have resiled from the teachings of Christ, that cannot be a refutation of the positive gains to humanity from Christ's teachings. Likewise, if in the course of ages the Jainas have failed to live up to their ancient ideals, their historic contributions are not to be forgotten. Gratitude in both cases would demand sympathetic understanding from all; such understanding would not only lead to better appreciation, but also provide the corrective that modern living needs both here and elsewhere.

BAHUBALI STORY IN KANNAḌA LITERATURE.

BY

Prof K. G. Kundangar, M.A.

In the so far published Kannaḍa Literature the story of Bāhubali is first noticed in the Ādi-purāṇa of Ādi-Pampa (about 941 A. D.) To relate it here will not be out of place. Bharata was the eldest son of Ādinātha, the first Tīrthaṅkara and his queen Yaśaḥsvatī, and Bāhubali was born of his second wife Sunandā. On account of his unsurpassed beauty of person the latter got the names Chittaja, Chittabhava, Manasija, Anaṅga and Aṅgaja. When he was of proper age, his father taught him Kāmatantra, Sāmudrika, Āyurveda, Dhanurveda, Hastyaśvatantra, and Ratna-parikṣā, (8—60 gadya). Bharata attained the height of 500 bow-lengths and Bāhubali 525.

When it was proper time for Vṛṣabhanātha to take dikṣā, the burden of the whole kingdom was thrown on his eldest son Bharata and Bāhubali was made the crown-prince. The latter was given the management of Paudanapura torritory (9—65 gadya).

When Cakraratna was born in the Kośāgāra of Bharata, he went on a tour of world-conquest and returned to Ayodhyā His Cakra-ratna remained outside the city refusing to enter showing thereby that the conquest was not complete. After inquiry the emperor found that his brothers were to be conquered. He sent his envoys to Bāhubali and others to admit his suzerain power. All others except Bāhubali were unwilling to accept the offer. Neither were they able to face him. They, therefore took dikṣā. But Bāhubali received the envoy and acquainted himself with the purpose for which he had come to him. He refused to accept the suzerainty of Bharata and prepared for war. Hearing this Bharata marched on Paudanapura with his army. Both the brothers then agreed to fight each other to avoid blood-shed of the innocent soldiers. The emperor was successively defeated by his brother in Dṛṣṭiyuddha Jalayuddha, Mallayuddha. Enraged at this defeat he discharged his discus on his brother. But that invincible weapon being unable to touch him went round him and stood at his right

shoulder. It was a very critical moment. Had Bāhubali thought of using that weapon on his elder brother he would have done so, killed his brother, and been himself the emperor. But he was a true Jaina. To him the moment proved to be one of internal awakening. He felt disgusted with the covetousness of empire in his brother, which showed no consideration even for a brother. This brought on him aversion for life. He took dikṣā and performed severe penance. In spite of his mastery over Jaināgama he could not conquer his māna-kaṣāya, on account of which he was not soon blessed with Kevala-jñāna. This was pointed out to Bharata by Ādinātha. The hint was taken by him and Bāhubali was informed accordingly. Taking action on this suggestion he conquered that weakness of his and attained Kevala jñāna. In course of time he attained Mokṣa

In this Purāṇa, Ādi-Pampa does not mention of Bharata consecrating at Paudanapura the image of Bāhubali 525 bow-lengths high.

Cāvuṇḍarāya in his Cāvuṇḍarāya-purāṇa (about 978 A. D.) gives the same story very briefly.

The third account appears in the Shravan-Belagula inscription No. 234 of about 1180 A. D. composed by Boppaṇa who had the title Sujanottaṁsa. It is this poet who, for the first time, relates the story of an image of 525 bow-lengths erected at Paudanapura by Bharata out of respect and affection for his brother Bāhubali. As time rolled on, the inscription further states, the region around the image having become infested with innumerable Kukkuṭa-sarpas (fowls with serpent heads) the statue came to be known as Kukkuteśvara. It afterwards became invisible to all except the initiated. But Cāvuṇḍarāya having heard a description of it set out with his mother with a desire of seeing it. Finding however that the journey was beyond his power owing to the distance and inaccessibility of the region, he resolved to erect such an image himself; and with great effort succeeded in getting the Image made and set up.

The fourth account is given by Pañcabāṇa in his Bhujabali-Carite (about 1614 A. D.). In this the author tells how Padmāvatī and Brahmadeva appeared in a dream before Cāvuṇḍarāya when

halting at Shravana-Belagula on his way to Paudanapura accompanied by his mother, and told him that Bāhubali was pleased with his devotion and would manifest himself to him on the Larger Hill if he would discharge a golden arrow from the Smaller one towards the former. The next morning he heard of a similar dream of his mother. Acting up to it he saw the head of the Image when the discharged arrow struck the rock on the Larger Hill. Afterwards the officiating priest of the place placed a diamond chisel and struck it with a diamond hammer. The layers of stone fell off and the Image became visible. This story based on such a miracle appears in Bhujabali-śataka of Doḍḍayya (about 1550 A. D.) in Sanskrit.

Gommaṭeśvara-carite of Ananta-kavi (about 1780 A. D.), Bhāvalikathe of Devacandra (about 1838 A. D.), and the Sthalapurāṇa of Shravana-Belagula are other works in Kannaḍa giving the story more or less in the strain of Bhujabali-śataka and Bhujabali-carite.

The Sthala-purāṇa gives one important and interesting information about the height of the Image. It says that Cāvuṇḍarāya heard of the existence of an Image 18 bows high at Shravana-Belagula. This information may be verified with the actual measurements of the Image taken.

The pedestal is designed to represent an open lotus, and upon this the artist has worked a scale corresponding to three feet four inches. This scale when multiplied by 18 gives approximately (60 feet) the height of the Image. The Image as measured is 57 feet in height. A bow is generally of four cubits length, and 18 bow-lengths will make 72 feet. This brings in a difference of 15 feet in the actual measurement, and 12 feet difference according to the Sthala-purāṇa. But a cubit cannot always be of the same length. It will depend on the measurements of the sculptor who works at the Image. It may therefore be assumed that the scale given at the pedestal represents a bow-length, and that the Image goes 18 lengths with it. This assumption roughly solves the height problem in the present case.

NEW STUDIES IN SOUTH INDIAN JAINISM.

III

ŚRAVAṆA BEḶGOḶA CULTURE.

BY

Prof. B. Seshagiri Rao.

---

g. (1)

In two previous papers in the *Jaina Antiquary*. I have outlined how ancient Jainism in South India had inspired its devotees to action and emotion. For, it is only when thought, doctrine or philosophy inspires and sublimates emotion and action, that it becomes a force not only in the lines of individuals, but also in those of communities and nations. And Śravaṇa Beḷgoḷa, being its most ancient and advanced *Karmakshētra* or practising and demonstrating ground or 'University,' in South India, and the present number of the *Jaina Antiquary* being specialised for the elucidation of its various phases of activity, through the ages, I shall gladly avail myself of this opportunity, so kindly given me by the Editor, to describe in some detail, how, from the Śravaṇa Beḷgola Epigraphs, it appears to me to have functioned as centre of culture,—of *Sikṣha* and *Dikṣha*.

We often hear so very much about Jaina ascetics and asceticism, of Jaina scholars, their dialecties and philosophies, their *Raddhantas*[1] (राद्धान्त) and Siddhantas (सिद्धान्त), that we may be very strongly impressed with the idea that Jainism is for the intellectual few, —and even at that, for an elect, fortunate few, who can be fanatically and—as modern materialists may say, or the ancient epicurions said—'senselessly' stoic. But a proper appreciation of Jaina memorials will show that the Jaina Sages in ancient times *lived* their doctrine and their faith and easily made their desciples of all grades and classes of society, men and women, *live* [2] it, however austere

---

1. See "Inscriptions of Śravana Beḷgoḷa" by Luvis Rice (Bangalore 1889 (I.S.B.) No. 41 राद्धान्त वेदि etc.

2. I. S. B. No. 54 *Cf.* Dayāpāla Muni in whom "was the desire to imfact to other son portion of his own form."

the Sadhana or practice for it may have been. The aim of this *Sikṣha*, descipline, and *Dikṣha*, concentration, being to attain to *Arhathood* or *Siddhahood*, not merely *Siddhis* or 'powers', a study of Jaina Antiquities, and appreciation of Śravana Beḷgoḷa culture, which is a type thereof, will show how *real spirituality* and *perfectibility* of life or its sublimation was in Universal practice of all types of adherents of the Jaina Faith in South India. It will also serve, not only as a unifying force not only in the activities of the Jaina community to-day in all India (सर्वभारत), but will also demonstrate, in India and abroad, the essential unity of goal (गम्य) descipline (शिक्षा) and concentration (दीक्षा) of Hindusim, Buddhism and Jainism, fancied and some times operated, as mutually cancelling and warring faiths, unfit to inspire common political action for national ends. In these days when spiritual sublimation of thought and action in politics is set out to be India's special contribution to the modern warring world and recommended to be practised by political workers in India, in all its simple and self-denying austerity, it would indeed be of some help to realise what great levels of practical self-dedication and cultural eminence were reached, even by politicians and statesmen in medieval India, even through the inspiration of the Sages of this great South Indian Spiritual 'University.'

'Śravana Beḷgoḷa' has a very romantic history. From all Jaina accounts in literature and Epigraphs, it was originally 'a bare hill in an uninhabited country,[1] but in time it became a *Thirtha* or place of pilgrimage, a Karmakshētra for *Sikṣha* and *dīkṣha* or a University of piety and culture, and even a religious state' or *Samasthanam*[2] somewhat like the Vatican. Some account of this grand 'sublimation' of mere forbidding earth by the aspiring, advancing and selfpurifying soul of Man will form the substance of this study.

Yet, *Śravana Beḷgoḷa*, through the ages, has continued to be a *place of Memorial Toumbs*, besides being the abode of several grand beautiful and rich temples and the most famous of ancient sculptures, the wonder and miracle of art,—the sacred image of *Bhujabali* or *Gommatēswara* ortherwise called *Kukkuṭēswara*. Thus Śravana

1. I. S. B. No. 2 I. S. B. No. 141.

Beḷgoḷa culture seems to have made its own distinguished and distinctive contribution to medieval Indian Art and Architecture, the results of the memorialistic activities and devotions of the pilgrims that made it their *Thirtha* not only during life, but even more so, at its close.

Lewis Rice, who first edited the Epigraphs and brought to light the Antiquities of Śravana Beḷgoḷa, in the *Epigraphia Karnatica* thus describes the present appearance of this great *Thirtha* :—

" The eye of the traveller who is passing along the trunk road leading from Bangalore to the Western Coast, through the Manjarabad Ghat, is arrested on approaching Channarayapatna by a conspicuous hill few miles to the South, bearing on its summit what appears at first a column, but which, on drawing nearer, proves to be a colosal statue in the human form. This striking and unusual object, which is visible for miles around, marks the site of one of the most interesting spots in the South of India, and one whose epigraphic records carry us back to the very earliest authentic period of Indian history, anterior in fact even to the famous edicts of Asoka, the oldest inscriptions in the country. This noted place is moreover the chief seat of a religious sect at one time fore most in power and influence, whose origin is of higher antiquity than that of Buddhism."[1]

The earliest inscription on this hill takes the mind of the student to events long anterior to Asoka,—to the happenings in Nothern India, in the time of Asoka's ancestor Chandragupta, the founder of the Maurya Dynasty. This inscription is ascribed rightly, to king Bhaskara, the immediate grandson of the Great Emperor Chandragupta Maurya, who is also said to have adorned it with Chityālayas or temples of worship, as it enshrined the sepulcheres of his own grandfather and that father's guru Bhadrabahu, the last of Jaina Srita Kavalis. As the event that led to this most ancient inscription on this hill is of greater antiquity than the inscription itself and bears witness to some aspects of the religious history of Nothern India before the time of Asoka, it is worth recapitulation. It is also interesting that that event was described in this epigraph

1. I. S. B. No. 1.

in a kind of Sanskrit prose at once literary, realistic, aweful and picturesque. The original passage stands thus* :—

Ārshēnaiva Janapadam-anēka—grāmasata-samkhya-mudita-janaghana-kanaka-sasyagō-mahishājavikala-samākīrnam prāptavān atah āchāryyah Prabhāchandrēnāmavani-tala-lalāmabhutē-athāsmin *katavapra*-nāmakōpalashitē-vividha-taru-vana-kusuma-dalāvali-vikachana-sabala-vipula-sajala-jalada.. ...vyāla-mriga kulōpachitōpatyaka kandara darīmaha-guhāgahanā-bhōgavati samuttunga sringa sikharini jīvitasesham alpatra kālam avabudhyādhavnah suchakitah tapassamādhim ārādhayitum apricchya nīravasēshena samgham visrijya sishyēnaikēna prithulakāstiarnna talāsusilāsu sitalāsu svadēham-sannyasyarādhitavān."*

Lewis Rice translates it thus :—

" And the rishi company arrived at a country counting many hundreds of villages, completely filled with the increase of people, money, gold, grain, cows, buffaloes and goats. Whereupon, at a mountain with lofty peaks, whose name was Katavapra—an ornament to the earth ; the ground around which was variegated with the brilliant hues of the clusters of grey flowers fallen from the beautiful trees ; the rocks on which were dark as the great rain clouds filled with water ; abounding with wild boars, panthers, tigers, bears, hyaenas, serpants and deer ; fitted with caves, caverns, large ravines and forests : the achari, with Prabhachandra also, perceiving that but little time remained for him to live and fearing on account of the road (journey), announced his intention to do the penance before death, and having dismissed the entire sangha, with one single disciple, worshipping, on cold stones covered with grass, quitted his body."*

*"आर्षेणैव जनपदमनेकग्रामशतसंख्यमुदितजनघनकनकसस्यगोमहिषाजाविकलसमाकीर्णम् प्राप्तवान् अतः आचार्यः प्रभाचन्द्रेणामवनितललामभूतेऽथास्मिन् कटवप्रनामकोपलक्षिते विविधतरुवनकुसुमदलावलीविकचनसबलविपुलसजलजलदनिवहनीलोत्पलतले..... व्यालमृगकुलोपचितोपत्यककंदरदरीमहागुहागहनाभोगवति समुत्तुंगशृंगे शिखरिणि जीवितशेषम् अल्पतरकालम् अवबुद्ध्याध्वनः सुचकितः तपस्समाधिमाराधयितुम् आपृच्छ्य निरवशेषेण संघं विसृज्य शिष्येणैकेन पृथुलकास्तीर्णतलासु शिलासु शीतलासु स्वदेहं सन्न्यस्याराधितवान्"।

We learn from this, how the hill was known in those old times as 'Katavapra' and how it came to be a memorial hill enshrining the remains of the last of the sritakēvalis, Bhadrabāhu, of the Jaina sampradaya. From its also having been the shrine of the remains of Emperor Chandra Gupta, this single disciple of Bhadrabāhu, known in this present epigraph as, Prabhachandra, it came to be visited by King Bhaska Maurya, his grandson, who built chaitya-layas over it and a *white lake* in the village at the bottom from which the whole region afterwards came to be known as Beḷgoḷa. Though the most ancient name of this place appears in this earliest inscription as 'Katavapra' there seems to have been another name "Belgugula' by which it became more famous even from the tenth century A. D. From No. 29, we learn that this name '*Katavapra*' survived to the year 1163 A.-C. although found only in one inscription subsequent to the King Bhaskata's inscription about Bhadrabahu and his disciple Chandra Gupta Maurya. There are several associated inscriptions in very archaic Canarese characters (Purvada Hale Kannada) from No. 35 of which it appears to have been known in a partially modified form as "Kalbappira." In later modifictions like Kalvappa (No. 34) Kalbapp-(35) Kabbappu-(No. 41) Kabbāhu (137C), it seems to have been still further modified and simplified according to the phonetic law of 'assimilation,' of course, acting unconsciously in the speech of uncultured people[1]. Students of linguistics familiar with S. I. Epigraphy may discuss whether in the process of these obvious transformations of a word like '*Katavapra*,' we meet with the phenomenon of a phonetic 'curruption' or simplification or 'prakritisation' of a 'sanskrit' word or whether a simple original word like 'Kalbappu' from the Canarese language was transformed by Pandits into Sanskrit '*Katavapra*.' Both processes are possible and do occur in S. I. Inscriptions and literatures. The very words 'Kannada' and 'Karnāta' transformed out of shape by foreigners into 'Canarese' are an instance in point. Be that as it may, the name 'Belugola,' however, seems to have become popular, and accepted into epigraphs by about 982 A.C., although Lewis Rice

1. The references to numbers are to numbers given to inscriptions in the volume "Sravana Belgola Inscriptions" by Lswis Rice. (Bangalore 1889.)

gives instances of two inscriptions, from serangapatam, of 9th century, in which, the form '*Kalbappu*' occurs. However, from the fact that forms the word 'belugola' occur more frequently in inscriptions up to 1196 A. D., in reference to this place, as alternatives to those of 'Katavapra,' it seems to me nothing improper to hold that for at least ten centuries this place has been famous in South Indian history as "Beḷugoḷa thirtha." Why and when exactly it came to be further specified as "Sravana" Sramana, it is not possible to determine from local antiquities. It is noted that as a Sanskrit word, 'Katavapra' means "having matted sides." The Bhadrabahu inscription shows that it was so known at the time when the Sritakavali stopped over it. Who could have given it a Sanskrit name? There was nothing in the place at that time for any body to visit or notice it. It was only by an accident that that great sage Bhadrabāhu happened to stay away there with his single desciple Prabhāchandra (Chandragupta Maurya). The inscription no doubt makes it clear that the country was abounding in Jaina centres of populous and prosperous *Sravakas* or Jaina laity, and they may have given it this name, but only if they had something on or about it to attract them. What I, therefore, feel is that the Hill so came to be known only *after* Bhadrabahu began to settle there on the eve of his *Sallēkhana* (सल्लेखना) (fasting unto death) and also possibly from the residence of Prabha Chandra further on, worshipping the 'footprints' of his great *guru* and served by the forest deities'. If the word is regarded as *desi* and as 'Kalbappu' or 'Kalbappar' (the form '*Kalbappira*' occurs in No. 35) it may be interpreted as 'Hill Father' or 'Hill-Brahmin' Kall=Hill, +bappu< pāpan=Brahmin or father (+Telugu "bábu"). The hill on which the sepulcheres of Bhadrabahu and Prabhachandra are enshrined is known as *Chikka Betta*=Small hill. 'Kal' in Canarese occures in place names in the sense of 'hill' or 'Betta' + Mitta or Metta (Tel.). The famous example is Orumgallu or Warrangal, the seat of a medieval andhra-karnata imperium. It must have come to be so known from the residence of these two great sages, of whom possibly Chandra Gupta or Prabhachandra, living longer than Bhadra-Bahu became more famous as "the Father on the Hill" or

" the Brahmin or sage on the Hill " or " Hill Sage."[1] I should not have entered into this philological bye-path, but for the fact that in most cases of thîrthas or places of pilgrimage in India, it is some great, high a miraculous human striving, sacrifice or achievement in them that has brought them into prominence and illumined them. Even the interpretation of the word *Belugola*, offered only by No. indicates the same thing and confirms my view that it is some miracle of a human achievement or striving that makes its material or casual environment famous for later ages. With many latter day saints or *Sravakas*, male or female, it became a great aspiration to close (mudipu) or dedicate the few remaining days of life in the way in which these great sages did and 'leave the body' in their company, at the place, which they hallowed by their residence. However, Belgula or Belgola is interpreted in the epigraphs as 'White-lake' and it is said in Jaina traditions that King Bhaskara built the 'White lake' in the village at the bottom of these hills and that he built even the village also and named it Belugola. It is, however, possible that the populace, in these parts, noticing this remarkable object of a 'White-lake,' may have named it in their language, Belugola and the village containing Belugola, came afterwards to be so called. This is quite a common phenomenon in place-names in South India. This origin of the name must have been forgotten by the time of the description ($\frac{\text{Ins. Res.}}{\text{IX}}$) interpreting it as '*Silver Vase*,' and the pandits may have exercised their ingenuity afresh to take advantage of an event which they were called in to celebrate with their gifts of learning and poesy. Thus, even the plastic Arts like architecture and sculpture cannot gain immortal self-interpretation without the understanding and calebrating emotion and expression or emotional

1. There are a few very archoic. Inscriptions actually refering to these "Sages of or on the Hill" the No. 12 has 'Sri Thirtha, guruvadigal, No. 19 has 'Sri Betta guruvadigal." Some of these never came down the hill known as 'Sri Vette' or 'Rishigiri' or 'Tirthagiri' or e. g., Vide Ins. Nos. 21 & 15.

1. See also I.S.B. No. 12. "मोतोर्थद् गुरवडिगल्"

expression of man. And the sublimation of "man," this freeing of him from the earthly limitations and trappings to attain to *Arhathood* or *Jinadva* or his original 'divinity' by *sikaha* and *diksha* has been what was taught and demonstrated from this place, this thirtha, which originally was an uninhabited or uninhabitable secret spot of *Kushmandâranya*. "Kabbappu-nâd" was a name for the region in which this hill was lacated. Hence I wonder whether the Chaityalayas and other objects of votive zeal that came to decorate this village and these hills in later ages had not shifted the *emphasis* fromthe *sadhana* and *dîksha* i.e., the '*guru-kula*' life of the original sages there, to objects of art and architecture and virtualism, so common, in the case of all forms of faith in India, Vedic, Jain, Buddhist and even Islamic. Balugola< >Belugula Belu + kula may also mean the 'white-kula' in which 'Kula' means 'family' or 'group' or 'sect.' Compare the expression '*guru-kula*' 'agni-kula,' 'Râja-kula'. 'White means 'famous' or 'pure'. Hence if the place were originally known as the 'Belgula Betta' it must have meant the Hill of the pure or white sage-company. Or, could it be that, the attendants of King Bhaskara who were 'Swetambaras' had by this way tried to make it peculiarly *their own*, leaving behind a memorial of that fact to later ages in the 'White lake' of the village'? Any way, at the basis of this foundation for culture lies a happy commingling of Nothern and Southern cultural and linguistic trends which has characterised the civilisation of the Karnata region of the Indian peninsula to later times. The most remarkable point, however, about Sravana Belgola is that down into the last century, it continued to be not only a thirtha or place of pilgrimage, but a thirtha in the original sense, of a place where 'the soul transcends the body or death' *i.e*, a memorial or *Sepulchural Hill.* Several persons, males and females, had come there, all through the centuries, to have their final samadhi in presence of those great departed sages of their own faith. There are several such sepulchural thirthas or Mutts in South India, but I do not know or have not read of any places like Belgola which are open to the devotees of their several faiths for this their final "thirtha." Herein also the

foundation has kept up its universality or democracy within its fold. The earliest of such a ' memorialist ' mention is No. 2, in old archaic canarese characters and language referring to *Nāgamati Ganti* (female) desciple of the excellent Silent guru of Chittur in Adeyare-nad The earliest in modern Canarese characters and language is No. 72 of 1809 A.C. referring to *Aditakirtti Deva* who " having fully completed a fast of one month, went to Swarga in this cave."

Very early in its history, even during the period of its earliest undated archaic descriptions, Belgola came to be called " Sri tirtha." Now, in South Indian languages, ' thirtha ' means ' water.' In regard to places of pilgrimage it includes a ' bath' or " immersion " idea also, as in the Kanarese expression " thīrthamādu." It also means ' the sacred water,' from the feet of the sacred images ' as in the expression " Sripāda thirtham ; " but essentially it means ' transcending ' *i.e.*, a mental or spiritual Lightening, purification or ' sublimation.' That such a spiritual ' accession ' was intended by the use of the word ' thirtha ' in ancient times is witnessed to, even by the epigraphs from Sravana Belgola. These instances will again show that it is the ' sages ' that lived on the Hill that were the *real thirthas* and that the locality was made a ' thirtha ' as being their habitat :—

For Example (*i*) of *kamlabhadra* it is said in No. 54 of 1128 A. C. :—

" Smarana-mātra pavitrataman manō bhavati yasya satām iha tirthinām tam ati-nirmalam ātma visuddhaye kamlabhadra-sarōvaramāsraye "

Trans :—" Him by only thinking on whom my mind becomes a thirtha for the good, that pure lake Kamalabhadra (or of suspicious lotuses) do I serve for my own purity." (Lewis Rice.)

(*ii*). Of *Matisagara* it is said in the same inscription *i.e*, No. 54.

" Tīrtham Sri matisagarō gurur ilā chakram chakāra sphuraj jyōtih pīta tamarpayah pravitatih pūtam prabhūtāsayah."

Trans :—" Sri Matisagara guru made the whole world a tirtha, by his glory dispersing the darkness of ignorance, of a worthy mind, etc. " Thus, in inscription after inscription, at Belgoḷa, it occurs again and again, that, to follow those great earliest Jaina sages

Bhadrabāhu and Chandra Gupta, was the true Jaina faith, with clear references to that ancestral migration which some scholars refer to fourth century B.C., that make this high antiquity of Sravana Beḷgoḷa stand undisputed Here-below are a few extracts bearing on this view :—

(*i*) " Bhadrabāhu-sa-Chandra Gupta-Munindra yugmadin-noppeval
Bhadramāgida dharman valie vand inipal kulo.....
Vidrumādhare Santisēna munisā nākki êchel-go ... ×
Adri-mēl asanddi vittu punarbhavakk ir.. ..... gi ||

Trans :—" Saying, to be in accord with the pair sree Bhadrabahu together with the great muni Chandra Gupta, is the true faith :—after coming here, and being gratified the.....of her race, the coral-lipped wife of Santisena munisa, Echel go-(ravi), on the top of the mountain, forsaking all food, attained to the state of not being born again."

And, likewise, the earliest persons who resorted to this Hill did so *not to worship* but to become ' pure spirits ' relieved from and exalted above Samasārachakra, the wheel of life, the cycle of births and deaths, specially by the aweful baptism of *Sallekhana*, " the fast unto death," to enter upon the final pilgrimage or *Mahaprasthana*, to take to the *final smadhi* of one's life. What is called ' Renunciation at the time of danger ' or ' atura sanyâsa ' is a feature common to various forms or schools of what is called ' Hinduism ' or *Vaidika-samaya* but it is found only in Jainism in its most awe-inspiring form as Sallêkhana. That it is a form of life-renunciation ' or more properly ' dêhatyâga ' ' giving up the body ' is even enjoined by the Jaina sastras, is also brought out in one of the epigraphs on this Hill thus :—

Chûrni tēna srimad-Ajitasēna-pandita-dēva-dēvya sri-pada-kamala-madhukaribhūta-bhāvinā mahanubhavêna Jaināgama-prasiddha-sallêkhanā vidhi Visrjyamāna dēhēna samādhi-vidhi-vilōkanōchita-karana-kutūhala miḷita-sakala sangha samtôsha-nimittam ātmāntahkarana parinati prakasajāya nirvadyam padyamidamāsu virachitam (No. 54, dated 1128 A. C.)

Trans :—" By him, a bee at the divine lotus feet of Ajitasena Pandita Deva, magnanimous, while abandoning his body, by means of the Sallêkhana famous in the Jaina Agamas, so that all the sangha rejoiced at the sight of the nature of his penance, was delivered improptu this perfect verse, displaying the ripeness of his mind."

Sallêkhana may therefore be described as a special 'ideosyncracy' of Jainism.

The first to perform this aweful rite of Sallêkhana on this Hill, Katavapra, was *Bhadrabahu*, the last of the Sruta kewalis; this fact bring us directly to the Southern migration of the Jaina rishiganas from Ujjaini in North India and the passage in the inscription referring to the Katavapra Hill. The passage brings out in simple naturalistic description how awefully beautiful it was and suggests a phase of naturalism which has left its environmental mark on the awefully beautiful and simple and high, plain lives and characters of successive Jaina munis, perhaps Vānaprasthas and Sanyasis as well, that carried forward to later generations in South India the traditions of spiritual realisation, sanctified scholarship and desciplined 'sense-conquest' No wonder that their admiring followers had left behind them these authentic data of their admiration and also venerating and exultant praises of Bhadrabahu Sritakevali, who thus rejuvinated South Indian Jainism which, by his time must have lost touch with its North Indian homelands. Here below are given a few specimens of such commendatory compositions, reminders, as it were, to contemporary generations, of that ancestral North Indian migration, corresponding to that of Agastya to 'Chôla mandala' recorded in Puranic Literature and vernacular classics of South Indian Languages :—

(*a*) Varnnaih kūthan-nu mahimā bhana Bhadrabahor-
mmōhōru-malla-mada-marddana-vritta-bahōh
yach-chhishyatāpta-sukritēna sa chandra-guptas
-susrūshyatē sma suchiram vanadēvatābhih!'

Trans :—" Worthy is it not of being described, the greatness of Bhadrabahu, say,—stout of arm in subduing the pride of

the great wrestler ignorance, through the merit obtained from descipleship to whom, that Chandra Gupta was for a long time served by the forest deities."

(No. 54, dated 1128.)

Note incidentally that this verse identifies that Prabhachandra, who served Bhadrabahu on this Hill in his last days, with Chandra-Gupta, the famous Maurya Emperor known to Indian History. It also brings out the idea of spiritual culture as an affair of 'gnāna,' a struggle and victory, perhaps justifying the name of 'Jaina Samaya,' a 'religion of *conquest.*'

(*b*) Bhadrabahur-agrimah samagrabuddhi sampadā
Suddha Siddha Sāsanam susabda bandha sundaram ;
Iddha vritta Siddhir-atra bhadrakarmabhittapó
Vriddhi vardhita prakirtir uddhadhē mahardhikah.

(No. 108 of A. D. 1433.)

Trans :—'Bhadrabahu, the foremost by his acquisition of knowledge, (proclaimed) the doctrine of the siddhis, beautiful with its combination of sweet words ; famed for his character, dispeller of the delusions of those bound to the world, celebrated for the growth of his great penance, the highly renowned.'

From all this it is quite clear that, ever since the arrival of Bhadrabahu, this Katavapra Hill in the midst of an aweful forest, became a 'thirtha' associated in the minds of generations of people with dikshas or vows, and concentrations, and with sikshas or desciplines in knowledge and character and sādhanas or self-searching self-purification resulting, by long growth of penance, even in 'siddhis' or attainments. Persons even abandoned the beautiful envirous of nature in the plain beyond the Hill, to take to its top to attain beatification. A very archaic inscription at the place refers to this fact :—

Sri " Udyānaijjita-nandanam dhvanadali-vyāsckta-raktōtpala
vyāpi sribhrita-sālipinij ara disam kritvā tu bahyāchalam

sarva prāni-dayardha-dābhi-Bhagavad-dhyānēna
sambōdnayan-
arādhyāchala mastakē kanaka-sat-sēnod bhavat satpatih"
" aho bahir-girin tyaktva Baladeva munih sriman
ārādhanam pragrihitva siddha tokam gatar-punah"

(No. 15).

Trans :—" With groves adorned with red water lilies and filled with the hum of bees, surpassing Nandana ; shining on every side with fields standing with rice, was it beyond the hill. Instructing all in the praise of Bhagavat, the ocean of goodness to all creatures, worshipping on the summit of the mountain ; born to the virtuous kanakasena, was a chief of virtue. Behold, this Bala Deva muni, the honourable, having forsaken beyond the hill, giving himself up to devotion, departed to siddh lōka, did he not ? "

Note that this description gives an idea of the approaches to the Hill at a far later time than that of Bhadrabahu, but it is enough to show that that ' aradhyachala ' or ' gurugini ' was still the chiefest attraction in the locality and even that, for Sallēkhana, as well as *Sādhana.*

A similar cultural ' ideosyncracy ' of Jainism is said to be *Ahimsa.* This has come into greater prominence in modern Indian political life, like ' fast into death,' Sallēkhana, most *inappropriately* I think, *as a technique of political struggle.* It, however, indicates a modern searching of hearts in India, a quest into the past far desciplines or spiritual processes, leading to ' freedom ' or *moksha* from ' bandhana ' or ' bondage.' No body can deny that it is a deep spiritual searching, a holy quest, a non-doctrinal, practical, quest, practised in ancient times by persons from different grades of society and even today, practicable to prince in luxury or peasant in poverty alike. But it is well worth making an attempt to understand this Jaina form of descipline of Ahimsa aright.

The Sravana Belgola Epigraphs describe the munis worshipping Bhagavat, there, as ' Srava-prāni-dayarddha-dah (सर्वप्राणिदयार्थ) as those that give their wealth of kindness to all living things, which

makes them careful lest they should per chance injure even a tiny insect. The practice of "Gridhra-pinchacha," one of the most famous of the successors of Bhadrabāhu, in their gana, is followed to this day by the ascetic who sweeps the ground before him with a pea-cocktail broom before he moves along the way. In some of the more enlaborate inscriptions, on the Hill, this famous sage Gridhra-pincha-ācharya is thus celebrated :—

Trans :—(1) "then there was Umāswāti munisvara, who had the name ācharya following after the word Griddhra-pincha. In that time no other was equal to him in understanding the 'padartha' (No. 42, dated 1117 A. C

Trans :—(2) "The honourable Umāswāti, he was the yatīsa who published the Tatvartha Sutra which is a guide to the worthy in following the path that leads to *Mukti*" (No. 105 of 1398 A. C.)

Trans :—(3) "He, was he not the yogi devoted to the protection of living creatures who 'assumed' the wings of a kite whence from that time forth the wise call him achari adding to it, after his name Griddhara-Pincha" (No. 108 of 1433 A.C.)

Several other customs among Jainas are traced to this original ideas of 'protection of living creatures.' But this is not all of the Jaina idea or descipline of Ahimsa. In its degeneration into the mere custom of the asctic sweeping before him with a "peacock-broom," it may have become an object of redicule of the Hindus, as an accentricity or 'bhēshajam', but in its essence, it finds its echoes in the Vaidika Samaya as well The religion of Budha is said to be the religion of 'ahimsa' or 'Daya' or 'Compassion' par excellence, but a deeper knowledge of the Jñana marga of the Upanishadas or of the Jaina Samaya will reveal that it is equally an essential element in these equally, if not *more, ancient* faiths or 'schools of Spiritual attainment.' In the saka year 1050 (as stated in

No. 54) Sri Mallishena muni said as follows when he was departing from this world :—

> " Having worshipped the three jewels named in the Agama, having lived so that all living creatures have received no injury and having acquired patience, we have (this) our body at the fact of Jaina and enter Swarga "

To live in such a way that no creature receives injury from one is the essence of the practice of Ahimsa.

Similarly, of another muni *Sritakirti* it is said, that he was ' sarva-sarīti-rakshā-krita-matih ', " intently minded in the protection of all emodied ones". Thus in *Ahimsa-sādhana*, the primary importance is on ' protection of living creatures ' a positive duty. These Sravana Belgola Inscriptions show that several other collateral and positive ideas cluster round this principle of Ahimsa. The most comprehensive of these is idea of ' sakalaprāni-dayartha-siddih ', the utilisation of all our gifts, achievements, equipments and other acquirments for the good and happiness of all creatures. The insistence is on the attainment of powers by the individual *for social* and *environmental betterment* or " Lōkasangraha ". In this view, the following excerpts from these inscriptions illuminating :—

> (1) " Having studied the whole Veda, free from all distress of mind, having subdued all opponent speakers, delighting in all learning, filled with highest joy, of lofty and bright intelligence, praising the feet of Jinapa, ··· he had obtained protection for all. (Sritakirti Deva No 105.)

> (2) Learned men there are, but no poets, masters of learning, eloquent speakers, experts from researches into various sciences, in the Kali Age like me .. .. .. notwith the desire of gratifying pride, not through enmity, but through my *pity* for the people being led astray by the teaching that there was no spirit (or God), did, I, O king, in the Court of Himasitala overcome all the learned proud Buddhas and spurne sugata with my feet " (Devakalanka Pandita No. 54.)

Patience, kindness, impartiality, disinterestedness, spirituality, and humality, are other aspects of *Ahimsa* which make for social peace and social celebrity. Such qualities are revered, in a sage like *Mallisehna*. Of him it is said :—

> "In whom unequalled patience rejoices, in whom kindness knows no limit, whom impartiality loves, whom absence of desire desires, through love loving salvation, though in his own esteem low, yet the head of yogis, by his character an acharya.....see Mallishena muni.....him let us reverence.'

Honour, liberality, sympathy, are another cluster of ideas grouping round *Ahimsa* as a positive force in active life and these are reverenced in another sage thus :—

> "A fire to the forest of family cares, a sun to the lotus of the Bhavajas (Jains), the summit of uplifted honour, the cow of plenty in restoring wealth, remover of the sorrows of those in the power of the ememies sin and ignorance, is Sritamuni, chief Suri, pure in morals, untarnished by woman"

We find from these and such passages that "purity" or "celebacy" is another aspect of *Ahimsa*, for "impurity" is 'the himsa of Atma or self.'

"JAINA SIDHANTA BHASKARA."

1. (*Gist of September Issue*)

p. 71. Mr. K. P. Jain have shown that the observance of Ahinsā do not deprives a Jain follower of the use of his manly power. Many a illustrations from the Jain Literature and inscriptions are given, showing the chivalrous deeds of the Jain heroes. It was due to disunion and discord between themselves that Indians lost their independence.

p. 78. Pt. K. B. Shastri objects that Vadibhsingh was a contemporary of Akalanka.

p. 88. A readable note on Apabhraṃs literature is given.

p. 93. Pt. Nemichandra discusses the astronomical definitions of Sri Nemichandrācharya.

p. 110. Pt. K. B. Shastri describes the antiquities at Kopaṇa.

p. 113. Pt. Parmanānd gives a glimpse of the life and works of Sri Vādirāja.

2. (*Gist of 'Bhāskara' for Dec. 1939.*)

p. 137. Pt. K. B. Shastri discusses the problem of the multi-husbands and the story of Draupadi and concludes that Draupadi was in fact married to Arjun only.

p. 147. Sj. Agarchand Nahta objects the theory of Pāvāgarh being originally a Digambara Jain Tirtha; but the rejoinder of Premiji speaks otherwise.

p. 155. Prof. Hiralal Jain describes the Apabhramsa work "*Aṇuvrata Ratna Pradipa*" by Lakkhana belonging to the 13th century A. D.

p. 178. K. P. Jain has collected and given available information about Girnār and its history.

"INDIAN CULTURE."

(JOURNAL OF THE INDIAN RESEARCH INSTITUTE)

A high class research quarterly in English on Indology, conducted. under the distinguished editorship of Drs. D. R. Bhandirkar, B. M. Barua, B. C. Law, with a strong Advisory Committee, consisting of such eminent orientalists as Sir D. B Jayatilaka, Drs. S. N. Das Gupta, Laksman Sarup, Radhakumud Mukerjee, P. K. Acharya, MMs. Kuppuswami Sastri, Gananath Sen, and others, each of whom represents a particular section of Indian Culture.

It deals with all the branches of Indian Culture-Vedas, Philosophy, Buddhism, Jainism, Zoroastrianism, Ancient Indian Politics and Sociology, Indian Positive Sciences, History, Archaeology, Dravidian Culture, etc. Among the contributors are the best orientalists of India and foreign lands including Drs. Sir B. N. Seal, Sir, A. B. Keith, Drs. Winternitz, Otto Schrader, Otto Stein, R. C. Mazumdar, P. K Acharya, etc.

Indispensable for every lover of Indology. A most attractive get up and printing. Each issue contains about 200 pages. Price very moderately fixed Rs. 6 or Sh. 10 per annum (including postage)

Among the other publications of the Institute, which aims at wide propagation of Ancient Indian Culture and Wisdom by publication of the best products of Ancient Literature under various Series-Vedic, Buddhistic, Jain, etc., are :—

(1) An encyclopaedic edition of the Rigveda with texts, commentaries and translations with elaborate research note in English, Bengali and Hindi,

(2) Gaya and Buddha Gaya, 2 Vols. Rs. 12.

(3) Barhut, 3 Vols. Rs. 27.

(4) Upavana Vinoda (a Sanskrit treatise on Arbori Horticulture), etc., etc., Rs. 2-8.

(5) Vangiya Mahakosa (each part), As. 8.

(6) Books of the Buddhistic Series.

For further particulars, please apply to :

The Hony. General Secretary,
The Indian Research Institute.
170 Maniktala Street.
Calcutta, (India.)

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. V—1939.

Edited by
Dr. B. A. Saletore, M.A., Ph. D.
Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A.
Babu Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription
Inland Rs. 4. Foreign Rs. 4-8. Single Copy Rs. 1-4.

CONTENTS.

		Pages
1.	Another Jain Inscription of V. S. *by* Dasharatha Sharma, M.A....	27
2.	A Jaina Ganesa of Brass—*by* H D Sankalia, M.A., L.L.B., Ph. D. (Lond)	49
3.	Asoka and Jainism—*by* Kamta Prasad Jain, M R. A. S. ...	53
4.	Asoka and Jainism—*by* Kamta Prasad Jain, M R.A.S	81
5	Belgoḷa and Bahubali - *by* Prof. A. N Upadhye, M.A , D. Litt	137
6	Bāhubali Story in Kannaḍa Literature—*by* Prof K. G. Kundangar, M.A.	144
7.	Date of Malayagiri Sūri -*by* P K Gode, M.A.	133
8.	Future of Jainism—*by* Dr. N. S. Junankar, Ph D.	9
9.	Jaina Literature in Tamil—*by* Prof. A Ghakravarti, M.A., I.E.S.	1
10.	Jaina Critique of the Samkhya and the mimamsa theories of the self in relation to knowledge—by Hari Mohan Bhattacharya, M.A.	21
11.	Jaina Literature in Tamil -*by* Prof. A. Chakravarti, M.A , I.E.S.	35
12.	Jaina Bibliography	66
13.	Jaina Literature in Tamil—*by* Prof A. Chakravarti, M A , I.E.S.	67
14	Mind in Jain Philosophy -*by* S C Ghoshal, M A., B.L , Sarasvati	75
15	Monastic Life in Sravaṇa Belgoḷa -*by* R. N Saletore, M.A Ph. D.	123
16.	New Studies in South Indian Jainism—*by* Prof. B. Seshagiri Rao	147
17.	Review *by* A. N. Upadhye, M.A.	33
18.	Some Iconographic Terms from Jaina Inscriptions —*by* Mr. V. S Agrawala, M.A.	43
19.	Select Contents of Oriental Journals	65
20.	Some Inscriptions on Jaina Images—*by* Prof. A. N Upadhye, M.A.	95
21.	Śravaṇa Belgoḷa—Its Secular Importance—*by* Dr. B. A. Saletore, M. A., Ph. D. (Lond.)	115
22.	Śravaṇa Belgoḷa -*by* Prof. S. R. Sharma, M.A.	141
23.	The Jaina Chronology—*by* Kamta Prasad Jain, M. R. A. S. ...	29
24.	The Jaina Chronology—*by* Kamta Prasad Jain M. R. A. S. ...	61
25.	The Mastakābhisheka of Gommaṭeśvara at Śravaṇa Belgoḷa—*by* Dr. M H Krishna, M. A , D. Lit (Lond) Director of Archaeology Mysore State	101
26.	The date of the consecration of the image of Gommaṭeśvara—*by* S. Śrīkaṇṭha Sastri, M.A.	107
27	Vadibha Simha and Vadi Raja —*by* S Srikantha Sastri, M. A	89